Hindi

Visha - Bhasti

by

Narayan chaturvedi

Vol. 2

हिन्दी विश्व-भारती

हिन्दी विश्व-भारती

संपादक

श्रीनारायण चतुर्वेदी--कृष्णवल्लभ द्विवेदी

सहयोगी लेखक आदि

डा० गोरखप्रसाद, डी० एस-सी० (एडिनबरा), एफ़० आर० ए० एस०, रीडर, गणित, प्रयाग विश्वविद्यालय।

श्री० भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, भौतिक विज्ञान, किशोरी रमण इंटरमीडिएट कालेज, मथुरा।

श्री० मदनगोपाल मिश्र, एम० एस-सी०, लेक्चरर, रसायन विज्ञान, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ।

श्री० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम० ए०, एल-एल० बी०, क्यूरेटर, प्राविंशियल म्यूज़ियम ऑफ़ आर्कियालाजी, लखनऊ।

श्री० रामनारायण कपूर, बी० एस-सी०, (मेटल०), मेटलर्जिस्ट, नेशनल आयर्न एण्ड स्टील कंपनी लि०, बेलूर।

डा० शिवकण्ठ पाण्डेय, एम० एस-सी०, डी० एस-सी०, लेक्चरर, वनस्पति-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्रीचरण वर्मा, एम० एस-सी०, एल-एल० बी०, लेक्चरर, जीव-विज्ञान, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

श्री० सुरेन्द्रदेव बालुपुरी।

श्री० सीतलाप्रसाद सक्सेना, एम० ए०, बी० काम०, लेक्चरर, अर्थशास्त्र, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम०ए०, डी०एस-सी० (लंदन), रीडर, इतिहास, प्रयाग-विश्वविद्यालय।

डा० राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रोफ़ेसर, समाज-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० वीरेश्वर सेन, एम०ए०, हेडमास्टर, गवर्नमेंट स्कूल ऑफ़ आर्टस् एण्ड क्राफ़्टस्, लखनऊ।

श्री० ब्रजमोहन तिवारी, एम० ए०, एल० टी०, लेक्चरर, कान्यकुब्ज इंटरमीडिएट कालेज, लखनऊ।

डा० सत्यनारायण शास्त्री, पी-एच०डी० (हाइडलबर्ग)।

डा० डी० एन० मजूमदार, एम० ए०, पी-एच० डी० (कैंटब), पी० आर० एस०, एफ़० आर० ए० आई०, लेक्चरर, मानव-विज्ञान, लखनऊ-विश्वविद्यालय।

श्री० श्यामसुन्दर द्विवेदी, बी० ए०, साहित्यरत्न।

डा० विद्यासागर दुबे, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, (लंदन), डी० आई० सी०, अध्यक्ष, ग्लास-टेक्नालाजी डिपार्टमेंट, काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय।

डा० इबादुर रहमान ख़ाँ, पी-एच० डी० (लंदन), प्रिंसिपल, बेसिक ट्रेनिंग कालेज, इलाहाबाद।

श्री० कुँवर सेन, एम० ए० (कैंटब), बार-एट-लॉ; जूडीशियल मिनिस्टर, जोधपुर स्टेट।

श्री० भैरवनाथ झा, बी०एस-सी०, बी० एड० (एडिन०) इंस्पैक्टर ऑफ़ स्कूल्स यू० पी०।

प्रकाशक

राजराजेश्वरप्रसाद भार्गव,

एजूकेशनल पब्लिशिङ्ग कंपनी

चारबाग़, लखनऊ.

मुद्रक—
पं० भृगुराज भार्गव,

विषय-सूची

विश्व की कहानी

पृथ्वी की कहानी

मनुष्य की कहानी

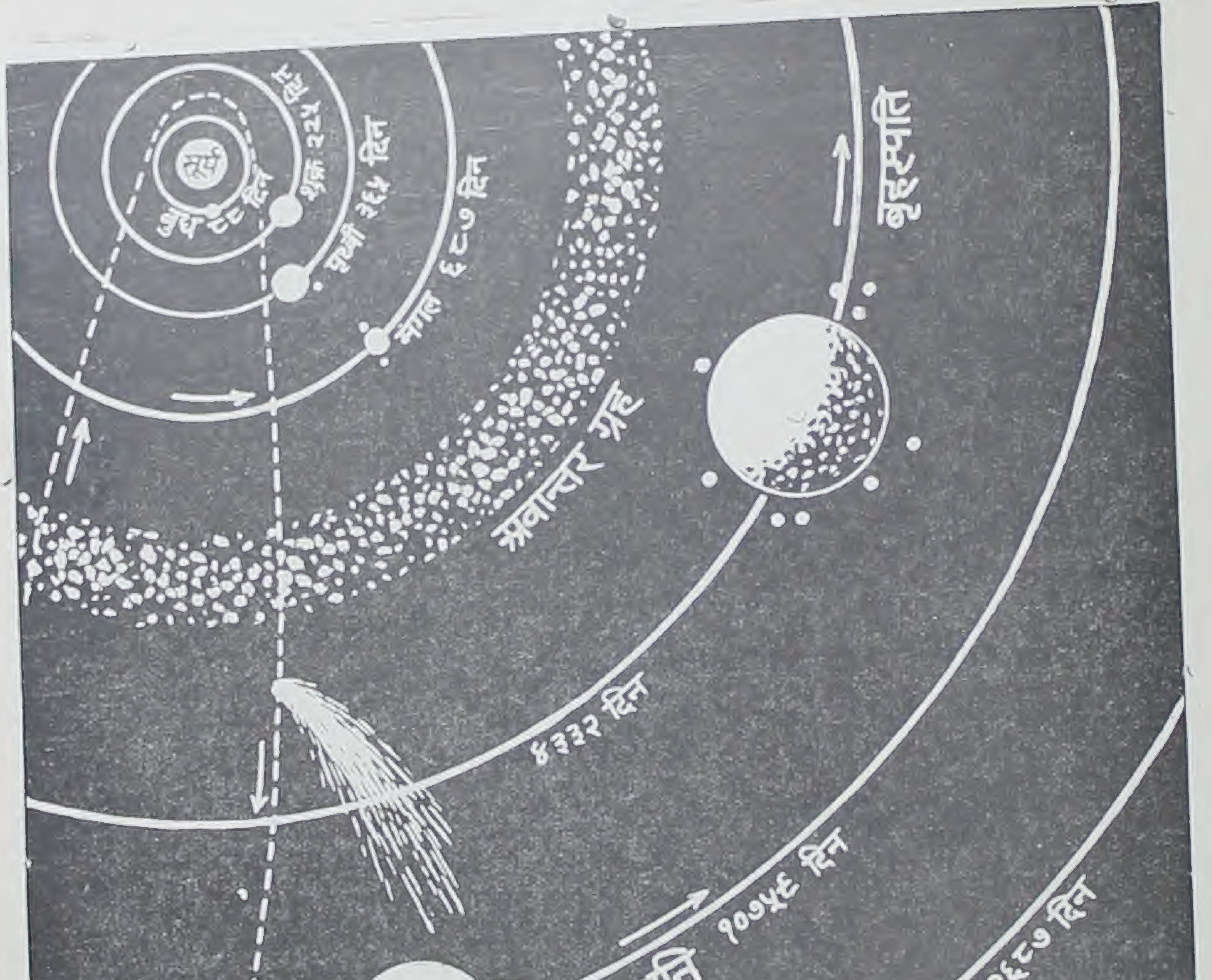
मनुष्य की कहानी (क्रमशः)

मनुष्य की कहानी (क्रमशः)

——:०:——



विश्व की कहानी



सौर परिवार

यह चित्र सही पैमाने पर नहीं बना है। इसमें केवल सूर्य के विशाल परिवार के विभिन्न सदस्यों की स्थिति तथा उनके भ्रमण-काल का एक अंदाज़ दिया गया है। वास्तव में सौर जगत् का कोई भी चित्र सही पैमाने पर काग़ज़ पर नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि यदि ठीक पैमाने से दूरी और आकार दिखाये जायँ तो ग्रहों को सूर्य की तुलना में सुई की नोक से भी छोटा दिखाना होगा, जो कि बिल्कुल व्यर्थ होगा।



सौर जगत्

सृष्टि का ज्ञान प्राप्त करने के सिलसिले में हम क्रमशः परिचित से अपरिचित और प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की ओर बढ़ रहे हैं; इसीलिए आकाशीय पिंडों में हमने सबसे पहले अपने सुपरिचित सूर्य और चंद्रमा का अध्ययन किया। इस और आगे के कुछ लेखों में हम परम तेजस्वी सूर्य के उस सुविस्तृत परिवार का परिचय पाने का प्रयत्न करेंगे, जिसमें हमारी पृथ्वी भी सम्मिलित है।

आकाशीय पिंडों में से सूर्य और चन्द्रमा को छोड़ अन्य सभी पिंड तारे के समान दिखलाई पड़ते हैं। उनमें से अवश्य कोई अधिक चमकीले जान पड़ते हैं और कोई कम, और उनके रंगों में भी थोड़ा-बहुत अंतर दिखलाई पड़ता है, परंतु वे एक जाति के ही प्रतीत होते हैं। हाँ, टूटकर गिरनेवाले तारों और पुच्छल तारों में—उल्काओं और केतुओं में—अवश्य कुछ विशेषता दिखलाई पड़ती है।

परन्तु तारे-से दिखलाई पड़नेवाले पिंडों में से कुछ ऐसे हैं जो वस्तुतः तारे नहीं हैं। इनमें विशेषता यह है कि वे तारों के हिसाब से चलते रहते हैं। यों तो प्रति रात्रि सभी तारे आकाश में पूरब से पच्छिम की ओर चलते दिखाई पड़ते हैं; किसी भी स्वच्छ रात्रि में इस बात की सत्यता का प्रमाण मिल सकता है। परन्तु इस गति में तारे एक दूसरे के हिसाब से अचल रहते हैं। एक तारा दूसरे के पास नहीं चला जाता, वह उससे दूर भी नहीं हटता। परन्तु वे पिंड, जिनकी चर्चा ऊपर की गई है, तारों के हिसाब से चलते रहते हैं। इनको ग्रह कहते हैं। यदि कोई ग्रह आज किसी तारे के बहुत समीप है तो कुछ दिनों में (या कुछ महीनों में) वह उससे दूर चला जायगा। इसी गति से ग्रहों की पहचान की जा सकती है।

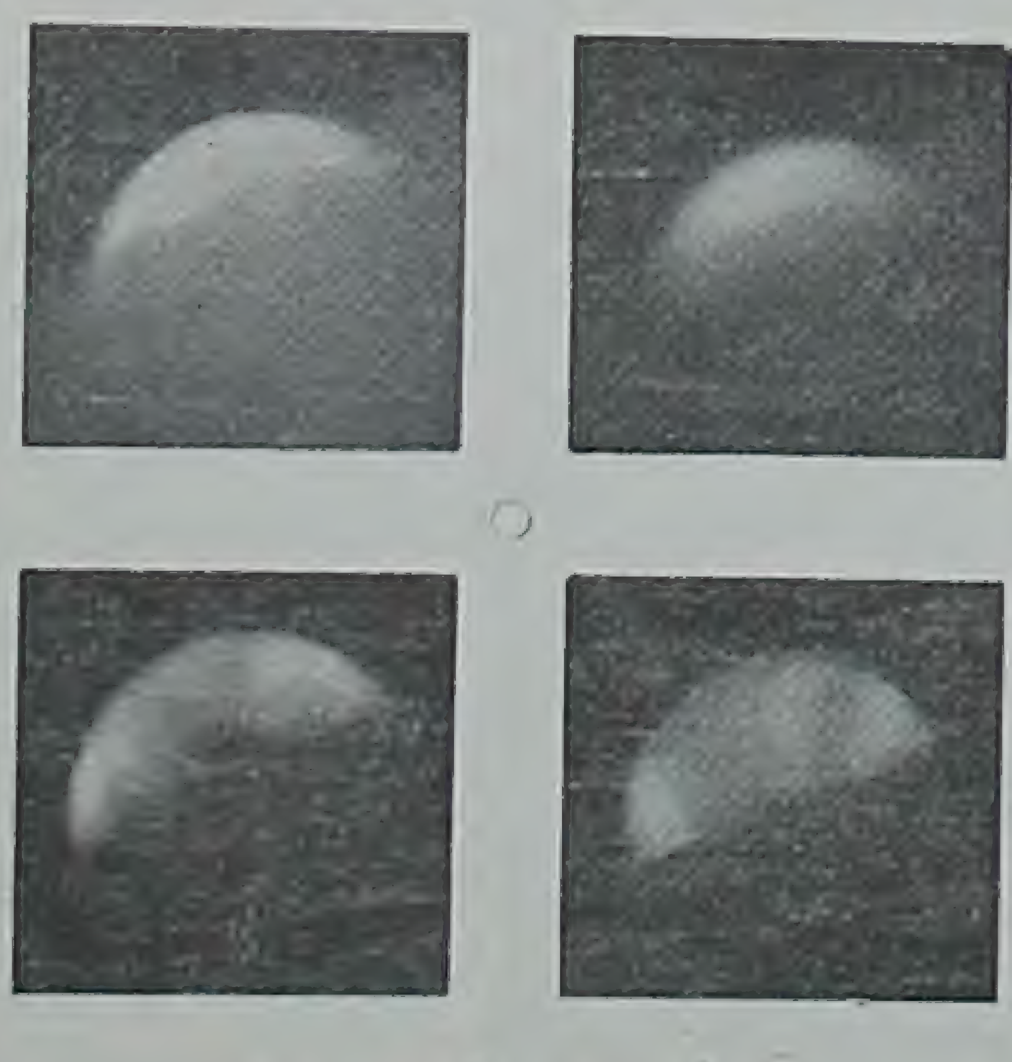
अधिकांश ग्रह साधारण तारों से अधिक चमकीले होते हैं और इस कारण भी हमारा ध्यान उनकी ओर आकर्षित होता है। निस्संदेह अति प्राचीन समय में लोगों का ध्यान उनकी ओर इसी कारण से आकर्षित हुआ होगा। पीछे पता चला होगा कि वे तारों की अपेक्षा चलते भी हैं; तभी से उनका आविष्कार समझना चाहिए।

ग्रहों की पहचान

ग्रहों में से सबसे अधिक चमकीला शुक्र है। यह या तो संध्या-समय पश्चिम की ओर या प्रातःकाल पूर्व की ओर दिखलाई पड़ता है और इसलिए सुगमता से पहचाना जा सकता है। यह बृहस्पति, मंगल या शनि की तरह मध्य आकाश में कभी भी नहीं दिखलाई पड़ता।

ग्रहों की चमक घटा-बढ़ा करती है, तो भी कहा जा सकता है कि चमक के विचार से शुक्र के बाद बृहस्पति की पारी है। रंग में यह शुक्र के ही समान है, परन्तु उससे कम चमकीला होने और क्षितिज से बहुत ऊँचा दिखलाई पड़ने के कारण यह आसानी से पहचाना जा सकता है।

मंगल अंगारे के समान लाल दिखलाई पड़ता है। इसकी चमक बहुत घटा-बढ़ा करती है। जिन दिनों यह हमारे बहुत समीप रहता है उन दिनों कुछ सप्ताह तक यह बहुत चमकीला दिखलाई पड़ता है। इसके लाल रंग के कारण संस्कृत में इसका एक नाम 'अंगारक' भी है।

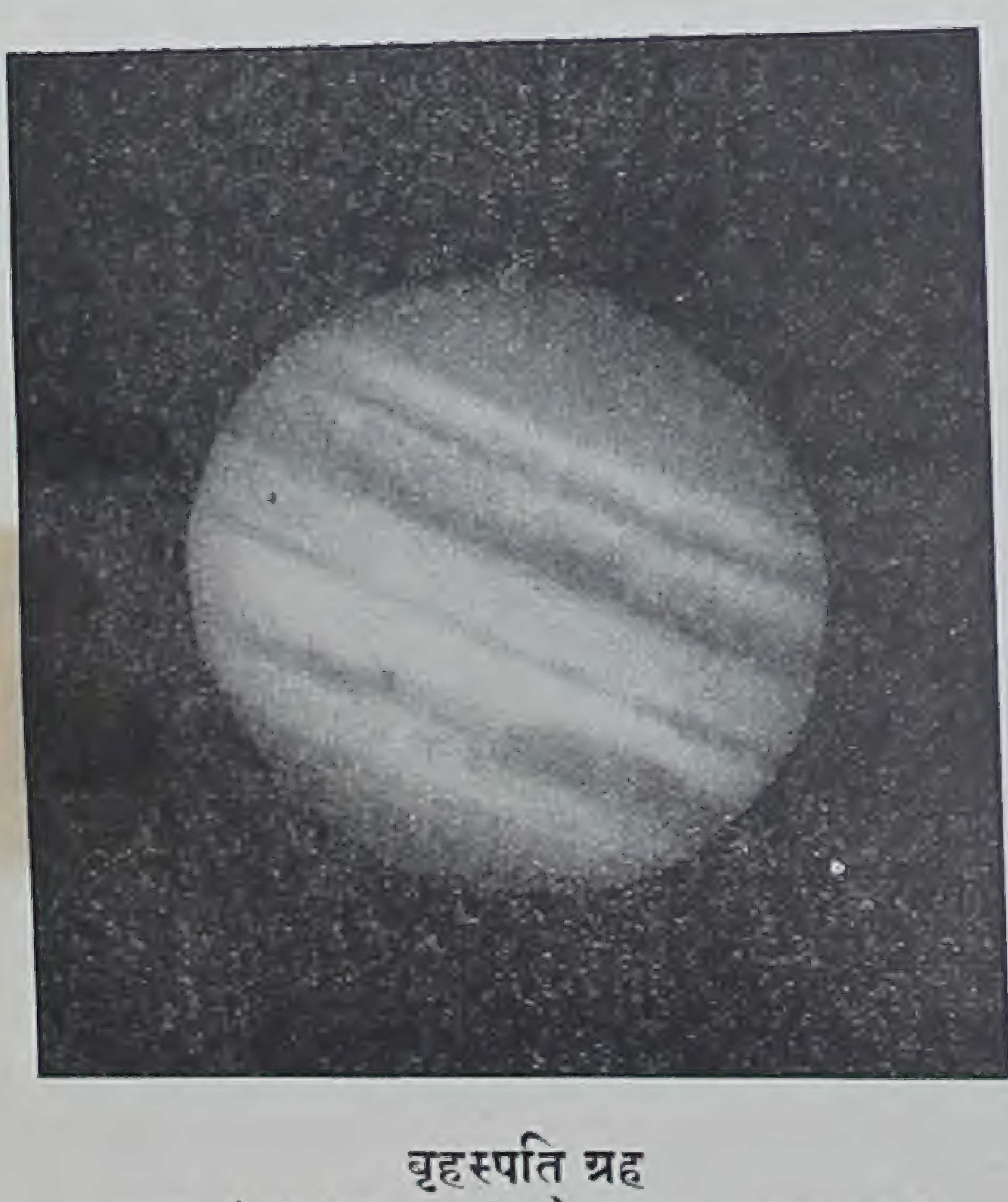


शुक्र ग्रह के चार चित्र

चंद्रमा की तरह शुक्र में भी कलाएँ होती हैं। [फ़ोटो—'लिक वेधशाला' की कृपा से प्राप्त]



मंगल ग्रह



बृहस्पति ग्रह

ऊपर के दोनों चित्र दूरदर्शक-कैमरा द्वारा लिये गये हैं।

[फ़ोटो—'माउण्ट विलसन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त ।]

शुक्र, बृहस्पति और मंगल को एक बार पहचान लेने पर पीछे जब कभी भी वे दिखलाई पड़ेंगे, वे आसानी से पहचान लिये जा सकेंगे—विशेषकर जब इस बात पर ध्यान रक्खा जायगा कि आकाश में वे केवल उसी भाग में दिखलाई पड़ते हैं जिस भाग में सूर्य चला करता है—परन्तु अन्य ग्रहों की पहचान इतनी सरल नहीं है। बुध सदा सूर्य के पास रहता है और इसलिए केवल संध्या-समय पश्चिमी क्षितिज से थोड़ी ऊँचाई पर या प्रातःकाल पूर्वीय क्षितिज से थोड़ी ऊँचाई पर देखा जा सकता है। शहरों में आकाश कभी इतना स्वच्छ नहीं रहता कि बुध आसानी से देखा जा सके।

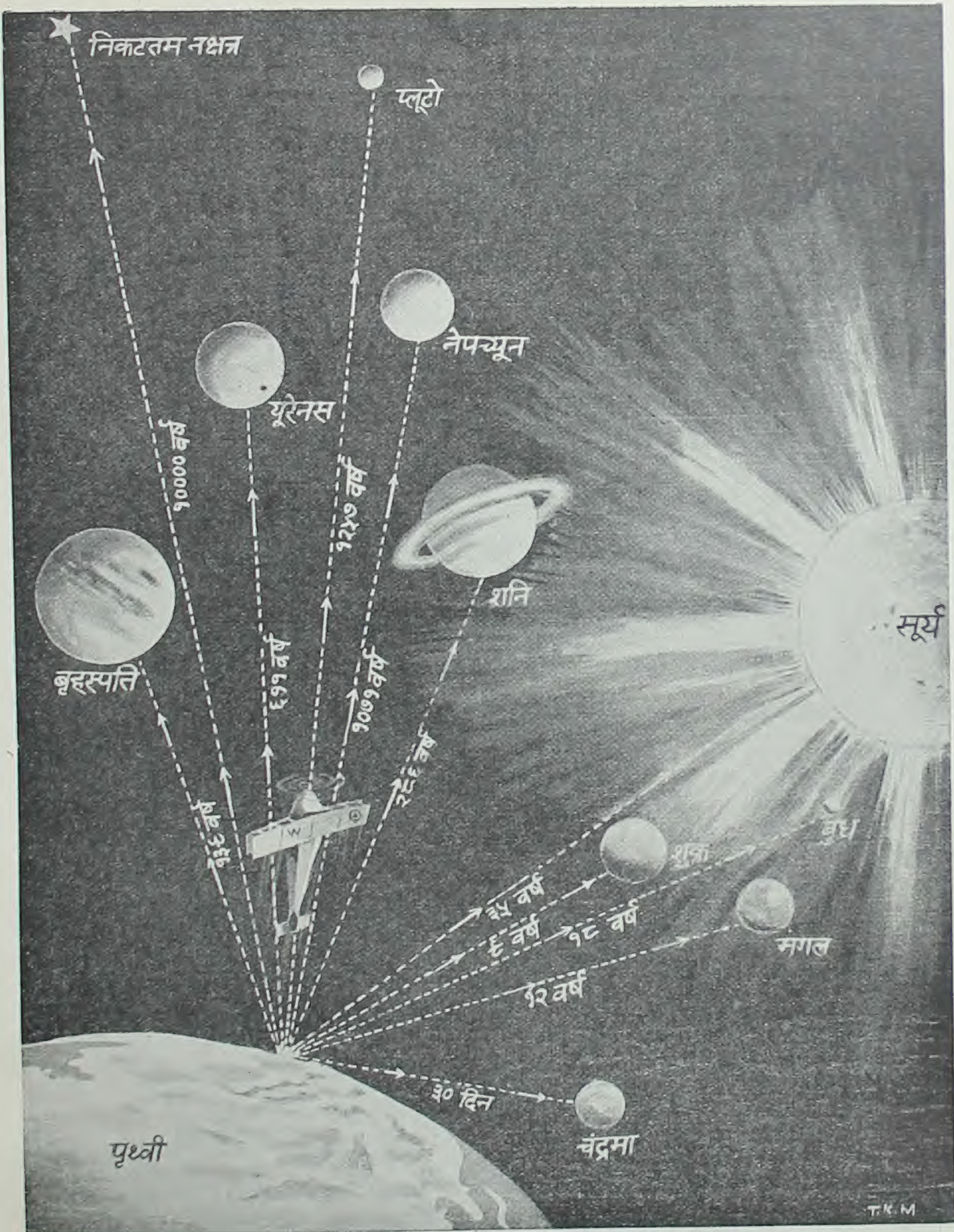
शनि क्षितिज से किसी भी ऊँचाई पर दिखलाई पड़ सकता है, परंतु विशेष चमकीला न होने के कारण पंचांग से इसकी स्थिति जाने बिना सुगमता से नहीं पहचाना जा सकता।

ग्रहों के नाम

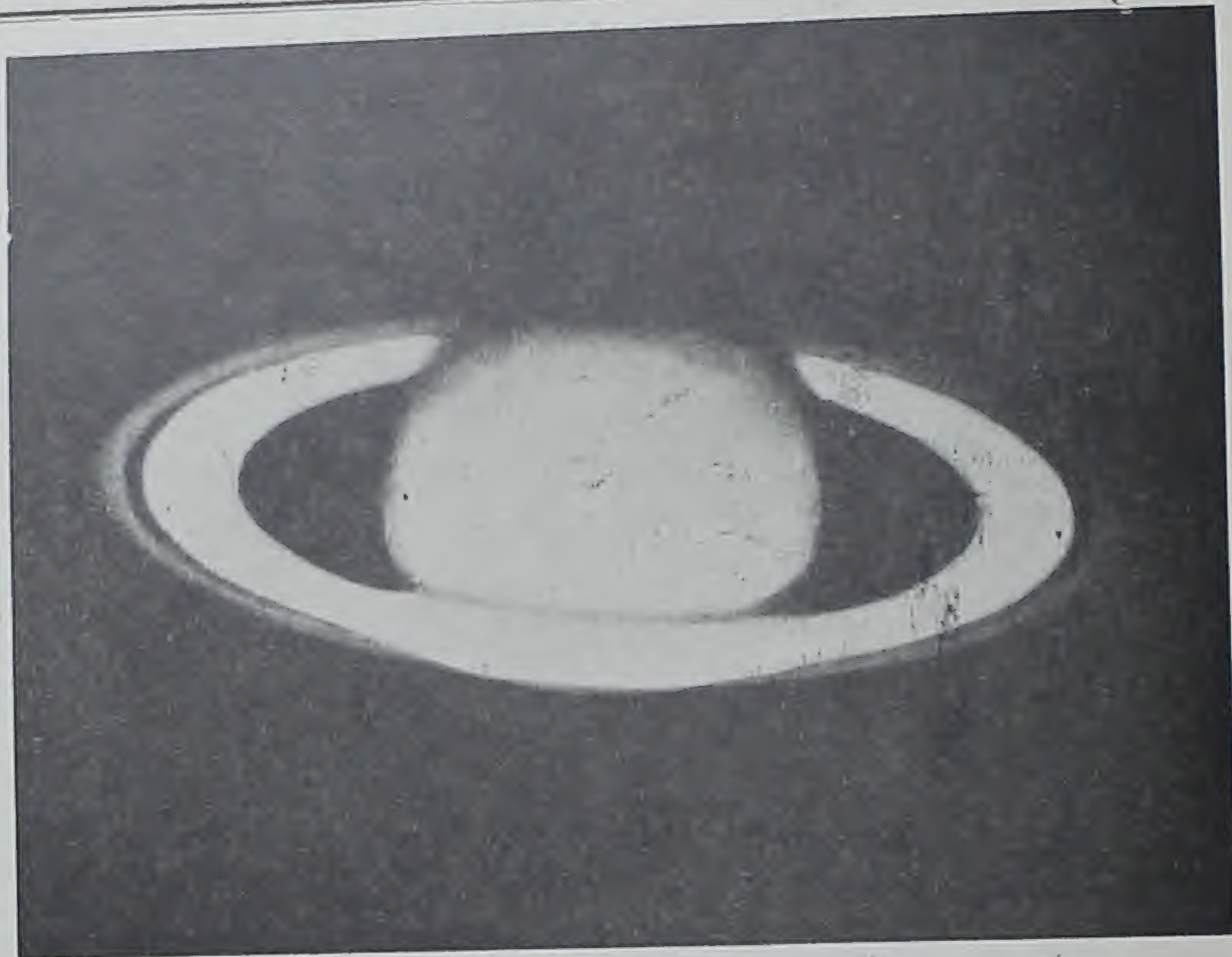
प्राचीन काल में भारतवर्ष में, और योरप में भी, सात ग्रह माने जाते थे। रवि, सोम (चंद्रमा), मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र और शनि ये ही प्राचीन सात ग्रह हैं। राहु और केतु कोई आकाशीय पिंड नहीं हैं। वे गणितसिद्ध विंदु हैं और उनको सम्मिलित करके ग्रहों की संख्या नौ भी मान ली जाती थी। परन्तु आधुनिक मतानुसार चंद्रमा ग्रह नहीं है। यह सूर्य के बदले पृथ्वी की प्रदक्षिणा करता है और इसलिए यह केवल उपग्रह है। हाँ, पृथ्वी अवश्य एक ग्रह है।

केवल वे ही पिंड ग्रह माने जाते हैं, जो सूर्य के चारों ओर प्रायः वृत्ताकार मार्ग में चला करते हैं। इस प्रकार ग्रहों के नाम ये हैं—बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, वारुणी (यूरेनस), वरुण (नेपच्यून) और यम (प्लूटो)। इनमें से प्रथम छः तो प्राचीन ग्रह हैं। वारुणी का पता दूरदर्शक में बड़ा दिखलाई पड़ने के कारण लगा, वरुण का पता गणित द्वारा सन् १८४६ में लगा और यम का पता हाल में ही (१९३० में) गणित द्वारा लगा है। इनके अतिरिक्त अब डेढ़ हज़ार से कुछ अधिक नन्हें-नन्हें ग्रह हमें ज्ञात हैं, जो सूर्य से प्रायः एक ही दूरी पर हैं और किसी एक ग्रह के टूटे हुए अंग जान पड़ते हैं। इनको 'अवान्तर ग्रह' कहा जाता है।

अवान्तर ग्रह तथा बुध, शुक्र आदि ग्रहों के अतिरिक्त सौर जगत् में केतु (पुच्छल तारों) की भी गणना की जाती है, क्योंकि ये भी सूर्य की प्रदक्षिणा करते हैं।



पृथ्वी से चंद्रमा कम-से-कम २२१,६१०; शुक्र २३,७०१,०००; मंगल ३३,९१६,०००; बुध ४८,०२०,०००; सूर्य ९१,४०६,०००; बृहस्पति ३६५,८१६,०००; शनि ७४२,६४६,०००; यूरेनस १,६०६,१८३,०००; और नेपच्यून २,६७४,३२७,००० मील दूर है। यदि ३०० मील प्रति घंटे की गतिवाले वायुयान द्वारा हम इन तक लगातार यात्रा करें तो पहुँचने में वह समय लगेगा जो चित्र में दिया गया है।



दूरदर्शक द्वारा दिखाई देनेवाला शनि ग्रह का रूप
इसके आसपास का वलय आकाश की रहस्यमय वस्तुओं में से एक है। [फ़ोटो 'माउण्ट विलसन वेधशाला' ।]

ग्रहों की दूरी और नाप

सौर जगत् का चित्र प्रायः सदा ही अशुद्ध पैमाने पर बनाया जाता है, क्योंकि यदि दूरियाँ ठीक पैमाने पर बनाकर किसी भी पुस्तक के पृष्ठ पर दिखलाई जायँ तो उस पैमाने पर ग्रहों को सुई की नोक से भी छोटा दिखलाना पड़ेगा। इसलिए ग्रहों की शुद्ध दूरियों और नापों की कल्पना करने के लिए किसी अन्य उपाय का सहारा लेना पड़ता है। इस सम्बन्ध में यूरेनस के आविष्कारक के सुपुत्र सर जॉन हरशेल की दी हुई निम्न उपमा बड़ी सुन्दर है। "अच्छी तरह से समतल की हुई भूमि चुन लीजिए। इस पर दो फ़ीट व्यास का एक गोला रख दीजिए। यह तो सूर्य को सूचित करेगा। इस पैमाने पर बुध एक दाना राई से निरूपित हो जायगा और यह १६४ फ़ीट व्यास के वृत्त पर रहेगा; शुक्र एक दाना मटर के समान २४८ फ़ीट व्यास के वृत्त पर; पृथ्वी भी मटर के बराबर ४३० फ़ीट के वृत्त पर; मंगल बड़ी आलपिन के सर के बराबर ६५४ फ़ीट के वृत्त पर; अवांतर-ग्रह बालू के कण के समान १००० से १२०० फ़ीट की कक्षा में; बृहस्पति एक न बहुत बड़े न बहुत छोटे नारंगी के बराबर, लगभग आधे मील के वृत्त पर; शनि छोटी नारंगी के समान [illegible] मील के वृत्त पर; यूरेनस छोटी लीची के बराबर डेढ़ मील से भी बड़े वृत्त पर; और नेपच्यून बड़ी लीची के बराबर लगभग ढाई मील के वृत्त पर। रहा विषय का सच्चा बोध काग़ज़ पर वृत्तों को खींचकर कराना, या इससे भी बुरा, लड़कों के उन खिलौनों द्वारा, जिन्हें 'ऑरेरी' कहते हैं—इन उपायों पर तो विचार करना ही व्यर्थ है।"



यूरेनस ग्रह
[फ़ोटो—'लिक वेधशाला' से प्राप्त।]

उपरोक्त पैमाने पर नवीन ग्रह यम (प्लूटो) लगभग ५ मील पर रहेगा और निकटतम तारा ११०० मील पर !

वेध और गणित द्वारा ग्रहों की नापों और दूरियों के अतिरिक्त हम उनकी तौल, आकर्षण-शक्ति, तापक्रम, आदि प्रायः सभी बातें जानते हैं। ग्रहों की तौलों में भी बड़ी विभिन्नता है। पृथ्वी की तौल १६००० शंख मन है। यदि कल्पना में न आनेवाली इस तौल का १ सेर से निरूपण किया जाय तो उसी अनुपात में सूर्य ८००० मन का होगा। उसी पैमाने पर बृहस्पति पौने आठ मन का, शनि २ मन १३ सेर का, यूरेनस १७ सेर का, नेपच्यून १४ सेर का, शुक्र १३ छटाँक का, मंगल डेढ़ छटाँक का, बुध १ छटाँक का और

चंद्रमा एक तोले का होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि बृहस्पति अन्य ग्रहों के सम्मिलित तौल से भी भारी है और सूर्य सब ग्रहों के योग से ७५० गुना भारी है।

ग्रहों के पृष्ठों पर आकर्षण-शक्ति में उतना अधिक अंतर नहीं है जितना उनकी तौलों में है। कारण यह है कि भारी ग्रह बड़े होते हैं और इसलिए केंद्र से दूरी बढ़ जाने के कारण वहाँ आकर्षण-शक्ति उतनी अधिक नहीं बढ़ पाती जितनी तौल के कारण बढ़नी चाहिए थी। गणना से पता चलता है कि डेढ़ मन के आदमी की तौल बृहस्पति पर तीन मन, शनि पर पौने दो मन, शुक्र पर सवा मन, यूरेनस और नेपच्यून पर भी लगभग इतनी ही और बुध और मंगल पर आधे मन से कुछ ऊपर ठहरेगी। अवांतर ग्रहों पर वह मनुष्य केवल दो-चार छटाँक का ही जान पड़ेगा। तौल कमानीदार काँटे पर करनी होगी; साधारण



सौर परिवार के सदस्यों के आकार की परस्पर तुलना

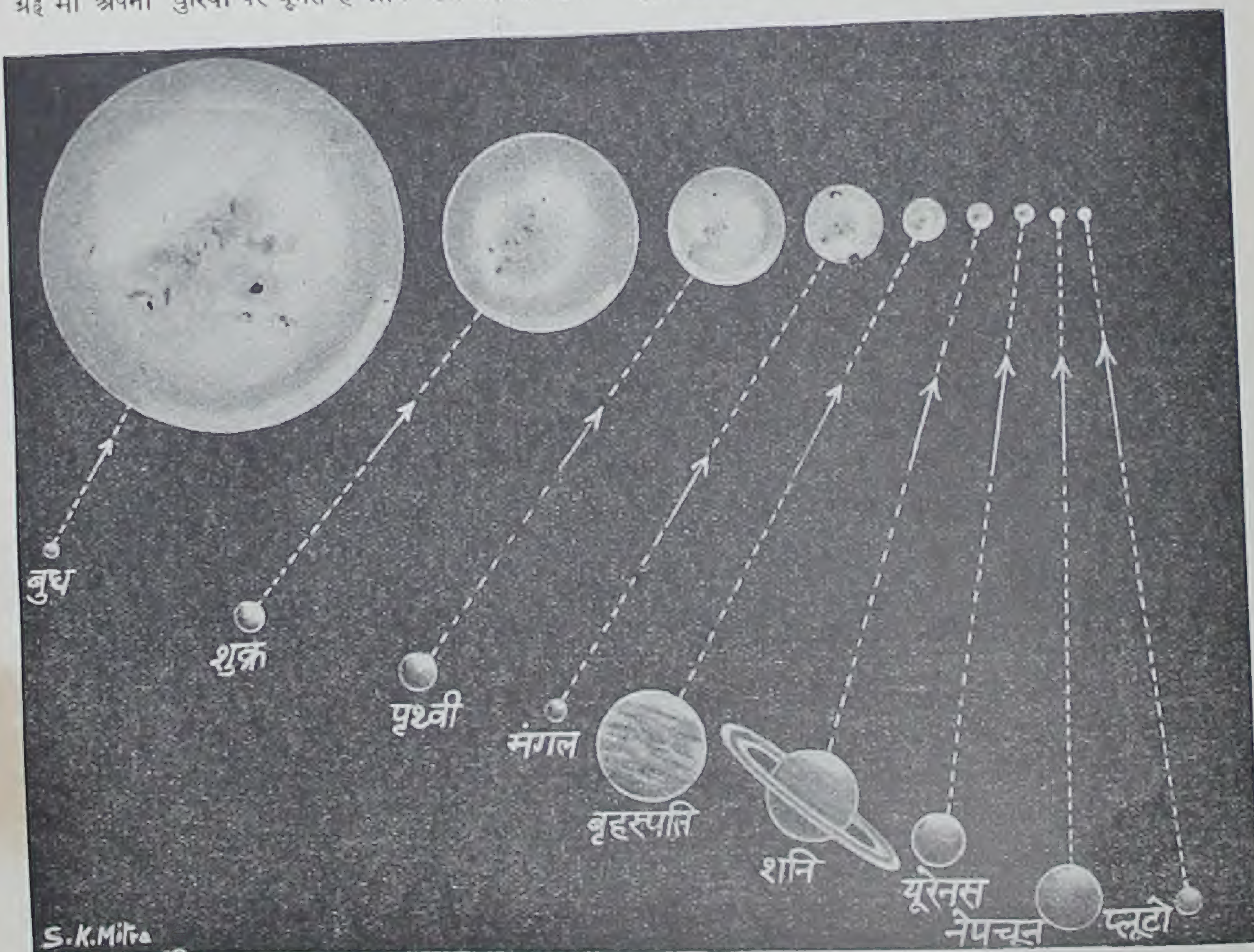
चित्र से स्पष्ट है कि सूर्य के मुकाबले में पृथ्वी रजकण के बराबर है। सूर्य इतना बड़ा है कि उसमें १,३०५,००० पृथ्वियाँ समा सकती हैं।

तराज़ू से तौलने पर कुछ पता न चलेगा, क्योंकि बाँटों का भी वज़न उसी हिसाब से घटता-बढ़ता जायगा।

ग्रहों के सापेक्षिक घनत्व में भी बहुत अंतर है। पृथ्वी पानी की अपेक्षा साढ़े पाँच गुनी भारी है, परन्तु शनि पानी से हलका है। शनि तो पानी में उतराने लगेगा (यदि उसके लिए काफ़ी बड़ा समुद्र मिल सके)! शुक्र पानी की अपेक्षा लगभग पाँच गुना भारी, बुध इससे कुछ हलका और मंगल साढ़े तीन गुना भारी है। शेष ग्रह इससे हलके हैं। बृहस्पति पानी से केवल सवा गुना ही भारी है। यूरेनस का सापेक्षिक घनत्व भी प्रायः इतना ही है और नेपच्यून का इससे थोड़ा ही कम है।

पृथ्वी अपनी धुरी पर एक बार २४ घंटे में घूम लेती है। इसी से यहाँ दिन-रात २४ घंटे का होता है। अन्य ग्रह भी अपनी धुरियों पर घूमते हैं और उन पर भी दिन-रात हुआ करते हैं, परंतु उनके दिन-रातों में २४ घंटे नहीं लगते। बृहस्पति और शनि के दिन-रात क्रमानुसार दस और सवा दस घंटे के होते हैं। मंगल पर दिन-रात की लंबाई २४ घंटे से केवल ४१ मिनट अधिक है। चंद्रमा पर हमारे १४ दिनों का एक दिन और इतने ही समय की एक रात होती है। बुध, शुक्र, यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो के बारे में ठीक पता नहीं है कि वे एक चक्कर कितने समय में लगाते हैं, क्योंकि उनके पृष्ठ पर कोई ऐसा स्पष्ट चिह्न नहीं दिखलाई पड़ता, जिसको देखकर उनके चक्कर लगाने के समय का ठीक पता लगाया जा सके।

बुध से सूर्य बहुत बड़ा दिखलाई पड़ता होगा, क्योंकि वह सूर्य के बहुत निकट है। प्लूटो से सूर्य तारे के समान जान पड़ता होगा। पृथ्वी की अपेक्षा बुध को सूर्य से ७ गुनी अधिक गर्मी मिलती है, प्लूटो को केवल नाममात्र की।



विभिन्न ग्रहों से दिखाई देनेवाला सूर्य का आकार

इस चित्र में यह बात समझाई गई है कि किस प्रकार ज्यों-ज्यों हम सूर्य से अधिकाधिक दूरी पर स्थित ग्रहों पर जायँगे, त्यों-त्यों सूर्य का आकार वहाँ से अधिकाधिक छोटा दिखाई पड़ेगा।

कलाएँ

चंद्रमा की तरह बुध और शुक्र में भी कलाएँ दिखलाई पड़ती हैं। कारण यह है कि सभी ग्रह सूर्य के प्रकाश से चमकते हैं। उनमें से कोई भी इतना गरम नहीं है कि अपने प्रकाश के कारण हमको दिखलाई पड़े। परन्तु वे ग्रह जो पृथ्वी-कक्षा के बाहर हैं, हमें कभी भी द्वितीया के चंद्रमा की तरह क्षीण नहीं दिखलाई पड़ सकते। इसका कारण चित्र खींचकर विचार करने से मालूम हो जायगा। परन्तु उन ग्रहों में जो पृथ्वी-कक्षा के भीतर हैं, अर्थात् बुध और शुक्र में, ठीक चंद्रमा की तरह ही कलाएँ दिखलाई पड़ती हैं। कलाएँ देखने के लिए दूरबीन चाहिए; कोरी आँख से प्रत्येक अवस्था में वे तारे के समान ही जान पड़ते हैं। हाँ, वे कभी कम चमकीले और कभी अधिक चमकीले-से दिखलाई पड़ते हैं।

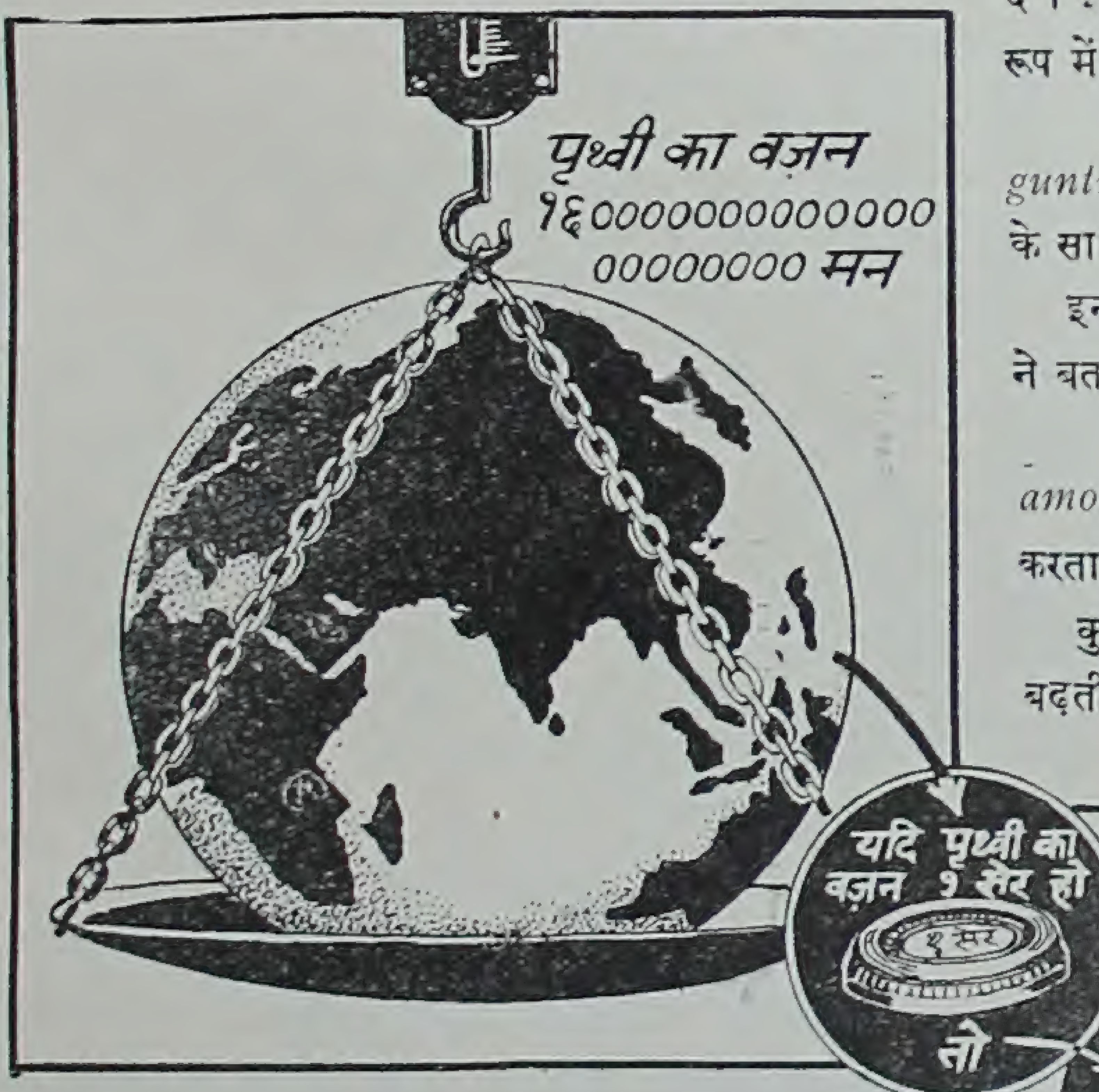
कलाओं की खोज का इतिहास रोचक है। प्राचीन ज्योतिषियों का विश्वास था कि पृथ्वी अचल है और सूर्य तथा अन्य ग्रह इसके चारों ओर घूमा करते हैं। पोलैंड के संन्यासी कॉपरनिकस ने प्राचीन सिद्धान्त से सहमत न होकर यह सम्मति प्रकट की कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी तथा अन्य ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। उसको अपने सिद्धान्त पर इतना विश्वास था कि उसने इसकी भी घोषणा की कि बुध और शुक्र में कलाएँ दिखलाई पड़ेंगी, क्योंकि यह सूर्य की प्रदक्षिणा करने का एक परिणाम है। उस समय इस बात की सत्यता की जाँच न हो सकी, क्योंकि उस समय दूरदर्शक का आविष्कार नहीं हुआ था। कॉपरनिकस के मरने के ६० वर्ष बाद गैलीलियो ने अपने नव-आविष्कृत दूरदर्शक से इन कलाओं को पहले-पहल देखा। निश्चित रूप से यह जानने के लिए कि कलाएँ घटती-बढ़ती हैं या नहीं, गैलीलियो समय चाहता था, परन्तु साथ ही डरता भी था कि कहीं कोई दूसरा व्यक्ति इसका स्वतंत्र रूप से आविष्कार करके पहले ही घोषणा न कर दे। इसलिए उसने आविष्कार को निम्नलिखित पहेली के रूप में प्रकाशित किया—

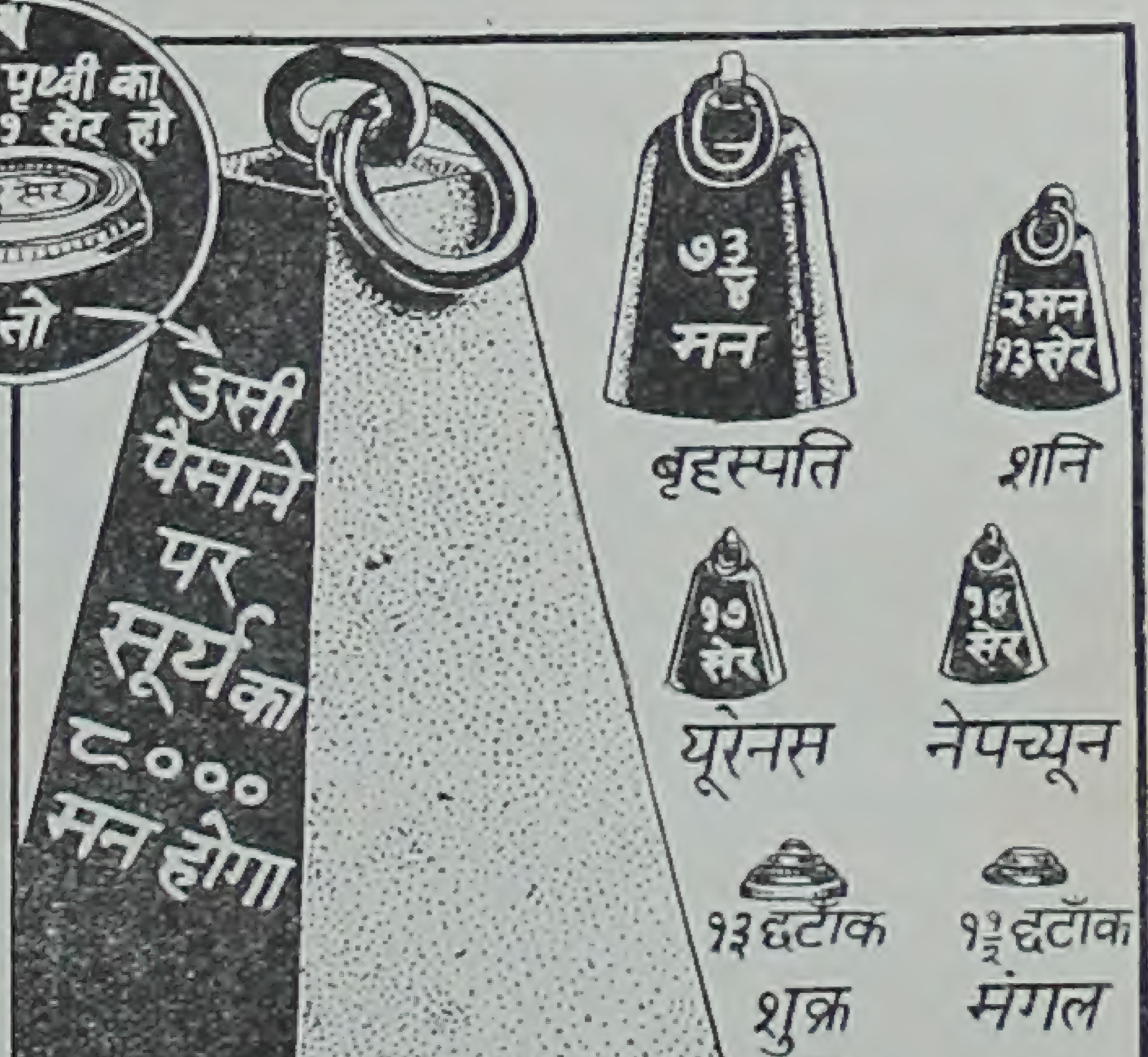
"Haec immatura a! me jam frustra leguntur o. y" (अर्थात् इन कच्ची चीज़ों को मैंने गर्व के साथ तोड़ा है।)

इन्हीं अक्षरों को दूसरे क्रम में लिखने से, जैसा गैलीलियो ने बतलाया, उसके आविष्कार का वर्णन हो जाता था—

"Cynthinae figuras aemalatur mater amorum." (अर्थात् शुक्र चंद्रमा की कलाओं की नक़ल करता है।)

कुछ तो कलाओं के कारण और कुछ सूर्य से दूरी घटती-बढ़ती रहने के कारण ग्रहों की चमक बदलती रहती है।





सौर परिवार के सदस्यों का सापेक्षिक तौल

उदाहरणतः शुक्र अपनी कक्षा में चलते-चलते जब सूर्य के उस पार चला जाता है तब पृथ्वी और शुक्र के बीच की दूरी दोनों की कक्षाओं के व्यासार्धों के योग के बराबर हो जाती है। परन्तु जब शुक्र सूर्य के इस पार रहता है तब उसकी दूरी केवल दोनों कक्षाओं के व्यासार्धों के अंतर के बराबर रहती है। परिणाम यह होता है कि ग्रहों की चमक और दूरदर्शक से देखने पर उनकी नाप हमको कभी कम कभी अधिक दिखलाई पड़ती है।

अक्ष-भ्रमण और प्रदक्षिणा

प्रत्येक ग्रह अपनी अक्ष पर घूमा करता है और साथ ही सूर्य की प्रदक्षिणा भी किया करता है। बुध को छोड़ सभी ग्रहों के एक या अधिक उपग्रह भी हैं, जो ठीक उसी प्रकार उनकी प्रदक्षिणा किया करते हैं, जैसे चंद्रमा पृथ्वी की करता है। ये उपग्रह भी अपनी अक्ष पर घूमा करते हैं। इन सब चक्करों में घूमने या चलने की दिशा एक ही रहती है। यदि कोई हमारे सौर जगत् को उत्तरी ध्रुव से देखे तो उसे पता चलेगा कि सभी ग्रह और प्रायः सभी उपग्रह अक्ष-भ्रमण और प्रदक्षिणा में घड़ी की सुइयों के चलने की दिशा से उलटी दिशा में चल रहे हैं। प्रत्यक्ष है कि इसका कोई कारण होगा। प्रसिद्ध फ्रेन्च ज्योतिषी और गणितज्ञ लाप्लास के नीहारिका-सिद्धांत के अनुसार हमारा सौर जगत् एक नाचती हुई नीहारिका के जम जाने से बना है। नीहारिका स्वयं उपरोक्त दिशा में नाच रही थी। इसी से सब ग्रह और उपग्रह इस दिशा में आज भी नाच रहे हैं। एक-दो उपग्रह ही केवल उलटी दिशा में चलते हैं। कारण यह है कि वे अपने ग्रहों से दूरी पर हैं और इसलिए उन पर ग्रह की आकर्षण-शक्ति क्षीण पड़ती है। किसी समय ये उपग्रह किसी अन्य आकाशीय पिंड के आकर्षण में पड़ गये होंगे, जिससे उनकी गति उलट गई होगी।

चमक

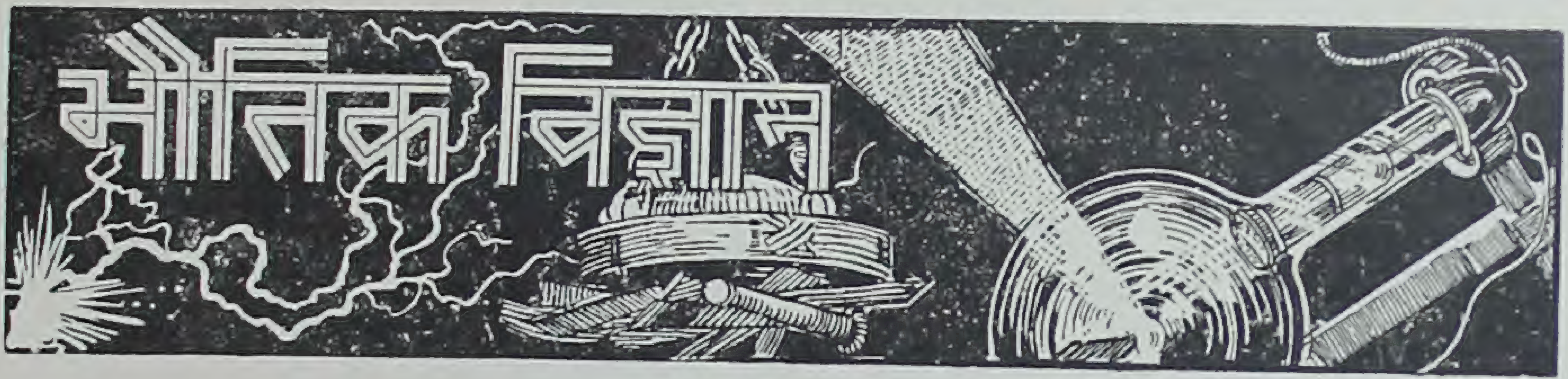
ग्रहों पर सूर्य का प्रकाश कितना पड़ रहा है, इसकी गणना आसानी से की जा सकती है। फिर, देखने से हम यह भी जानते हैं कि ग्रह हमको कितना चमकीला ज्ञात होता है। इसलिए यह सुगमता से जाना जा सकता है कि ग्रह की सतह वस्तुतः कितनी चमकीली है—उसकी परिक्षेपण-शक्ति क्या है। श्वेत बादलों पर जब प्रकाश पड़ता है तो तीन-चौथाई भाग लौट आता है। इसीलिए श्वेत बादल हमें बहुत चमकीला जान पड़ता है। इसके विपरीत जब काले पत्थरों पर प्रकाश पड़ता है तो प्रकाश का केवल बीसवाँ भाग ही लौट पाता है। शेष प्रकाश को काला पत्थर सोख लेता है। इसीलिए काला पत्थर हमको काला और बिना चमक का जान पड़ता है। बादलों की परिक्षेपण-शक्ति बहुत अधिक है, काले पत्थरों की बहुत कम। शुक्र की परिक्षेपण-शक्ति प्रायः श्वेत बादलों की-सी है, जिससे पता चलता है कि यह सदा बादलों के अंदर छिपा रहता है। हम शुक्र की असली सतह को नहीं देख पाते। बुध पर बादल नहीं हैं, मंगल पर भी नहीं हैं, परन्तु बृहस्पति पर अवश्य बादल के समान ही चमकीला कोई पदार्थ है। संभवतः यह जलवाले बादल के बदले किसी गैस का बादल होगा, क्योंकि सूर्य से बहुत दूर होने के कारण बृहस्पति इतना गरम न होगा कि वहाँ साधारण बादल रहे। वहाँ तो पानी जमकर बर्फ़ हो जायगा, बादल की कौन कहे!

प्रदक्षिणा

सूर्य के चारों ओर एक बार घूमने में पृथ्वी को एक वर्ष लगता है; बुध की एक प्रदक्षिणा केवल ३ महीने में ही हो जाती है; शुक्र को ७ महीने लगते हैं, मंगल को लगभग २ वर्ष, बृहस्पति को १२ वर्ष, शनि को साढ़े उनतिस वर्ष, यूरेनस को ८४ वर्ष, नेपच्यून को १६५ वर्ष और प्लूटो को २४९ वर्ष! ये प्रदक्षिणा-काल एक नियम के अनुसार बढ़ते हैं, जिनका पहले-पहले केपलर को पता लगा था।

ग्रह वृत्त में नहीं चलते, वे दीर्घवृत्त में चलते हैं। सूर्य दीर्घवृत्त के केन्द्र पर रहने के बदले उसकी एक नाभि पर रहता है। दीर्घवृत्त और इसकी नाभि को जानने के लिए भूमि में दो कीलें गाड़ दीजिये और इन कीलों को तागे की माला पहना दीजिए। तागे को पेंसिल से तानकर पेंसिल चलाइए। इस प्रकार जो रेखा खिंचेगी, वह दीर्घवृत्त होगी। कीलें इसकी नाभियों पर रहेंगी। माला को छोटी या बड़ी रखने से कम या अधिक चिपटा दीर्घवृत्त बनेगा। सब ग्रह प्रायः गोल दीर्घवृत्त में चलते हैं, केवल पुच्छल तारे चिपटे दीर्घवृत्तों में चलते हैं।

उपग्रह भी ग्रहों की प्रदक्षिणा दीर्घवृत्त में चलकर करते हैं और ग्रह नाभि के स्थान पर रहता है। मंगल के दो उपग्रह हैं; बृहस्पति के नौ, जिनमें से बाहरी दो उलटी दिशा में चलते हैं, शनि के भी नौ उपग्रह हैं, जिनमें से सबसे दूरवाला उलटी दिशा में चलता है; यूरेनस के चार उपग्रह हैं और नेपच्यून का एक। बुध और प्लूटो के अभी तक कोई उपग्रह नहीं देखे गये हैं।



द्रव पदार्थों का दबाव

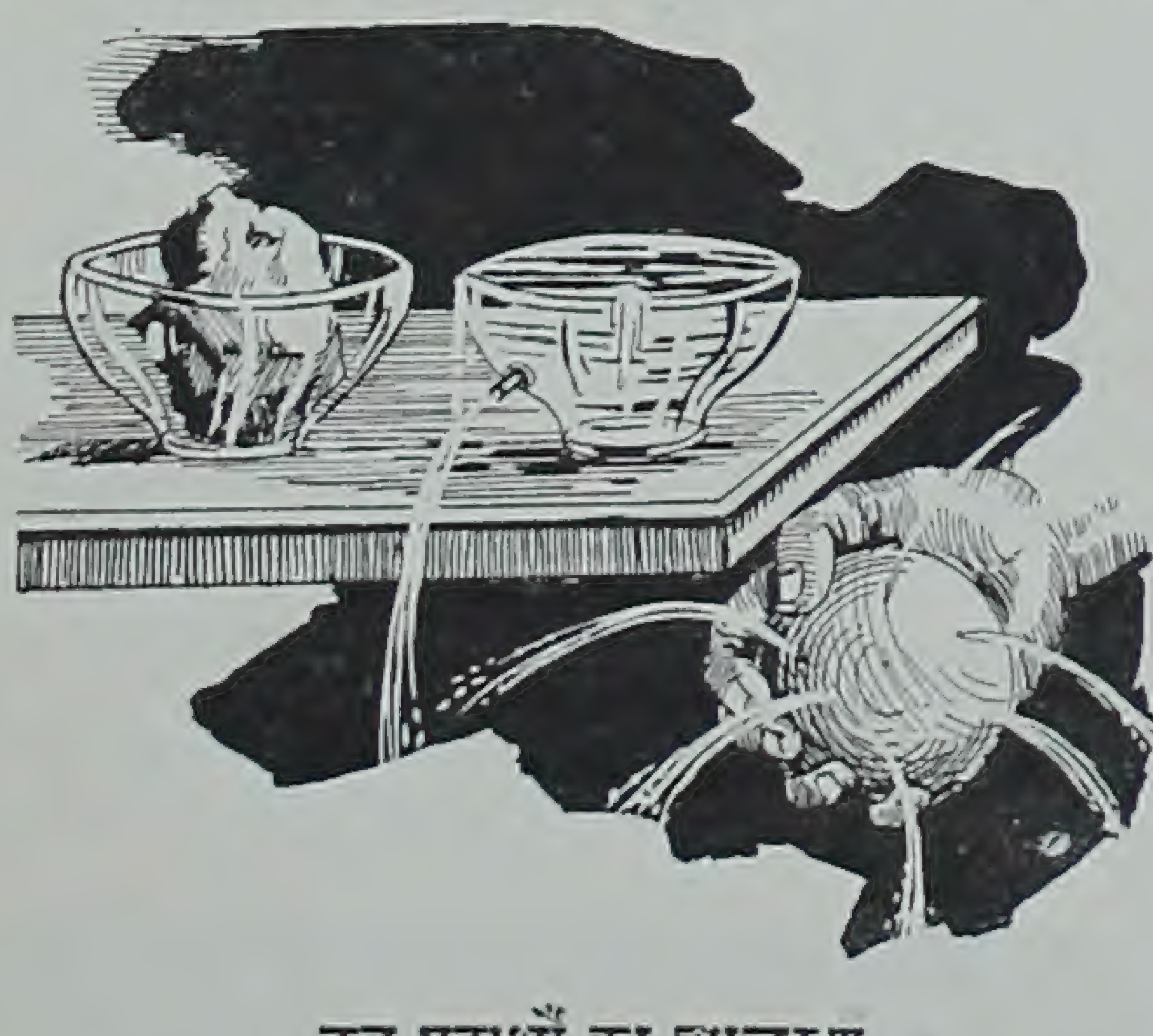
द्रव पदार्थों का आचरण कई बातों में विशेषता रखता है। आइए, इस संबंध में जानकारी प्राप्त करें।

द्रव पदार्थ ठोस पदार्थों से कई मानों में भिन्न होते हैं। किसी समतल धरातल पर ठोस को रख दीजिए तो वह निश्चल उसी जगह पर टिका रहेगा जब तक कि कोई अन्य शक्ति उसे हिलाये-डुलाये नहीं। किन्तु द्रव को किसी मेज़ या फ़र्श पर गिलास में से उँडेल दीजिए तो आप देखेंगे कि फ़र्श पर चारों ओर वह द्रव फैल जाता है।

ठोस के कण आपस में एक दूसरे से गुँथे हुए रहते हैं, उनके अन्दर आपस की एक ज़बर्दस्त आकर्षण-शक्ति काम करती है, जो एक कण को दूसरे कण से बाँधे हुए रहती है। द्रव पदार्थों में यह बात नहीं पाई जाती। इसके कणों की आपस की आकर्षण-शक्ति उतनी प्रबल नहीं है, जितनी ठोस के कणों की। इसी कारण द्रव के कण अपने आप एक दूसरे से सटे हुए नहीं रह सकते। इन कणों को बटोरकर उन्हें इकट्ठा बनाये रखने के लिए यह ज़रूरी है कि उस द्रव के अगल-बगल हर ओर से आड़ हो, जो इन कणों को फिसल भागने से रोक सके।

यही वजह है कि दूध, पानी, तेल आदि द्रव पदार्थों को रखने के लिए ऊँची दीवाल-वाले बर्तन काम में लाये जाते हैं, जबकि ठोस पदार्थों के लिए छिछली रकाबियाँ ही काम आती हैं। जिन बर्तनों में द्रव पदार्थ रक्खे जाते हैं, उनकी दीवालें उस द्रव के कणों को बाहर फिसल भागने से रोकती हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ऐसा करने में उन्हें द्रव के कणों का धक्का सहना पड़ता है। द्रव के कणों का ज़ोर या दबाव बर्तन की दीवालों पर पड़ता है।

हरएक चीज़ का वज़न नीचे की ओर ज़ोर डालता है। मिश्री की एक बड़ी-सी डली हम गिलास के अन्दर रख दें, तो मिश्री के वज़न का ज़ोर गिलास के पेंदे पर पड़ेगा, किन्तु गिलास की दीवालों पर किसी क़िस्म का ज़ोर न पड़ेगा। अब मिश्री हटाकर उसी गिलास में दूध भर दीजिए। दूध के वज़न का पूरा भार गिलास के पेंदे पर तो पड़ेगा ही, साथ ही गिलास की दीवालों पर दूध के कणों का ज़ोर पर्याप्त मात्रा में पड़ेगा। गिलास की दीवाल में एक सूराख़ कर दीजिए तो दूध की तेज़ धार इस सूराख़ के रास्ते से बाहर निकलती हुई नज़र आयेगी। द्रव के कणों की एक दूसरे से फिसलकर भागने की यह प्रेरणा ही बर्तन की दीवालों को धक्का पहुँचाती है। इस सूराख़ को गोंद लगे हुए काग़ज़ के टुकड़े से यदि बन्द करने का प्रयत्न आप करें तो आप देखेंगे कि दूध की धार के



द्रव पदार्थों का आचरण

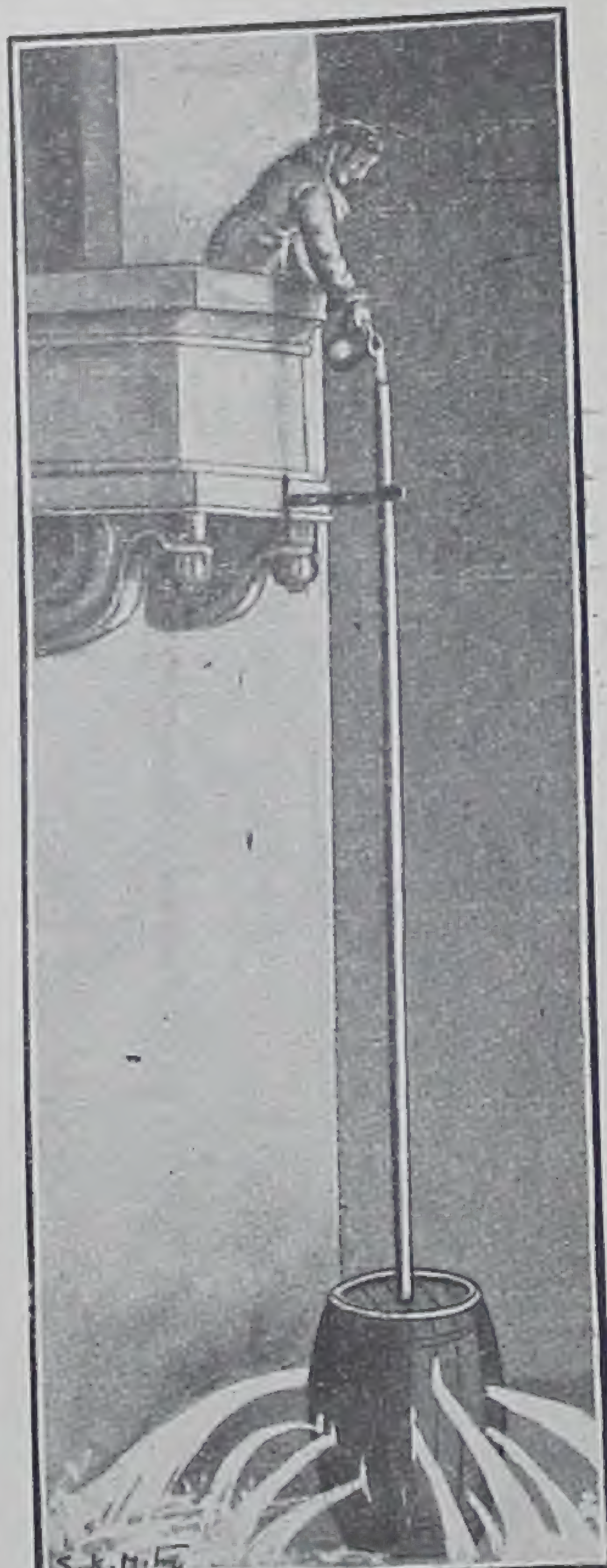
ठोस के कण आपस में बँधे रहते हैं, अतएव वे बर्तन की दीवारों से ऊपर उठे रह सकते हैं। द्रव पदार्थों में ऐसी बात नहीं होती, उनके कण फिसल भागने की कोशिश करते हैं। दूसरे, ठोस का दबाव केवल नीचे की ओर ही पड़ता है, पर द्रव का चारों ओर समान रूप से पड़ता है, जैसा कि ऊपर के चित्र में पानी से भरी सूराख़दार रबर की गेंद को दबाने के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है। ज़ोर पड़ने पर पानी की धाराएँ चारों ओर वेग से निकल पड़ती हैं।

धक्के से यह काग़ज़ का टुकड़ा अलग हो जाता है। इस तरह हम देखते हैं कि ठोस पदार्थ का दबाव केवल नीचे की ओर पड़ता है, किन्तु द्रव पदार्थों का दबाव नीचे तो पड़ता ही है, साथ ही अगल-बगल की ओर भी पड़ता है।

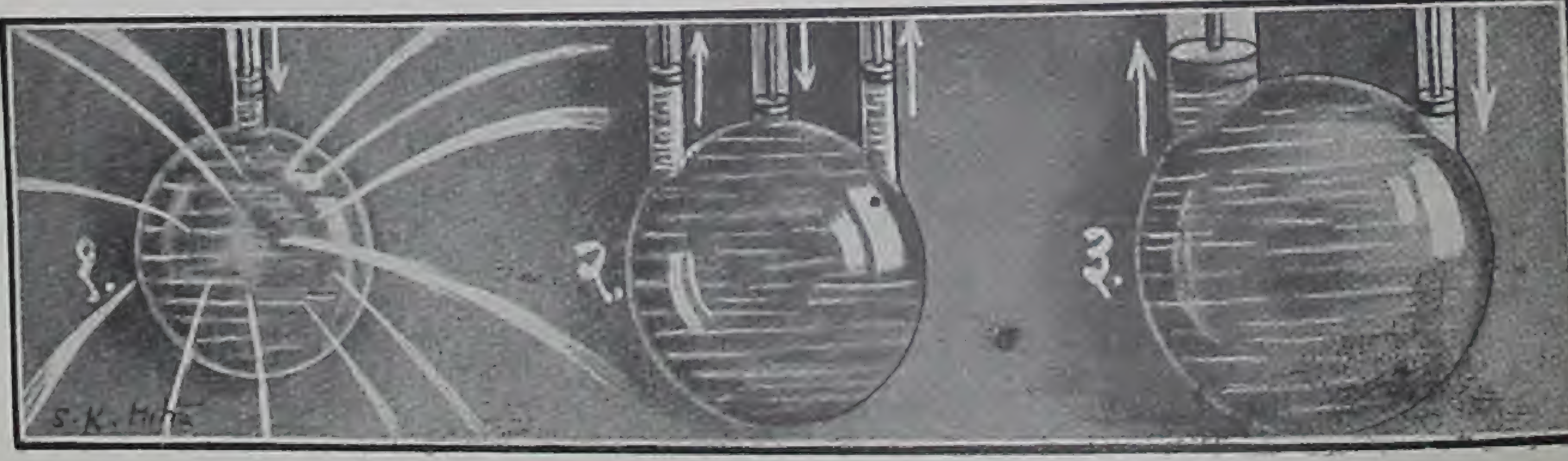
एक और दिलचस्प प्रयोग कीजिए। रबर की गेंद में एक सूराख़ करके पानी भर लीजिए। अब बारीक़ सुई से गेंद में चारों ओर पन्द्रह-बीस सूराख़ और कर डालिए। पानी भरी हुई इस गेंद को ज़ोरों से दबाइए तो आप देखेंगे कि ऊपर, नीचे, अगल-बगल के सभी सूराख़ों से पानी की धार बाहर निकल रही है, और हर सूराख़ से निकलनेवाली धार का ज़ोर एक-सा है। अतएव द्रव पदार्थों का ज़ोर न केवल नीचे और अगल-बगल वरन् ऊपर को भी समान वेग से पड़ता है (दे० ६६५ पृष्ठ का चित्र)।

किसी भी धरातल के इकाई क्षेत्रफल पर जो ज़ोर पड़ता है, उसे भौतिक विज्ञान की भाषा में दबाव (pressure) के नाम से पुकारते हैं। वैसे तो आम बोल-चाल की भाषा में दबाव के अर्थ लोग पूरे भार या धक्के के लगाते हैं, जो किसी धरातल पर लग रहा हो। किन्तु वैज्ञानिक जब दबाव की बात करेगा तो उसका एकमात्र अभिप्राय यह होगा कि एक वर्ग-इंच या एक वर्ग-सेन्टीमीटर पर कितना ज़ोर पड़ रहा है।

दबाव (pressure) और समूचे धरातल पर पड़नेवाले तमाम ज़ोर में काफ़ी अन्तर है। अपनी हथेली पर एक आलपिन को खड़ी कीजिए, और उसके सिरे पर एक सेर का बाँट रख दीजिए। फ़ौरन् आलपिन की नोक आप की हथेली के चमड़े को भेदकर अन्दर घुस जायगी। किन्तु उसी बाँट को जब आप एकदम हथेली पर रख लेते हैं तो इस हालत में आपकी हथेली का चमड़ा बिंधता नहीं। क्यों? हथेली के ऊपर दोनों ही हालत में समूचा ज़ोर एकसा ही पड़ रहा है; किन्तु पहली दशा में एक सेर का वज़न हथेली के पिन की नोक के बराबर नन्हें-से धरातल पर पड़ रहा था। अतः प्रति वर्ग इंच के हिसाब से हथेली पर दबाव इस बार ज़्यादा था। फिर दूसरी बार



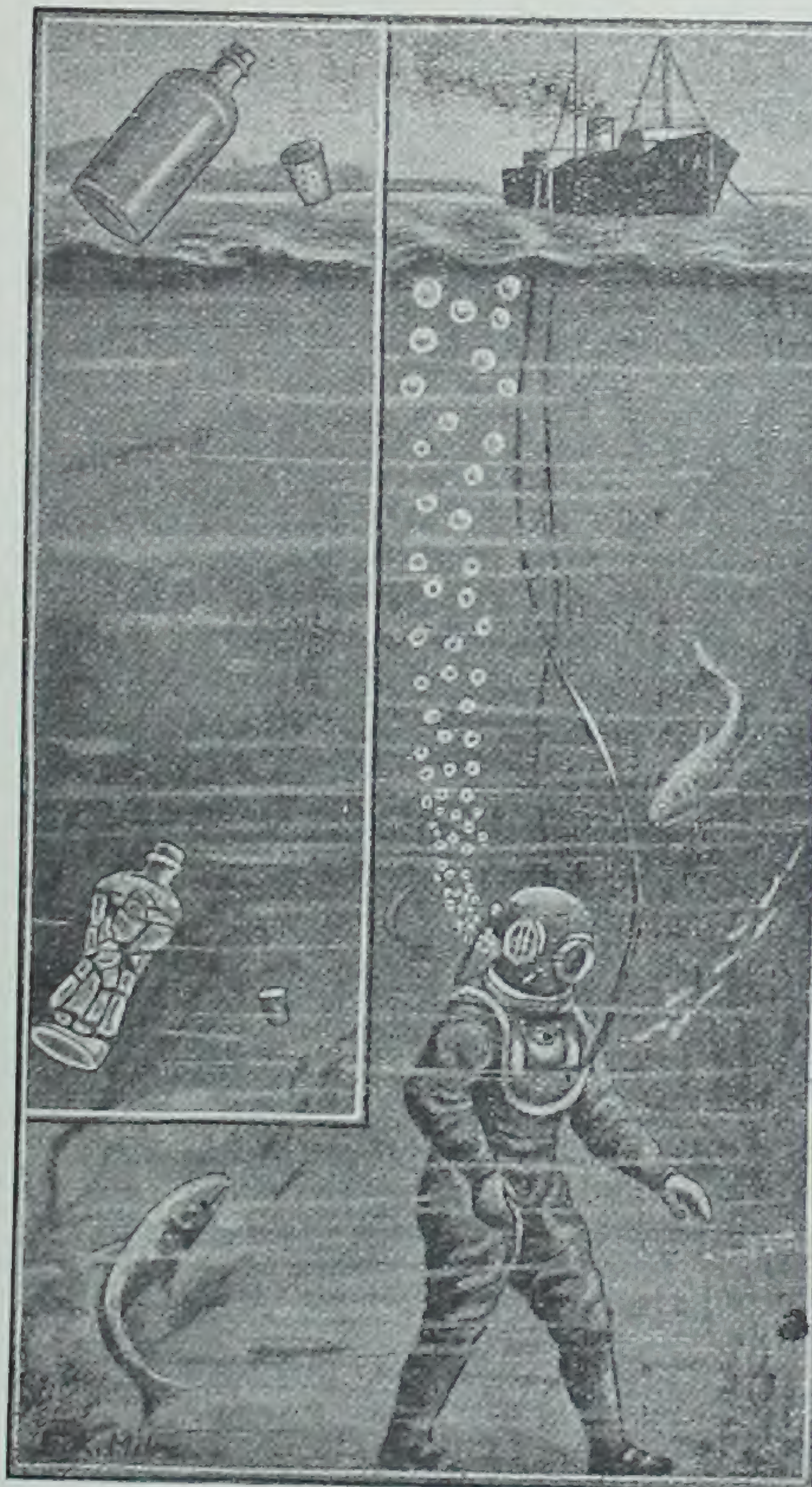
(ऊपर के चित्र में) फ्रैञ्च दार्शनिक पैस्कल का एक प्रयोग, जिसके द्वारा उसने पानी से भरी एक मज़बूत बैरल को, उस पर लगी हुई एक लंबी पतली नली द्वारा पानी पहुँचाकर, फोड़ दिया था। (नीचे) पैस्कल के द्रव-संबंधी नियम की जाँच के लिए प्रयोग। विशेष विवरण के लिए पृष्ठ ६६७-६६८ का मैटर।



जब बाँट सीधा हथेली के ऊपर रख दिया गया, तो वही वज़न एक चौड़े धरातल के ऊपर बँट गया और दबाव प्रति वर्ग इंच पर पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गया। इस कारण दूसरी बार हथेली का चमड़ा छिदा नहीं।

दलदल में फँसे हुए हाथी को लिटाकर उसके शरीर को रस्सी से बाँधकर उसे दलदल से बाहर खींच लाते हैं; क्योंकि उसको दलदल के ऊपर लिटा देने से उसके शरीर का सारा वज़न एक चौड़े धरातल के ऊपर बँट जाता है। दलदल के उपर उसके शरीर का दबाव प्रति वर्ग इंच कम पड़ता है, और दलदल के अन्दर उसके धँसने की सम्भावना कम हो जाती है।

यदि किसी ठोस पदार्थ को ऊपर से दबायें, तो हमारे दबाने का सारा ज़ोर उस धरातल पर पहुँचेगा, जिस पर वह ठोस टिका हुआ है। ठोस के कण एक दूसरे से घने गुँथे हुए हैं, अतः सबसे ऊपर की सतह के कण पर डाला गया दबाव पेंदे के कण के पास सीधा पहुँचता है। द्रवों के अन्दर ऐसी बात नहीं पाई जाती। द्रव के कण आसानी से हर दिशा में हरकत कर सकते हैं। अतः किसी द्रव के ऊपरी सतह पर हम दबाव डालें तो द्रव के कण चारों ओर उतने ही दबाव के वेग से भागने का प्रयत्न करेंगे। फलस्वरूप जिस बर्त्तन में द्रव रक्खा होगा उसके पेंदे में, उसकी दीवालों में, सब जगह उतना ही दबाव पड़ेगा, जितना उस द्रव के ऊपरी हिस्से पर हमने डाला है।



गहराई के साथ पानी के दबाव की वृद्धि
(विशेष जानकारी के लिए देखिए पृष्ठ ६६८ के दूसरे कालम का मैटर)

प्रसिद्ध फ्रैञ्च विद्वान् पैस्कल ने पहली बार द्रव के इस अनूठे गुण का पता लगाया था कि एक द्रवराशि के किसी भाग पर यदि दबाव डाला जाय तो यह दबाव उस द्रवराशि के प्रत्येक कोने-कोने में पहुँच जायगा तथा इस दबाव का ज़ोर भी उतना ही होगा, जितना द्रवराशि के ऊपर हमने डाला है। दबाव हर दिशा में पहुँच जाता है, तथा द्रव के धरातल पर यह ज़ोर लम्बवत् पड़ता है।

इस नियम की सचाई परखने के लिए एक गेंद की शक्ल का बर्त्तन लीजिए। इस बर्त्तन के मुँह पर एक नली फ़िट कीजिए, जिसमें पिचकारी की तरह गट्टेवाला एक पिस्टन भी फ़िट किया हो। बर्त्तन में पानी भरकर गट्टा नली में लगा दीजिए। पिस्टन के ऊपर एक सेर भर का बाँट रखिए। अब गट्टा पानी को नीचे की ओर एक सेर के वज़न से दबाएगा। यही दबाव इस बर्त्तन की दीवालों पर चारों ओर समान रूप से पड़ेगा। यदि बर्त्तन में सूराख़ चारों ओर किये जायँ, तो उन सभी सूराख़ों में से पानी की धार समान वेग से निकलेगी। (पृष्ठ ६६६ के निचले चित्र में नं० १)।

ऐसे ही गोल बर्त्तन में दो गट्टेदार नलियाँ फ़िट कीजिए। दोनों नली का मुँह एक-सा चौड़ा हो। अब यदि एक नली के पिस्टन को सेर भर के वज़न से दबायें तो दूसरी नली का पिस्टन अपने आप ऊपर को सेर भर के वज़न के बराबर

ज़ोर मारेगा। यदि पाँच-छः और नलियाँ इसी प्रकार उस बर्त्तन में फ़िट की जायँ, तो प्रत्येक नली के अन्दर पानी सेर भर के वज़न के बराबर ज़ोर मारेगा (दे० उक्त चित्र में नं० २)। यहीं तक नहीं, बल्कि यदि बर्त्तन में एक नली के मुँह का क्षेत्रफल १ वर्ग इंच और दूसरी का १० वर्ग इंच हो, तो इस हालत में भी पहली नली पर डाला गया १ सेर दबाव चौड़ी नली के मुँह पर १ सेर दबाव डालेगा (उक्त चित्र में नं० ३)। किन्तु यह दबाव हर एक वर्ग इंच पर है, और चौड़ी नली के मुँह का क्षेत्रफल १० वर्ग इंच है। इसलिए चौड़ी नली के पिस्टन पर कुल ज़ोर १० सेर का पड़ेगा! और यदि चौड़ी नली के मुँह का क्षेत्रफल पतली नली के मुँह से १०० गुना ज़्यादा हुआ तो चौड़ी नली के अन्दर १०० सेर का दबाव महसूस होगा। हम देख चुके हैं कि लीवर में भी हम तनिक-सी शक्ति लगाकर भारी बोझ को सँभाल सकते हैं।

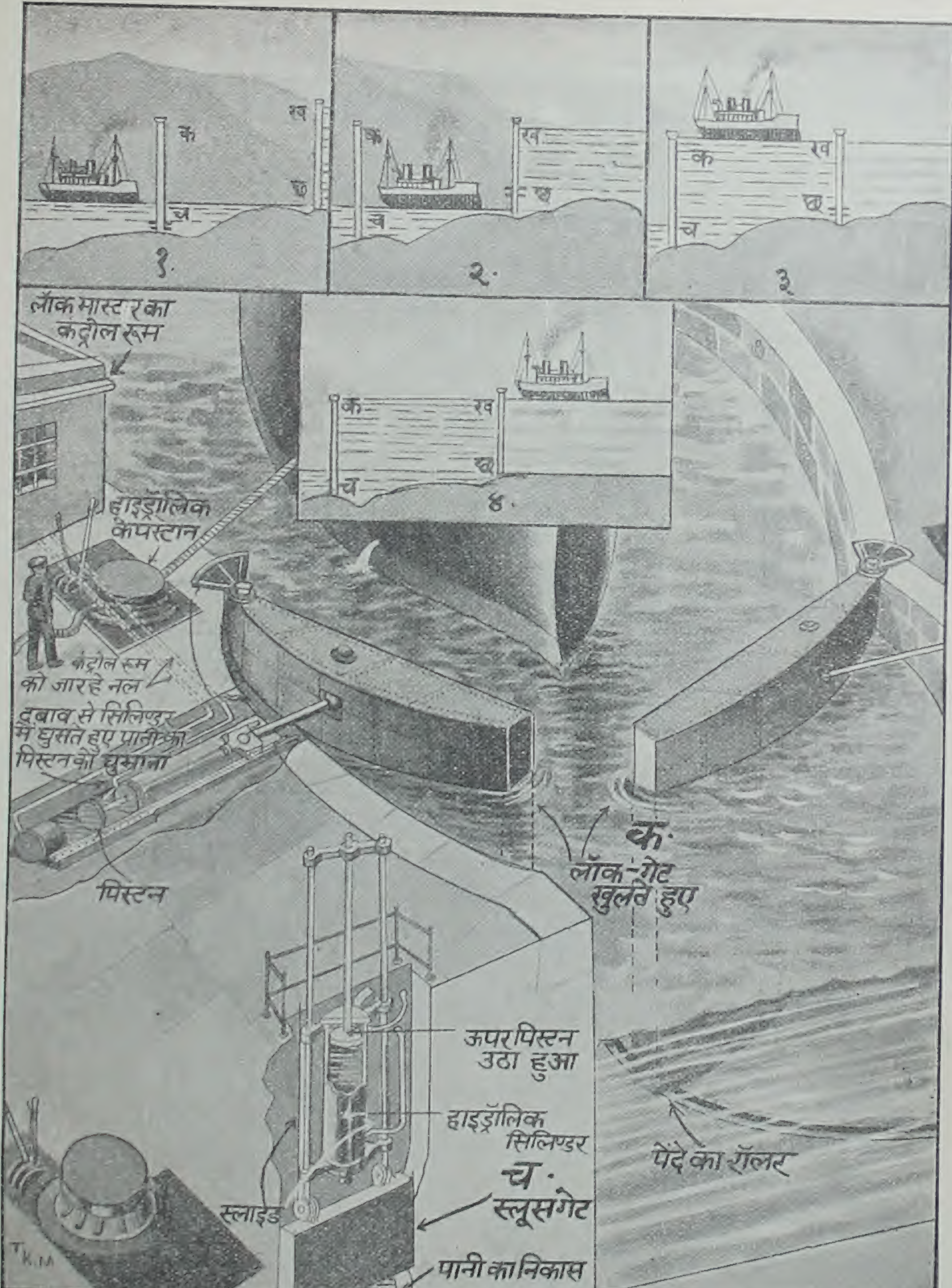
पैस्कल के इस नियम का पूरा फ़ायदा फ़ैक्टरीवालों ने उठाया है। भारी बोझों को कारख़ानों में गोदाम से ऊपर की मंज़िल तक पहुँचाने के लिए पानी के लिफ़्ट काम में लाये जाते हैं, जो पैस्कल के नियम के आधार पर बने हैं। किन्तु ये लिफ़्ट बहुत ही धीमी गति से ऊपर को चढ़ते हैं। चौड़े मुँह की नली के मुँह का क्षेत्रफल यदि सँकरी नली के मुँह का १०० गुना हुआ तो सँकरी नली पर लगाया गया १ सेर का दबाव चौड़ी नली पर १०० सेर के दबाव को सँभाल सकेगा। किन्तु जितनी देर में पतली नली का पिस्टन १ फ़ीट नीचे आयेगा, उतनी देर में दूसरी नली का पिस्टन केवल १/१०० फ़ीट ही ऊँचा चढ़ पायेगा। इसीसे ये लिफ़्ट कम काम में आते हैं। रुई की गाँठें दबाने के लिए भी ऐसी मशीनें बनाई गई हैं, जो केवल पानी के दबाव से परिचालित होती हैं। ताता कम्पनी में लोहे की चद्दरें पीटने के लिए विशालकाय हथौड़े भी जल के दबाव से चलाये जाते हैं (दे० पृष्ठ ६७० का चित्र)।

द्रव के दबाव के बारे में दूसरी बात जो हमें जानना ज़रूरी है, वह यह कि द्रव की सतह के नीचे जितनी अधिक गहराई पर हम जायँ, उतने ही ज़्यादा ऊँचे द्रवस्तम्भ का भार उस विन्दु पर स्थित द्रव को सँभालना होता है। अतः द्रव की गहराई के साथ दबाव भी बढ़ता जाता है। यह दबाव केवल द्रव की गहराई पर निर्भर है। बर्त्तन की शक्ल से इस दबाव का कोई वास्ता नहीं। बर्त्तन के अन्दर कुल कितना द्रव भरा है, इसका भी द्रव के अन्दर के किसी विन्दु पर के दबाव पर असर नहीं पड़ता, बशर्ते कि द्रव की गहराई में कोई अन्तर न आये। एक ऊँचे टिन के बर्त्तन में पानी भर दीजिए, और विभिन्न गहराई पर उसमें कई सूराख़ समान आकार के बना लीजिए। आप देखेंगे कि पानी की धार सबसे नीचेवाले सूराख़ से तीव्रतम वेग के साथ और सबसे ऊपरवाले सूराख़ से बड़ी मन्द गति से निकलती है।

दो फ़ीट लम्बी नली में, जिसका मुँह १ वर्ग इंच चौड़ा हो, आप पानी भरिए। इसमें भरे हुए पानी के स्तम्भ का भार लगभग आधा सेर होगा। अतः हौज़ के अन्दर सतह से दो फ़ीट नीचे प्रति वर्ग इंच के ऊपर आध सेर का दबाव पड़ता है। ४ फ़ीट की गहराई पर सेर भर और ८० फ़ीट की गहराई पर पूरे मन भर पानी का दबाव पड़ेगा। यदि चौकोर शक्ल की शीशे की एक ख़ाली बोतल में कार्क लगाकर उसे ६० फ़ीट गहरे पानी में डाल दीजिए तो बोतल बाहर के असीम दबाव के कारण ऐसी चूर-चूर हो जायगी, मानो किसी ने बोतल को मुट्ठी में लेकर उसे निर्दयतापूर्वक मींज दिया हो। द्रव के अन्दर यह दबाव केवल ऊपर ही से नहीं पड़ता है, वरन् चारों ओर से। बोतल में लगी हुई कार्क पिचककर चिपटी नहीं हो जाती है। इसके ऊपर चारों ओर से दबाव समान रूप से पड़ता है, अतः कार्क दबकर आकार में पहले की अपेक्षा बहुत छोटी हो जाती है (दे० पृष्ठ ६६७ का चित्र)।

गहरे जल में रहनेवाली मछलियों के शरीर की बनावट भी प्रकृति ने इस ढंग से गढ़ रक्खी है कि जल के अतिशय दबाव से उनकी हड्डी-पसली चूर-चूर न हो जाय। उनके शरीर के अन्दर का प्रबल रक्त-प्रवाह बाहर के पानी के दबाव का समतुलन आसानी से कर लेता है, और मछली को पानी का दबाव महसूस भी नहीं होने पाता। किन्तु ये ही मछलियाँ जब ऊपर पानी की सतह पर लाई जाती हैं तो पानी के दबाव के हट जाने के कारण उनके शरीर का रक्त-प्रवाह फूट-फूटकर बाहर निकल पड़ता है।

इसके प्रतिकूल मनुष्य का शरीर पानी का दबाव सहने का आदी नहीं है। अतः जब गोतेख़ोर लोग गहरे पानी में डुबकी लगाने के लिए उतरते हैं, तो वे सिर पर पीतल का भारी हैट और शरीर पर एक ख़ास क़िस्म का लबादा धारण कर लेते हैं। समुद्र की सतह पर ट्यूब द्वारा बराबर उसके टोप और लबादे के अन्दर हवा धौंककर पहुँचाई जाती है, ताकि लबादे के अन्दर से यह हवा बाहर पानी के दबाव को सँभाल सके, और उस गोतेख़ोर के शरीर पर पानी के दबाव का असर बिल्कुल न पड़े (दे० पृष्ठ ६६७ का चित्र)।

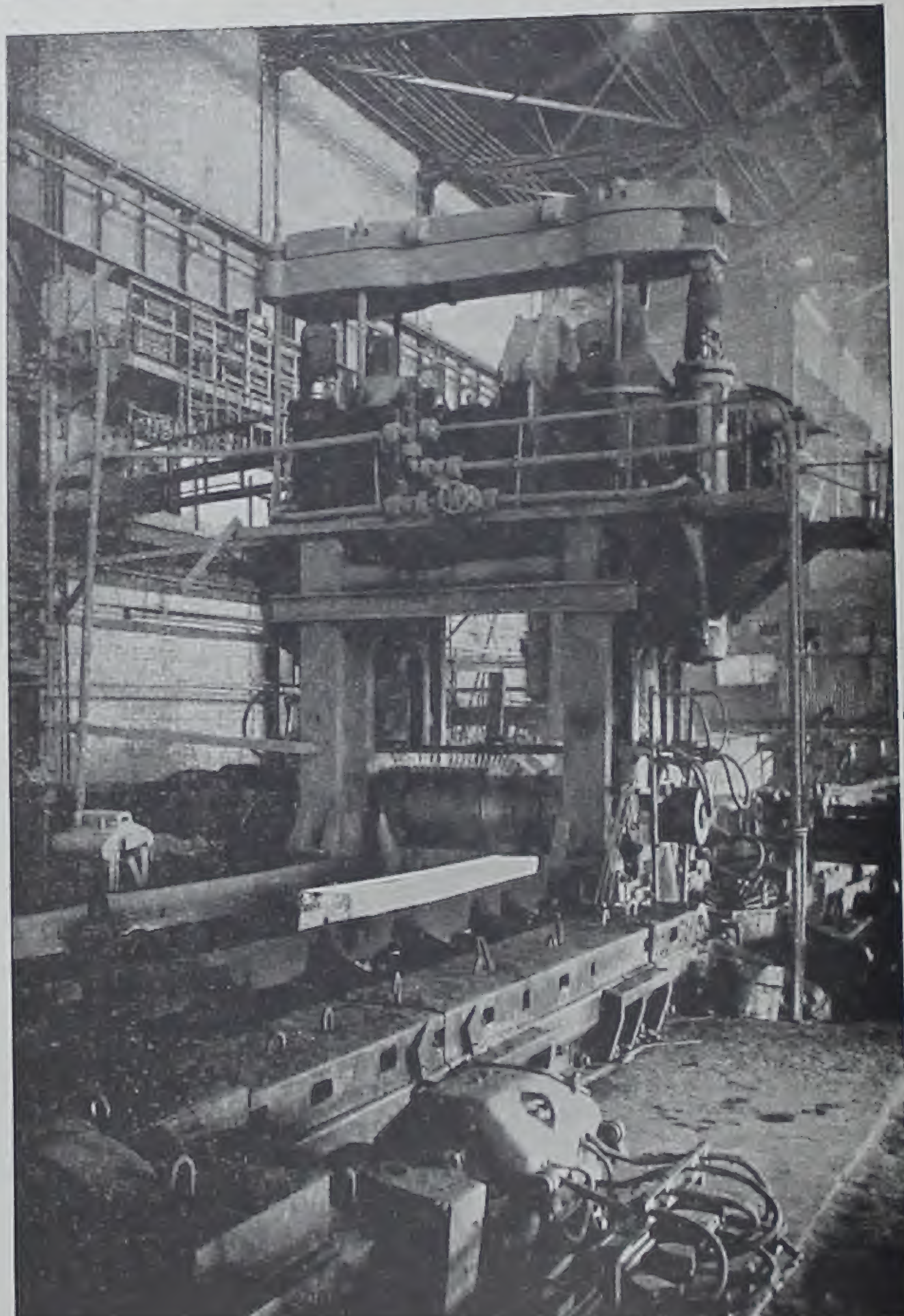


'जल अपना तल ढूँढ़ लेता है' इस सिद्धान्त का नहरों में नीचे से ऊँचे तल पर जहाज़ों को ले जाने में प्रयोग

लॉक-गेट जल के दबाव की शक्ति से ही घुमाये जाते हैं (देखो पृष्ठ ६७० का मैटर)

यदि समान क्षेत्रफलवाले पेंदे के भिन्न आकार के कई बर्त्तनों को लेकर उनमें एक-सी ही ऊँचाई तक द्रव भर दिया जाय, तो प्रत्येक बर्त्तन के पेंदे पर पानी का ज़ोर एक-सा पड़ेगा, यद्यपि पानी की मात्रा सब बर्त्तनों में एक-सा नहीं होगी। बर्त्तनों में द्रव की सतह भी आप कभी ऊँची-नीची नहीं पायेंगे। इसका भी मूल कारण द्रव का दबाव है। अधिक दबाव की ओर से पानी कम दबाव की ओर जायगा, जब तक कि दबाव पेंदे के प्रत्येक विन्दु पर एक-सा न हो जाय। अतः जब कभी द्रव से भरे कई बर्त्तन नली द्वारा मिला दिए जाते हैं तो फ़ौरन् द्रव अपना तल ढूँढ़ लेता है—सभी बर्त्तनों में द्रव की सतह एक हो जाती है।

'द्रव अपना तल ढूँढ़ लेता है' इस गुण का प्रयोग इञ्जिनियरों ने नहर-विभाग के काम में प्रचुरता से किया है। नील नदी में तिजारती जहाज़ बराबर नीचे से ऊँचे झरनों के ऊपर से होकर आया-जाया करते हैं। प्रत्येक झरने के पास नदी के पेंटे में फाटक बने हुए हैं, जिन्हें स्लूसगेट कहते हैं।



ताता के लोहे के कारख़ाने में जल के दबाव की शक्ति से लोहे की चद्दरें पीटने का यंत्र

झरने के नीचे ही नदी के पेटे के एक भाग को कन्क्रीट की पक्की दीवाल से दोनों ओर से बाँध देते हैं। दोनों ओर की दीवालों में 'क' और 'ख' दो बड़े फाटक लगे हुए हैं, और क्रम से इन्हीं के नीचे **'च'** और **'छ'** स्लूसगेट भी लगे हुए हैं (दे० पृ० ६६६ का चित्र)। चित्र में नं० १ में बड़ा फाटक **'क'** बन्द है, किन्तु स्लूसगेट **'च'** खुला हुआ है। 'ख' और 'छ' दोनों बन्द हैं। ऐसी हालत में फाटक की बाईं ओर तथा अन्दर पानी की सतह एक हो जाती है। अब स्लूसगेट **'च'** को बन्द करके **'क'** को खोल देते हैं, जहाज़ आसानी से फाटक के भीतर चला आता है (दे० नं०२)। फिर **'क'** को बंद करके स्लूसगेट **'छ'** को खोलते हैं। 'छ' के रास्ते से ऊँचे तल का पानी गेट के अन्दर आकर पानी की सतह को ऊँचा उठाता है। थोड़ी देर पश्चात् फाटक के अन्दर और दाहिनी ओर के पानी की सतह एक हो जाती है (दे० नं० ३)। अब फाटक **'ख'** को खोलकर जहाज़ के दाहिनी ओर पहुँचा देते हैं (दे०नं० ४)। इस तरह नीची सतह से जहाज़ ऊँची सतह पर पहुँचा दिया जाता है। जैसा कि पृष्ठ ६६६ के चित्र में दिखाया गया है, इस तरह की नहरों के फाटक और स्लूसगेट आदि जल के दबाव की शक्ति (Hydraulic power) के प्रयोग द्वारा ही खोले और बन्द किये जाते हैं।



रंग और कीटाणुओं के दो रासायनिक शत्रु

ओज़ोन और हाइड्रोजन परॉक्साइड

ओज़ोन और हाइड्रोजन परॉक्साइड का आज दिन हमारे जीवन की आवश्यकता पूर्त्ति में विभिन्न प्रकार से उपयोग किया जाता है। इसलिए इन रासायनिक द्रव्यों का अध्ययन न केवल मनोरंजक बल्कि उपयोगी भी होगा।

अनेक सभ्य देशों में व्याख्यानशालाओं, सिनेमा-भवनों, धरती के नीचे के रेलमार्गों, आदि की दूषित हवा को तथा जलकार्यालयों, तैरने के तालाबों आदि के दूषित पानी को शुद्ध करने के लिए एक गैस का उपयोग होता है, जिसे ओज़ोन कहते हैं। हवा और पानी के शोधन के अलावा इस गैस का उपयोग तेल, मोम, आटा, स्टार्च, ऊन, रेशम, हाथीदाँत आदि वस्तुओं के रंग के उड़ाने में, तथा कुछ रासायनिक यौगिकों के बनाने में भी होता है। ओज़ोन एक मूलतत्त्व है, किन्तु नया नहीं, ऑक्सिजन का ही एक दूसरा रूप! ऑक्सिजन के ही रूपान्तर से इसका निर्माण प्रकृति और मनुष्य द्वारा होता है। प्रकृति में ऑक्सिजन को ओज़ोन में परिवर्तित कर देने के लिये प्रायः दो शक्तियों का उपयोग होता है, अर्थात् बिजली और सूर्य की उपकासनी (ultra-violet) रश्मियाँ। जब ये दो शक्तियाँ ऑक्सिजन के अणुओं पर अपना कार्य करती हैं, तो ऑक्सिजन के दो-दो परमाणुवाले अणु ओज़ोन के तीन-तीन परमाणुवाले अणुओं में परिणत हो जाते हैं। ऑक्सिजन और ओज़ोन में भेद यही है कि एक के प्रत्येक अणु में ऑक्सिजन मूलतत्त्व के दो परमाणु रहते हैं, तो दूसरे के प्रत्येक अणु में तीन। इसीलिए ऑक्सिजन का अणुसूत्र O_2 लिखा जाता है और ओज़ोन का O_3। हाँ, ओज़ोन के अणुओं के बनने में विद्युत् अथवा आकाश की शक्तियों का शोषण अवश्य होता है, अतएव इस दृष्टि से हम इस परिवर्तन को निम्न समीकरण द्वारा व्यक्त कर सकते हैं:—

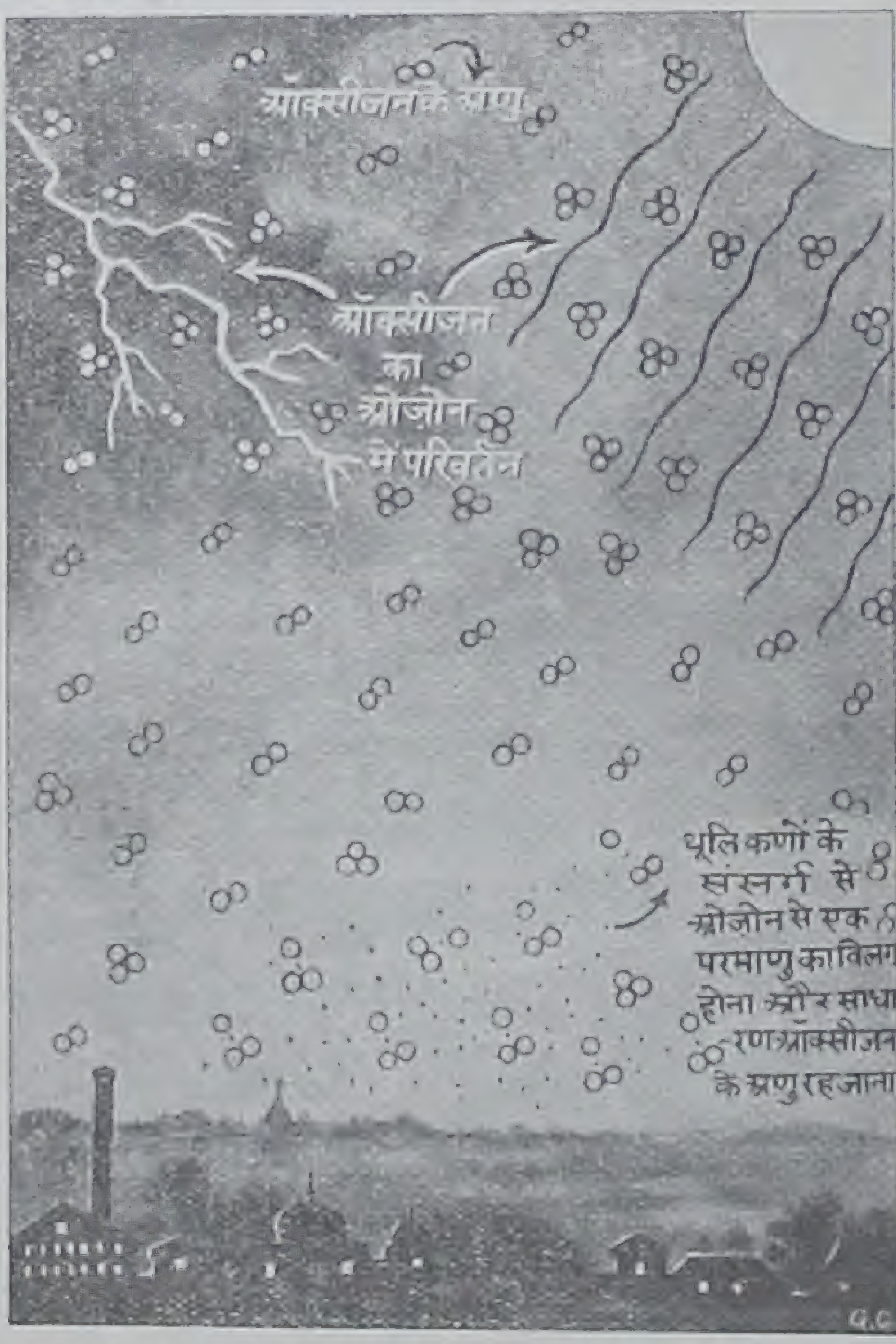
ऑक्सिजन + शक्ति = ओज़ोन

जैसा इटली के वैज्ञानिक ऐवोगैड्रो का सिद्धांत है, किसी भी गैस का अणु समान दशाओं में उतनी ही जगह घेरता है। अतएव यह स्पष्ट है कि ऑक्सिजन गैस के तीन आयतन ओज़ोन के दो आयतनों में परिवर्तित होंगे। अतएव, ओज़ोन ऑक्सिजन का एक घनतर रूप भी समझा जा सकता है।

पहले-पहल इस गैस का थोड़ा-सा परिचय वान मैरम नामन एक डच रासायनिक को १७८५ ई० में हुआ था। एक चलती हुई बिजली की मशीन के पास उसने एक विशेष प्रकार के गंध का अनुभव किया, लेकिन वह यह न समझ सका कि उस गंध का कारण कौन-सी वस्तु है। १८३९ में स्कॉन बेन नामक वैज्ञानिक ने यह दिखलाया कि उस गंध का कारण एक नयी गैस है। ग्रीक भाषा में 'ओज़ो' का अर्थ 'मैं महकता हूँ' होता है, इसलिए उसने इस गैस का नाम 'ओज़ोन' रख दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वैज्ञानिकों ने यह स्पष्टतः सिद्ध कर दिया कि ऑक्सिजन और ओज़ोन की अणु-रचना में क्या अंतर है, और इसके साथ-ही-साथ ओज़ोन को बनाने की नई विधियाँ भी निकाल ली गईं।

ओज़ोन के बनाने की प्रत्येक कृत्रिम विधि में बिजली का ही उपयोग होता है। सभी विधियों का सिद्धान्त एक ही है, अर्थात् ऑक्सिजन के अणुओं को विद्युत् शक्ति से प्रभाविक करना। किसी भी अंतराल से बिजली दो प्रकार से प्रवाहित की जा सकती है—चटचटाती हुई चिनगारियों के रूप में और मूक विसर्जन (silent discharge) के रूप में। चिनगारियों, ऊँचे तापक्रम तथा धूलिकण आदि अपद्रव्यों (impurities) की उपस्थिति में ओज़ोन विच्छिन्न हो जाता है। अतः ओज़ोन के बनाने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि शुद्ध ठंढी ऑक्सिजन अथवा हवा

एक ऐसे ठंडे अंतराल से प्रवाहित की जाय जिसमें बिजली का मूक विसर्जन हो रहा हो। प्रयोगशाला में ओज़ोन बनाने के लिए दो विधियों का उपयोग होता है। ब्रॉडी की विधि में एक चौड़ी नली के अंदर एक कम चौड़ी नली जड़ी होती है। अंदर की नली में ठंडा और हल्का गंधकाम्ल भर दिया जाता है और पूरा उपकरण ठंडे हलके गंधकाम्ल से भरे हुए एक पात्र में डुबो दिया जाता है। भीतर और बाहर के अम्लों में प्लैटिनम के तार डूबे रहते हैं, जिनके द्वारा बिजली संचालित की जाती है। हल्का गंधकाम्ल बिजली का अच्छा संचालक है, अतः वलयाकार अंतराल में से होकर बिजली का मूक विसर्जन होने लगता है। इसी अंतराल में से ऑक्सिजन अथवा हवा प्रवाहित करने पर ऑक्सिजन का कुछ अंश ओज़ोन में परिणत हो जाता है। दूसरे प्रकार के और ब्रॉडी के उपकरण में अंतर यही है कि इसमें गंधकाम्ल के स्थान में बाहरी नली का बाहरी पृष्ठ और भीतरी नली का भीतरी पृष्ठ टीन के पत्र (वर्क) द्वारा ढका होता है, और इन्हीं धातव पृष्ठों से होकर वलयाकार अंतराल में बिजली का मूक विसर्जन होता है।



ऊपरी वायुमंडल में बिजली और सूर्य की पराकासनी रश्मियों के प्रभाव से ऑक्सिजन के दो-दो परमाणु वाले अणु ओज़ोन के तीन-तीन परमाणुवाले अणुओं में परिणत हो जाते हैं।

इस प्रकार के मूक विसर्जन के लिए यह आवश्यक है कि बिजली की धारा का वोल्टेज काफ़ी ऊँचा हो। इसके लिए इंडक्शन कॉइल नामक भौतिक यंत्र का उपयोग होता है, जो विद्युत्-धारा को नीचे वोल्टेज से ऊँचे वोल्टेज में परिणत कर देता है। ऑक्सिजन अथवा हवा को अंतराल में प्रविष्ट करने के पहले कैल्शियम-क्लोराइडयुक्त नली में प्रवाहित करके सुखा लिया जाता है। विद्युत् के विसर्जन के समय अंतराल के पृष्ठों पर एक नीली-सी दीप्ति दिखाई देने लगती है और एक सनसनाती हुई ध्वनि भी सुनाई देती है। इन प्रयोगों को अत्यंत सावधानी से करने पर २५ प्रतिशत ऑक्सिजन तक ओज़ोन में बदल सकती है, लेकिन साधारणतः लगभग सात या आठ प्रतिशत ऑक्सिजन का ही परिवर्तन होता है। द्रवीकरण तथा आंशिक स्रवण द्वारा शुद्ध ओज़ोन गैस ऑक्सिजन अथवा हवा से पृथक् की जा सकती है, लेकिन मनुष्य अपने कामों में मिश्रित ओज़ोन का ही उपयोग करता है।

ओज़ोन को अधिक परिमाण में तैयार करने की विधियों में उपर्युक्त सिद्धांत ही लागू होते हैं। सभी में ऐसी कई नलियों से होकर हवा प्रवाहित की जाती है, जिनमें लगभग १०,००० वोल्ट के उतार पर बिजली का मूक विसर्जन होता रहता है।

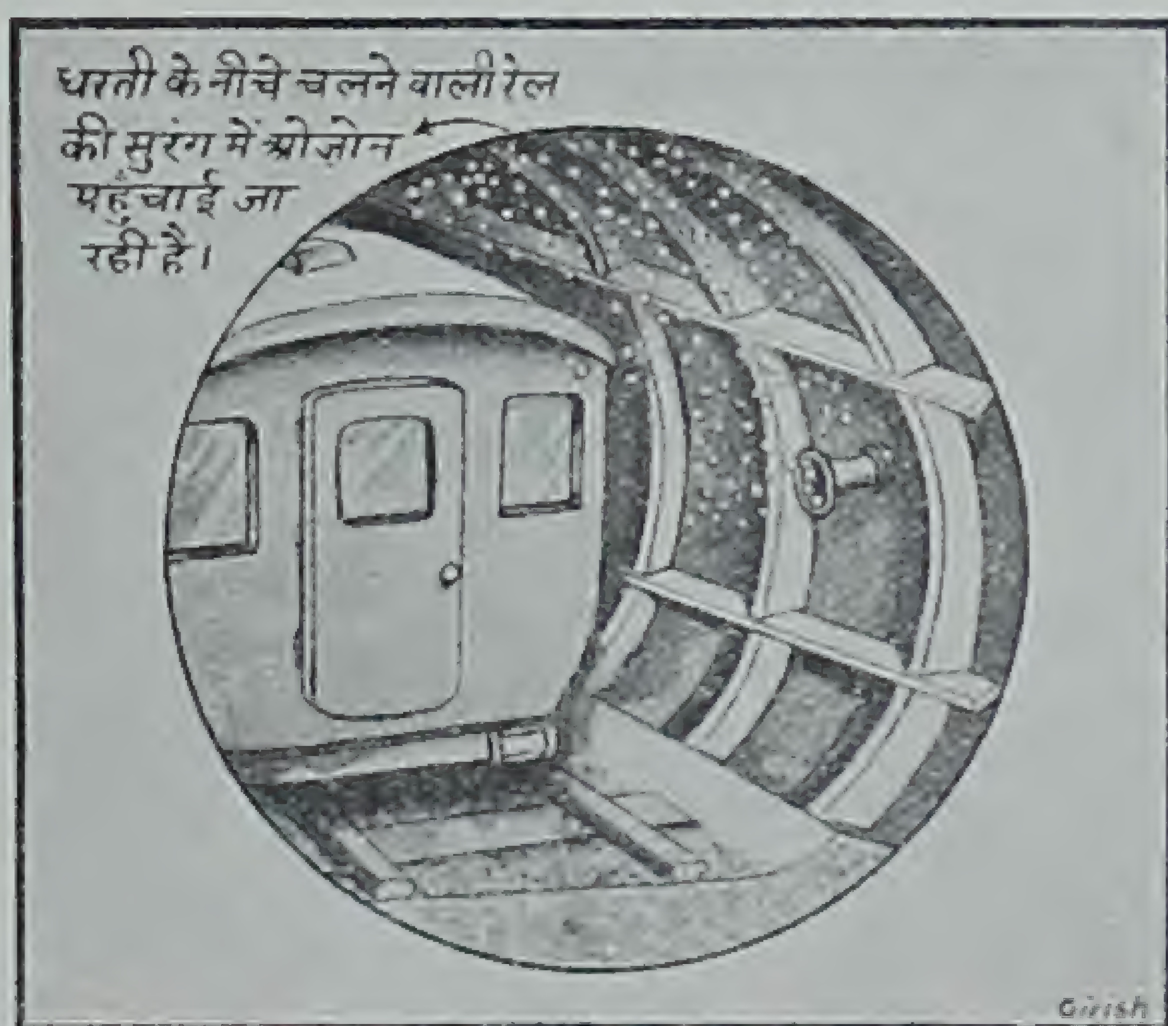
जब ओज़ोन हवा अथवा ऑक्सिजन से मिली रहती है तो उसमें कोई रंग नहीं दिखाई देता, लेकिन शुद्ध गैस एक हलके नीले रंग की होती है। ओज़ोन में एक विशेष प्रकार की गंध होती है, जिसे सूँघ कर कुछ लोगों को मछली की, कुछ को लहसुन की, कुछ को जलते गंधक की और औरों को हलकी क्लोरीन की गंध की याद आती है। अधिक ओज़ोन से मिली हुई हवा में साँस लेने से सिरदर्द होने लगता है, लेकिन अल्पांशों में वह थकान मिटानेवाली और चित्त को आनंदित करनेवाली होती है। पानी में ओज़ोन ऑक्सिजन की अपेक्षा कुछ अधिक घुलती है, लेकिन तारपीन और दारचीनी के तेल में वह सरलता से घुल जाती है।

ओज़ोन में प्रायः वे सभी रासायनिक गुण हैं जो ऑक्सिजन में होते हैं, लेकिन ओज़ोन की विशेषता यह है

कि वह ऑक्सिजन से अधिक क्रियाशील होती है, अर्थात् वह बहुत-सी वस्तुओं का ऑक्सीकरण अधिक सरलता और शीघ्रता से कर देती है। इसका कारण यह है कि ओज़ोन के अणु से एक ऑक्सिजन का परमाणु सरलतापूर्वक पृथक् हो जाता है और पृथक् होते ही बहुतेरी वस्तुओं से संयुक्त होकर उनका ऑक्सीकरण कर देता है। यह पृथक्करण निम्न समीकरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

$$O_3 = O_2 + O$$

इस प्रकार की परमाणुरूप में निकलती हुई गैस को 'नवजात' (nascent) गैस कहते हैं। बंधन तोड़कर भागते हुए क़ैदी की भाँति नवजात परमाणु अधिक क्रियाशील होता है, और जिस प्रकार ऐसा क़ैदी शीघ्र ही किसी स्थान में छिप रहता है, उसी प्रकार वह परमाणु भी किसी उपयुक्त अणुरूपी स्थान पाते ही उससे संयुक्त होकर अपने रूप का परिवर्त्तन कर लेता है। परमाणुरूप में अर्थात् अकेला होने के कारण वह इस प्रकार के संयोग के लिए अधिक व्यग्र रहता है। किसी कीटाणु के संसर्ग में आते ही वह उससे संयुक्त हो जाता है, लेकिन यह संयोग स्वयं कीटाणु के लिए घातक सिद्ध होता है। हवा और पानी के दुर्गन्धयुक्त पदार्थों से संयुक्त होकर वह उन्हें गंधहीन पदार्थों में परिणत कर देता है, और रंगदार पदार्थों से संबंधित होकर वह उन्हें रंगहीन पदार्थों में बदल देता है।



धरती के नीचे चलनेवाली रेल की सुरंग में वायु की शुद्धि के लिए ओज़ोन का उपयोग

आड़े काट के रूप में दिये गये इस चित्र में सुरंग की दीवार में लगे एक पाइप द्वारा ओज़ोन पहुँचाई जाती दिखाई गई है।

लेकिन जब सम्बन्ध-योग्य अणुओं की अनुपस्थिति में ओज़ोन गर्म की जाती है, अथवा धूलिकणों अथवा कुछ धातव ऑक्साइडों के संसर्ग में लाई जाती है, तब भी उसका विच्छेदन हो जाता है। किंतु इन दशाओं में उत्पादित परमाणु, सम्बन्ध-योग्य अणु अप्राप्य होने के कारण, परस्पर दो-दो संयुक्त हो जाते हैं और इस प्रकार ऑक्सिजन ही ऑक्सिजन शेष रह जाती है—

$$2O_3 = 2O_2 + O_2 = 3O_2$$

धूलिकणों अथवा ऑक्साइडों में ओज़ोन द्वारा कोई रासायनिक परिवर्त्तन नहीं होता, वे ओज़ोन के विच्छेदन का केवल प्रवर्तन (catalysis) ही करते हैं। ओज़ोन, वास्तव में, एक अस्थायी गैस है, जो उपर्युक्त अनेक कारणों से अधिक समय तक अपने रूप में टिक नहीं सकती।

हवा और पानी को शुद्ध करने के लिए ओज़ोन एक अत्युत्तम साधन है। इस बात में ओज़ोन की विशेषता यह है कि उसके कार्य के बाद ऑक्सिजन-जैसी उपयोगी और हानिरहित वस्तु शेष बच रहती है। ओज़ोन द्वारा केवल हवा के कीटाणुओं और बदबू का ही नाश नहीं होता, वरन् उसमें ऑक्सिजन का परिमाण भी बढ़ जाता है और हवा प्रत्येक दृष्टि से स्वास्थ्यप्रद हो जाती है। इसी प्रकार, ओज़ोन पानी के कीटाणुओं, मैले रंग और दुर्गन्ध का ही नाश नहीं करती, किंतु पानी में अधिक ऑक्सिजन और कुछ स्वयं ओज़ोन के भी घुल जाने के कारण, उसका स्वाद भी बढ़ जाता है। जब ओज़ोन खाद्य तेलों में से प्रवाहित की जाती है, तो वे भी रंगहीन, निर्मल और स्वादयुक्त हो जाते हैं।

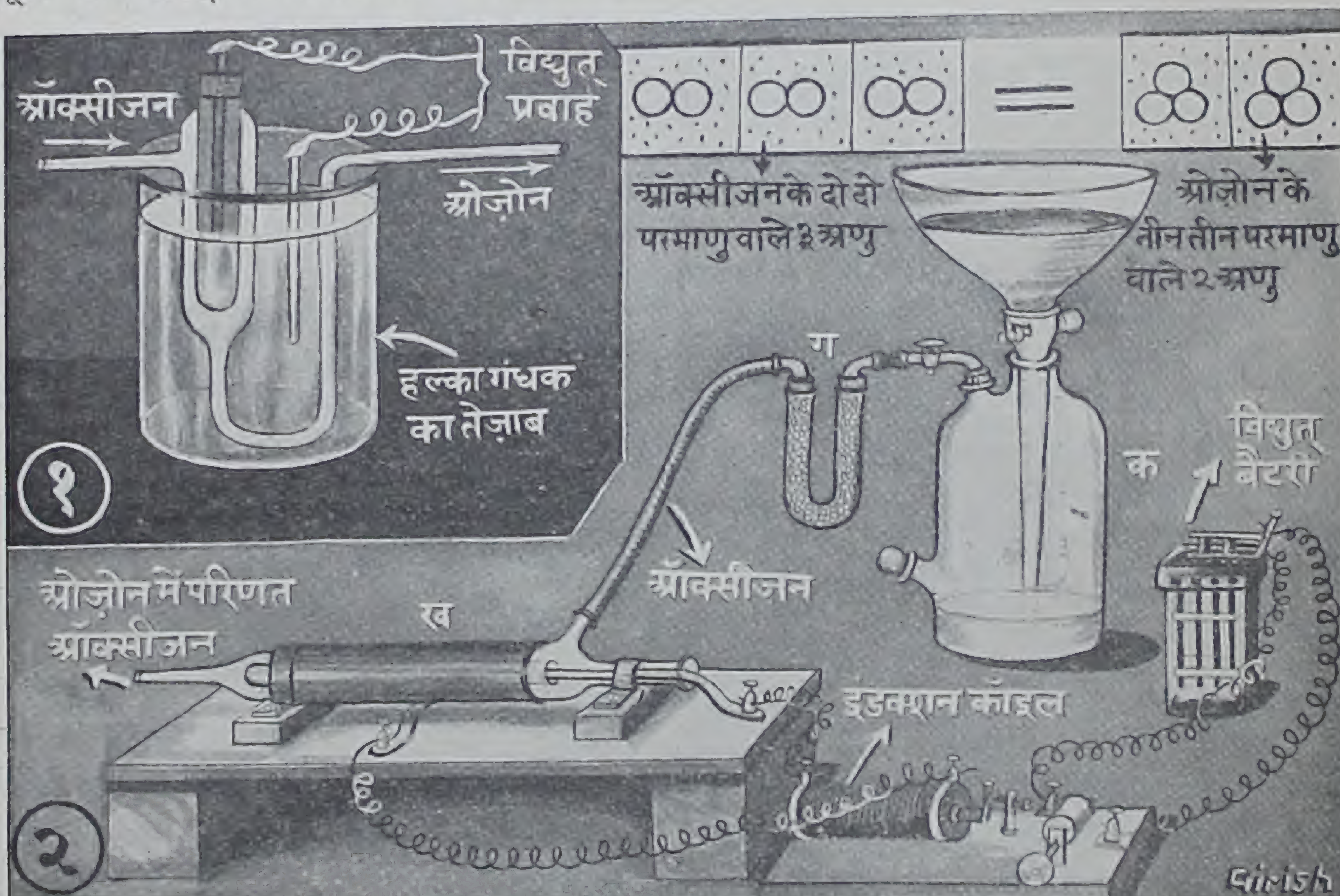
ओज़ोन के पात्र में यदि थोड़ा-सा पारा डाल दिया जाय, तो वह तुरंत बेचमक हो जाता है और पात्र के पृष्ठ से चिपकने लगता है। इसका कारण यह है कि पारा ओज़ोनजन्य ऑक्सिजन से संयुक्त होकर पारदस ऑक्साइड (mercurous oxide) में बदलने लगता है। यह ओज़ोन की उपस्थिति की एक बहुत अच्छी पहचान है।

जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, वायुमंडल में ओज़ोन बिजली अथवा उपकासनी किरणों द्वारा अल्प परिमाणों में बना करती है (दे० पृष्ठ ६७२ का चित्र)। लाखों भाग वायु में एक दो भाग ही ओज़ोन रहती है। ओज़ोन अधिकतर हवा के ऊपरी स्तरों में ही बनती है, अतएव उनमें ओज़ोन का अंश कुछ अधिक होता है। लेकिन नीचे उतरने पर ओज़ोन के अणु अपनी अतिरिक्त शक्ति धूलिकणों को देकर अथवा हवा के कुछ अपद्रव्यों का ऑक्सीकरण करके, साधारण ऑक्सिजन में परिवर्तित हो जाते हैं। नगरों के वातावरण में, जिसमें धूलिकण और अपद्रव्य अधिक परिमाण में रहते हैं, ओज़ोन नहीं के बराबर होती है, लेकिन देहात की खुली

हुई हवा में वह कुछ अधिक रहती है। कुछ लोगों का मत है कि जल के वाष्पीकरण के समय भी जलपृष्ठ के निकट की कुछ ऑक्सिजन ओज़ोन में परिणत होती रहती है और इसीलिए समुद्र की हवा में ओज़ोन कुछ अधिक रहती है। लेकिन इस कथन में मतभेद है।

हाइड्रोजन परॉक्साइड

ओज़ोन से रासायनिक गुणों में मिलता-जुलता एक दूसरा पदार्थ हाइड्रोजन परॉक्साइड है, जो हमारे दैनिक जीवन में दाँत अथवा घाव धोने के काम में बहुधा आया करता है। ओज़ोन एक गैसीय मूलतत्त्व है, जो ऑक्सिजन के एक अणु और उसी के एक परमाणु के संयोग से बनता है; हाइड्रोजन परॉक्साइड एक तरल यौगिक है, जो पानी के एक अणु और ऑक्सिजन के एक परमाणु के संयोग से बनता है। पानी का अणुसूत्र H_2O है, अतएव हाइड्रोजन परॉक्साइड का अणुसूत्र H_2O_2 लिखा जाता है। ओज़ोन की भाँति हाइड्रोजन परॉक्साइड का भी यही गुण



प्रयोगशाला में ओज़ोन तैयार करने की दो विधियाँ

प्रयोगशाला में ओज़ोन बनाने के लिए दो विधियों का उपयोग होता है—१. ब्रॉडी की विधि, जिसमें एक चौड़ी नली के अंदर एक कम चौड़ी नली जड़ी होती है। अंदर की नली में ठंडा और हल्का गंधकाम्ल भर दिया जाता है और पूरा उपकरण ठंडे हलके गंधकाम्ल से भरे हुए एक पात्र में डुबो दिया जाता है। भीतर और बाहर के अम्लों में प्लैटिनम के तार डूबे रहते हैं, जिनके द्वारा बिजली संचालित की जाती है। हलका गंधकाम्ल बिजली का अच्छा संचालक होता है, अतः वलयाकार अंतराल में से होकर बिजली का मूक विसर्जन होने लगता है। इसी अंतराल में से ऑक्सिजन अथवा हवा प्रवाहित करने पर ऑक्सिजन का कुछ अंश ओज़ोन में परिणत हो जाता है। २. दूसरे प्रकार के और ब्रॉडी के उपकरण में अंतर यही है कि इसमें गंधकाम्ल के स्थान में बाहरी नली 'ख' का बाहरी पृष्ठ और भीतरी नली का भीतरी पृष्ठ टीन के पत्र (वर्क) द्वारा ढका होता है, और इन्हीं धातव पृष्ठों से होकर वलयाकार अंतराल में बिजली का मूक विसर्जन होता है। इस प्रकार के मूक विसर्जन के लिए यह आवश्यक है कि बिजली की धारा का वोल्टेज काफ़ी ऊँचा हो। इसके लिए इंडक्शन कॉइल नामक भौतिक यंत्र का उपयोग होता है जो विद्युत्-धारा को नीचे वोल्टेज से ऊँचे वोल्टेज में परिणत कर देता है। पात्र 'क' में उपस्थित ऑक्सिजन अथवा हवा को अंतराल में प्रविष्ट कराने के पहले कैल्शियम-क्लोराइडयुक्त नली 'ग' में प्रवाहित करके सुखा लिया जाता है।

है कि उसके अणु से ऑक्सिजन का यह अतिरिक्त परमाणु सरलता से अलग हो सकता है और यही परमाणु कीटाणुओं का घातक और कार्बनिक रंगों का नाशक होता है—

$$H_2O_2 = H_2O + O$$

हाइड्रोजन परॉक्साइड = **पानी** + **रंग और कीटाणुओं की नाशक 'नवजात' परमाणुरूप ऑक्सिजन**

यदि इन परमाणुओं को सम्बन्ध-योग्य अणु उपलब्ध न हुए, तो वे परस्पर ही मिलकर दो परमाणुवाले ऑक्सिजन गैस के अणुओं में बदल जाते हैं।

थेनार्ड ने १८१८ ई० में पहले पहल हाइड्रोजन परॉक्साइड को बेरियम परॉक्साइड नामक यौगिक से बनाया था। उस समय वह ऑक्सिजनयुक्त जल कहलाया गया। आजकल भी हाइड्रोजन परॉक्साइड प्रायः बेरियम परॉक्साइड से ही बनाया जाता है। बेरियम परॉक्साइड का पानी में एक पतला पेय बनाकर बर्फ़ से ठंडे किए हुए हल्के गंधकाम्ल (अथवा फ़ास्फ़रिकाम्ल) में छोड़ा जाता है, जिससे अणु-भागों के विनिमय द्वारा बेरियम सल्फेट (अथवा बेरियम फ़ास्फेट) बनकर अघुलनशील होने के कारण अधःक्षेपित हो जाता है और हाइड्रोजन परॉक्साइड पानी में घुला हुआ रह जाता है—

$$BaO_2 + H_2SO_4 = BaSO_4 + H_2O_2$$

बेरियम परॉक्साइड + **गंधकाम्ल** = **बेरियम सल्फेट** + **हाइड्रोजन परॉक्साइड**

थोड़े से बचे हुए अम्ल का बेरियम कार्बोनेट द्वारा निराकरण करके, कुछ देर बाद स्वच्छ हाइड्रोजन परॉक्साइड के घोल को निथार लिया जाता है। हवा के कम दबाव में स्रवित करने पर पानी पहले स्रवित होकर अलग हो जाता है और शुद्ध हाइड्रोजन परॉक्साइड बच रहता है।

घोल अथवा पतले स्तरों में हाइड्रोजन परॉक्साइड रंगहीन होता है, किन्तु अधिक परिमाण में शुद्ध हाइड्रोजन परॉक्साइड नीलिमा लिये हुए एक गाढ़ा-सा द्रव होता है। ओज़ोन की भाँति हाइड्रोजन परॉक्साइड भी एक अस्थायी





कीटाणुओं का घातक और कार्बनिक रंगों का नाशक होने के कारण हाइड्रोजन परॉक्साइड हमारे दैनिक जीवन में तरह-तरह से उपयोग में लाया जाता है।

पदार्थ है। गर्मी, प्रकाश, शीशे के खुरदरे पृष्ठों, कई धातव चूर्णों तथा ऑक्साइडों, क्षारों, जीवजन्य पदार्थों आदि के संसर्ग में आने से इसका विच्छेदन होता रहता है। खुरदुरा शीशा तथा धातव चूर्ण और कुछ आक्साइडें हाइड्रोजन परॉक्साइड के विच्छेदन को केवल प्रवर्तित (Catalyse) ही करती हैं, स्वयं उनमें कोई रासायनिक परिवर्तन नहीं होता।

हाइड्रोजन परॉक्साइड एक विशेष प्रकार की बोतल में इसलिए रक्खा जाता है कि उसका विच्छेदन कम-से-कम हो सके। एक ऐसी बोतल में, जिसका भीतरी पृष्ठ सम हो, स्वच्छ हाइड्रोजन परॉक्साइड भरकर उसके मुँह को एक विशेष प्रकार की डाट द्वारा रबर की गद्दी से कस दिया जाता है, जिससे बोतल से कोई गैस बाहर न निकल सके। कुछ दिन रखने पर जब प्रकाश आदि द्वारा हाइड्रोजन परॉक्साइड का विच्छेदन होता है तो बोतल में ऑक्सिजन गैस के निकलने के कारण दबाव बढ़ जाता है और यह दबाव अधिक विच्छेदन को रोके रहता है। बहुत दिन से बंद रक्खी हुई हाइड्रोजन परॉक्साइड की बोतल को खोलने से यही ऑक्सिजन गैस ज़ोर से निकल पड़ती है। अगर हाइड्रोजन परॉक्साइड को बहुत दिन तक रखना है तो उसमें कोई मैल अथवा कूड़ा-करकट मिलने न दे और उसे किसी ठंडे अँधेरे स्थान में मुँह को रबर की गद्दी से कसकर रक्खे। असावधानी रखने पर हाइड्रोजन परॉक्साइड का विच्छेदन शीघ्रता से हो जाता है, और कुछ दिनों में प्रायः पानी-ही-पानी रह जाता है।

जो हाइड्रोजन परॉक्साइड हमें बाज़ार में मिलता है, वह शुद्ध जल में उसका घोल होता है। इस घोल में प्रायः लगभग तीन प्रतिशत हाइड्रोजन परॉक्साइड रहता है। घोल की प्रबलता शीशियों पर ऑक्सिजन के आयतनों के अंकों में सूचित रहती है। यदि शीशी पर '१२ आयतन' लिखा है तो इसका अर्थ यह है कि एक आयतन घोल का विच्छेदन करने पर १२ आयतन ऑक्सिजन के निकलेंगे। हमारे व्यवहार के लिए शुद्ध हाइड्रोजन परॉक्साइड अथवा उसका अधिक प्रबल घोल अति तीव्र प्रमाणित होता है। शुद्ध हाइड्रोजन परॉक्साइड तो इतना तीव्र होता है कि उसे खाल में लगाने से फफोले तक पड़ आते हैं।

हाइड्रोजन परॉक्साइड जब दूसरी वस्तुओं का आक्सीकरण अथवा विरंजन करता है, तो केवल पानी ही शेष रह जाता है। अतएव ओज़ोन की भाँति हाइड्रोजन परॉक्साइड भी अपने कार्य के पश्चात् कोई हानिकारक पदार्थ नहीं छोड़ता। क्लोरीन और सल्फ़र द्विऑक्साइड नामक गैसें भी रंग उड़ाने के काम में लाई जाती हैं, लेकिन इनकी क्रिया के द्वारा क्रमशः हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और गंधकाम्ल घोल में बनकर शेष रह जाते हैं और ये अम्ल सुकुमार वस्तुओं के लिए हानिकारक सिद्ध होते हैं। अतः, सुकुमार वस्तुओं का रंग उड़ाने के लिए ओज़ोन और हाइड्रोजन परॉक्साइड, प्रायः यही दो पदार्थ, काम में लाये जाते हैं। हाइड्रोजन परॉक्साइड बाल, दाँत, ऊन, रेशम, तिनकों, परों, हाथीदाँत आदि के रंग को उड़ाने के लिए उपयुक्त होता है। रंग उड़ाने के लिए हाइड्रोजन परॉक्साइड में थोड़ी-सी अमोनिया मिला ली जाती है, जिससे उसके विच्छेदन की गति कुछ बढ़ जाती है, और रंगीन पदार्थ नवजात ऑक्सिजन द्वारा ऑक्सीकृत होकर विरंजित हो जाता है। आवश्यक परिमाण में हाइड्रोजन परॉक्साइड को काले बालों में लगाने से बाल सुनहले हो जाते हैं, इसलिए कुछ लोग, विशेषतः गोरे मनुष्य जो काले बालों को असौंदर्य का चिह्न मानते हैं, हाइड्रोजन परॉक्साइड को ख़िज़ाब की भाँति लगाया करते हैं। दुर्भाग्यवश ऐसे विरंजित बालों का रंग नैसर्गिक सुनहले रंग से कुछ-कुछ भिन्न होता है और पहचाना जा सकता है।

हाइड्रोजन परॉक्साइड से जब घाव अथवा मुँह धोया जाता है, तो वह ऑक्सिजन के निकलने के कारण बुदबुदाने लगता है। यह विच्छेदन की क्रिया घाव के टूटे हुए कोशों अथवा अन्य जीवपदार्थों द्वारा प्रवर्तित होती है और इससे न केवल कीटाणुओं का ही नाश होता है, बल्कि सारा मैल भी छुटकर दूर हो जाता है और धुला हुआ स्थान साफ़ और गंधहीन हो जाता है। दाँत भी हाइड्रोजन परॉक्साइड द्वारा विरंजित होकर साफ़ और उजले हो जाते हैं।

हाइड्रोजन परॉक्साइड काले पड़ गये हुए पुराने तैल-चित्रों को धोने के काम में भी लाया जाता है। पुराने तैल-चित्र प्रायः सीसे (Lead) के सफ़ेदे में मिश्रित रंगों से ही बने होते हैं। जब इन चित्रों पर शहर की हाइड्रोजन सल्फाइडयुक्त हवा की क्रिया होती है, तो लेड सल्फाइड नामक एक काला पदार्थ बन जाता है और चित्र के रंग इसके काले रंग में छिप जाते हैं। किंतु, हाइड्रोजन सल्फाइड से धोने पर लेड सल्फाइड का प्रत्येक अणु ऑक्सिजन के चार नवजात परमाणुओं से संयुक्त होकर एक श्वेत स्थायी पदार्थ, लेड सल्फेट, में बदल जाता है; और छिपे हुए रंग फिर दिखाई देने लगते हैं।



अश्वत्थ

जगत् क्या है, यह प्रश्न मनुष्य के लिए अबूझ पहेली बना हुआ है। किन्तु भारतीय दर्शनकारों ने जिस सरल और मनोहर रूपक द्वारा इस अबूझ पहेली को समझाने का प्रयत्न किया है, वह स्तुत्य है।

आर्य प्रज्ञान ने जिस रमणीय सृष्टि-विषयक कल्पनाओं को जन्म दिया है उनमें संसार की अश्वत्थ रूप में कल्पना अत्यन्त मनोहर है। संसाररूपी अव्यय वृक्ष देश और काल के अनन्त विस्तार को सब ओर से व्याप्त करके नित्य नये-नये रूपों में फलता-फूलता रहता है। उसकी महिमा कल्पनातीत है और उसकी विचित्रता मानवी बुद्धि के लिए एक अबूझ पहेली बनी हुई है। यह महान् वृक्ष पुरातन होते हुए भी नित्य नया है। जिस प्रकार वेदों में सूर्य की ज्योतिष्मती पुत्री उषा को एक ही साथ 'पुराणी' और 'युवति' ये दो विशेषण दिये गए हैं, उसी प्रकार हमारा यह संसाररूपी विटप काल-चक्र को अपने उदर में रखकर भी कभी बूढ़ा होने का नाम नहीं लेता। इस रहस्यभरे अश्वत्थ के पोषक रस में जो दुर्धर्ष शक्ति विधाता ने एक बार भर दी है उसके वीर्य से इसका यौवन सदा एकरस बना रहता है। इसके मूल में अमृत और मृत्यु का विलक्षण सम्मिश्रण पाया जाता है। ज्ञानी लोग इसके अमृत-अंश को ग्रहण करते हैं, और अविवेकी जन मृत्यु के अतिरिक्त कुछ नहीं ले पाते। गोस्वामी तुलसीदासजी ने संसार के इन्हीं दो विपरीत भावों को इस वेलि के कड़वे और मीठे फल कहा है। भारतीय साहित्य की अमर परम्परा का अनुसरण करके उन्होंने संसाररूपी अश्वत्थ का इस प्रकार वर्णन किया है:—

अव्यक्त मूलमनादि तरुत्वच चारि निगमागम भने;
षटकंध शाखा पंचबीस अनेक पर्न सुमन घने।
फल जुगल विधि कटु मधुर वेलि अकेलि जेहि आसित रहे;
पल्लवत फूलत नवल नित संसार-विटप नमामहे।

(उत्तरकाण्ड, वेद-स्तुति)

अर्थात्, हे संसाररूपी सनातन वृक्ष, आपको प्रणाम है। इस अनादि वृक्ष की जड़ें अव्यक्त या निर्गुण ब्रह्म के साथ मिली हुई हैं। शास्त्रों में कही हुई जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया नामक जो चार अवस्थाएँ हैं, वे ही इसके बकल हैं। जन्म लेना, रहना, बदलना, बढ़ना, घटना और मरना, ये छः विकार इस वृक्ष के स्कन्ध हैं, जिनमें से शाखाएँ फूटती हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और पाँच विषय, तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और जीव ये पचीस शाखाएँ हैं। अनेक मनोरथ इस वृक्ष के अनगिनत पत्ते और फूल हैं। मीठे और कड़वे फलवाली मायारूपी वेलि इस पेड़ को चारों ओर से घेरे हुए है। इस प्रकार का यह अनादि वृक्ष सदा हरा-भरा बना रहता है। इस वृक्ष के एक-एक पत्ते पर असंख्य युगों के और अनेकों देशों के इतिहास अंकित हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान इसको जीवन के रस से सींचते रहते हैं।

सुदूर योरप के उत्तराखंडवर्त्ती स्कैण्डिनेविया और आइसलैंड आदि देशों के प्राचीन गाथाशास्त्र में भी भारतीय साहित्य से मिलती हुई संसार-विटप की कल्पना पाई जाती है। अँगरेज़ी के प्रकाण्ड साहित्यिक कारलाइल ने इस संसार-रूपी अश्वत्थ का निम्न शब्दों में बहुत ही भव्य वर्णन किया है—

"मुझे उनके (उत्तराखंडवर्त्ती स्कैण्डिनेवियावालों के) यग्द्रसील वृक्ष की कल्पना बहुत प्रिय है। वे लोग जीवन की कल्पना एक वृक्ष के रूप में करते हैं। इस वृक्ष का नाम यग्द्रसील है। इसकी जड़ें पाताल-स्थित यमलोक में हैं। इसका तना स्वर्ग तक सिर ऊँचा किये हुए अपनी शाखाओं को सारे संसार में फैला रहा है। यह भव-वृक्ष (Tree of Existence) है। यम के लोक में जो धर्मकूप है, उसके जल से भूत, भविष्य और वर्तमान रूपी तीन

देवियाँ इसको सींचती रहती हैं। वहीं निधुग् नामक सर्प अपने परिवार के साथ इसकी जड़ों को कुतरता रहता है। इसकी शाखा-प्रशाखाएँ, जिनमें संसार की दारुण घटनाएँ और सम्पूर्ण कर्मचक्र गुँथा हुआ है, देश-देश और युग-युग में फैली हुई हैं। इस वृक्ष का हर एक पत्ता क्या एक जीवनचरित्र नहीं है? क्या इसकी नस-नस में मनुष्यों के कर्म और वचन नहीं छिपे हुए हैं? जातियों के इतिहास इसकी शाखाएँ हैं। मनुष्य-जीवन की कल-कल ध्वनि ही इस भव-विटप के पत्तों की मर्मर ध्वनि है। इसका अस्तित्व हमारे सामने है। मानवी वासना की उच्छ्वास इसमें व्याप्त है, अथवा झंझावात के रूप में इसको झकझोरती हुई देवों के क्रन्दन-सी जान पड़ती है। यह यग्ग्द्रसील जीवन का विटप है। इसी में भूत, भविष्य और वर्तमान हैं; जो हो चुका है, जो हो रहा है, और जो होगा, इसी का रूप है; अर्थात् 'डुकृञ् करणे' धातु के असंख्य रूप इसमें भरे हुए हैं। संसाररूपी वृक्ष के समान दूसरी सत्य, सुन्दर और महान् उपमा मुझे नहीं मिली। इसके विपरीत संसार की मशीन रूप में कल्पना कितनी फीकी उतरती है!"*

ब्रह्म-वन और संसारवृक्ष

उत्तराखंड के गाथाशास्त्र (Norse Mythology) का भी जो मूल है, उस आर्य साहित्य में विश्व-विटप का वर्णन और भी अधिक महनीय है। ऋग्वेद का ऋषि अपने संदेह को साहस के साथ व्यक्त करता हुआ प्रश्न करता है:—

१—मैं नहीं जानता हूँ, पर जो जाननेवाले कवि हैं, उनसे पूछता हूँ; अनजान का जानने के लिए यह प्रश्न है। मैं पूछता हूँ कि छः लोकों को अपने नियतिचक्र में बाँधकर रखनेवाले उस अविनाशी का भी क्या कोई नियत स्वरूप है?

२—इस विश्व को जब प्रजापति बनाने लगे, तब क्या उसका आधार (अधिष्ठान) था, और कौन-सी सामग्री (आरम्भण) थी? यदि विश्व का कोई आरम्भण (उपादान) था, तो वह कैसा था? विश्वद्रष्टा और विश्वकर्मा प्रजापति ने भूमि को बनाते हुए द्युलोक को अपनी महिमा से बड़ी दूर तक फैलाया।

३—वह ऐसा कौन-सा महावन था? उस महावन में ऐसा कौन-सा महावृक्ष था, जिसे काट-छाँटकर द्यावा-पृथिवीरूप संसार बनाया गया? हे विद्वानो, अपने मन से ही यह पूछो कि किस महावन के किस महावृक्ष से इस विश्व को बनाकर उसे अपने में धारण करके प्रजापति सबका अधिष्ठाता बना हुआ है।†

यह विश्वरूप स्तम्भ किस वृक्ष को गढ़-छीलकर खड़ा किया गया है? कितना उदात्त और मौलिक प्रश्न है, जो तत्त्व की खोज करनेवाले ज्ञानी ऋषि और विज्ञानी, सभी के सामने आता है! इसके समाधान में एक ओर ब्रह्म की अचिन्त्य निगूढ़ चेतनाशक्ति है, दूसरी ओर विद्युत् के रहस्यात्मक कण और तरंगें हैं। दोनों ही बुद्धि के लिए पहेलियाँ बनी हुई हैं। ब्रह्म से ही सारा विश्व उत्पन्न हुआ

---

* "I like, too, that representation they have of the Tree Yggdrasil. All Life is figured by them as a Tree. Yggdrasil, the Ash-tree of Existence, has its roots deep-down in the kingdoms of Hela or Death; its trunk reaches up heaven-high, spreads its boughs over the whole Universe: it is the Tree of Existence. At the foot of it, in the death-kingdom, sit three *Nornas*, Fates—the Past, Present, Future; watering its roots, from the Sacred Well (Hvergelmer). Its 'boughs', with their buddings and disleafings,—events, things suffered, things done, catastrophes,—stretch through all lands and times. Is not every leaf of it a biography, every fibre there an act or word? Its boughs are Histories of Nations. The rustle of it is the noise of Human Existence, onwards from of old. It grows there, the breath of Human Passion rustling through it or stormlost, the stormwind howling through it like the voice of the gods. It is Yggdrasil, the Tree of Existence. It is the Past, the Present, and the Future; what was done, what is doing, what will be done; 'the infinite conjugation of the verb *To do*'.... I find no similitude so true as this of a Tree. Beautiful; altogether beautiful and great. The '*Machine* of the Universe,'—alas, do but think of that in contrast!"

—Carlyle, *On Heroes and Hero-Worship*.

† १—अचिकित्वान् चिकितुषश्चिदत्र कवीन्
पृच्छामि विद्मने न विद्वान्। ऋ० १।१६४।६

२—किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं
कतमस्वित् कथासीत्। ऋ० १०।८१।२

३—किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु
तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥ ऋ० १०।८१।४

है, यह वेदाभिमत निश्चित सिद्धान्त है। सृष्टिवित् आप्त महर्षि पूर्वप्रश्नों का समाधान करते हुए कहते हैं—

ब्रह्मवनं ब्रह्म स वृक्ष आस
यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वो
ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥

—तैत्तिरीय ब्राह्मण

अर्थात् ब्रह्म वन था, ब्रह्म ही वृक्ष था, जिससे द्युलोक और पृथिवी तराशे गये हैं। हे विद्वानो, मन से चिन्तन करके यह बताता हूँ कि ब्रह्म ही भुवनों को धारण करके उनका अधिष्ठाता बना हुआ है।

अनेक वृक्षों का समुदाय वन होता है। एक विश्व एक महावृक्ष है। ऐसे-ऐसे कोटि-कोटि विश्व या ब्रह्माण्डों की जहाँ सत्ता है, वही ब्रह्मवन है। ब्रह्म का वह कल्पनातीत स्वरूप सबसे परे होने के कारण 'परात्पर' कहा जाता है। परात्पर ब्रह्मवन के एक-एक महावृक्ष में सहस्र-सहस्र शाखाएँ हैं। एक-एक ब्रह्माण्ड की प्रवृत्ति सहस्रधा और सहस्रमुखी हैं। वैदिक भाषा में शाखा या टहनी को 'वल्शा' कहते हैं। अतएव इस ब्रह्मवन का प्रत्येक ब्रह्मवृक्ष सहस्र वल्शाओं से युक्त कहा जाता है। यही अनन्त ब्रह्माण्ड का काव्यमय दिग्दर्शन है।* यह महावृक्ष अश्वत्थ कहा जाता है। अश्वत्थ नाम संकेतमय है। वैदिक भाषा में आदित्य को अश्व कहा गया है।† प्रत्येक वल्शा या टहनी के मूल में एक सौरमंडल है। सूर्यरूपी अश्व जिसके आधार पर स्थित है, वही अश्वत्थ है। अथवा विराट् की संज्ञा अश्व है +। जो विराट् बन गया वही सृष्टियज्ञ में सम्मिलित हो गया ×। विराट् विश्व-रूपी अश्व जहाँ स्थित है, वही अश्वत्थ है। नित्य परिवर्तनशील होने के कारण भी संसार को अश्वत्थ कह सकते हैं—न श्वः चिरं तिष्ठति, 'जो कल देर तक न ठहरे',—वही तो जगत् या संसार है।

ऊर्ध्व और अधः

श्रुतियों का अनुवाद करनेवाले गीताशास्त्र में संसार-रूपी अश्वत्थ का और भी विशद वर्णन मिलता है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥१५।१॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके॥१५।२॥

अर्थात् ऊर्ध्व या अव्यक्त जिसका मूल है, और अधः या व्यक्त जिसकी शाखाएँ हैं, ऐसा यह संसाररूपी सनातन अश्वत्थ है। सत्व, रज, तम, ये तीन गुण उन शाखाओं को नित्य पुष्ट करते रहते हैं, विषय-विकार ही उन टहनियों के पत्ते हैं। कर्मबन्धनों से जकड़ी हुई इस संसारवृक्ष की जटाएँ नीचे की ओर मनुष्यलोक में फैलती रहती हैं। यह समस्त वृक्ष कर्मानुबन्धी है। कर्म ही इसके नाना भाँति संवर्धन और वितान का कारण है। वैराग्य ही इस कर्मवृक्ष से छुड़ानेवाला दृढ़ शस्त्र है।

इस वर्णन में ऊर्ध्व और अधः शब्द मार्मिक हैं। इनका अर्थ साधारण ऊपर-नीचे नहीं है, बल्कि केन्द्र का नाम ऊर्ध्व है, और परिधि का नाम अधः है। दार्शनिक परिभाषा में भूमा की संज्ञा ऊर्ध्व और अणिमा की अधः है। केन्द्र को ही वैदिक परिभाषा में 'हृदय' कहते हैं। केन्द्र का परिधि रूप धारण करना ही हिरण्यगर्भ का विराट् हो जाना है। यही सृष्टि की प्रक्रिया है। प्रत्येक परमाणु की आन्तरिक रचना में यही भेद पाया गया है। वैज्ञानिक शब्दों में यदि 'न्यूक्लिअस' से 'इलैक्ट्रन' तक का जो आकाश-प्रदेश है, उसको निकाल दिया जाय तो एक इंच के व्यास की घनीभूत डली में लाखों टन का बोझ आ सकता है। इस घनद्रव्य से गर्भित अवस्था को हिरण्यगर्भ कहते हैं। हिरण्य वस्तु का वीर्य या मूल कारण है। प्रत्येक पदार्थ सृष्टि से पहले इसी अवस्था में रहता है। मानवी कर्मों का जो प्रपंच दृष्टिगोचर होता है। वह भी क्या पहले मानसिक क्षेत्र में गर्भित नहीं रहता? हमारा जो रेत या वीर्य है, वह भी स्वर्ण है, हिरण्यगर्भ अवस्था रूपी ऊर्ध्व कारण के बिना सृष्टि या प्रजोत्पादन हो ही नहीं सकता। हिरण्यगर्भ को

---

* ब्रह्मवन के विशद वर्णन के लिए देखिए ईशोपनिषद् हिन्दी भाष्य, पं० मोतीलाल शास्त्री जयपुर, पृ० १७-२२।

† असौ वा आदित्योऽश्वः। तै० ब्रा० ३।६।२३।२।

\+ अदितिमंडल में प्रतिष्ठित सौर एवं पार्थिव प्राण की समष्टि 'अश्व' पशु है। जो सौर प्राण पृथिवी से सूर्य तक फैला है, वही अश्व है। इसी में विराट् पुरुष का अन्तर्भाव है। अश्वमूर्ति विराट् पुरुष है, अथवा यों कहें कि विराट् का नाम ही अश्व है। (देखिए पं० मोतीलाल शास्त्रीकृत शतपथ ब्राह्मण, हिन्दी विज्ञान भाष्य, ३ वर्ष, पृष्ठ ६३)।

× यदश्वत् तदश्वः, जो फूलकर बढ़ गया वही अश्व है। केन्द्र ही विराट् बनकर 'अश्व' बन जाता है। केन्द्र=हिरण्यगर्भ(nucleus packed with matter)। वही आकाश के साथ मिलकर (inverted with space) विराट् या परिधि बन जाता है।

ही 'शुक्र' कहते हैं। बिना शुक्र के सृष्टि सम्भव नहीं। अतएव कहा जाता है—

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'

सबसे पहले हिरण्यगर्भ था। उसी से चराचर भूत उत्पन्न हुए। अथर्ववेद में और निश्चित शब्दों में कहा है—

स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत्प्राजनयत्।
तदेकमभवत्। तत् ललाम अभवत्।

(अथर्व० १५।१।३)

अर्थात् सृष्टि की कामना करनेवाले प्रजापति ने अपनी अन्तरात्मा में सुवर्ण (हिरण्य, रेत या शुक्र) के दर्शन किये; तब प्रजनन किया। वह अकेला था; प्रजनन के लिए 'ललाम' बना; महान् बना......और तब उत्पन्न हुआ।

प्रजनन के लिए आत्मा में रेत का दर्शन चाहिए। यही मनु का अविप्लुत ब्रह्मचर्य है। रेत से ललाम भाव उत्पन्न होता है। ललाम भाव ही योषित् की सम्प्राप्ति है। सामाजिक क्षेत्र में इसका नाम विवाह है। विज्ञान में यही धन और ऋण विद्युत् का द्वैधीभाव है। सृष्टि-प्रक्रिया की विधि विराट् ब्रह्माण्ड में और सूक्ष्म परमाणु में एक-जैसी है। विज्ञान की खोज ने इसी कहानी को सुन्दर रूप में प्रकट किया है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का अनुशासन सर्वत्र समान है। वैदिक विज्ञान की परिभाषा से केन्द्र को ही प्रजापति कहते हैं। केन्द्र वृत्त के गर्भ से छिपा रहता है, उसकी सत्ता सब पर हावी, पर गुप्त रूप से विलीन रहती है। यही प्रजापति का हाल है—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्त-
रजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरा-
स्तस्मिन्‌ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

(यजु० ३१।१९)

अर्थात् प्रजापति केन्द्र या गर्भ में रहता है। वह जन्म न लेता हुआ भी नाना रूपों में प्रकट होता है। उसके कारण को ज्ञानी लोग देख पाते हैं। उसी में समस्त भुवन स्थित हैं।

यह वर्णन अक्षरशः केन्द्र और उसकी परिधि के लिए ठीक है। केन्द्र का जन्म नहीं होता, पर तो भी केन्द्र से ही नाना रूपों में परिधि और आकृतियों का विस्तार होता है, 'एकं बीजं बहुधा यः करोति', एक बीज ही बहुधा होता है, यह परिभाषा केन्द्र में घटती है। सृष्टि इसी का विकास है। वैदिक शब्दों में केन्द्र प्रजापति अनिरुक्त (unmanifest) है। केन्द्र के विषय में लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई की कल्पना छू तक नहीं गई है। इसीलिए यज्ञ में प्रजापति के लिए आहुति डालते हुए मन-ही-मन में मंत्र पढ़ा जाता है—ॐ प्रजापतये स्वाहा (तूष्णीं पठति)। 'तूष्णीम्' यही प्रजापति या केन्द्र का सच्चा रूप है।

केन्द्र का नाम अश्वत्थ विद्या में ऊर्ध्व है। केन्द्र ही अव्यय है। अव्यय की जो परिभाषा है, वही केन्द्र की है—

सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
सर्वेषु च वचनेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

(महाभाष्य १।१।३८)

सब लिंगों में, सब विभक्तियों में और सब वचनों में भी जो नहीं बिगड़ता, वही अव्यय है। आकृतियों के नाना भाँति के बदलते रहने पर भी केन्द्र में बिगाड़ नहीं पैदा होता। परिधि घटती-बढ़ती है, त्रिभुज से सहस्रभुज पर्यन्त बहुरूपी आकृतियाँ केन्द्र के सहारे बनती और मिटती हैं; पर केन्द्र सदा अविकारी, अविचल, एकरस अव्यय बना रहता है।

इन्हीं दो भावों का अद्भुत सम्मिश्रण जगत् है। एक विकारवान् है, दूसरा अविकारी है। एक मर्त्य है, दूसरा अमृत है। एक दुःख, दूसरा सुख है। एक अभ्व, न होता हुआ भी जो हो (अभूत्वा भवतीति) या मिथ्या है, दूसरा आभु चारों ओर से परिपूर्ण रहनेवाला (आ समन्ताद भवतीति) सत्य है। आभु का नाम भूमा है, उपनिषद् के ज्ञानियों ने भूमा को आनन्द कहा है। जब मर्त्य मनुष्य में भूमा भाव का प्रवेश होता है, तभी वह आनन्दी बनता है—

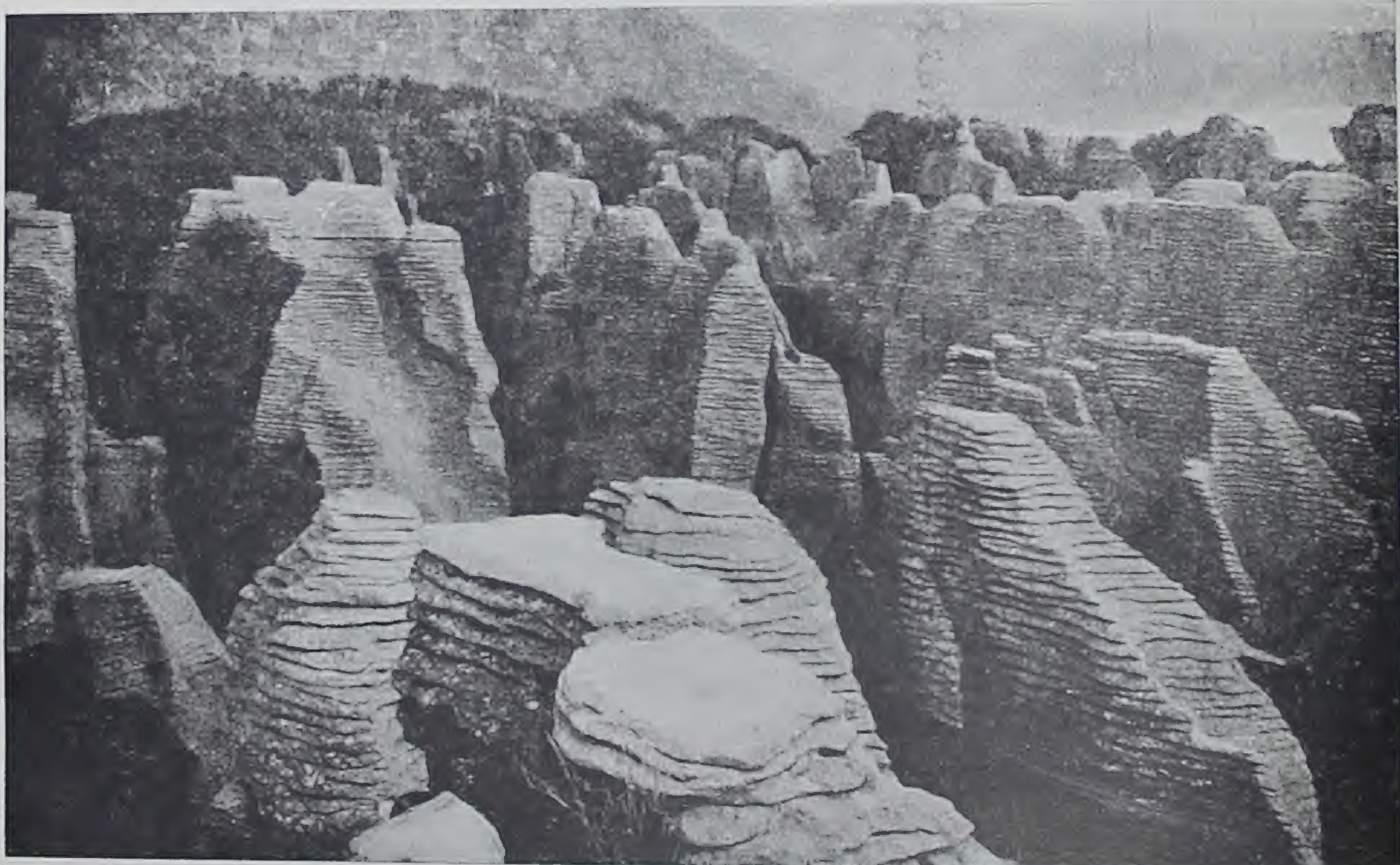
यो वै भूमा तत् सुखम् नाल्पे सुखमस्ति

भूमा में सुख है, भूमा का विरोधी जो अल्पभाव है, यही विश्व का विचित्र परन्तु कठोर सत्य है। केन्द्र देखने में छोटा, पर भूमाभाव से युक्त है, क्योंकि इदमित्थं से परे की वस्तु है। परिधि देखने में विस्तृत, पर केन्द्र की अपेक्षा सदा अल्प है। परिधि के परिमाण और वर्णन की इयत्ता है, केन्द्र में अनिरुक्तभाव होने से शब्दों की गति नहीं। केन्द्र या स्व की ओर गति समाधि है। परिधि या संसार की ओर गति व्याधि है। ऊर्ध्वमूल और अधः शाखवाले अश्वत्थ में दोनों की सत्ता है। ज्ञानियों की दृष्टि इसके ऊर्ध्व या अमृत भाग का ग्रहण करती है। वे अश्वत्थ के अव्यय भाग पर विशेष ध्यान देते हैं। अश्वत्थ के दर्शन के कारण उनके जीवन में वृक्षों-जैसा अयाचित व्रत और वृक्षों के सदृश ही परार्थ उत्सर्ग का भाव पाया जाता है।



पृथ्वी की कहानी





जल, वायु और ताप की प्रतिक्रिया द्वारा चट्टानों के विखण्डन और क्षय के दो उदाहरण

प्रकृति के भूत पृथ्वी के चिप्पड़ को समतल बनाने के प्रयत्न में निरंतर संलग्न हैं। जहाँ भौगर्भिक शक्तियाँ भूकंप आदि द्वारा चिप्पड़ को बराबर ऊँचा-नीचा बनाये रखने में प्रवृत्त रहती हैं, वहाँ वायुमण्डल तथा मौसम का कार्य निरंतर विश्लेषण तथा विखण्डन द्वारा उसको सपाट बनाता है। यहाँ दिये हुए दोनों चित्रों में जल, वायु, और सूर्य के ताप की सम्मिलित क्रिया-प्रतिक्रियाओं द्वारा विरचित चट्टानों के अद्भुत आकार-प्रकार दिखाये गये हैं। नीचे के चित्र में दिखाई गई एक के ऊपर दूसरी रक्खी हुई कटावदार थालीनुमा चट्टानों की परतों को प्रधानतया वर्षाजल और सूर्यताप के प्रभाव से यह रूप मिला है। ऊपर के चित्र की विशाल फुटबालनुमा चट्टानें जल और वायु की प्रतिक्रिया द्वारा आसपास के खनिज द्रव्य के निरंतर विखंडन और छील-छाल के फलस्वरूप बन गई हैं। सूर्य के ताप के कारण मोटे आदमी के पेट की तरह ये चट्टानें फूलने लगी हैं और इनमें दरारें पड़ गई हैं। इन दरारों में वर्षाजल के घुसने से प्रकृति की विखण्डन की क्रिया का कुछ-कुछ प्रभाव दिखाई देने लगा है; क्योंकि करमकल्ले की तरह इन स्तरबद्ध चट्टानों के पत्त ढीले पड़ने लगे हैं।



चिप्पड़ की चट्टानों का विखण्डन और क्षय

वायुमण्डल और मौसम का कार्य

यह जानने के लिए कि पृथ्वी में जन्म के उपरान्त क्या-क्या परिवर्त्तन हुए और कब, हम इस बात का मनन आरम्भ करते हैं कि पृथ्वी में नित्य क्या-क्या परिवर्त्तन होते रहते हैं और कैसे ? भूतत्त्वशास्त्र का सिद्धान्त है कि 'वर्त्तमान के हाथ में भूतकाल की कोठरी की कुञ्जी है' अर्थात् जो आज हो रहा है वैसा ही अतीत से घटित होता आया है। इसी सिद्धान्त से हम पृथ्वी की रचना तैयार करेंगे।

प्रारम्भिक चिप्पड़

पृथ्वी की सृष्टि के आरम्भ में, जब चिप्पड़ की रचना नहीं हुई थी, पृथ्वी-पिण्ड के भीतर आग्नेय पदार्थ भरे थे, जो ज्वालामुखियों के रूप में निरन्तर उबलते रहते थे। धीरे-धीरे जब ज्वाला कुछ शान्त हुई, तो लावा (Lava) जैसा पदार्थ जमकर कठोर हो गया और आरम्भिक चिप्पड़ की रचना हुई। इस समय तक पृथ्वी पर भाप और वायुमण्डल का जन्म हो चुका था। नवजात चिप्पड़ अभी बिलकुल आजकल-जैसा ठण्डा न हो पाया था। भीषण वर्षा होती थी, बादल आते थे और कौंधा लपकता था। ऐसी दशा सहस्रों वर्षों तक रही। इसका प्रभाव यह हुआ कि नवजात चिप्पड़ ठण्डा होकर सिकुड़ने लगा और उसमें दरारें पड़ने लगीं। इन दरारों में वर्षा का जल समाने लगा और उसके प्रवाह के वेग से दरारें नालियों का और नालियाँ नदियों का रूप धारण करने लगीं। कालान्तर में यह दरारें बड़ी-बड़ी घाटियों में परिणत हो गई और उनके बीच से तीव्र वेगगामी नदियों का पाट चौड़ा होता गया।

इस समय तक प्रारम्भिक आग्नेय पदार्थ जमकर आज-कल-जैसा ही कठोर होगया और हम उसको चट्टान के नाम से पुकार सकते हैं। हम पहले बता चुके हैं कि आज-कल के चिप्पड़ की रचना तीन प्रकार की चट्टानों से हुई है। प्रारम्भिक चट्टान आग्नेय चट्टान ही है। इसी के नष्ट-भ्रष्ट और क्षय होने से प्रस्तरबद्ध चट्टानों के निर्माण का मसाला तैयार हुआ। इसके उपरान्त भूगर्भ की ज्वाला और भीषण ताप तथा दबाव ने परिवर्त्तित चट्टानों की रचना की।

प्रकृति के भूत और भौगर्भिक शक्तियाँ

आरम्भ में जब केवल आग्नेय चट्टानें ही थीं, प्रकृति के भूत इन्हीं को नष्ट-भ्रष्ट करके चिप्पड़ को समतल बनाने में संलग्न थे। आग्नेय चट्टानों के छीलन से जब प्रस्तरबद्ध चट्टानें बनकर सागर-गर्भ से ऊपर आने लगीं, तब इनका भी क्षय आरम्भ हुआ और फिर नई चट्टानों की सृष्टि हुई। इधर प्रकृति के भूत चिप्पड़ को समतल बनाते रहे, उधर भूगर्भ की हलचलों ने चिप्पड़ को बराबर कहीं ऊँचा कहीं नीचा बनाये रखने की क्रिया जारी रक्खी। भौगर्भिक शक्तियों और प्राकृतिक शक्तियों की यह होड़ आज तक समाप्त होने को नहीं आई। चिप्पड़ के जितने ऊँचे-ऊँचे आकार हैं, चाहे वे आग्नेय चट्टानों के बने हों, चाहे स्तरबद्ध शिलाओं के अथवा परिवर्त्तित चट्टानों के, प्रकृति के भूत उन्हें छिन्न-भिन्न, खण्ड-खण्ड और नष्ट-भ्रष्ट करने में निरन्तर लगे रहते हैं, और कालान्तर में जहाँ ऊँची-ऊँची पर्वत-शृंखलाएँ दिखाई पड़ती थीं, वहाँ चौरस समतल मैदान दिखाई पड़ते हैं। परन्तु भौगर्भिक शक्तियाँ भी हार माननेवाली नहीं हैं। जब उनको अवसर मिलता है, वे अपना पराक्रम दिखाती हैं। फलस्वरूप पृथ्वी हिल उठती है, भूतल के आकार बदल जाते हैं और चिप्पड़ पर नई घटनाएँ होने लगती हैं। जहाँ जल होता है, वहाँ स्थल और जहाँ महासागर होते हैं, वहाँ हिमालय-जैसे पर्वत निकल आते हैं। यहाँ पर हम पहले यह दिखायेंगे कि पृथ्वी के प्रधान अवयव और चट्टानें जिस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट होती हैं और उनके क्षय में कौन शक्तियाँ लीन हैं।

सूर्य का प्रभाव

सबसे बड़े आश्चर्य की बात तो यह है जिस परम तेजस्वी सूर्य से पृथ्वी का जन्म हुआ है, उसी की शक्ति से चिप्पड़ का क्षय होता है। पृथ्वी के चारों ओर जो वायुमण्डल का वेष्ठन है, उसी के द्वारा सूर्य-शक्ति चिप्पड़ का क्षय करती है। वायुमण्डल का परिवर्त्तन और मौसम का होना सूर्य पर ही निर्भर है, यह हम पहले बता चुके हैं। वायुमण्डल और मौसम के दूतों द्वारा ही चिप्पड़ का निरन्तर क्षय होता है। इन दूतों में वर्षा, बर्फ़, वायु और ताप का घटना-बढ़ना प्रधान हैं। यहाँ पर यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि किस प्रकार सूर्य इन दूतों को शक्ति प्रदान करता है। 'धरातल की रूपरेखा' के प्रकरण में हम यह बताने की चेष्टा करेंगे कि सूर्य के द्वारा किस प्रकार वर्षा आदि का जन्म होता है।

खण्डन और विश्लेषण

चिप्पड़ का क्षय दो प्रकार से होता है। प्रथम विखण्डन और दूसरे विश्लेषण द्वारा। कुछ परिस्थितियों में चट्टानों की क्षति में पहले रासायनिक विश्लेषण (Decomposition) होता है और फिर विखण्डन (Disintegration), तथा कभी-कभी चट्टानें अन्य शक्तियों के प्रभाव से पहले खण्ड-खण्ड होकर बिखर जाती हैं और तब खण्डित और चूर्ण चट्टानें रासायनिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। कभी-कभी इनमें से एक ही क्रिया होती है।

वर्षा-जल का कार्य

वर्षा का प्रभाव चिप्पड़ के क्षय में दोहरा पड़ता है। वर्षा के जल से चिप्पड़ के अवयवों का रासायनिक परिवर्त्तन और विश्लेषण भी होता है तथा खण्डन भी। केवल जल ही एक ऐसा कार्यकर्त्ता है जिसके द्वारा चट्टानों में रासायनिक परिवर्त्तन होता है और उसके अवयवों का विश्लेषण होकर क्षय होता है। अन्य कार्यकर्त्ताओं का प्रभाव केवल विखण्डन तक ही सीमित है। यह अवश्य होता है कि अन्य कार्यकर्त्ताओं द्वारा विखण्डित चट्टानों का भी जल की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप रासायनिक विश्लेषण होकर क्षय हो जाता है।

वर्षा का रासायनिक प्रभाव चट्टानों के अवयवों पर तीन प्रकार से पड़ता है—(१) चट्टानों के अवयवों या खनिजों के जल में घुलने से; (२) खनिजों के साथ रासायनिक सम्मिलन से, जिसे अंग्रेज़ी में हाइड्रेशन (Hydration) कहते हैं; (३) खनिजों के साथ ऑक्सिजन का रासायनिक सम्मिलन कराने से, जिसे ऑक्सीडेशन कहते हैं।

खुली चट्टानों पर वर्षा का सीधा प्रहार तो होता ही है, साथ ही चट्टानों की प्राकृतिक दरारों और सेंधों अथवा अन्य क्रियाओं के प्रभाव से उत्पन्न दरजों के द्वारा जल चट्टानों के भीतर प्रवेश कर जाता है और वहाँ रासायनिक प्रतिक्रिया आरम्भ करता है। चट्टानों के बहुत से अवयव पानी में घुलकर बह जाते हैं। जो अंश शेष रह जाता है, वह बहुधा इतना शक्तिहीन होता है कि छूने से बिखर जाय। चूने का पत्थर (Limestone) तथा इसी प्रकार के अन्य पत्थर, जैसे सेलखड़ी आदि, पानी में घुलकर बह जाते हैं और इनकी चट्टानों के स्थान पर केवल मिट्टी अथवा बालू की छाँछ रह जाती है। यह इतनी शक्तिहीन होती है कि हवा के वेग से ही स्थानान्तरित हो जाती है।

कुछ प्रस्तरबद्ध शिलाओं की रचना जल में न घुल सकनेवाले कठोर बालू के समान खनिज-कणों और मिट्टी तथा किसी संयोजक पदार्थ के एकत्रित होने से होती है। जल में इन संयोजक पदार्थों के घुलकर बह जाने से जो शेष रह जाता है, वह बालू का ढेर होता है। यह बिना शक्ति-प्रयोग के ही छिन्न-भिन्न हो जाता है।

हाइड्रेशन अथवा जल-सम्मिलन से खनिजों में जो प्रतिक्रिया होती है, उसका एक विशेष प्रभाव पड़ता है। हाइड्रेशन के फलस्वरूप चट्टानों के खनिजों का आयतन बढ़ जाता है। आयतन बढ़ने से चट्टान के भीतर इतना अधिक दबाव हो जाता है कि भीतर-ही-भीतर खनिज-कण पिसकर चूर्ण हो जाते हैं। बहुत-सी बड़ी-बड़ी चट्टानें केवल इसी के प्रभाव से छिन्न-भिन्न होकर क्षत-विक्षत होती हैं। हाइड्रेशन के प्रभाव से कभी-कभी चट्टानों के पर्त इस प्रकार अलग होकर गिर जाते हैं, जिस प्रकार करमकल्ला गोभी के पत्ते एक दूसरे से अलग होते हैं। ग्रेनाइट (Granite) नामक आग्नेय चट्टान में यह विशेषता बहुधा पाई जाती है।

ऑक्सीडेशन का प्रभाव अधिकतर लोहे के खनिजों पर पड़ता है। लोहे के खनिज वर्षा के प्रभाव से ऑक्साइड रूप में परिवर्त्तित हो जाते हैं। इस परिवर्त्तन के फलस्वरूप इन खनिजों का रंग भी बदल जाता है और कभी-कभी ऐसा होता है कि एक ही शिलाखण्ड में ऊपर के अवयवों का रंग भीतर के अवयवों से, जहाँ जल का प्रभाव नहीं पड़ता, सर्वथा भिन्न होता है। अवयवों के इस रासायनिक परिवर्त्तन से चट्टानों की बनावट में एक प्रकार का ढीलापन आ जाता है, जिससे वे जल्दी नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं।

जल के प्रभाव से खनिजों की रासायनिक विश्लेषण की जो क्रिया होती है, उसमें फेल्सपार (Feldspar) नामक

खनिज का विश्लेषण बहुत महत्व का है। लगभग सभी प्रमुख आग्नेय चट्टानों में यह खनिज पाया जाता है। जल की प्रतिक्रिया से इसका रूप मिट्टी में बदल जाता है। इस मिट्टी को क्योलीन के नाम से पुकारते हैं। जबलपुर की पहाड़ियों में पाई जानेवाली मिट्टी का जन्म फेल्सपार नामक खनिज के विश्लेषण से ही हुआ है। इसी प्रकार दक्षिण के पठार में पाये जानेवाले अल्युमीनियम के खनिज से बाक्साइड तथा लैटिराइट का जन्म हुआ है। लोहे के खनिज लियोनाइट का जन्म भी खनिजों के रासायनिक विश्लेषण के फलस्वरूप होता है।

वर्षा-जल द्वारा चट्टानों का विखण्डन

जल के द्वारा चट्टानों का विखण्डन कैसे होता है, यह प्रत्येक स्थान की स्थिति पर निर्भर है। वर्षा जिस वेग से होती है, वैसा ही उसका प्रभाव पड़ता है। नित्यप्रति वर्षा होते हुए भी यदि केवल बूँद-बूँद जल गिरता है, तो उसका प्रभाव साल में एक दिन मूसलाधार वर्षा होने की अपेक्षा सर्वथा भिन्न होगा। पहाड़ों पर रहनेवाले जानते हैं कि वर्षा के वेग से किस प्रकार चट्टानें बहुधा फट पड़ती हैं। वर्षा के जल से किस प्रकार नदियों का जन्म होता है और नदियों के द्वारा चट्टानों की किस प्रकार क्षति होती है, यह हम आगे बतायेंगे। वर्षा के कारण ठण्डे प्रदेशों में किस प्रकार चट्टानों का खण्डन और क्षय होता है, यह उन लोगों की समझ में सरलता से आ जायगा, जिन्होंने शीतकाल में पानी के नलों को फटते देखा है। यदि पानी संकुचित स्थान में बन्द करके ठण्डा किया जाय, यहाँ तक कि उसका तापक्रम शून्यांश से २० या २२ अंश कम हो जाय, तो न केवल वह जमकर कठोर बर्फ़ बन जायगा वरन् उसका आयतन इतना अधिक बढ़ेगा कि उसके ज़ोर से वह संकुचित स्थान या तो बढ़ जायगा अथवा फट जायगा। संकुचित स्थान में जमनेवाले बर्फ़ का दबाव (Pressure) लगभग ४२० मन प्रति वर्गइञ्च तक बढ़ जाता है। यही कारण है कि पानी के नल काग़ज़ की भाँति फट जाते हैं।

हम पहले बता चुके हैं कि चट्टानों की प्राकृतिक बनावट ही कुछ ऐसी होती है कि उनमें दरारें और सेंधें पाई जाती हैं। वर्षा का जल इन्हीं सेंधों में भर जाता है और रात को जब भीषण शीत पड़ती है तब जमकर बर्फ़ बन जाता है। बर्फ़ बन जाने से उसका आयतन बढ़ता है और उसके ज़ोर से चट्टान फट जाती है। यह क्रिया केवल बड़ी चट्टानों तक ही परिमित नहीं है, वरन् बड़े-बड़े खण्डों के छिन्न-भिन्न होकर बिल्कुल बालूकणों में बिखर जाने तक जारी रहती है। बड़ी-बड़ी ठोस पहाड़ियाँ और चट्टानें एकाएक फूट की तरह खिल जाती हैं और उनकी बड़ी दरारों में जल, वायु और ताप आसानी से पहुँच जाते हैं और उनको क्षत करते रहते हैं। बर्फ़ के प्रभाव से नष्ट-भ्रष्ट चट्टानों के खण्ड देखने से यह प्रतीत होता है मानों बढ़ई जैसे फन्नी द्वारा लकड़ी के कुन्दे फाड़ता है, उसी प्रकार इन चट्टानों को चीरा गया है, अथवा किसी बड़े भारी देव ने हथौड़े से उन्हें छितरा दिया है।

गर्मी-सर्दी का प्रभाव

सूर्य की तप्त किरणों के पड़ने से चट्टानों का ऊपरी भाग एकदम तपने लगता है। परन्तु चट्टानें गर्मी की अच्छी चालक न होने के कारण भीतर का भाग ठण्डा ही रह जाता है। इसका फल यह होता है कि ऊपर का भाग गरम होने से बढ़ जाता है और भीतर का भाग उसका साथ नहीं दे पाता। चट्टानों का ऊपर का तप्त भाग भीतर के भाग से छिलके की भाँति अलग हो जाता है। अलग हो गये चट्टानों के पर्त खण्ड-विखण्ड होकर गिर जाते हैं। रेगिस्तानों में, जहाँ दिन को सूर्य की तेज़ी से चट्टानें बहुत अधिक तपती हैं, और रात्रि को अधिक शीत पड़ने से एकदम ठण्डी होकर सिकुड़ने लगती हैं, चट्टानों का विखण्डन बड़ी शीघ्रता से होता है। इसका कारण यह है कि इन चट्टानों के खनिज तपने से जितने बढ़ते हैं, ठण्डे होने पर उससे कम या अधिक संकुचित होते हैं। फलस्वरूप चट्टानों के अवयवों में नित्य एक प्रकार की खेंच-तान बनी रहती है, जिससे चट्टानें निर्बल और खण्डित हो जाती हैं। चट्टानों के इस प्रकार खण्डित और निर्बल होने में रासायनिक प्रतिक्रियाओं का भी प्रभाव पड़ता है और खण्डन के साथ-साथ चट्टानों का विश्लेषण भी होता रहता है। सूर्य की गर्मी से स्तरबद्ध चट्टानों के पर्त गरम होकर मोटे आदमियों के पेट की तरह फूल जाते हैं और थोड़ा दबाव या झटका लगने से चूर-चूर हो जाते हैं। बर्फ़ के प्रभाव से चट्टानों के खण्डन और गर्मी-सर्दी द्वारा क्षत-विक्षत होने में इतना अन्तर है कि बर्फ़ चट्टानों को तोड़-तोड़कर खण्ड-खण्ड कर देता है और गर्मी-सर्दी से चट्टानों के पर्त-पर्त अलग होते हैं तथा केवल उतने ही भाग में इसका प्रभाव पड़ता है, जहाँ सूर्य की किरणें पहुँच पाती हैं। सहारा आदि रेगिस्तानों में गर्मी-सर्दी से नष्ट हुई चट्टानों के विचित्र दृश्य देखने में आते हैं।

चट्टानें आदि को क्षति पहुँचाने में मनुष्य और

वनस्पतियाँ भी अपना महत्व रखते हैं। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के लिए चट्टानों को खोद-खोदकर तथा तोड़-फोड़कर छिन्न-भिन्न करता है। मनुष्य द्वारा विखण्डित चट्टानों पर वायुमण्डल के कार्यकर्त्ता आकर अपना कार्य आरम्भ कर देते हैं और विखण्डन और विश्लेषण की क्रिया से चट्टानों को नष्ट-भ्रष्ट कर डालते हैं। वृक्षों की जड़ें भी चट्टानों को नष्ट करने में सहायता पहुँचाती हैं। उनके द्वारा जल और वायु को चट्टानों के भीतर जाने की राह मिलती है और वे अपनी क्रिया करने का अवसर पाते हैं।

चट्टानों का विखण्डन और विश्लेषण प्रत्येक स्थान के जलवायु के अनुसार होता है। जलवायु के ऊपर ही क्षय का वेग और मात्रा निर्भर होते हैं। रासायनिक विश्लेषण के लिए अधिक मात्रा में गर्मी और जल का होना आवश्यक है। इसलिए इस प्रकार से चट्टानों का क्षय ध्रुव-प्रदेशों में, चाहे वहाँ कितना ही पानी क्यों न बरसे, तथा रेगिस्तानों में, चाहे वहाँ कितनी ही गर्मी क्यों न पड़े, बहुत ही धीमे वेग से तथा कम मात्रा में होता है। जिन स्थानों में गर्मी भी अधिक पड़ती है तथा वर्षा भी अधिक होती है, उन स्थलों की चट्टानों की क्षति रासायनिक विश्लेषण से ही अधिक होती है।

सूखे और रेगिस्तानी प्रदेशों में चट्टानों की क्षति विखण्डन द्वारा अधिक होती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जिन स्थलों में वर्षा अधिक होती है वहाँ चट्टानों का विखण्डन होता ही नहीं। होता है वहाँ भी, परन्तु वहाँ विश्लेषण की क्रिया का प्रभाव इतना व्यापक है कि विखण्डन का महत्व पीछे पड़ जाता है। विश्लेषण के प्रभाव से चट्टानों के जीर्ण-शीर्ण अंश चट्टानों को ढाँप लेते हैं और उन पर धरती का आवरण चढ़ जाता है। धरती (Soil) के द्वारा विखण्डन की क्रिया छिप जाती है। परन्तु विश्लेषण बराबर होता रहता है। सूखे रेगिस्तानी प्रदेशों में, जहाँ धरती का आवरण नहीं होता, चट्टानों के विखण्डन की क्रिया बराबर होती रहती है और उसका प्रभाव एकत्रित रूप से हमें दिखाई देता रहता है। रेगिस्तानों में गर्मी-सर्दी के प्रभाव से चट्टानों के अवयवों में विस्तार और संकुचन सबसे अधिक होता है। वृक्षों के द्वारा विखण्डन केवल उन्हीं प्रदेशों में होता है, जहाँ वर्षा अधिक होती है और वृक्षों की बहुतायत है।

चट्टानों के खण्डन में स्थल के आकार और ऊँचाई-नीचाई का भी विशेष प्रभाव पड़ता है। इसके साथ ही चट्टानों का ढलवाँ होना भी महत्त्वपूर्ण है। अधिक ऊँची तथा बहुत खड़े ढालवाली चट्टानें बहुत शीघ्रता से खण्डित और जीर्ण-शीर्ण होती हैं। ऊँचाई के साथ-साथ ताप कम होता जाता है। इस कारण अधिक ऊँची चट्टानों का बर्फ़ के प्रभाव से विखण्डन होता है। ऊँचाई के साथ-साथ वर्षा की मात्रा भी बढ़ती है। इस कारण सूखे प्रदेशों में भी ऊँची पहाड़ियों पर इतना जल एकत्रित हो जाता है कि बर्फ़ अपना विखण्डन का कार्य कर सके। हाइड्रेशन भी इसी कारण सम्भव होता है। ऊँचे पहाड़ों पर ताप का उलट-फेर भी जल्दी और अधिक होता है। इसलिए गर्मी-सर्दी से होनेवाली क्षति भी पहाड़ों की चोटियों पर बहुत व्यापक है। पहाड़ियों के ढलवाँ होने से चट्टानों के विखण्डित और जीर्ण-शीर्ण अंश लुढ़ककर नीचे चले जाते हैं। इससे उनके चूर्ण होने में तो सहायता मिलती ही है, साथ ही चट्टानों के नष्ट-भ्रष्ट अंग साफ़ होते रहते हैं और नये पर्त सदैव मौसम के प्रहार के सामने आते रहते हैं।

चट्टानों के विखण्डन और विश्लेषण में उनकी रासायनिक रचना का भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। चट्टानों के कोमल अवयव वर्षा आदि के वेग से शीघ्र जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं। कठोर स्फटिक-शिलाओं पर वर्षा के वेग का प्रभाव नहीं पड़ता। दबाव और बोझा अथवा अन्य कारणों से अवश्य ही ये स्फटिक-प्रस्तर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। परन्तु तब भी इनकी रासायनिक रचना में अन्तर नहीं पड़ता। नन्हा कण हो जाने पर भी वह स्फटिक-कण ही रहता है। इसी कारण से स्फटिक शिलाएँ अन्य शिलाखण्डों की अपेक्षा अधिक स्थायी होती हैं। ग्रेनाइट नामक आग्नेय चट्टान बहुत शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट होती है और फेल्सपार नामक खनिज का परिवर्त्तन जगत्-विख्यात है। चूने के पत्थर की चट्टानों की दरारों और सेंधों में होकर पानी चट्टानों के भीतर पहुँचकर उन्हें घुला डालता है। कभी-कभी चट्टानों के भीतर भारी गुफाएँ केवल चूने के पत्थर के पानी में घुलकर बह जाने से ही हो जाती हैं। जहाँ पानी अधिक बरसता है, वहाँ चूने की चट्टानें घुल-घुलकर जल्दी क्षत होती हैं, परन्तु, जहाँ पानी बिलकुल नहीं बरसता, वहाँ क्षय होने में ये स्फटिक से भी अधिक कठोर साबित होती हैं।

मौसमी कार्यकर्ताओं के साथ-साथ प्रकृति के अन्य गण भी अपना कार्य करते रहते हैं। जल की धारा विखण्डन या विश्लेषण द्वारा क्षत बड़े-बड़े चट्टानखण्डों को लुढ़काकर छिन्न-भिन्न करते-करते बालू के समान कर डालती है। वायु छिन्न-भिन्न चट्टानों के महीन चूर्ण को उड़ाकर कहीं का कहीं पहुँचा देती है। इनका हाल हम आगे पढ़ेंगे।



नक़्शे द्वारा भौगोलिक परिस्थितियों का अध्ययन—(२)

पृथ्वी के मानचित्रों के विविध प्रक्षेप

अगर हम रबड़ की गेंद या नारंगी के छिलकों को बिना तोड़े एक चपटे धरातल पर रखने का कोई प्रयत्न करें तो हम देखेंगे कि उनके किनारे और सिरे ऊपर उठ आते हैं। केवल बीच का कुछ भाग धरातल पर स्थित हो पाता है। यदि हम किनारों को दबाकर चपटा करने का प्रयत्न करें तो या तो किनारे फट जाते हैं या तन जाते हैं। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि गोले के धरातल को चपटे धरातल पर इस प्रकार फैलाना कि प्रत्येक स्थान की स्थिति ठीक रहे, असम्भव है। भूमण्डल के मानचित्र का प्रक्षेप करने के जितने भी प्रयत्न किये जाते हैं और जितनी भी विधियाँ हैं, उन सबमें किसी-न किसी तरह का दोष अवश्य रहता है। किसी में देशों का आकार बदल जाता है, किसी में क्षेत्रफल अशुद्ध हो जाता है और किसी में दूरी ठीक नहीं रहती। धरातल के छोटे-छोटे अंशों जैसे लंका, इंगलैंड अथवा न्यूज़ीलैण्ड का मानचित्र चपटे धरातल पर बनाना कठिन नहीं है और न इसमें अधिक अशुद्धियाँ होने की आशंका है। परन्तु सम्पूर्ण भूमण्डल के धरातल का चपटे काग़ज़ पर शुद्ध रूप से प्रक्षेप करना अति कठिन है।

शुद्ध मानचित्र में आकार, क्षेत्रफल और स्थिति का ठीक-ठीक होना आवश्यक है। परन्तु चपटे नक़्शे में तीनों बातों का एक साथ शुद्ध होना असम्भव है। इसीलिए इनमें से एक-न-एक का त्याग किये बिना शेष दोनों का शुद्ध होना सम्भव नहीं है। इनमें से किसका त्याग करके किसको ग्रहण किया जाता है, यह बात मानचित्र जिस उपयोग के लिए बनाया जाता है उस पर निर्भर है। यदि हम ऐसा नक़्शा चाहते हैं, जिसमें केवल क्षेत्रफल की शुद्धता का महत्व है तो हमें आकार शुद्ध होने की विशेष चिन्ता नहीं होनी चाहिए। इसलिए ऐसे मानचित्रों में, जिनमें भूमण्डल का शुद्ध क्षेत्रफल दिखाया गया है, यदि देशों के आकार विचित्र देख पड़ें तो आश्चर्य नहीं।

इसी प्रकार यदि हम किसी मानचित्र में भूमण्डल के देशों के आकारों की शुद्धता चाहते हैं तो हमें नक़्शों के विभिन्न भागों में विभिन्न पैमानों का उपयोग करना पड़ेगा, क्योंकि एक ही पैमाने पर गोले के विभिन्न भागों का आकार शुद्ध रूप से काग़ज़ पर बनाया नहीं जा सकता। देशों का शुद्ध आकार दिखानेवाले नक़्शों का रूप ग्लोब पर दिखाये गये रूप से सर्वथा भिन्न होता है।

नक़्शा बनाते समय किस प्रणाली का प्रयोग किया जाय इसके लिए यह सदैव ध्यान रहे कि नक़्शा किस काम के लिए बनाया जाता है। हम यदि नक़्शे के प्रत्येक भाग का क्षेत्रफल शुद्ध चाहते हैं तो हमें देशों के आकार की शुद्धता को भूलना होगा। यदि प्रत्येक स्थल के छोटे-छोटे अंशों के आकार की शुद्धता चाहते हैं तो हमें नक़्शों के विभिन्न भागों की लम्बाई-चौड़ाई में विभिन्नता लानी पड़ेगी और बड़े स्थलों के आकार की शुद्धता त्यागनी पड़ेगी। हम ऐसा भी कर सकते हैं कि कुछ अंशों में देशों के आकार और क्षेत्रफल दोनों ही शुद्ध रहें, परन्तु उस दशा में हम नक़्शे के विशुद्ध होने का वादा नहीं कर सकते।

वायुयानों और जलयानों के चलानेवालों के लिए जिन नक़्शों की आवश्यकता होती है उनमें दिशाओं की शुद्धता आवश्यक है। इस प्रकार के नक़्शे के केन्द्र से अन्य स्थानों की दिशा का ज्ञान ठीक-ठीक होना चाहिए। यहाँ पर हम कुछ उन प्रमुख प्रणालियों का उल्लेख करेंगे, जिनके द्वारा पृथ्वी के मानचित्रों के प्रक्षेप बनाये जाते हैं।

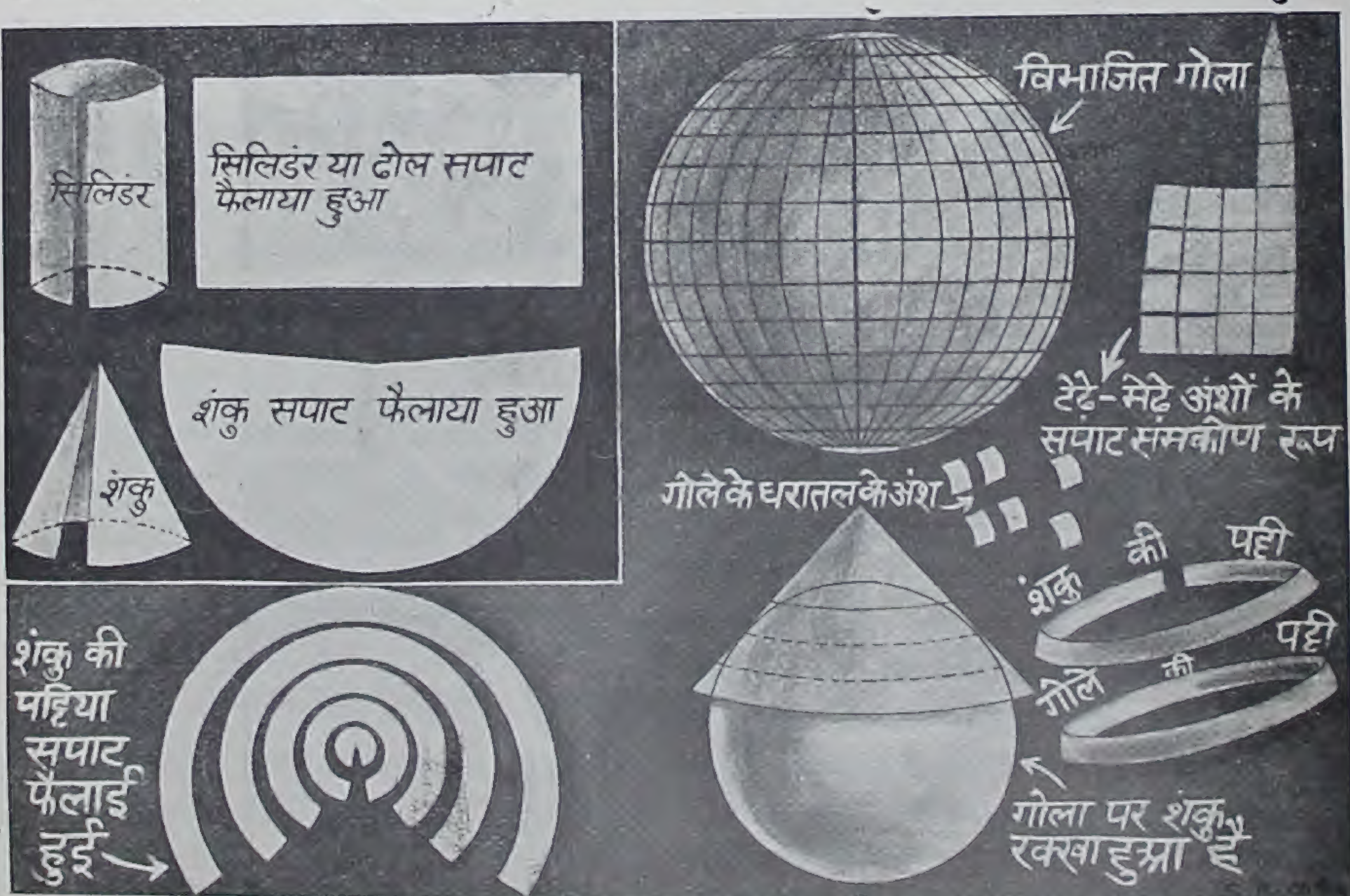
ढोल प्रणाली (Cylindrical Projection)

इस प्रणाली में ग्लोब पर काग़ज़ का एक ढोल इस प्रकार चढ़ा दिया जाता है कि सब-की-सब भूमध्य रेखा ढोल को छूती है। गोले के शेष भागों को इतना फैलाया जाता है कि वे सब ढोल को छूने लगते हैं। फिर ढोल को खोल देते हैं। इस ढोल पर अक्षांश और देशान्तर रेखाएँ सम-

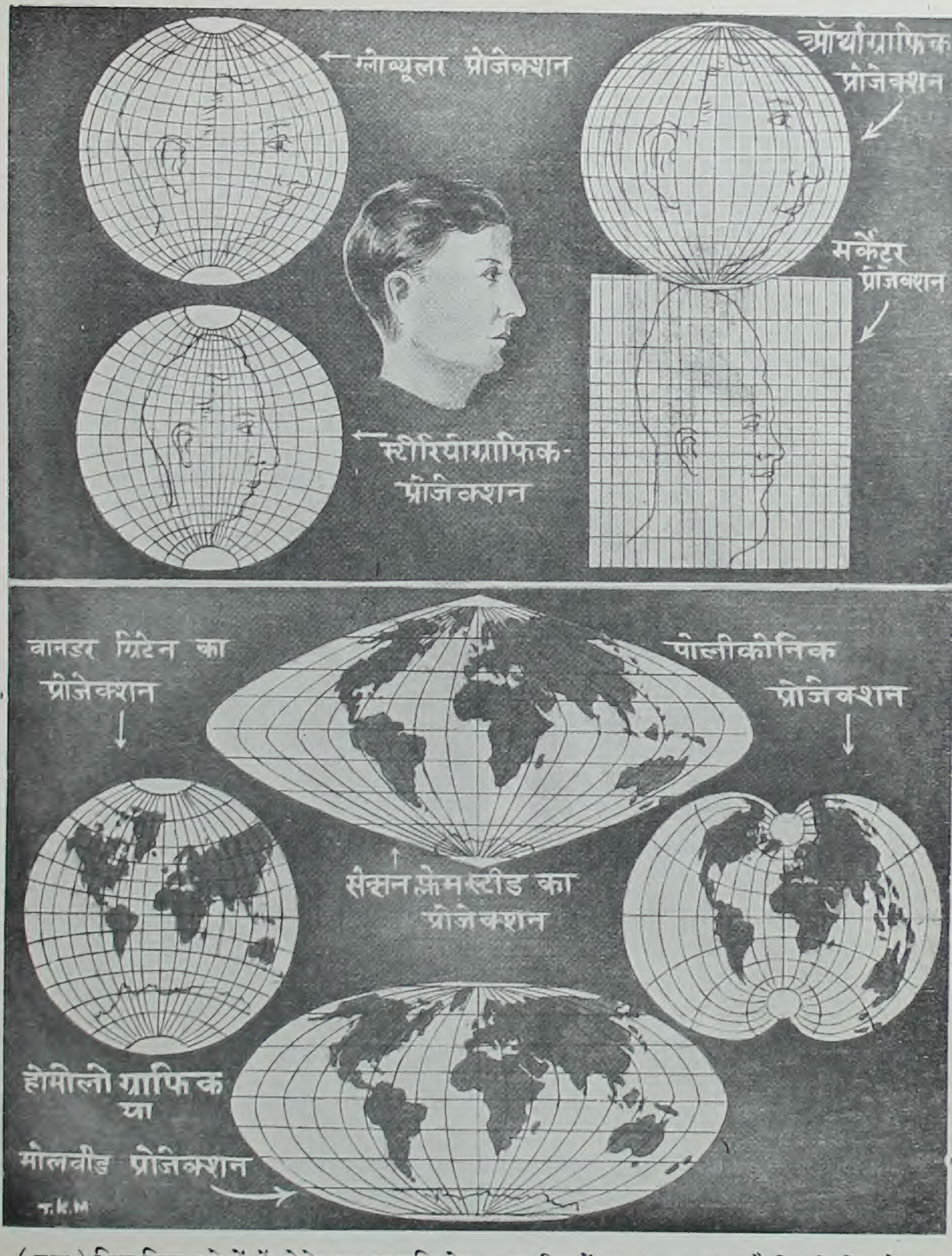
कोण बनाती हुई समानान्तर रहती हैं। ध्रुव को एक विन्दु से न दिखाकर एक सीधी रेखा से दिखाया जाता है। इससे किन्हीं दो देशान्तर रेखाओं के बीच का क्षेत्रफल वास्तविक से अधिक दिखाई देता है। इस प्रणाली में दो प्रकार के प्रक्षेप मुख्य हैं—(१) मर्केटर (२) मोलवीड।

१. **मर्केटर प्रोजेक्शन**—इसका सिद्धान्त काफ़मैन नामक एक जर्मन ने निकाला था। इस प्रणाली से बने नक़शों के उत्तरी भाग अपने वास्तविक विस्तार से कहीं अधिक बढ़ जाते हैं। ग्रीनलैण्ड देखने में अफ़्रीक़ा के बराबर और भारत से आठ गुना बड़ा लगता है। परन्तु वास्तव में भारत का क्षेत्रफल १७६६६५० वर्ग मील है, ग्रीनलैण्ड का केवल ८५०००० वर्ग मील तथा अफ़्रीक़ा का ११५००००० वर्ग मील अर्थात् ग्रीनलैण्ड से लगभग १४ गुना अधिक है।

इस तरह के प्रक्षेप में ज्यों-ज्यों अक्षांश ऊँचा होता जाता है, त्यों-ही-त्यों पूर्व-पश्चिम की दूरी यथार्थ दूरी से कहीं अधिक होती जाती है। ८०° अक्षांश के आगे के भाग इस प्रक्षेप में इतने अधिक असत्य प्रतीत होते हैं कि वे इस नक़शे में दिखाये ही नहीं जाते। परन्तु भूमध्य रेखा के पासवाले प्रदेशों के आकार में अधिक अन्तर नहीं पड़ता है। इसमें एक विशेष बात यह है कि किन्हीं दो स्थानों के बीच में एक सीधी रेखा खींच दी जाय तो वह सभी देशान्तर रेखाओं को एक ही कोण पर काटेगी। इस प्रकार यदि जहाज़ का कप्तान इस कोण को नाप ले और उसी के अनुसार अपना रास्ता पकड़े, तो उसे अपनी दिशा के बदलने की आवश्यकता न पड़ेगी। दो स्थानों को जोड़नेवाली इस रेखा को 'दिशासूचक' रेखा कहते हैं। इस प्रकार स्थल भागों के नक़शों के बनाने के लिए यह फैलाव उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इससे स्थल भागों के आकार बिगड़ जाते हैं और क्षेत्रफल तथा पूर्व-पश्चिम की दूरी का ठीक ज्ञान नहीं हो पाता। इस प्रोजेक्शन का उपयोग प्रायः जहाज़ों का मार्ग,



गोलाकार पृथ्वी के धरातल को सपाट काग़ज़ पर चित्रित करने में कठिनाई होने के कारण पृथ्वी शंकु या सिलिंडर (ढोल) की भीतरी सतह पर फैली हुई कल्पित की जाती है। शंकु या सिलिंडर को सपाट फैलाने पर जो रूप मिलेगा, वह ऊपर दिखाया गया है। यदि गोले को छोटे-छोटे समान आकार के चतुर्भुजों में विभाजित किया जाय तो वे टुकड़े सपाट फैलाये जा सकेंगे। किंतु यदि ऐसे ही सपाट चतुर्भुज टुकड़े जोड़े जायँ तो उनसे गोला नहीं बन पायगा। इसी तरह शंकु से काटी गई पट्टियाँ गोले से काटी गई पट्टियों जैसी तो होंगी, पर शंकु की पट्टियाँ जहाँ सपाट फैलाई जा सकती हैं, वहाँ गोले की नहीं; और न शंकु की पट्टियाँ जोड़कर गोला ही बनाया जा सकता है।



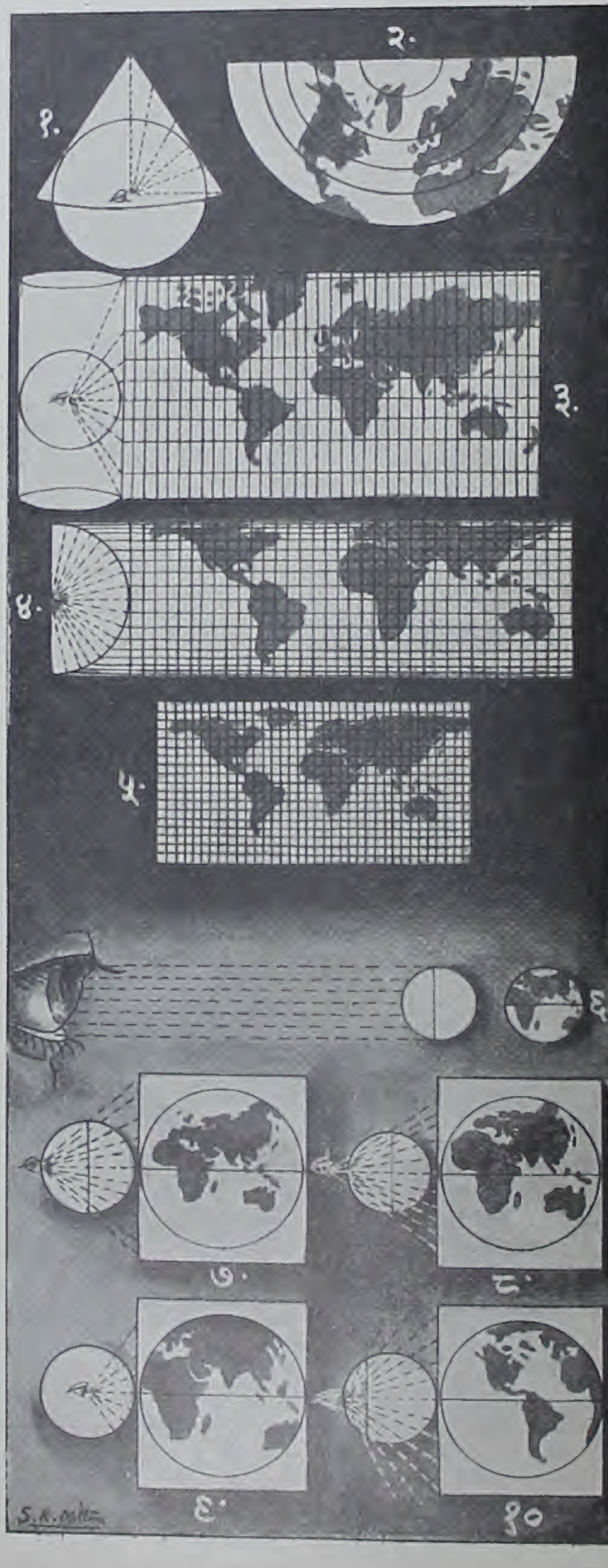
(ऊपर) भिन्न-भिन्न प्रक्षेपों में होनेवाला आकृति-भेद। इस चित्र में यह समझाया गया है कि यदि चित्र के मध्य में दी गई मनुष्याकृति को विभिन्न प्रक्षेपों द्वारा सपाट काग़ज़ पर उतारा जाय तो उसका हर प्रक्षेप में कैसा रूप होगा। यही बात पृथ्वी के मानचित्र के संबंध में भी लागू होती है। (नीचे) पृथ्वी के मानचित्र के कुछ प्रधान प्रक्षेप (अन्य प्रक्षेपों के लिए अगले पृष्ठ का चित्र देखिए)।

समुद्र-धारा तथा हवा का मार्ग दिखाने के लिए होता है।

२—**मोलवीड प्रणाली**—यह मर्केटर प्रोजेक्शन प्रणाली से बिलकुल उल्टी है। इसमें यद्यपि भिन्न-भिन्न भागों के क्षेत्रफल ठीक दिखाई पड़ते हैं, तथापि उनके आकार बिगड़ जाते हैं। इसमें पृथ्वी को अंडाकार नक़्शे से दिखाया जाता है। अक्षांश रेखायें सब सीधी रहती हैं। मध्यवर्ती देशान्तर रेखा भी सीधी रहती है। शेष सब देशान्तर रेखायें दीर्घ वृत्त होती हैं और भूमध्य रेखा को समान भागों में विभाजित करती हैं। केवल ९०° पूर्वी और पश्चिमी देशान्तर रेखायें एक पूरा वृत्त बनाती हैं। १८०° पूर्वी और पश्चिमी देशान्तर रेखायें विशाल दीर्घ वृत्त बनाती हैं। इस प्रक्षेप में गोला उत्तर-दक्षिण की दिशा में। जितना दब गया होता है, उतना ही वह पूर्व-पश्चिम की दिशा में बढ़ गया होता है। इस प्रकार सब प्रदेशों का क्षेत्रफल समान रहता है। ग्रीनलैण्ड और अफ़्रीका का क्षेत्रफल भी वास्तविक दिखाई देता है। खनिज, वनस्पति, जाति, साम्राज्यादि के विभाग में देशों का असली क्षेत्रफल दिखाया जाना बड़ा आवश्यक होता है। इसलिए इस प्रकार के नक़्शों में यह समक्षेत्र-फलदर्शक अंडाकार प्रक्षेप बड़ा उपयोगी है। इससे दूरी और दिशा में भी बहुत अन्तर आ जाता है।

शंकु प्रक्षेप (Conical Projection)

पृथ्वी के नक़्शे बनाने का दूसरा प्रमुख साधन शंकु प्रक्षेप है। इसमें काग़ज़ की एक कोनेवाली टोपी ग्लोब को पहना दी जाती है, जो उसे ४४° अक्षांश पर चारों ओर छूती है। इसी टोपी पर नक़्शे का जाल फैलाया जाता है। इस प्रणाली में यह विशेषता है कि जिस अक्षांश को यह टोपी छूती है, वह तथा उसके आस-पास के स्थान इस पर ठीक-ठीक दिखाये जा सकते हैं। इस प्रणाली में देशान्तर रेखायें सीधी रहती हैं, जो ऊपर या नीचे बढ़ाने से एक विन्दु पर मिल जाती हैं, और अक्षांश रेखायें वृत्त के भाग होती हैं, जो उस विन्दु को केन्द्र मानकर खींचे जाते हैं। इस प्रणाली में भी दो प्रकार के प्रक्षेप मुख्य हैं—



विभिन्न प्रकार के कुछ प्रक्षेप और उनके सिद्धान्त

१—२. शंकु प्रक्षेप या कोनीकल प्रोजेक्शन; ३. ढोलनुमा मर्केटर प्रोजेक्शन; ४. ढोलनुमा सम-क्षेत्रफलवाला प्रोजेक्शन; ५. ढोलनुमा समानांतर प्रोजेक्शन; ६. आरथोग्राफ़िक प्रोजेक्शन ७. स्टीरिओग्राफ़िक प्रोजेक्शन; ८. सम-दूरीवाला या ग्लोब्यूलर प्रोजेक्शन; ९. केन्द्रीय प्रोजेक्शन; १०. दो-तिहाई प्रक्षेप।

(१) साधारण शंकु-प्रणाली ; और (२) बोनकृत परिष्कृत शंकु-प्रणाली।

साधारण शंकु-प्रणाली पृथ्वी के छोटे-छोटे भागों के नक़शों के बनाने के काम में अधिक आती है। किन्तु बहुत बड़े-बड़े भागों के नक़शों के बनाने में इससे सहायता नहीं ली जाती। इस प्रोजेक्शन में ध्रुव के निकटवर्ती ऊँचे अक्षांशों का ठीक नक़शा नहीं बनता, क्योंकि इसमें ध्रुव को विन्दु के रूप में नहीं दिखलाया जा सकता। उसे वृत्त के एक भाग के रूप में दिखाया जाता है।

बोनकृत परिष्कृत शंकु-प्रोजेक्शन में देशान्तर रेखायें सीधी न खींची जाकर गोलाई लिये हुए खींची जाती हैं, जिससे न केवल अक्षांश ही ठीक-ठीक दिखाये जाते हैं, बल्कि देशान्तर भी। साधारण त्रिकोण की अपेक्षा इसमें अधिक दूर तक शुद्धता होती है। जिस प्रकार ढोल-प्रक्षेप में भूमध्य-रेखा के आस-पास के भाग का नक़शा शुद्ध बनता है, उसी प्रकार इस प्रक्षेप में उन भागों का नक़शा शुद्ध बनता है, जो शंकु को ग्लोब पर पहनाने से छूते हैं। इस प्रक्षेप की सहायता से नक़शे बड़ी सरलता से बनते हैं। किसी एक महाद्वीप या देश का नक़शा बहुधा इसी की सहायता से बनाया जाता है। नक़शा बनाने की इस प्रणाली में ध्रुव की ओर तथा किनारों की देशान्तर रेखाओं के निकट त्रुटियाँ आ जाती हैं। इसलिए यह ध्रुव-प्रान्त तथा बहुत अधिक दूर की देशान्तर रेखाओंवाले भागों के नक़शों के बनाने के लिए उपयुक्त नहीं है। इस प्रकार इस प्रणाली का उपयोग लम्बे आकार के देशों के नक़शे बनाने में तो अधिक किया जाता है, परन्तु चौड़े देशों के नक़शे बनाने में कम।

इस प्रोजेक्शन की मुख्य त्रुटि यह है कि इसमें ध्रुव की ओर तो पृथ्वी के भाग एक दूसरे के बहुत निकट हो जाते हैं और भूमध्य रेखा की ओर एक दूसरे से बहुत दूर।

अन्य प्रणालियाँ

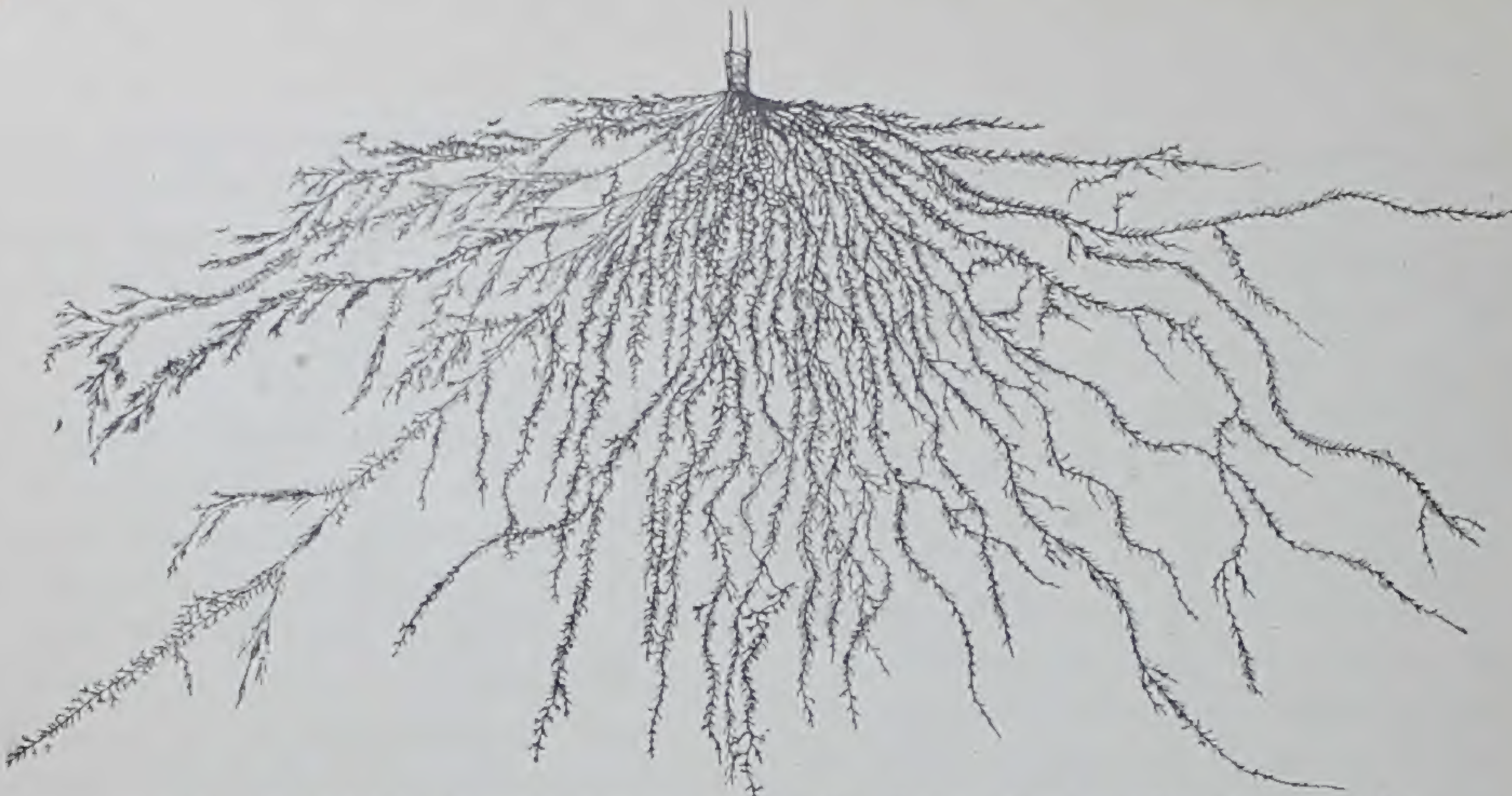
एक तीसरी प्रणाली आरथोग्राफिक प्रोजेक्शन (Orthographic Projection) कहलाती है। यदि हम पृथ्वी के गोले को बहुत दूर से देखें और यह समझें कि हमारे नेत्रों से ज्योति की रेखायें तिरछी न पड़कर गोलार्ध पर सीधी पड़ती हैं तो जो प्रक्षेप बनेगा उसे 'सीधा खींचा हुआ' अथवा आरथोग्राफिक प्रोजेक्शन कहते हैं।

इस प्रक्षेप पर बने नक़शों में जो भाग नेत्रों के सामने पड़ता है, वह आकार और विस्तार में लगभग शुद्ध बनता है, परन्तु जो ऊपर-नीचे अथवा इधर-उधर पड़ता है, वही त्रुटिपूर्ण रहता है और वहाँ का दिखाया हुआ क्षेत्रफल यथार्थ क्षेत्रफल से छोटा होता है। ध्रुव प्रदेशों के नक़शे बनाने के लिए यह सर्वोत्तम प्रक्षेप है। इस प्रक्षेप से यह मालूम होता है कि किसी बड़ी दूरबीन की सहायता से बड़ी दूर से पृथ्वी के गोलार्द्ध का फ़ोटो खींचा गया है।

आरथोग्राफ़िक प्रोजेक्शन से कुछ विभिन्नता लिया हुआ प्रोजेक्शन अज़िम्युथल (Azimuthal Equidistant Projection) प्रोजेक्शन कहलाता है। इस प्रक्षेप में ध्रुव को केन्द्र मान कर अक्षांशों के वृत्त समान दूरी पर खींचे जाते हैं और समान दूरी पर देशान्तर रेखायें इस प्रकार खींची जाती हैं कि वे सब ध्रुव पर मिलती हैं और बाहर की ओर समान दूरी पर फैली रहती हैं।

आरथोग्राफ़िक प्रोजेक्शन में केवल नक़शों का मध्य भाग ही लगभग यथार्थ बनता है और किनारे के भाग बहुत घने हो जाते हैं, इसलिए एक नई प्रणाली का आविष्कार हुआ। इस प्रणाली को स्टीरिओग्राफ़िक (Stereographic) प्रोजेक्शन कहते हैं। इसका उपयोग भी गोलार्द्धों के नक़शे बनाने के काम में आता है। पहले इसका व्यवहार एटलस में देशों के नक़शों के बनाने में अधिक होता था, किन्तु अब ऐसा नहीं होता। इस प्रोजेक्शन में अक्षांश और देशान्तर रेखायें तथा उनके कोण ठीक-ठीक बनते हैं, जिससे नक़शे की रूपरेखायें भी इससे ठीक बन सकती हैं। किन्तु छोटे-छोटे पैमाने के ही नक़शे इससे बन सकते हैं। बड़े पैमानों के नक़शों का बनाना कठिन है, क्योंकि उस दशा में, अक्षांशों और उनके कोणों के शुद्ध बनने के कारण, बहुत बड़े काग़ज़ की आवश्यकता पड़ेगी। इसमें किनारे की ओर का क्षेत्रफल यथार्थ क्षेत्रफल से अधिक बढ़ जाता है।

इस लेख के साथ के चित्रों में और भी अनेकों प्रकार के प्रक्षेपों का वर्णन किया गया है। विभिन्न आवश्यकताओं के अनुसार विद्वानों ने विभिन्न प्रकार के प्रक्षेपों का आविष्कार किया है। ऊपर के वर्णन से यह बात तय हो जाती है कि इनमें से एक भी प्रक्षेप ऐसा नहीं है जिसमें ग्लोब का नक़शा यथार्थ दिखाया गया हो। किसी में आकार में त्रुटि पड़ जाती है तो किसी में क्षेत्रफल में। परन्तु किसी एक बात की पूर्ति किसी एक विशेष प्रक्षेप से हो ही जाती है। इस प्रकार विविध आवश्यकताओं के लिए विभिन्न प्रक्षेपों का उपयोग करना पड़ता है। इसीलिए इतने प्रकार के प्रक्षेपों की आवश्यकता पड़ी और उनका आविष्कार किया गया।

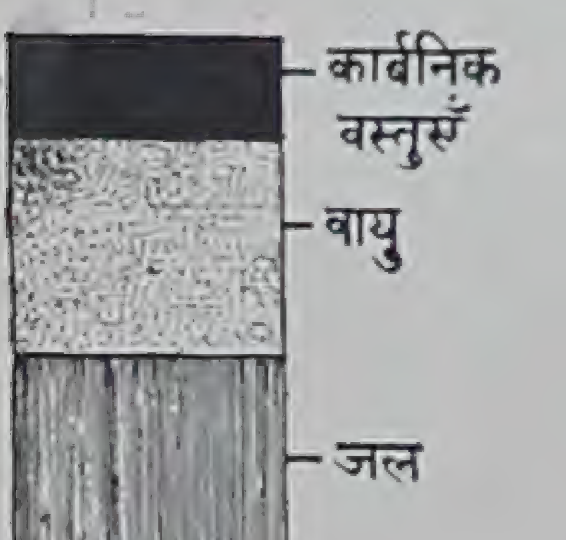


चित्र १—गेहूँ के पौधे की पृथ्वी के अन्दर पसरी हुई जड़ें (यह केवल मानचित्र (diagram) है) ।



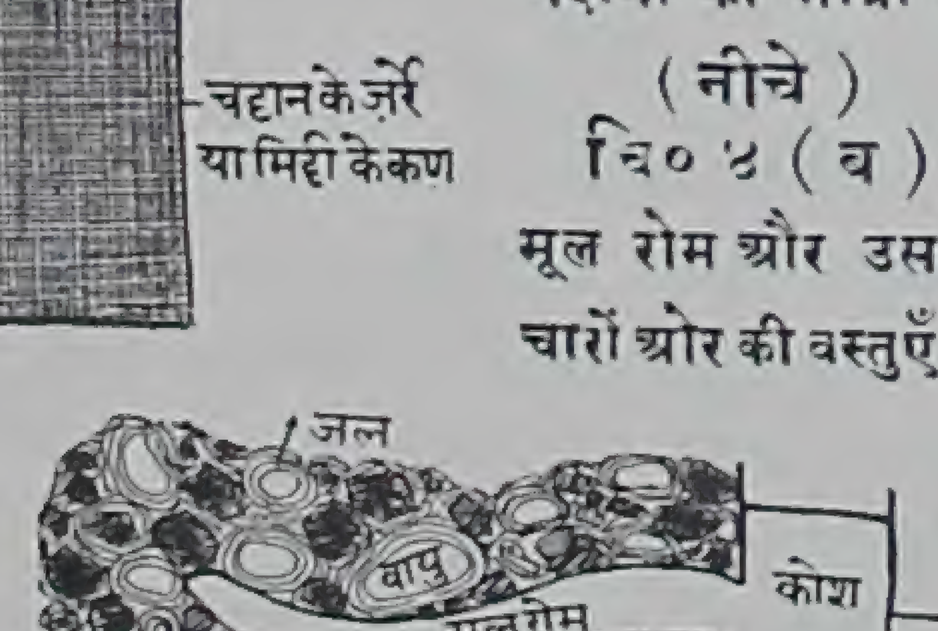
चि० २—अजूवा की पत्ती

यदि यह ज़मीन पर कुछ समय तक रक्खी जाय और उसे खाद्य पदार्थ मिलते रहें तो इससे कई जगहों पर अनियमित जड़ें निकल आती हैं और फिर वहीं पर नये पौधे उग आते हैं।



(बाईं ओर)
चि० ४ (अ)
१०० वर्ग फ़ीट साधारण भूमि में भिन्न-भिन्न पदार्थों की मात्रा ।

(नीचे)
चि० ४ (ब)
मूल रोम और उसके चारों ओर की वस्तुएँ ।





चि० ३—वर्षाजल द्वारा मिट्टी धुल जाने के कारण वृक्ष की जड़ें बहुत-कुछ खुल गई हैं, जिससे उनकी रचना का हमें ज्ञान हो सकता है। जड़ें वृक्ष के लिए ख़ूराक जुटाने के साथ-साथ उसे खड़ा भी रखती हैं।



भोजन की खोज में

जड़ की कहानी

पृथ्वी पर जितने भी जीव हैं, सभी को खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़े-मकोड़े किसी का भी काम बिना आहार के नहीं चलता। इसकी चिंता सबको लगी रहती है। आहार से ही जीवों को सामर्थ्य प्राप्त होती है। इसी से उनके अंग बनते और बढ़ते हैं।

पौधे भी सजीव हैं। इनको भी ख़ूराक की ज़रूरत होती है और अन्य जीवों की भाँति इन्हें भी इसके लिए प्रयत्न करना होता है। इसी अभिप्राय से इनकी पत्तियाँ वायु में प्रकाश की ओर झुकी रहती हैं; इसी की खोज में इनकी जड़ें पृथ्वी के अन्दर दूर तक फैली रहती हैं (चि० १)। इस परिच्छेद में हम आपका ध्यान पौधे की जड़ों की ओर आकर्षित करना चाहते हैं।

यदि आप किसी पौधे की जड़ों को पृथ्वी के अन्दर फैले हुए देखें तो आपको बड़ा आश्चर्य होगा। धरती के अन्दर दूर-दूर तक वे ऐसी धँसती चली जाती हैं मानो किसी वस्तु की तलाश में हों। मिट्टी के कणों से वे ऐसी लिपटी रहती हैं मानो इनसे वे किसी वस्तु को खींच रही हों। बात भी ऐसी ही है। पौधे की जड़ें मिट्टी से खाद्य रसों का संग्रह करती हैं। इसी की खोज में वे मिट्टी के कण-कण से लिपटी रहती हैं।

बीज बोने पर सबसे पहले पौधे से अंकुर निकलता है। इसीसे पौधे की मुख्य जड़ उत्पन्न होती है, जो पृथ्वी के अन्दर प्रवेश करती है। मुख्य जड़ से गौण मूल (Secondary Roots) और शाखाएँ उत्पन्न होती हैं। कभी-कभी गौण मूल तने और शाखों से भी उत्पन्न होती हैं। घास और गेहूँ-जैसे पौधों में ऐसी जड़ें प्रारम्भिक तने के सिरे से ही उत्पन्न होती हैं और इसलिए इन पौधों में केवल झखड़ा जड़ें होती हैं। किसी-किसी पौधे में ऐसी जड़ें गाँठों से फूटती हैं। प्याज़-जैसे कंदों में ये कंद के निचले चिपटे भाग से निकलती हैं। जो जड़ें मुख्य जड़ और उसकी शाखों को छोड़ किसी अन्य अंग से निकलती हैं, उन्हें अनियमित (adventitious) जड़ें कहते हैं। प्रायः ऐसी जड़ें शाखों से ही फूटती हैं; परन्तु कभी-कभी वे पत्तियों से भी निकलती हैं (चि० २)। ऐसी पत्तियों द्वारा नये पौधे उत्पन्न होते हैं।

जड़ों के दो मुख्य कर्तव्य हैं—रोपण और शोषण। इन क्रियाओं को समझने के लिए हमको जड़ों के चारों ओर की वस्तुओं की जाँच करनी चाहिए।

जड़ के चारों ओर की वस्तुएँ—मिट्टी, जल और वायु आदि।

१. **मिट्टी**—जड़ें पौधे का ज़मीन के अन्दर रहनेवाला अंग हैं। वे मिट्टी से घिरी रहती हैं। प्रत्येक स्थान की मिट्टी समान नहीं होती। ऊसर, खेत, पर्वत तथा अन्य स्थानों पर विचार करने पर पता लग जायगा कि स्थान-स्थान की मिट्टी के भौतिक और रासायनिक गुणों में बड़ा अन्तर होता है। मिट्टी के इन गुणों का पौधे की जीवनी पर बड़ा असर पड़ता है।

पौधे को भूमि से तीन मुख्य लाभ हैं। सबसे पहले वह पौधे के आधार का काम देती है; दूसरे इससे पौधे को जल मिलता है, और तीसरे खनिज पदार्थ प्राप्त होते हैं। यही वस्तुएँ पौधों के जीवन का अवलम्ब हैं।

स्थान-स्थान की मिट्टी के गुणों में अन्तर होने पर भी उसमें चार मुख्य वस्तुएँ न्यूनाधिक मात्रा में सभी स्थानों में होती हैं। विशेषकर इन्हीं का प्रभाव पौधों पर पड़ता है। ये वस्तुएँ चट्टान के ज़र्रे या मिट्टी के कण, जल, वायु और पृथ्वी के कीटाणु तथा अन्य जीव हैं। साधारण उपजाऊ भूमि में इनकी मात्रा चित्र ४ अ के अनुसार होती है।

न केवल जुदा-जुदा स्थानों ही की मिट्टी में विभिन्नता होती

है, वरन् प्रत्येक स्थान की मिट्टी भी ऊपर-नीचे एक समान नहीं होती। मकान की बुनियाद या कुआँ खुदते समय आपने देखा होगा कि सबसे ऊपर की मिट्टी और नीचे की मिट्टी के गुणों में बड़ा अन्तर होता है। सबसे ऊपर प्रायः उपजाऊ भूमि होती है, जिसे 'ह्यूमस' (Humus) कहते हैं। इसमें मिट्टी के कण बहुत छोटे होते हैं। इस पर्त में कार्बनिक वस्तुएँ और अनेक कीटाणु भी होते हैं। इन दोनों का पौधे के जीवन और उपज पर बड़ा असर पड़ता है। ह्यूमस के नीचे की तह में मिट्टी के कण कुछ बड़े होते हैं। सबसे नीचे कंकड़ या पत्थर की तह या भूमि का पथरीला भाग होता है।

मिट्टी का अधिकांश भाग चट्टानों की तोड़-फोड़ से ही बनता है। चट्टानों के टुकड़े घिस-घिसकर छोटे हो जाते हैं, और अन्त में इसी संघर्ष से महीन-से-महीन मिट्टी बन जाती है। चट्टानों के टुकड़े और मिट्टी ही के सहारे पौधे ज़मीन में लगे रहते हैं। इन्हीं से पौधों को ख़ूराक भी मिलती है। मिट्टी के कणों के बीच-बीच में स्थान होते हैं, जिनमें जल और वायु भरी रहती है (चि० ४ ब)। ये दोनों ही वस्तुएँ पौधों के लिए बड़ी ज़रूरी हैं।

२. **जल**—बिना जल के कृषि नहीं हो सकती। बिना खेती मनुष्य तथा दूसरे जीवों का जीना असम्भव है। यथार्थ में जल पर न केवल पौधों की जीवनी का ही दारोमदार है वरन् इसी पर मनुष्य के कला, कौशल, सभ्यता आदि सभी निर्भर हैं। पौधे के अंगों में जल की बहुत बड़ी मात्रा होती है। फल, फूल, पत्ती तथा अन्य कोमल और मांसल अंगों का अधिकांश भाग पानी ही होता है। पानी के बिना खाद्य पदार्थ भी नहीं बन सकते। कोशों और तन्तुओं का फूलना भी इसी के अधीन है। द्रविक होने के कारण पौधे की अनेक भौतिक और रासायनिक क्रियाओं का दारोमदार भी इसी वस्तु पर है।

जल और पौधे का यथार्थ सम्बन्ध समझने के लिए चार बातों पर विचार करना ज़रूरी है। प्रथम, पौधे के तन्तुओं में जल की मात्रा; दूसरे, यह कि पौधों को किस मात्रा में जल की आवश्यकता है; तीसरे, पौधे के वे अंग जिनके द्वारा जल-शोषण होता है; और चौथे, वे भौतिक क्रियाएँ जिनसे जल का शोषण होता है।

पौधे के तन्तुओं में जल की कितनी मात्रा होती है तथा जीवन-क्रियाओं में पौधों में किस मात्रा में जल की आवश्यकता है

जैसा पहले कह चुके हैं, पौधों में जल की बहुत बड़ी मात्रा होती है। आलू में लगभग ७५ फ़ीसदी पानी होता है। गेहूँ में प्रायः प्रतिशत १४ भाग पानी होता है। इसी तरह किसी-किसी घास में ८० फ़ीसदी वज़न तक पानी होता है। यदि विचार किया जाय तो पता लग जायगा कि पौधों को जीवन क्रियाओं के लिए इस मात्रा से कहीं अधिक जल की आवश्यकता पड़ती होगी। जाँच से पता लगता है कि प्रत्येक सेर सूखा वज़न* बनने के लिए लगभग ३ मन ३० सेर जल पौधे में से बाहर निकलना ज़रूरी है। इससे स्पष्ट है कि जिस मात्रा में पौधों में जल होता है, उससे कहीं अधिक जल की उनको ज़रूरत पड़ती है।

पृथ्वी में जल कहाँ से आता है?

ज़मीन के पानी का मुख्य ज़रिया बरसाती पानी है। इसी पर पौधों की उपज निर्भर है। दुनिया के रेगिस्तानी भागों में इतनी कम वर्षा होती है कि यहाँ पर बहुत कम पौधे उग सकते हैं। लोगों का अनुमान है कि भूमि के चौथाई भाग में इतनी कम वर्षा होती है कि वहाँ खेती नहीं हो सकती। इसके विपरीत भूमध्य-रेखा के निकटवर्ती जंगलों में वार्षिक जलपात चार सौ-पाँच सौ इंच तक होता है। इन स्थानों में अनेक भाँति के पेड़-पौधे, बेलि-लता आदि भूमि को ढके रहते हैं। उत्तम खेती के लिए लगभग ४० इंच वार्षिक जल की आवश्यकता रहती है और यदि यह जल प्रत्येक मौसम में समान रूप से गिरे तो और भी अच्छा हो।

पृथ्वी पर गिरने के बाद वर्षा का जल क्या होता है?—सूचिका और क्लेदन जल

ज़मीन पर आते ही वर्षा का जल कई दशाओं में बँट जाता है (चि० ५)। यदि ज़मीन पथरीली है और थोड़े समय में अधिक जल गिरे तो जल का अधिकांश भाग बिना पृथ्वी के अन्दर पहुँचे ही बहकर नदियों-नालों में चला जाता है। ऐसे जल से पौधों को कोई लाभ नहीं होता, वरन् उल्टे उनको हानि होने की सम्भावना है; क्योंकि बहुधा इसके द्वारा भूमि का उपजाऊ भाग बह जाता है। नदियों-नालों में जाने से जो जल बच रहता है, वह या तो धीरे-धीरे सोखकर जलस्रोत तक पहुँच जाता है या मिट्टी के कणों के बीच में फँसा रह जाता है। जो जल

*किसी वस्तु का सूखा वज़न निकालने के लिए उसे ७०-८० शतांश पर कई घंटे बराबर गरम करते हैं और जब वज़न में कमी होना बन्द हो जाती है तो जो वज़न रह जाता है उसे 'सूखा वज़न' कहते हैं।

मिट्टी के कणों के बीच में फँसा रह जाता है, उसे सूचिका (Capillary) जल कहते हैं। इस जल के मिट्टी के कणों के इर्द-गिर्द एक झिल्ली रहती है।

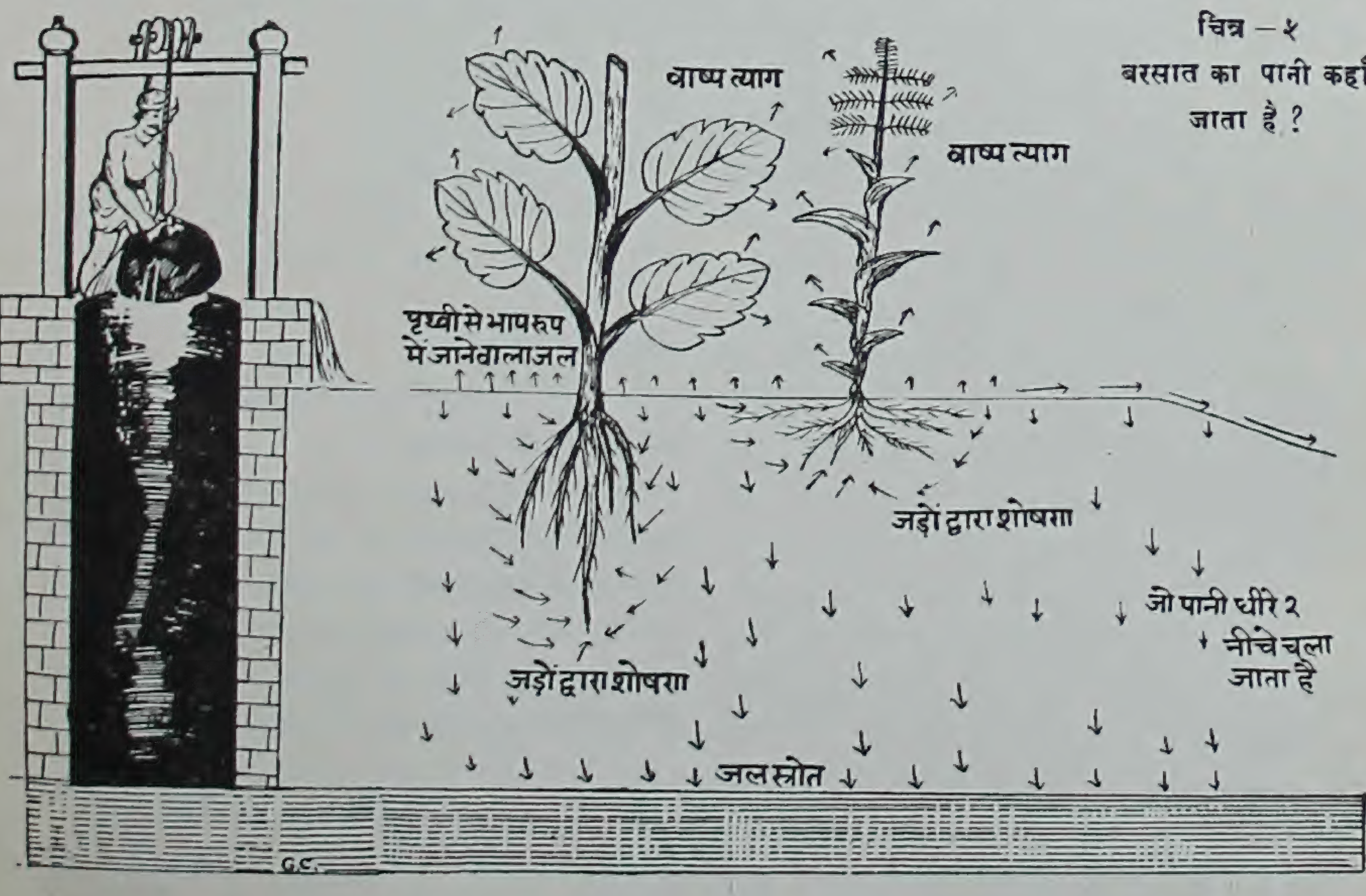
मिट्टी के कणों के बीच-बीच में स्थान होते हैं, जिनके आपस में मिल जाने से नलिकाएँ बन जाती हैं, जिनमें होकर नीचे का जल ऊपर पहुँचता है। नीचे से यह जल उसी प्रकार ऊपर चढ़ता है, जैसे सोखते में स्याही या बत्ती में चिमनी का तेल। यह क्रिया सूचिका क्रिया कहलाती है (चि० ६)। साधारण भूमि में यह जल इस प्रकार २ फ़ीट से ६ फ़ीट की ऊँचान तक चढ़ता है; इसलिए वह जल, जो सोखकर पृथ्वी में बहुत नीचे पहुँच जाता है, पौधे तक इस क्रिया द्वारा नहीं पहुँच सकता।

सूचिका जल के अतिरिक्त मिट्टी के कणों में जल एक और प्रकार से भी रहता है। यह क्लेदन (Hygroscopic) जल है। क्लेदन जल मिट्टी के कणों से केवल अच्छी तरह गर्म करने से ही निकल सकता है। इस प्रकार के जल से पौधे को कोई लाभ नहीं।

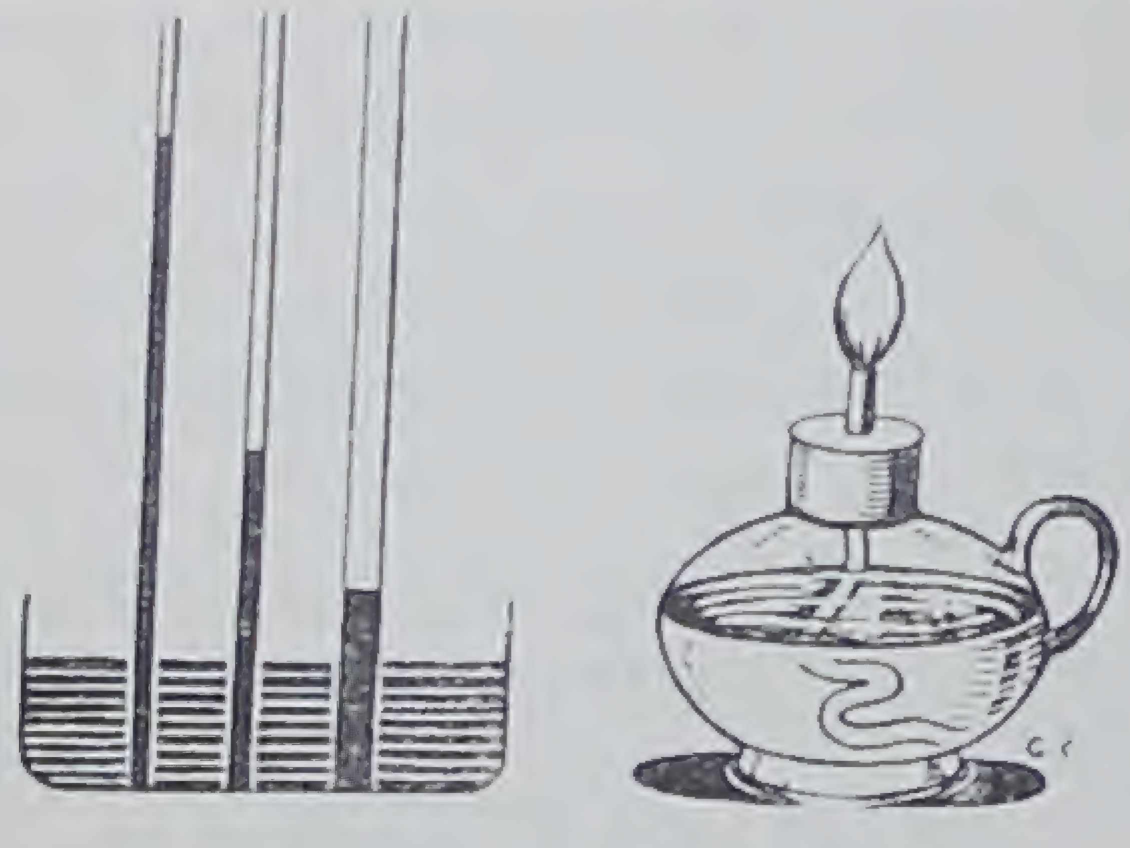
पौधे का शोषण करनेवाला अंग—जड़

पौधे जड़ों द्वारा ही जल को सोखते हैं। शोषण-क्रिया को समझने के लिए हमको जड़ की रचना आदि भली भाँति जानना चाहिए। इस सम्बन्ध में जड़ का पृथ्वी के अन्दर प्रसार भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पौधों की जड़ें ज़मीन के अन्दर बड़ी-बड़ी दूर तक फैलती हैं। किसी वैज्ञानिक ने एक ३·४ इंच लम्बे-चौड़े सन्दूक में जौ के पौधे को उगाया। जब पौधा बढ़कर तैयार हुआ और उसने होशियारी से तमाम जड़ों को नापा तो पता लगा कि कुल जड़ें मिलकर लगभग १२८ फ़ीट लम्बी थीं। इससे स्पष्ट है कि स्वाभाविक अवस्था में जिस समय ऐसा पौधा खेत में उगता होगा तो जड़ों का विस्तार और भी अधिक होता होगा। इस भाँति पौधे की जड़ें दूर-दूर फैली रहने से न केवल पौधे को शोषण में ही सुगमता रहती है, बल्कि उसको स्थायी रखने का काम भी कुशलता से होता है।

पृथ्वी के अन्दर जड़ें ऐसी सुन्दरता से फैली रहती हैं कि यदि आप इन्हें देख सकें तो आपके विस्मय की सीमा न रहे। एक प्रकार की बौंडी आईपोमिया लेप्टोफिला (*Ipomoea leptophylla*) के जड़क्रम के विषय में अमेरिका के धुरंधर विद्वान् बीवर की जाँच से पता लगा है कि उक्त पौधे की जड़ें लगभग ३४-३५ हाथ के व्यास के अन्दर फैली थीं और क़रीब-क़रीब ६·७ हाथ की गहराई तक नीचे पहुँची थीं; लेकिन उसके ज़मीन के ऊपर के



चित्र—५
बरसात का पानी कहाँ जाता है?



चि० ६—सूचिका क्रिया

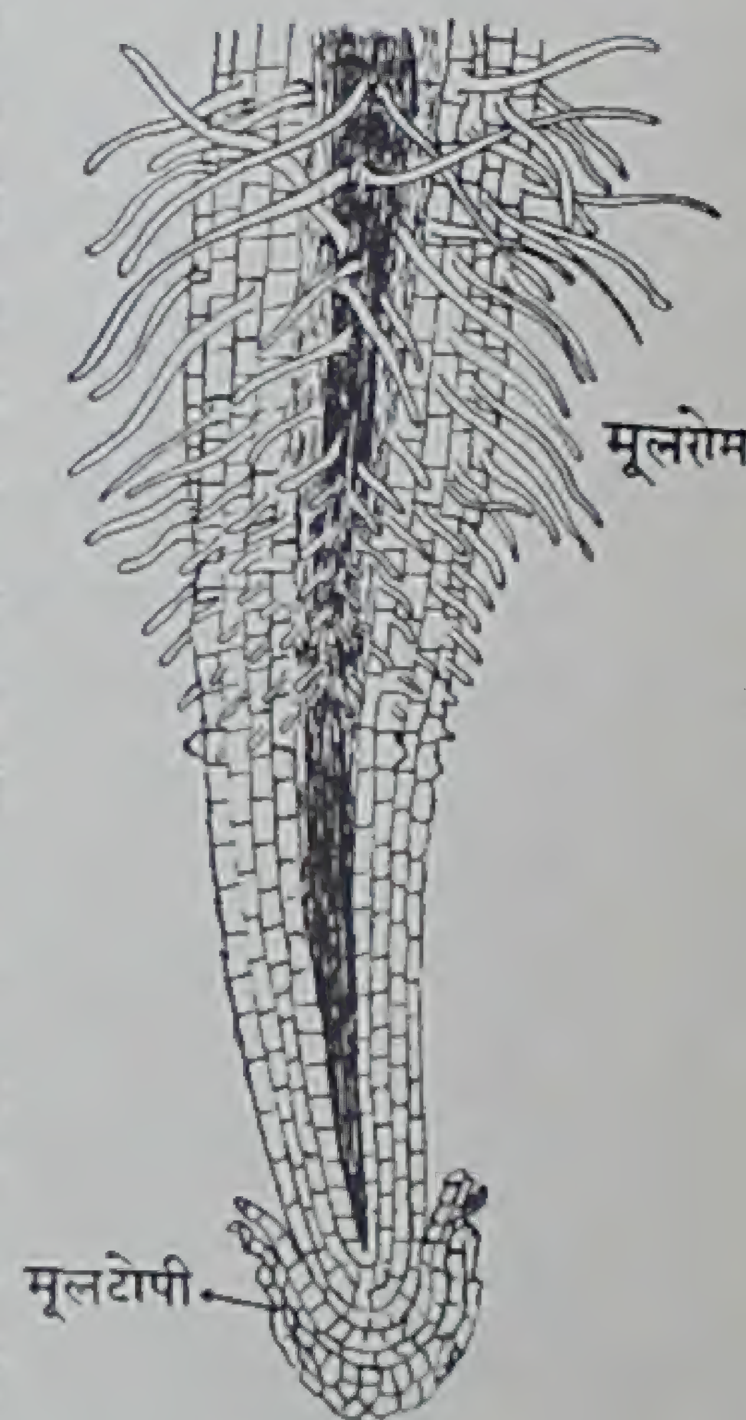
यदि हम पानी से भरे एक पात्र में पतले आकार की कुछ नलियाँ खड़ी कर दें तो उन नलियों में पानी उसी तरह चढ़ जायगा जैसे कि बत्ती द्वारा तेल चिमनी में चढ़ता है।

फैलाव का व्यास पाँच हाथ और ऊँचान दो हाथ से भी कम थी।

जड़ें कितनी गहराई से खाद्य रस और जल सोखती हैं, यह पौधे की जड़ों की लम्बान आदि पर निर्भर है। कितने ही बूटों में झखड़ा जड़ें होती हैं। ऐसी जड़ें ज़मीन में अधिक गहराई तक नीचे नहीं जातीं। इनमें से बहुतेरों की जड़ें तो केवल इंच-दो इंच ही नीचे पहुँचती हैं। ऐसे पौधों की जड़ें ज़मीन में कुछ नीचे पहुँचकर चारों ओर ऊपर-ही-ऊपर छतरी रहती हैं। ज्वार, मक्का, धान, गेहूँ (चि० १) जैसे पौधों में झखड़ा जड़ें होती हैं। वृक्षों में मूसला जड़ें होती हैं, जो ज़मीन के नीचे दूर तक चली जाती हैं। ऐसी जड़ें झखड़ा जड़ों से मोटी भी होती हैं। आम, जामुन, देवदार, सागौन-जैसे पेड़ों की जड़ें बड़ी गहराई तक ज़मीन के नीचे जाती हैं और इसलिए वे अधिक गहराई के जल का उपभोग करती हैं। अनुसंधान से पता लगता है कि जई २ से ५ फ़ीट तक की गहराई की भूमि से जल और खाद्य रसों को सोख सकती है; जौ लगभग ३½ फ़ीट की गहराई से जल और ख़ूराक सोखता है और आलू लगभग २½ फ़ीट की गहराई से खाद्य रसों का संग्रह कर सकता है।

प्रत्येक जड़ के सिरे पर बढ़नेवाला भाग होता है। इसी के कोश-विभाजन से जड़ बढ़ती है। इस भाग के कोश अत्यन्त कोमल होते हैं। इनकी रक्षा के लिए जड़ के सिरे पर मूल टोपी होती है (चि० ७-८)। मूल टोपी का सिरा नोकीला होता है, इसलिए यह जड़ की रक्षा के अलावा उसके पृथ्वी में प्रवेश करने में भी मदद करता है।

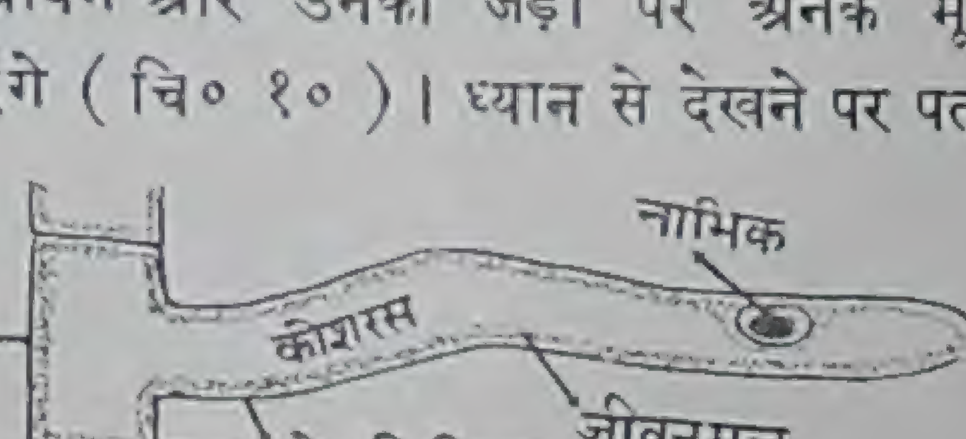
मूल टोपी के ऊपर जड़ की ओर प्रत्येक जड़ में तीन भाग होते हैं। पहला वह, जहाँ के कोश विभाजित होते रहते हैं; दूसरा वह, जहाँ पर कोश बढ़कर अपनी स्वाभाविक अवस्था में पहुँच जाते हैं, और तीसरा वह, जहाँ के कोशों द्वारा खाद्य रसों का शोषण होता है। जिस भाग द्वारा खाद्य रसों का शोषण होता है, उसको ध्यान से देखने पर अनेक नन्हें-नन्हें रोम दिखाई देंगे (चि० ७)। ये मूलरोम हैं। मूलरोम अधित्वक् की बाहरी भित्तिकाओं के बढ़ने से बनते हैं। वे अधित्वक् के कोशों के उभरे भाग हैं (चि० ६)। खाद्य रसों का अधिकांश भाग इन्हीं द्वारा पेड़ों में पहुँचता है। इनकी अनुपस्थिति में पौधों का जीवित रहना कठिन है। जिस समय पौधों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लगाते हैं, उस समय यदि जड़ों के साथ काफ़ी मिट्टी न रहे तो पौधे मुरझा जाते हैं। यदि कहीं पींड़ फूट जाय तो भी पौधे का लगना कठिन हो जाता है। इसका कारण यही है कि मिट्टी के साथ-साथ नन्हें-नन्हें मूलरोम टूट जाते हैं, जिसकी वजह से शोषण-क्रिया में अड़चन पड़ती है और इसलिए पौधों के सूख जाने की सम्भावना रहती है।



चि० ७ (अ)
जड़ के अगले भाग का चित्र

वैसे तो मूलरोम सरलता से दिखाई नहीं देते; परन्तु यदि हम सरसों या मूली के बीजों को निम्नोक्त रीति से बोएँ तो हम इनको सरलता से देख सकेंगे।

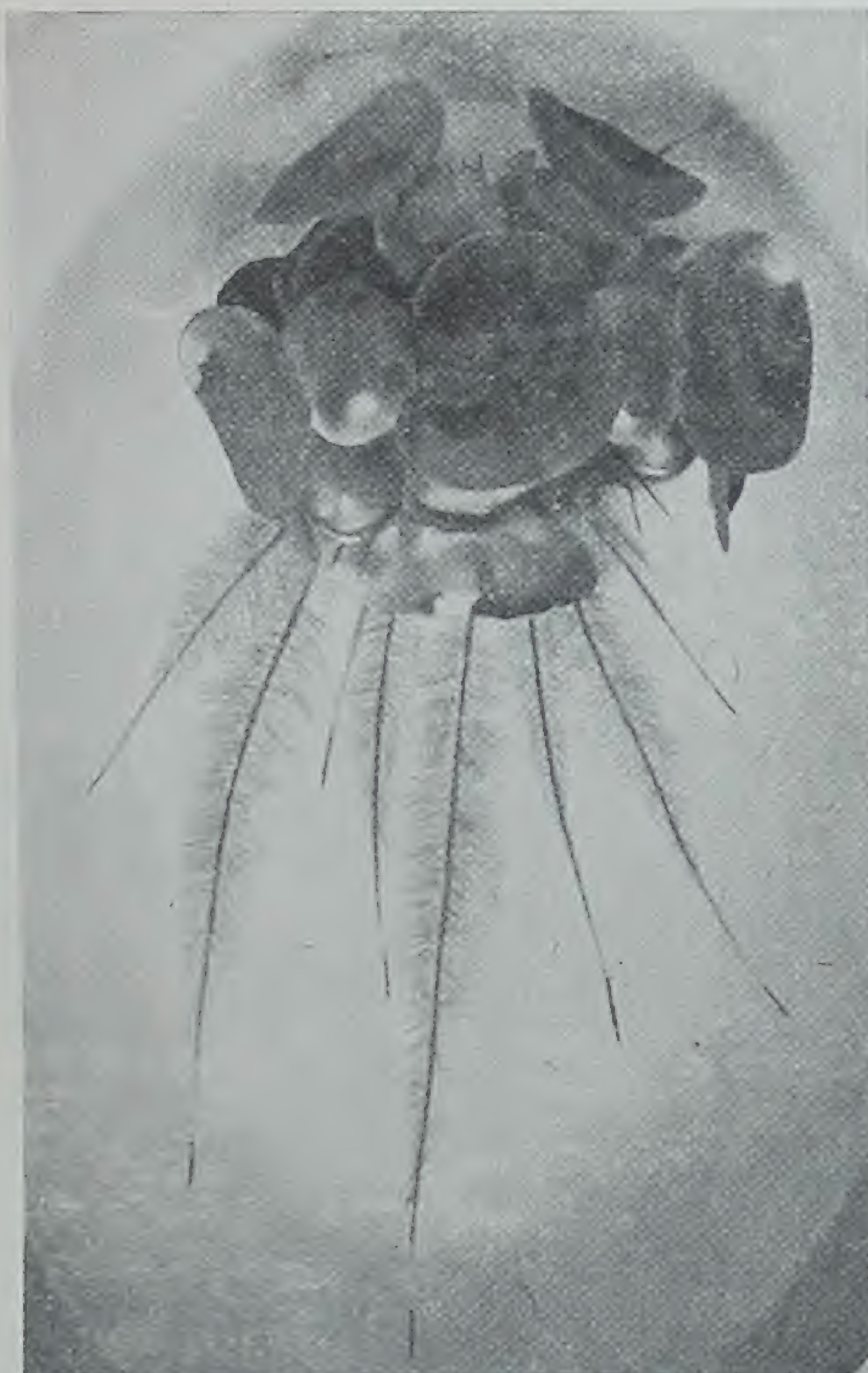
एक मिट्टी की थाली में लकड़ी का गीला बुरादा भरकर ऊपर से कुछ मूली या सरसों के बीज छिटका दीजिए। थाली को दूसरी पानी से भरी थाली में रख दीजिए ताकि बुरादे में बराबर तरी बनी रहे। ऊपर से बीजवाली थाली को साफ़ शीशे से ढक दीजिए। ३-४ दिन बाद बीज उग आयेंगे और उनकी जड़ों पर अनेक मूलरोम दिखाई देंगे (चि० १०)। ध्यान से देखने पर पता चल जायगा



चि० ७ (ब)
मूलरोम की रचना

कि मूलरोम जड़ के सिरे के कुछ ऊपर होते हैं और वे जड़ के थोड़े-से ही हिस्से पर होते हैं। प्रत्येक मूलरोम केवल कुछ ही समय तक कार्य करता है। ज्यों-ज्यों जड़ें बढ़ती हैं, उनके पिछले भाग के मूलरोम मुरझा जाते हैं और अगले भाग पर नये मूलरोम निकलते आते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि जड़ों से ही जल और खाद्य रसों का शोषण होता है; परन्तु इस क्रिया को तभी अच्छी तरह समझ सकते हैं, जब हम यह जान लें कि भूमि के अन्दर मूलरोम किस भाँति फैले रहते हैं। मूलरोम मिट्टी के कणों के बीच के स्थानों में घुसे रहते हैं। इन स्थानों में सूचिका जल और उसमें घुली अनेक वस्तुएँ होती हैं। इस जल को खींचने वाली दो शक्तियाँ हैं—



चि० ८—जलकुंभी

जड़ों के सिरे पर मूलटोपी है। [फ़ो०—वि० शर्मा]

एक ओर मूलरोमों की शोषण-शक्ति, दूसरी ओर मिट्टी की सूचिका शक्ति। जब तक जल की मात्रा यथेष्ट रहती है, पौधे जड़ों द्वारा जल ग्रहण कर सकते हैं, पर यदि जल की मात्रा कम पड़ जाय तो पौधे उसका शोषण न कर सकेंगे।

जैसा आप पहले ही देख चुके हैं, मूलरोम अधित्वक् के कोशों का उभरा भाग है। अन्य कोशों की भाँति यह भी जीवनमूल के बने होते हैं और बाहर से कोशभित्तिका से परिवेष्टित रहते हैं। इनमें भी नाभिक और कुंड होता है। कुंड में कोशरस और उसमें घुले कार्बनिक अम्ल होते हैं। इस प्रकार मूलरोम की भित्तिकाओं के बाहर मिट्टी के कण और कणों के चारों ओर वर्तमान जल तथा उसमें घुली अनेक वस्तुएँ हैं। उनके अन्दर की ओर जीवनमूल की झिल्ली, कुंडझिल्ली तथा कोशरस और उसमें घुले कार्बनिक अम्ल हैं (चि० ७ ब)। इस तरह हम देखते हैं कि कोशरस और ज़मीन के पानी के बीच कोश-भित्तिका के अतिरिक्त कोशभित्तिका से सटी जीवन-मूल की झिल्ली और कुंडझिल्ली है। इनमें होकर जल और खनिज पदार्थ जड़ों के अन्दर प्रवेश करते हैं।

अभिसरण और निस्सरण

यदि आप एक बरतन में थोड़ी-सी शक्कर लेकर उसमें कुछ पानी उँडेल दें तो धीरे-धीरे यह शक्कर तमाम पानी में फैल जाती है और शरबत बन जाता है, जो बरतन भर में एक ही मिठास का होगा। इस प्रकार शरबत का समाहरण एक समान हो जाता है (चि० ११)। यदि दो प्रकार के द्रव पदार्थ हों और उनके बीच में एक झिल्ली हो, तो भी कुछ देर बाद दोनों का समाहरण एकसमान हो जायगा। इस तरह यदि हम एक कीप के मुँह पर एक निस्सारक झिल्ली बाँधकर उसमें शक्कर का शर्बत भर दें और फिर इसको पानी के बरतन में खड़ा रख दें तो धीरे-धीरे बरतन से पानी कीप में प्रवेश करेगा और कीप की हाँडी में शरबत की ऊँचाई बढ़ जायगी (चि० ११)। कुछ देर बाद यदि हम बरतन के पानी की जाँच करें तो उसमें शक्कर मिलेगी। इस प्रकार पानी गिलास से कीप में जायगा और शक्कर कीप से गिलास में आएगी और जब तक कि झिल्ली के दोनों ओर शरबत का समाहरण एक समान नहीं हो जायगा, यह क्रिया बराबर जारी रहेगी।

अन्दर जाने की क्रिया को अभिसरण (Endosmosis) और बाहर आनेवाली क्रिया को निस्सरण (Exosmosis) कहते हैं।

यदि निस्सारक झिल्ली दोनों ओर को वस्तुओं के लिए एकसमान प्रवेशनीय हो तो इन घोलों का समाहरण समान हो जायगा। यदि यह झिल्ली इन वस्तुओं के लिए अप्रवेशनीय है तो घोल बिलकुल इधर-उधर नहीं जायेंगे। यदि यह झिल्ली किसी वस्तु के लिए प्रवेशनीय है, और किसी के लिए अप्रवेशनीय है, तो दोनों ओर की वस्तुएँ बराबर नहीं आयें-जायेंगी।

मान लीजिए, किसी झिल्ली में होकर पानी प्रवेश कर सकता है; परन्तु घुली शक्कर प्रवेश नहीं कर सकती। अब यदि ऐसी झिल्ली के एक ओर गाढ़ा शरबत है और उसकी दूसरी ओर पतला शरबत है तो इस पतले शरबत से जल झिल्ली में होकर गाढ़े शरबत में जायगा, मगर शक्कर के अणु गाढ़े शरबत से फीके शर्बत में नहीं जा सकेंगे। अन्त में गाढ़े शरबत में पानी आ जाने के कारण दोनों ओर के शरबत का समाहरण एकसमान हो जायगा। अब गाढ़े शरबत में दूसरी ओर के पानी के आ जाने के कारण इसकी मात्रा बढ़ जायगी और यदि शरबत चारों ओर से घिरा है तो दबाव पड़ेगा।

पौधे भूमि से ख़ूराक कैसे खींचते हैं ?

जिस प्रकार कीप के अन्दर झिल्ली में होकर शरबत खिंचता है, उसी तरह पौधों में बाहर से रसों का प्रवेश होता है। जीवनमूल की झिल्ली में होकर ये रस जड़ों के अन्दर आते हैं। इस झिल्ली के गुणों पर जल और दूसरी वस्तुओं का आना निर्भर है। मूलरोमों के बाहर मिट्टी के कण और उनके चारों ओर का जल और उसमें घुले नमक हैं; उनके अन्दर कोशरस और उसमें घुले कार्बनिक अम्ल और शक्कर आदि हैं। दोनों ओर की वस्तुओं के बीच कोशाभित्तिका, फिर उससे सटी जीवनमूल की झिल्ली है (चि० ४ अ, ७ ब)। इस प्रकार यहाँ की अवस्था वैसी ही है जैसी ऊपर वर्णन किये कीपवाले प्रयोग की।

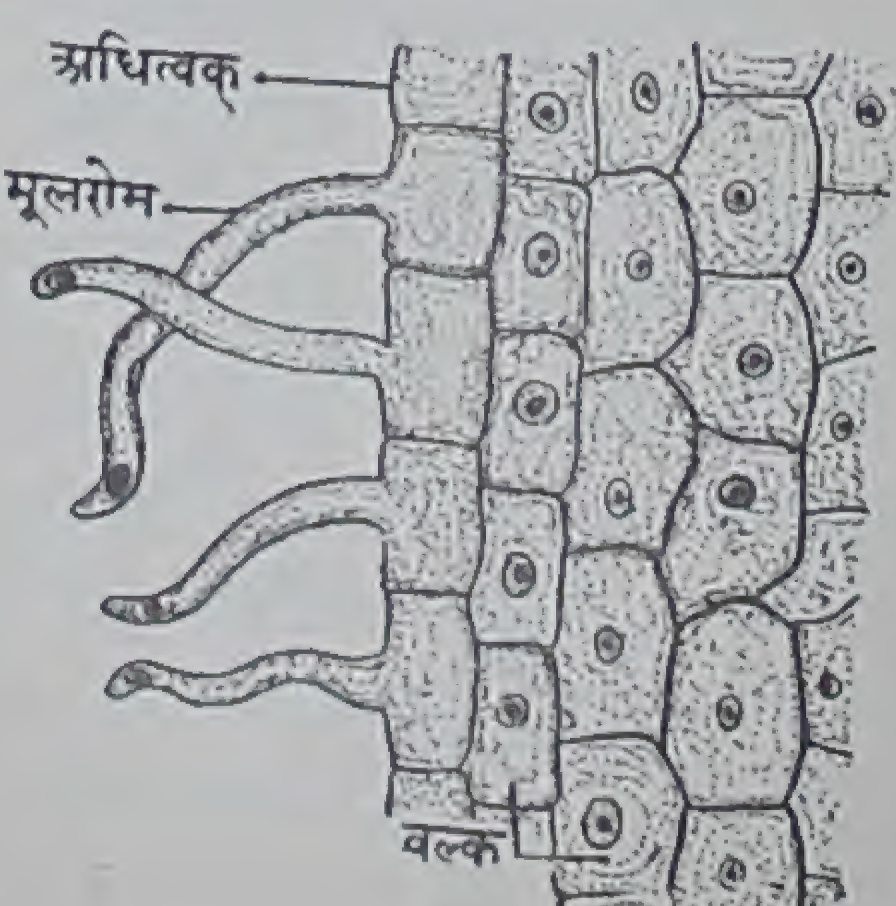
कोशभित्तिका में होकर प्रायः सभी घोल अन्दर जा सकते हैं; परन्तु कोशमूल की झिल्ली अर्ध-प्रवेशनीय होती है। इसमें होकर कोई-कोई वस्तु अन्दर जा सकती है, कोई-कोई नहीं। धरती के जल और उसमें घुले कितने ही नमकों के लिए कोशमूल की झिल्ली प्रवेशनीय होती है; परन्तु कोश के अन्दर की शक्कर के लिए यह झिल्ली प्रवेशनीय नहीं है। इसलिए इस अर्धनिस्सारक झिल्ली में होकर बाहर के नमक और जल मूलरोमों में जाते रहते हैं, परन्तु उनके अन्दर की शक्कर बाहर नहीं आ सकती। इसलिए मूलरोमों के कोशरस का समाहरण बाहर के घोलों के समाहरण से बराबर अधिक बना रहता है और इस कारण बाहर से पानी बराबर इनमें जाता रहता है। बाहर के घुले नमक आदि भी इस प्रकार बराबर जड़ों के अन्दर जाते रहते हैं। यह गुण बड़े महत्त्व का है। क्योंकि इस प्रकार जल और उसमें घुली अन्य प्रवेशनीय वस्तुएँ पेड़ों में बराबर आती रहती हैं। जीवनमूल की झिल्ली खनिज पदार्थों और अन्य घुलनशील नमकों के लिए न्यूनाधिक प्रवेशनीय है और इस प्रकार मूलरोम अपने पड़ोस के घोलों से आवश्यक वस्तुओं का शोषण करते हैं (चि० १२)।

विश्लेषण से पता लगता है कि पौधों में कार्बन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, गंधक, फ़ास्फ़ोरस, सोडियम, पोटैशियल, क्लोरीन, कैल्शियम, मैग्नीशियम, लोहा, मैंगनीज, अल्यूमीनियम और सिलीकन तत्त्व होते हैं। कार्बन को छोड़ शेष के सब तत्त्व जड़ों से ही आते हैं। मिट्टी में इन तत्त्वों के घुलनशील नमक होते हैं, जिन्हें पौधे जड़ों द्वारा ग्रहण करते हैं।

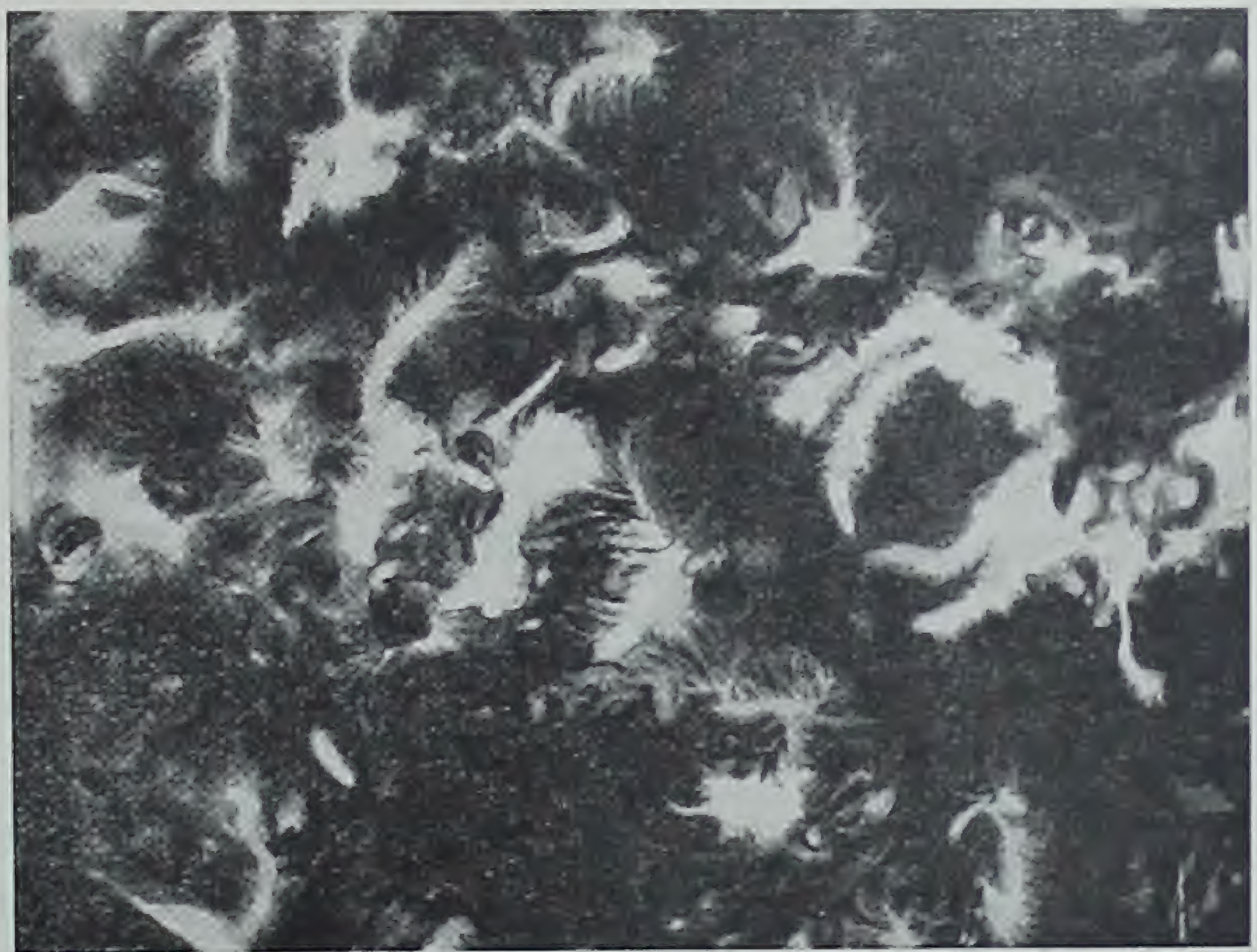


चि० ९ (अ)
मूलरोम अधित्वक् के कोशों के बढ़ने से बनते हैं। ये अधित्वक् का उभरा भाग हैं।

पौधे के कलेवर में जितने भी तत्त्व हैं, सारे समान रूप से प्रयोजनीय नहीं हैं। किसी की कम आवश्यकता होती है, किसी की अधिक। प्रयोगों से सिद्ध हो चुका है कि जड़ों द्वारा प्राप्त तत्त्वों में नाइट्रोजन, कैल्शि-



चि० ९ (ब) जड़ के जिस भाग द्वारा शोषण होता है, उसके अधित्वक् के प्रत्येक कोश से मूलरोम उत्पन्न होता है।



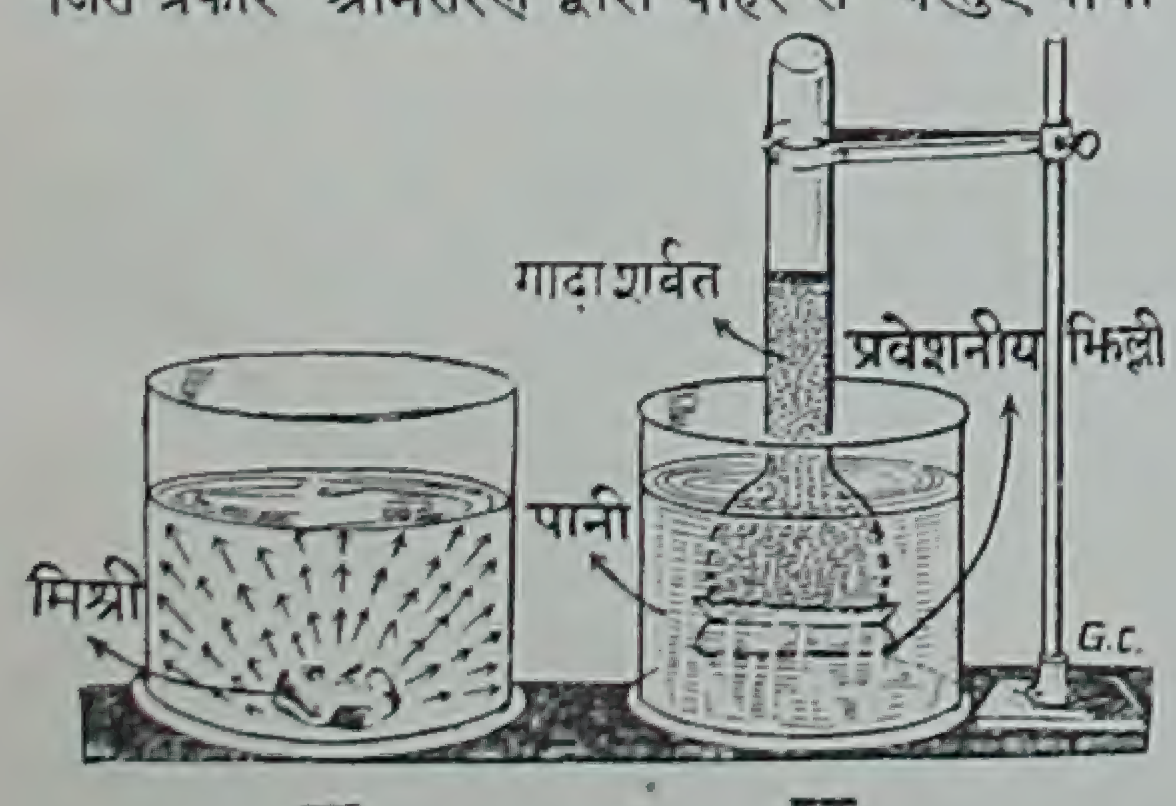
चित्र १०
सरसों के अंकुरित बीज
मूलरोम दिखाई दे रहे हैं। [फ़ोटो—श्री० वि० शर्मा।]

यम, मैग्नीशियम, लोहा, फ़ास्फ़ोरस, गंधक और पोटैशियम परम आवश्यक हैं। पौधों का आकार देखते हुए उनमें किसी-किसी तत्व की मात्रा बहुत ही कम रहती है। फिर भी जीवनमूल की क्रियाओं के लिए ये परम आवश्यक होते हैं और जिस भूमि में ये वस्तुएँ नहीं होतीं, वहाँ की उपज अच्छी नहीं होती।

जाँच से पता लगता है कि कोशों की प्रवेश-शक्ति सदा एकसमान नहीं रहती। इसमें समय और अवस्था के अनुसार अनेक परिवर्त्तन होते रहते हैं। इस प्रकार वही कोश जिस वस्तु को एक समय शीघ्रता से ग्रहण करता है, उसी को दूसरे समय धीरे-धीरे या बिल्कुल नहीं ग्रहण करता। सम्भव है, कोश की यह अवस्था किसी बाहरी कारण या जीवनमूल के गुणों में परिवर्त्तन से होती हो।

आप देख चुके हैं कि अभिसरण द्वारा पौधे पृथ्वी से जल और उसमें घुले नमक खींचते हैं और यदि अवस्था अनुकूल रहे, यानी यदि मिट्टी के घोलों का समाहरण पतला रहे और कोशमूल की झिल्ली घोलों की वस्तुओं के लिए प्रवेशनीय हो तो मूलरोम इन वस्तुओं का बराबर शोषण करते रहेंगे। वास्तव में ऐसी अवस्था सदा बनी रहती है और इस प्रकार पौधे ज़मीन से प्रयोजनीय वस्तुओं का बराबर शोषण करते रहते हैं।

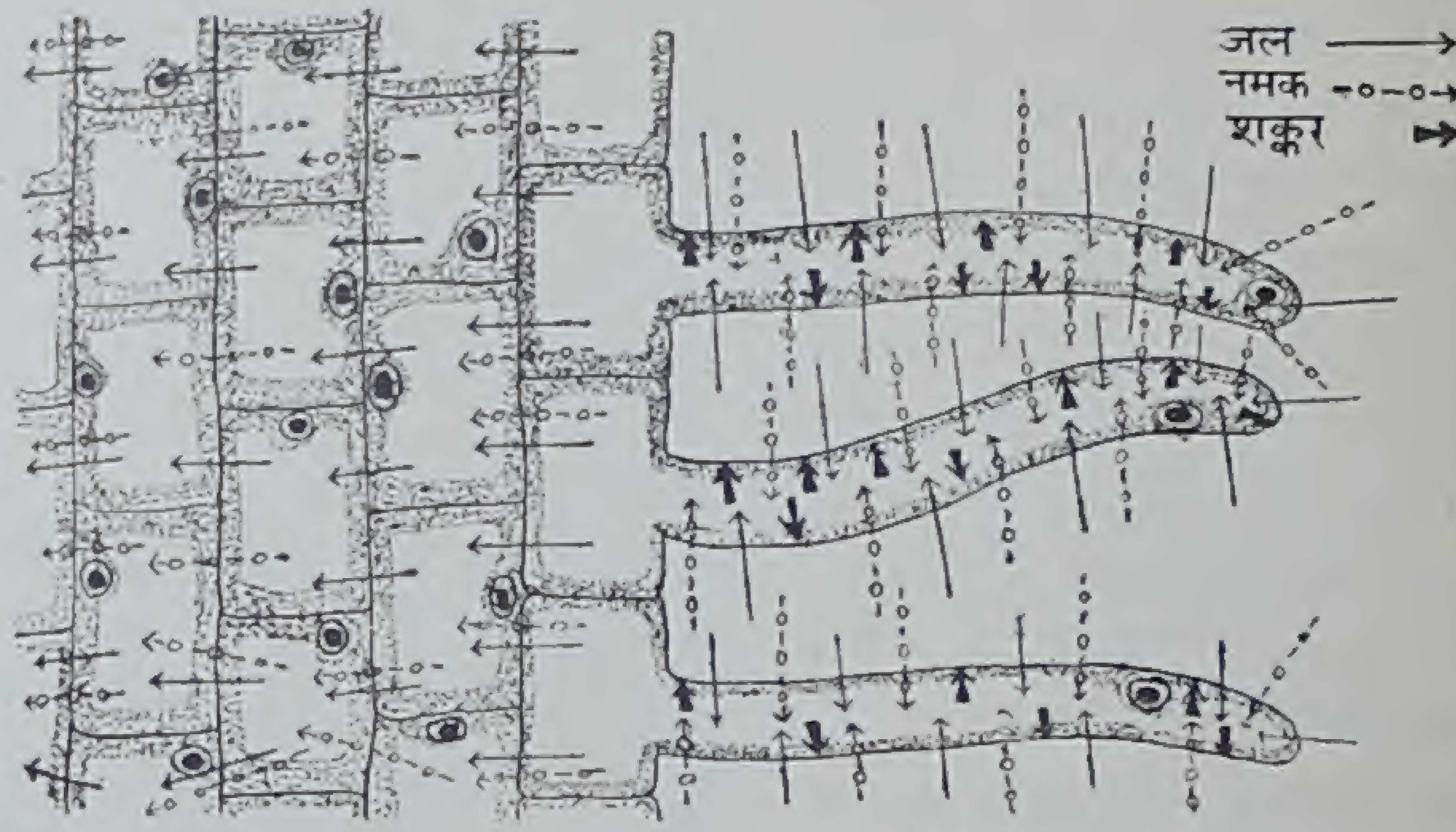
जिस प्रकार अभिसरण द्वारा बाहर से वस्तुएँ पौधों के



चि० ११
पानी में घुलनशील वस्तुएँ किस प्रकार फैलती हैं ?

अन्दर जाती हैं, उसी प्रकार निस्सरण से अन्दर से बाहर भी जा सकती हैं, परन्तु यह तभी हो सकता है, जब मूलरोमों की वस्तुओं का समाहरण बाहर की अपेक्षा कम हो और कोशमूल की झिल्ली ऐसी वस्तुओं के लिए प्रवेशनीय हो। परन्तु पौधों में कार्बन-डाइआक्साइड को छोड़ और कोई दूसरी वस्तु इस प्रकार बाहर नहीं जाती। आम तौर पर बाहर के घोलों का समाहरण मूलरोमों के कोशरस के समाहरण से कम होता है और इस भाँति मिट्टी से जल और अन्य वस्तुएँ उनमें बराबर जाती रहेंगी और जब तक बाहर-भीतर का समाहरण एकसाँ नहीं हो जायगा, बहाव बराबर बना ही रहेगा। यदि कहीं मिट्टी के घोलों का समाहरण बढ़ जाय तो फिर उल्टे मिट्टी जड़ों से पानी खींचने लगे और पेड़ के लिए कठिन समस्या हो जाय!

पेड़ की जड़ों में अनेक तन्तु होते हैं (चि० १२)। जैसे ही मूलरोमों में जल पहुँचता है, उनके कोशरस का समाहरण कम पड़ जाता है और इसलिए मूलरोमों का जल अभिसरण द्वारा खिंचकर पड़ोस के वल्क के कोशों में, जिनके कोशरस का समाहरण अधिक होता है, पहुँचता है (चि० १२-१३)। इस प्रकार यह जल और उसमें घुली वस्तुएँ बाहरी कोशों से अन्दर के कोशों में और फिर उनसे काष्ठ-नलिकाओं में पहुँचती है। काष्ठ-नलिकाओं में इस रस का प्रवाह किस भाँति होता है, इसमें मतभेद है। वल्क के कोशों का



चि० १२—जड़ के बाहर की ओर के कोश और मूलरोम

भूमि से जल और नमक आदि किस तरह जड़ों में प्रवेश करते हैं, यह इस चित्र में दिखाया गया है ।

निस्सारक दबाव (Osmotic pressure) अधिक होता है और, सम्भव है, इस कारण पानी निचुड़कर काष्ठतन्तुओं में पहुँच जाता हो । आम, जामुन, चीड़, देवदार, बरगद, सेमल जैसे अनेक वृक्षों में सैकड़ों फ़ीट ऊँचे जल चढ़ता है । पेड़ के तने में होकर यह जल किस प्रकार चोटी तक पहुँचता है, हम आगे चलकर विचार करेंगे ।

अभिसरण द्वारा न केवल जल और खनिज पदार्थों का पृथ्वी से ही शोषण होता है, वरन् पेड़ के एक कोश से दूसरे कोश में प्रवाहन भी इसी के अधीन है । (चि० १२) । इसी क्रिया पर रसों से भरकर कोषों का फूलना भी निर्भर है । यदि कोशरस का समाहरण गाढ़ा है, तो कोश जल को शीघ्रता से ग्रहण करेंगे और फूलकर बढ़ने लगेंगे । इस प्रकार दबाव पड़ोस के कोशों पर पड़ेगा । यदि सारे कोश इस प्रकार रस से भरकर फूल जायें तो सारा पौधा दृढ़ और सख्त हो जायगा । अगर कोश के चारों ओर कठोर भित्तिका न होती तो जीवनमूल की झिल्ली दबाव पड़ने के कारण फट जाती । इस प्रकार प्रत्येक कोश फुटबाल के समान है, जिसमें वायु भरने से अन्दर की रबर की झिल्ली बढ़ना चाहती है; परन्तु बाहरी चमड़े के खोल के कारण ऐसा नहीं हो सकता । छोटे-छोटे फूले हुए गुब्बारों के समान कोश आपस में जुटे रहते हैं । पत्ती और पँखुड़ी-जैसे अंगों में, जिनमें कठोर ढाँचा नहीं होता, यही फूलने की क्रिया है, जिसके कारण यह अंग सख्त रहते हैं और इनकी शक्ल ठीक बनी रहती है ।

३. **वायु**—जीवन के लिए जल की भाँति वायु भी परम आवश्यक है । पेड़ के प्रत्येक अंग को ऑक्सीजन मिलनी चाहिए । जड़ों को भी इसकी आवश्यकता है और इस-लिए मिट्टी में भी ऑक्सीजन पहुँचनी चाहिए । यदि मिट्टी में जल भर जाय तो वायु निकल जायगी और यदि ऐसी दशा बहुत समय तक बनी रहे तो पेड़ों को बड़ी हानि हो । यही कारण है कि नदियों में बाढ़ आने पर यद्यपि किनारे के पौधों का अधिकांश भाग पानी के बाहर ही क्यों न हो फिर भी बहुत-से पौधे पीले पड़ जाते हैं । यह ध्यान देने योग्य बात है कि खेतिहर ज़मीन के सौ वर्ग फ़ीट में लगभग २० से ३५ वर्ग फ़ीट भाग वायु का रहता है ।

मिट्टी के अन्दर की कार्बनिक वस्तुएँ

वैसे तो सभी प्रकार की भूमि में कार्बनिक वस्तुएँ होती हैं; परन्तु उपजाऊ भूमि में इनकी मात्रा अधिक रहती है । कार्बनिक वस्तुओं के सड़ने-गलने से अन्य अनेक वस्तुएँ बनती हैं । कार्बनिक वस्तुएँ बहुधा पेड़-पौधों के सड़ने-गलने से ही उत्पन्न होती हैं । पतझड़ में गिरी हुई पत्तियों के ढेर-के-ढेर और ज़मीन के अन्दर की करोड़ों मन मुर्दा जड़ें समय पाकर सड़-गलकर अनेक वस्तुएँ उत्पन्न करती हैं, जिनके विदारण से कार्बनिक ऐसिड गैस, जल और अमोनिया उत्पन्न होते हैं । जिस भूमि में सड़ती-गलती वस्तुएँ अधिक होती हैं, उसे ह्यूमस कहते हैं । ह्यूमस की उपस्थिति से भूमि के भौतिक गुणों में बड़ा अन्तर पड़ जाता है, जिसके कारण ऐसी भूमि अधिक उपजाऊ होती है ।

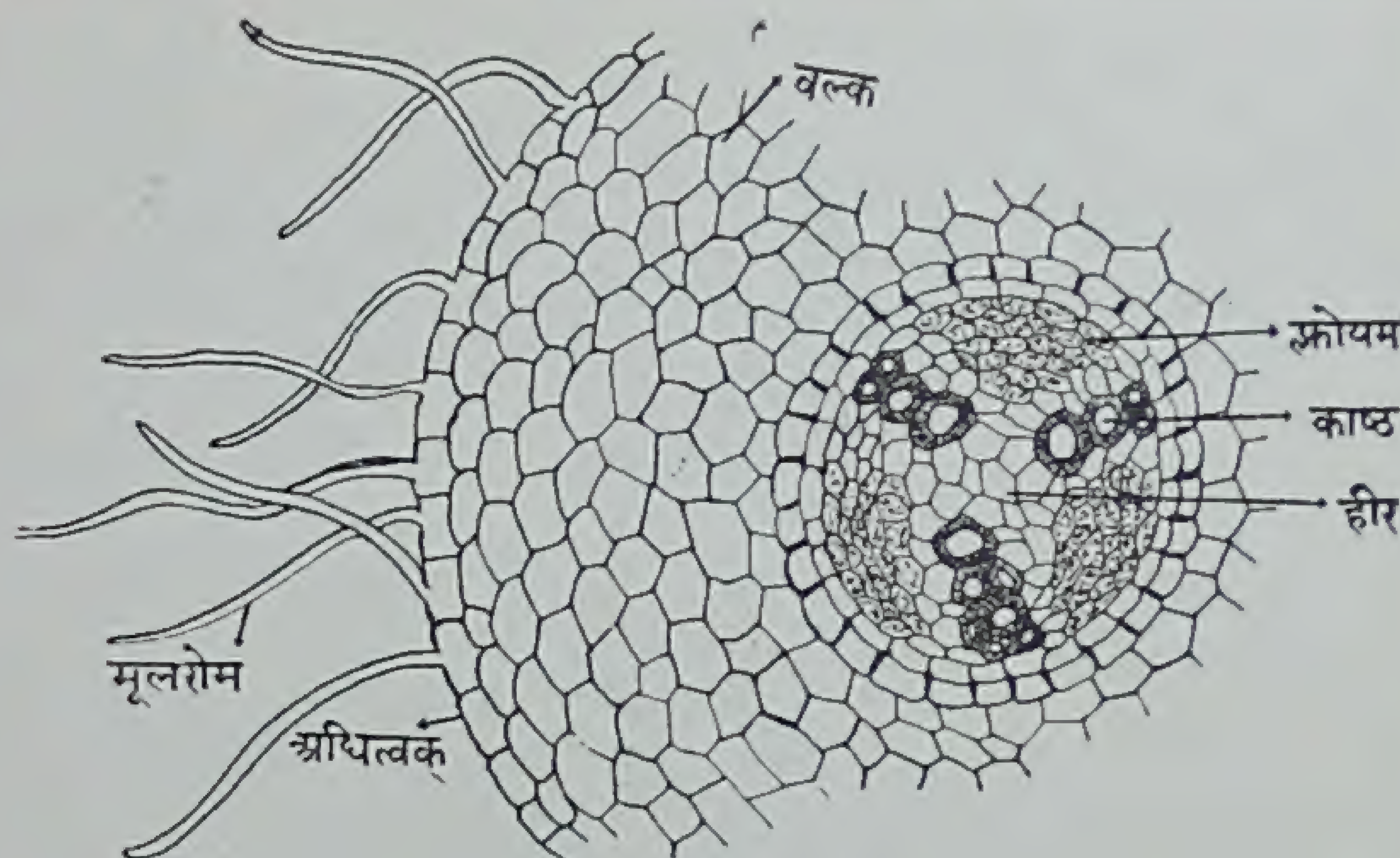
ह्यूमस की विशेषता के चार मुख्य कारण हैं । सबसे प्रथम ऐसी भूमि में वायु की मात्रा अधिक रहती है; दूसरे इसमें जल ग्रहण करने की शक्ति अधिक होती है; तीसरे ऐसी भूमि में नीचे से अधिक गहराई का जल ऊपर चढ़ता है और चौथे इस प्रकार की भूमि में कीटाणु अधिक होते हैं, जिनका प्रभाव पौधे की जीवनी पर पड़ता है ।

भूमि के अन्दर रहनेवाले जीव और उनका पौधों पर प्रभाव

पृथ्वी के अन्दर रहनेवाले जीवों का पौधों की जीवनी पर बड़ा प्रभाव पड़ता है । केंचुएँ, चूहे, खरगोश, स्याही तथा अन्य कितने ही पृथ्वी के अन्दर रहनेवाले जीवों से भूमि के गुणों में अनेक परिवर्त्तन होते रहते हैं; परन्तु इन सबसे अधिक परिवर्त्तन मिट्टी के गुणों में कीटाणुओं की उपस्थिति

से होते हैं। कीटाणुओं के बैक्टीरिया मुख्य हैं। सम्भव है कि यदि ये जीव न होते तो पृथ्वी अन्य जीवों के रहने योग्य न रहती।

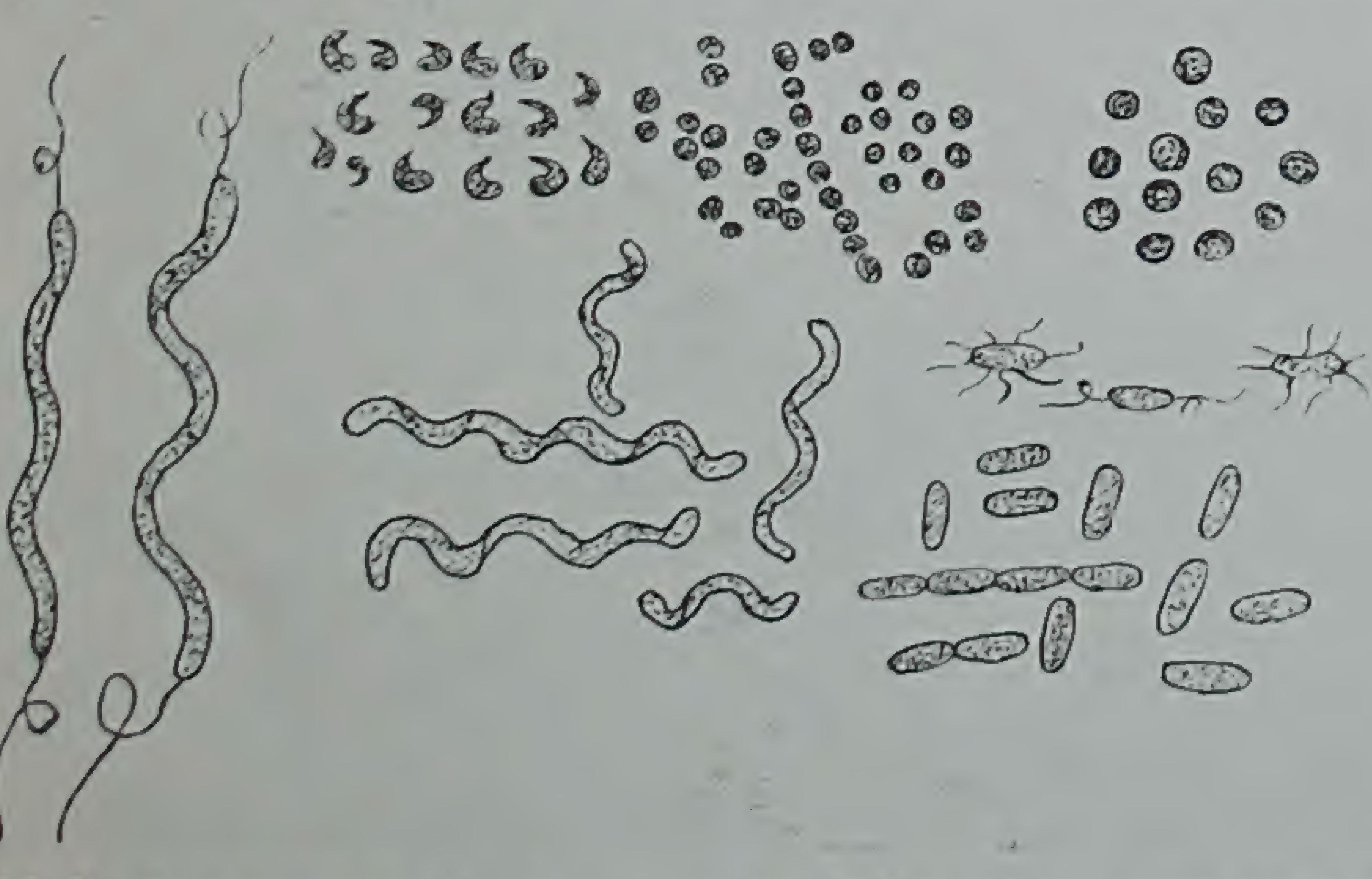
बैक्टीरिया अत्यन्त न्यून श्रेणी के जीव हैं, परन्तु इनकी जीवनलीला अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। इनमें पर्णहरित नहीं होता, इसलिए इनकी खाद्य पदार्थ प्राप्त करने की क्रिया पौधों से पृथक् होती है। इस अनोखी क्रिया के कारण प्रकृति में भयानक परिवर्त्तन होते रहते हैं। कितने ही बैक्टीरिया कार्बनिक वस्तुओं को सड़ाकर कार्बन-डाइ-आक्साइड, अमोनिया और जल में परिवर्तित करते हैं। इन्हीं के प्रभाव से कूड़ा, ग़लीज़, मांस, हड्डी, आदि सड़-गलकर दूसरी वस्तुएँ बन जाती हैं। यदि ऐसा न होता तो ये असंख्य मृतक जीव और करोड़ों मन कूड़ा-करकट कहाँ जाता? थोड़े ही दिनों में ज़मीन इनसे भर जाती और हमारे रहने को भी जगह न रहती।



चि० १३
एक साधारण पौधे की जड़ के आड़े कत्तल का चित्र

एक विशेष जाति के बैक्टीरिया वायु में उपस्थित नाइट्रोजन का उपभोग करते हैं। इस तरह जीवों के शरीर-रचना की यह परम आवश्यक वस्तु बैक्टीरिया के शरीर में एकत्र होती है और अन्त में इनकी मृत्यु के बाद पृथ्वी में नमकों के रूप में मिल जाती है। इस भाँति इन जीवों की करामात से प्रकृति में नाइट्रोजन की मात्रा समान बनी रहती है।

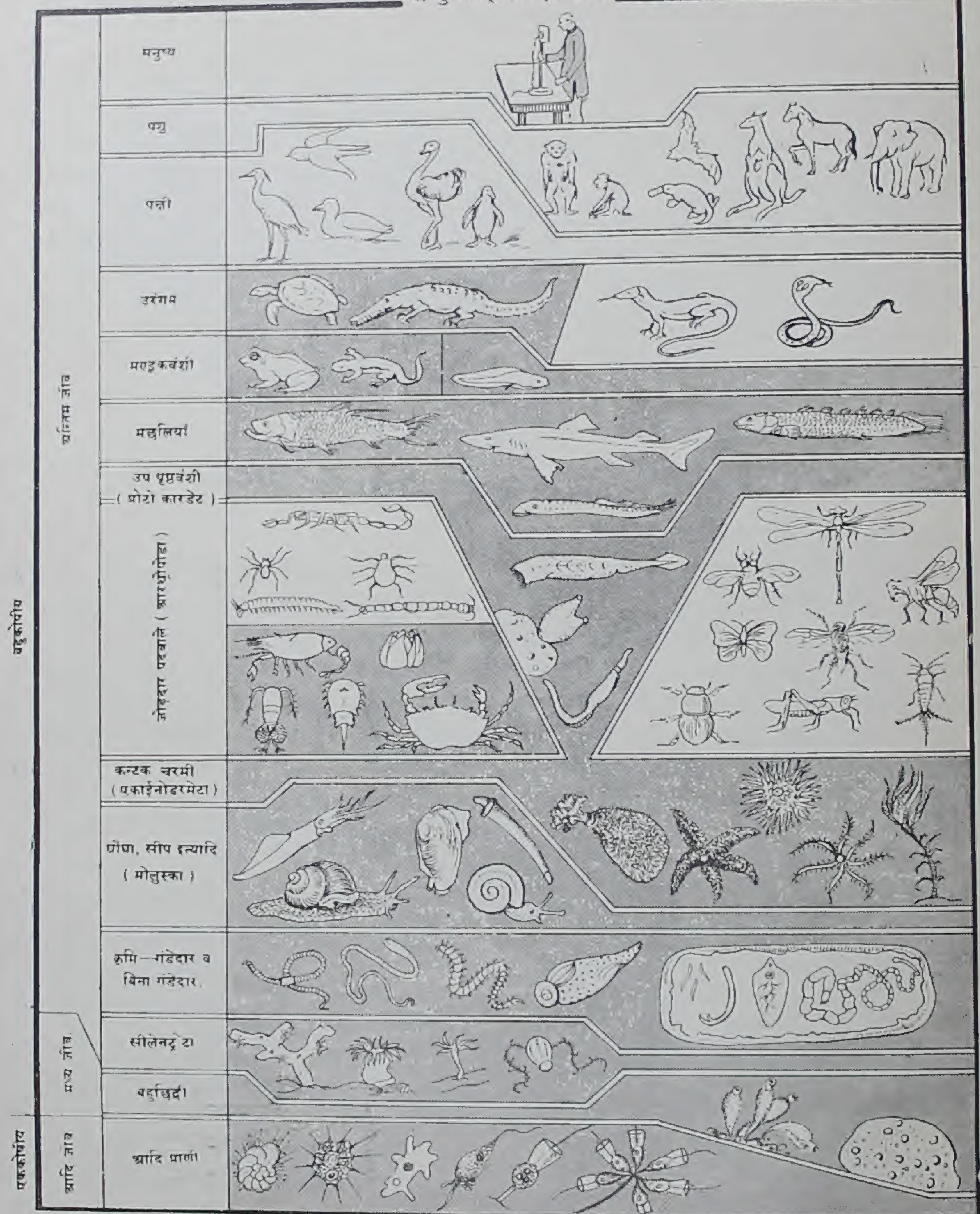
भूमि के अन्दर की वस्तुओं की मात्रा सदा एकसमान नहीं रहती। जल, वायु तथा दूसरी वस्तुएँ घटती-बढ़ती रहती हैं। मिट्टी के कणों की भी दशा सदा एकसमान नहीं रहती। भूमि का ताप भी न्यूनाधिक रहता है। इन सब बातों का भी पौधों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।



चि० १४
विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म कीटाणु—बैक्टीरिया

ये जीव करोड़ों की संख्या में वायु, जल, मिट्टी, पेड़-पौधों और जीव-धारियों के शरीरों में बने रहते हैं और अत्यन्त सूक्ष्म आकार के होने पर भी अपनी अनोखी क्रिया के द्वारा प्रकृति में अत्यंत महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन करते रहते हैं। इनमें से कई ऐसे होते हैं, जो तरह-तरह के रोगों के उत्पादक होते हैं और इसीलिए मनुष्य तथा अन्य कई पशुओं के लिए घातक सिद्ध होते हैं। परन्तु अनेक बैक्टीरिया हमारे मित्र भी हैं। वे हमारी जीवन-लीला में तरह-तरह से हमें मदद पहुँचाते हैं। यदि ये जीव न होते तो पृथ्वी पर जीवन असंभव होता।

जन्तु-जगत् का एक दृश्य



इस चित्र में, जो लेखक के तत्त्वावधान में बनाया गया है, सभी मुख्य समूहों के जल, थल, और वायु में रहनेवाले वर्त्तमान जीवों के कुछ नमूने आपके सामने रक्खे गये हैं। सबसे नीची श्रेणी के सरल जीव नीचे और सबसे ऊँची श्रेणी के जटिल जीव ऊपर बनाये गये हैं।



जन्तु-जगत् का संक्षिप्त दृश्य

विभिन्न रंग-रूप और आकार-प्रकार के प्राणियों से युक्त प्रकृति की जिस अद्भुत जन्तुशाला का उल्लेख हमने इसी स्तंभ के प्रथम लेख में किया था, आइए इस लेख में संक्षेप में आपको उसकी सैर करा दें।

एलेक्ज़ैन्डर वौन हम्बोल्ट नामक एक महान् भ्रमणकारी और प्रकृतिवादी ने एक शताब्दी से भी पहले कहा था कि प्रकृतिवादी जिस ओर अपनी आँख उठाता है उस ओर उसे अपने सामने नाना प्रकार के जीव बिखरे दिखलाई देते हैं। पृथ्वी का कोई भी कोना जीव-विहीन नहीं है। पर्वत, नदियाँ, गुफा, कन्दराएँ, झील, तालाब, सभी जानवरों ने अपना लिये हैं। सदैव हिमाच्छादित रहनेवाले उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव-प्रदेशों में तथा गर्मी से तपनेवाले उष्ण कटिबन्ध के देशों में भी सहस्रों प्रकार के जीव-जन्तु अपना जीवन सुख से बिताते हैं। इस लेख में इन्हीं असंख्य जन्तुओं का दिग्दर्शन हम आपको संक्षेप में करायेंगे। यदि आप अपने देश अथवा नगर तथा उसके आप-पास के जानवरों का ध्यान करें तो शायद आप उनकी विचित्रता और अत्यन्त बड़ी संख्या का अनुमान कर सकेंगे। जब आपके नगर का ही यह हाल है तो फिर समस्त भारतवर्ष और पूरी दुनिया का तो कहना ही क्या है! समझा जाता है कि समस्त जन्तु-जगत् में दस लाख से लेकर एक करोड़ जातियों तक के जीव सम्मिलित हैं। उन सबका संक्षिप्त वर्णन दस-पाँच लेखों में भी करना कठिन है। अतः हम मुख्य समूहों के कुछ परिचित प्राणियों का हाल साधारण रूप से बतलाने की चेष्टा करते हैं। हम पहले भी कह आये हैं कि यह न भूल जाना चाहिए कि जिन नाना प्रकार के जीवों की आश्चर्यजनक विचित्रता को देखकर हम दंग रह जाते हैं, वे सभी जीवनमूल के उन्हीं साधारण अंशों से बने हैं जिनका जन्म पृथ्वी की बाल्यावस्था में अब से लाखों वर्ष पहले हुआ था। इसी आदिम अनिश्चित आकारवाले लसलसे जीवनमूल में इतनी प्रबल शक्ति थी कि जिससे अमीबा-जैसे साधारण प्राणी से लेकर आधुनिक मनुष्य की तरह के जटिल जीव बन गये।

जॉन फ़ौर्स्टर, एलेक्ज़ैन्डर हम्बोल्ट, चार्ल्स डार्विन, ए० रसेल वालैस आदि की देश-देशान्तरों की यात्रा और खोज के द्वारा १६वीं शताब्दी के समाप्त होते-होते दुनिया के भिन्न-भिन्न भागों में फैले हुए जानवरों को एकत्रित करने, अजायबघरों में रखने और उनके लक्षणों का वर्णन करने का काम बहुत-कुछ पूरा हो चुका था। दुनिया भर में अजायबघर स्थापित हो गये। भारतवर्ष में भी कलकत्ता, लखनऊ, जयपुर, मद्रास, बम्बई-जैसे कई बड़े-बड़े शहरों में ऐसे अजायबघर और जन्तु-शालाएँ हैं, जहाँ भाँति-भाँति के जीवित और मृत जीवों का दर्शन किया जा सकता है। इतने वर्षों की खोज के उपरान्त भी अभी तक बराबर नये और अपरिचित जीव, विशेषकर समशीतोष्ण कटिबन्ध (Tropical Zone) और बड़े महासागरों से, मिलते जाते हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि दुनिया के ख़ास-ख़ास निवासियों का पता लग गया है और वे जाने जा चुके हैं। हाँ, बहुतों के विषय में इस बात का ठीक ज्ञान अभी नहीं है कि वे अपना जीवन कैसे व्यतीत करते हैं और अपने आसपास के वातावरण से, जिस पर उनकी जनसंख्या, विस्तार और विकास निर्भर है, उनका क्या संबंध है।

संसार के वर्तमान जीव-जन्तुओं का हाल न तो कोई एक मनुष्य जान सकता है और न दस-बीस आदमी ही मिलकर जान सकते हैं, जब तक कि उनका वर्गीकरण न कर लिया जाय; अर्थात् एक-जैसे जीवों का एक समूह में और दूसरों को दूसरे समूहों में विभाजित न कर दिया जाय। यही कारण है कि पहले

के जन्तुशास्त्र-वेत्ताओं ने जीवधारियों को दो समूहों में विभक्त किया—१. वानर, हाथी, घोड़े, कौवे, तथा मछली की तरह के प्राणी, जिनमें उन्हें रीढ़ की हड्डी कई जोड़ों या काशेरुकाओं की बनी हुई मिली; इनका नाम उन्होंने 'पृष्ठवंशी' रक्खा; २. घोंघा, कँतर, बिच्छू, मक्खी, टिड्डे, केंचुआ आदि जैसे जीव, जिनमें उन्होंने रीढ़ की हड्डी न पाई; इन्हें दूसरे समूह में रक्खा गया और इस समूह का नाम 'अपृष्ठवंशी' रक्खा गया। जब १७वीं शताब्दी में अणुवीक्षण यंत्र द्वारा एक और प्रकार के जीव, जो बहुत ही नन्हें होने के कारण पहले न देखे जा सके थे, जाने गये तो पता लगा कि इन सूक्ष्म एककोषीय जीवों का जगत् सारे पृष्ठवंशियों और अपृष्ठवंशियों से निराला है। इसलिए इनको 'आदि जन्तु' कहा गया और शेष सबको 'अन्तिम जन्तु' कहा गया। हाल के कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि अन्तिम जन्तु-समूह के सबसे निकृष्ट बहुछिद्री जीवों को, जिनमें कुछ लक्षण उनके और आदि जन्तुओं के बीच के-से पाये जाते हैं, उनसे अलग तीसरे समूह में अथवा मध्यम जन्तु-समूह में रखना चाहिए। अतः यदि हम जन्तु-जगत् को एक वर्ग कहें तो उसके आदि जन्तु, मध्यम जन्तु और अन्तिम जन्तु तीन उपवर्ग हैं। किन्तु बहुत-से प्राणिशास्त्र-वेत्ता मध्यम जन्तुओं का उपवर्ग अलग नहीं मानते, बल्कि इस उपवर्ग के जीवों की गणना अन्तिम जन्तुओं के उपवर्ग में ही करते हैं।

आदि जीवों का उपवर्ग

आदि जन्तुओं के उपवर्ग में वे छोटे-छोटे प्राणी हैं, जिन्हें अधिकतर हम अपनी आँख से नहीं देख पाते। इसीलिए इन प्राणियों से साधारण जनता बिल्कुल अनजान है। इनमें से कई ऐसे हैं, जिनका हमारे और अन्य जानवरों के शरीरों में ही पालन-पोषण होता है। इनमें से कुछ ऐसे होते हैं जिनसे कुछ हानि नहीं होती है, परन्तु कुछ भयंकर रोगों के उत्पादक भी होते हैं। दूसरों के शरीरों में रहनेवाले ऐसे जीवों को 'परोपजीवी' कहते हैं। इनके अतिरिक्त बहुतेरे आदि जीव ऐसे हैं, जो झील, नदी, तालाबों या समुद्रों के जल में अथवा गीली मिट्टी में अपने जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत करते हैं। सारी पृथ्वी के जलों में इन आदि जीवों के अनगिनती झुंड भरे पड़े हैं और बहुतेरे जलचरों का भोजन इन्हीं पर निर्भर है। लगभग १० हज़ार जाति के आदि जीव अभी तक जाने जा चुके हैं।

आदि जीव जीवों में सबसे साधारण प्राणी समझे जाते है। इनके शरीर में एक ही कोष्ठ होता है, किन्तु थोड़े ऐसे भी हैं जिनमें एक-जैसे कई कोष या कोष्ठ एक साथ ही चिपटे हुए तैरते रहते हैं, या डंठलों द्वारा एक दूसरे से जुड़े हुए किसी दूसरी वस्तु पर चिपटे रहते हैं। इनका शरीर प्रकृति की कारीगरी का नमूना है। हमारी सभी आवश्यक क्रियाओं को ये भी भली-भाँति करते हैं। बिना भिन्न-भिन्न अंगों के ही वे भोजन खाते, पाचन करते, साँस लेते, मल-मूत्र त्याग करते, चलते-फिरते और संतानोत्पादन करते हैं। इनकी इन रोचक क्रियाओं और विभिन्न रचनाओं का विस्तारपूर्वक हाल हम आपको आगे के किसी लेख में बतलायेंगे। मलेरिया ज्वर, ख़ूनी पेचिश और अफ़्रीका का निद्रा-ज्वर इन्हीं एककोषीय जीवों के शरीर में प्रवेश करने से होता है। मलेरिया के अति नन्हें अदृश्य जीवाणु हमारे रक्तकणों में घुस जाते, उनमें बढ़ते और उन्हें नष्ट कर डालते हैं। कई हज़ार कृमि जब रक्त में बन जाते हैं, तब हमको जूड़ी और ज्वर आने लगता है, और लाखों ख़ून के कण नित्य नष्ट होने के कारण शरीर निर्बल होने लगता है। ये अदृश्य सूक्ष्म जीव हमारे लिए कितने हानिकारक हैं, इसका अनुमान शायद आप इससे कर सकें कि भारतवर्ष में प्रतिवर्ष १० लाख मनुष्य इसी बीमारी के कारण नष्ट होते हैं। गणना करने से विदित हुआ है कि संसार भर में रोग के कारण होनेवाली मृत्युओं में से आधे का उत्तरदायित्व मलेरिया ज्वर के प्लैसमोडियम (Plasmodium) नामक आदि जीव पर ही है। मानव-जाति का यह सबसे भयंकर शत्रु है।

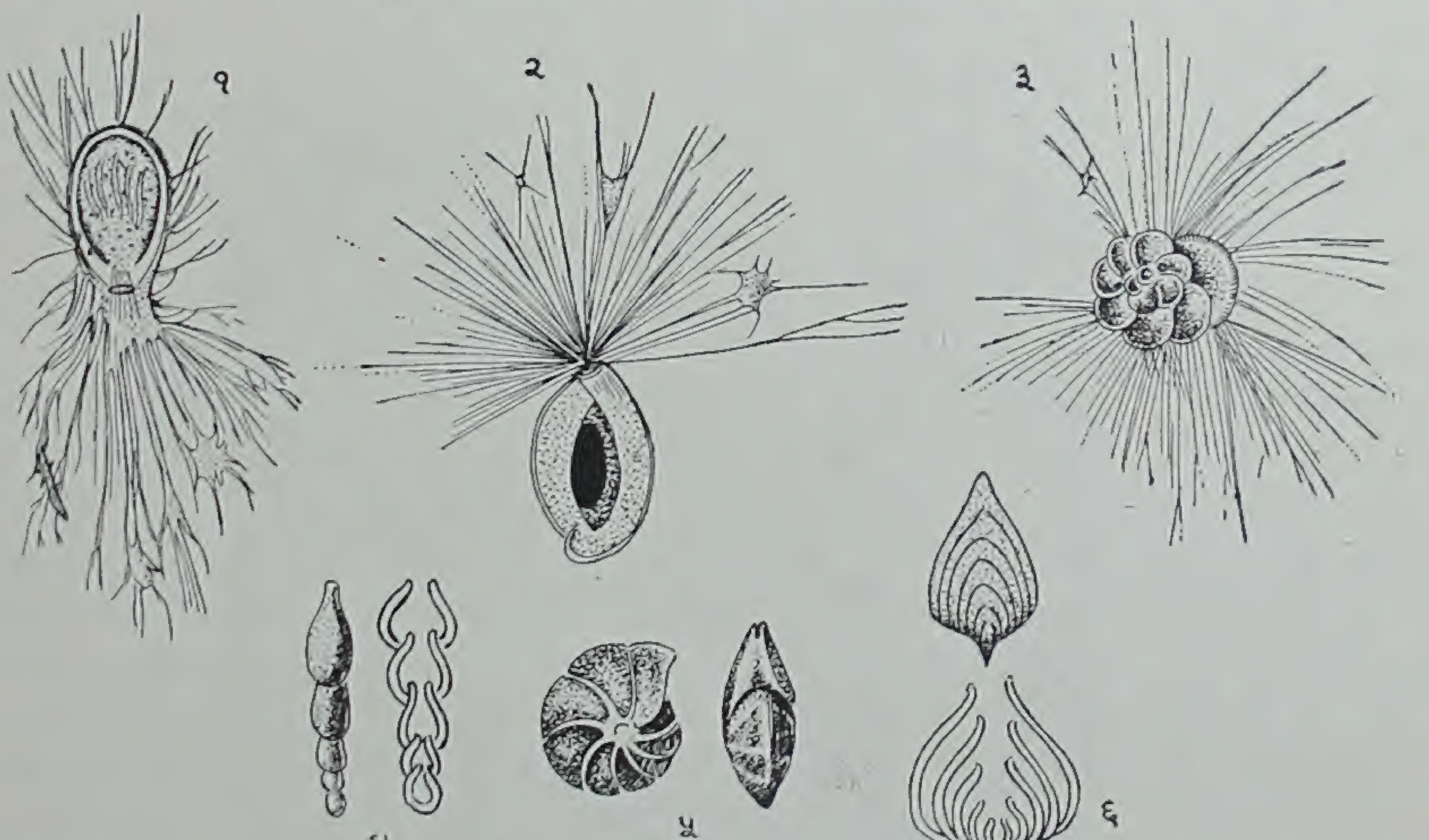
कुछ आदि जीव हमारे लिए लाभदायक भी हैं। उदाहरणार्थ, रेडियोलेरिया (Radiolaria) या फ़ौरैमिनीफ़ेरा (Foraminifera) जो अपने शरीर में अति सुन्दर रूप के चकमक पत्थर की तरह कड़े चूनेवाले पत्थर की ठठरी या खोल बनाते हैं। ये ठठरियाँ उनके मरने पर करोड़ों की संख्या में हर घड़ी सागरों की तहों में गल और दबकर पत्थर या खड़िया मिट्टी बन जाती हैं और उन्हें निकालकर हम अपने काम में लाते हैं। इन जीवों के तीन नमूने पृष्ठ ७०५ के चित्र में दिखाये गये हैं, और कुछ जन्तु-जगत् के दृश्यवाले चित्र में सबसे नीचे की पंक्ति में बने हुए हैं।

मध्यम जीवों का उपवर्ग

इस उपवर्ग के कुछ उदाहरण ७०२ पृष्ठ के चित्र के दूसरे खंड और ७०६ पृष्ठ के चित्र में दिखलाये गये हैं। इन्हें देखकर आप आसानी से समझ लेंगे कि इनका मुख्य लक्षण यह है कि उनके शरीर में बहुत-से छिद्र होते हैं, जिनके

द्वारा उनके शरीर की साधारण या टेढ़ी-मेढ़ी नलियों में जल प्रवाहित होता रहता है। इसीलिए उनको बहुत-से लोग 'समुद्रसोख' के नाम से पुकारते हैं। हममें से बहुतेरे इस उपवर्ग के एक प्रकार के जीवों के सुखाये हुए रूप से परिचित हैं, जो 'स्पंज' के नाम से बाज़ारों में बिकता है। वास्तव में ये बाज़ारू स्पंज इस वर्ग के जीवित प्राणी की साफ़ की हुई ठठरी या शरीर है।

अब तक २५०० विभिन्न प्रकार के स्पंज जाने गये हैं, उनमें से क़रीब-क़रीब सभी समुद्री जीव हैं। केवल एक ही दो वंश ऐसे हैं, जो मीठे पानी (नदी, झील आदि) में पाये जाते हैं। इनके शरीरों में एक से अधिक कोष तो अवश्य होते हैं, परन्तु ये जीव तीसरे उपवर्ग अर्थात् अन्तिम जीवों के वर्ग या असली बहुकोषी प्राणियों से बिल्कुल ही निराले हैं। यदि उनके बहुकोषी होने ही का लक्षण ध्यान में रक्खा जाय तो वे भी बाक़ी सब बहुकोषियों के साथ एक ही उपवर्ग में गिने जा सकते हैं और यही कारण है कि बहुत से जन्तु-शास्त्रवेत्ता उनका एक अलग उपवर्ग नहीं बनाते; किन्तु जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि उनकी शारीरिक रचना अन्य सब बहुकोषियों की बनावट से कहीं अधिक सरल है, उनमें कोष के एकत्र होने से कोई अंग नहीं बनते, और पानी की धारा द्वारा भोजन की सामग्री सहस्रों मुखों (छिद्र) द्वारा उनके भीतर जाती है तो यही उचित जान पड़ता है कि हम उन्हें शेष सब बहुकोषियों से अलग मध्य जीवों के उपवर्ग में गिनें, क्योंकि उनके लक्षण आदि और अन्तिम जीवों के समूहों के बीच के हैं। इस उपवर्ग के सब जीव एक ही समूह के हैं, जिसका नाम बहुछिद्रान्वेषी (Porifera) है। इनमें से सभी उपनिवेश बनाकर रहनेवाले होते हैं और समुद्र या अन्य जलाशयों के पौधों और चट्टानों में संलग्न रहते हैं। इनमें अपने नर्म, गुदगुदे शरीर को क़ायम रखने के लिए कड़े नोकीले काँटे या कीलें होती हैं, जो कड़े चूने अथवा पत्थर की बनी होती हैं।



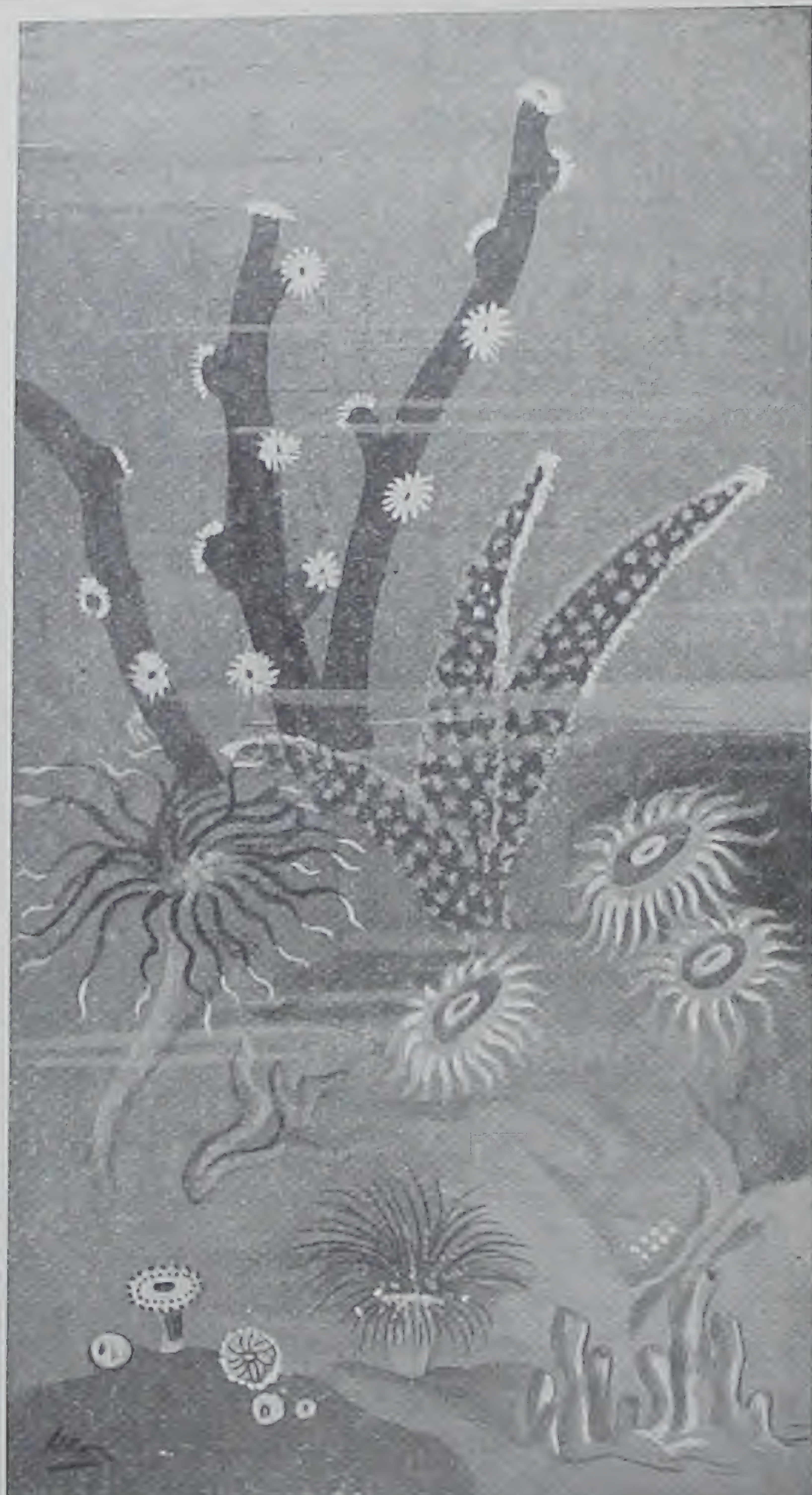
१-३ तीन प्रकार के समुद्री एककोषीय जीव जो हज़ारों की संख्या में हर घड़ी मरते रहते हैं। ४-६ इन्हीं जीवों की तीन प्रकार की चूने के पत्थर की बनी ठठरियाँ जो समुद्र की तह में इकट्ठी होकर खड़ियामिट्टी की चट्टानें बनाती हैं।

नहाने के काम आनेवाले साधारण स्पंजों में एक चीमड़ रेशेदार पदार्थ होता है, जो स्पैंजिन कहलाता है। यह स्पंजों के अतिरिक्त और कहीं नहीं पाया जाता। स्पंजों का एक विशेष गुण यह भी है कि यदि उन्हें काट दिया जाय या वे कट जायँ तो भी वे मर नहीं जाते। एक स्पंज के यदि दो-चार या आठ भाग हो जायँ और वे समुद्र में ही रहें तो प्रत्येक भाग फिर बढ़कर अपने पूरे डील पर पहुँच जाता है। इन गुणों में ये वृक्षों के लक्षणों की ओर झुकते हुए दिखाई देते हैं। किसी-किसी में वृक्षों की तरह शाखाएँ भी फूटती हैं। हिन्द महासागर में मिलनेवाले स्पंज समुद्र की तह से यंत्रों द्वारा काटकर ऊपर निकाले जाते हैं और साफ़ करके बाज़ारों में

बेचे जाते हैं। इनसे कई लाख रुपये साल की तिजारत की जाती है। जिस प्रकार खेत काश्तकारों को उठा दिये जाते हैं, उसी प्रकार कहीं-कहीं समुद्र भी ठेके पर उठा दिये जाते हैं। समुद्र के ठेकेदार दूसरे-तीसरे साल अपनी स्पंज की खेती काटते हैं, और उनके खेत स्पंज से बिल्कुल ख़ाली न हो जायँ इसलिए काटकर ऊपर निकाले हुए स्पंजों में से कुछ को काटकर फिर सागर में डाल देते हैं। ये समुद्र की तह में जाकर फिर चिपट जाते हैं और बढ़कर फिर पूरी फ़सल तैयार हो जाती है।

लस-मछली और उसके सम्बन्धी

सागर के तट पर रहनेवाले लोग बहुत-से समुद्री जीवों से परिचित हो जाते हैं। इनमें से कई प्रकार के एक ही समूह के ऐसे पारदर्शक (transparent) जीव हैं, जो जल की ऊपरी तहों में तैरते रहते हैं। ये लहरों के द्वारा बहुधा किनारे की बालू पर फिंक जाते हैं। जगन्नाथ पुरी जैसे स्थानों पर, जहाँ समुद्र-तट दूर तक चौरस और रेतीला है, या बम्बई और द्वारका के आस-पास के तटों पर ज्वार-भाटा के घटने पर ये जीव दिखाई देते हैं। बहुधा मछली पकड़नेवालों की जाल में भी ये फँस जाते हैं। इनमें से एक प्रकार के जीव, जिन्हें अंग्रेज़ी में जेली फ़िश (Jelly Fish) कहते हैं, हमारे देश के सभी सागरों में मिलते हैं। उनके शरीर एक नर्म लसदार पदार्थ के बने होते हैं और दबाने से पिचक जाते हैं। समुद्रतट के निवासी तथा मछुए यह समझते हैं कि उनके शरीर पानी के बने होते हैं। पर यदि उन्हें कोई हाथ से छू ले तो हाथ जलने लगते हैं, क्योंकि उनमें एक प्रकार के डंक मारनेवाले महीन सूत छोटे-छोटे कोषों (Stinging cells) में बन्द होते हैं। इन डंक मारनेवाले कोषों का होना इनका एक विशेष लक्षण है; इसलिए कहीं-कहीं इनको समुद्री बिच्छू भी कहते हैं। किन्तु यदि हम इन्हें लस-मछली कह कर पुकारें तो अधिक उपयुक्त होगा।



भारतवर्ष के किनारे, अरब सागर में, द्वारका के निकट पाये गये कुछ समुद्री जीव

जो देखने में फूल और पेड़ जैसे जान पड़ते हैं, पर वास्तव में जन्तु ही हैं। इनमें बहुछिद्री (स्पंज), मूँगा-वंशज (corals) और समुद्री फूल (अनीमोन) हैं।

मूँगा से तो आप अवश्य ही परिचित होंगे, क्योंकि इनकी मालाएँ हमारे देश में बहुत पहनी जाती हैं। ये एक प्रकार के लस-मछलीवाले समूह के ही प्राणियों के कंकाल हैं। मूँगेवाले कीड़ों में पेड़ों की-सी डालियाँ होती हैं, जो पत्थर की तरह कठोर होती हैं, किन्तु इनके ऊपर

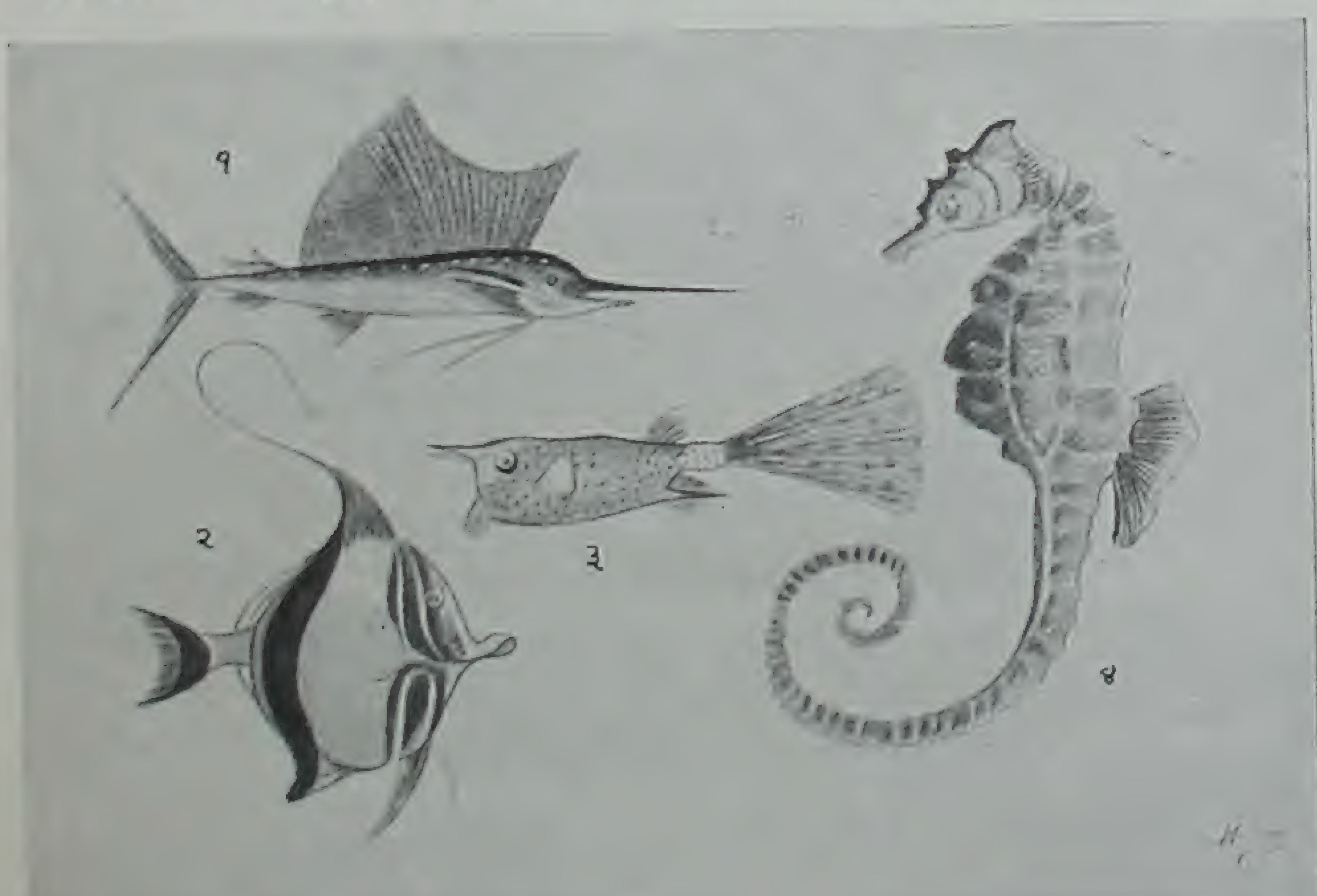
छोटे-छोटे सूराख़ होते हैं, जिनमें से नर्म कीड़े अपनी पंखड़ियाँ फैलाये निकले रहते हैं। जीवित दशा में देखने पर ये बहुत ही सुहावने लगते हैं; ऐसा प्रतीत होता है, मानो लाल-लाल डंडियों में सफ़ेद फूल खिले हुए हों! छिछले समुद्रों में कहीं-कहीं मूँगे की ही तरह के जीवों ने इतनी बड़ी-बड़ी बस्तियाँ बसा दी हैं कि वहाँ पर मिट्टी इत्यादि के जम जाने से द्वीप बन गये हैं! आस्ट्रेलिया के पास दुनिया की प्रसिद्ध मूँगों की चट्टानें (Coral Reefs) कोसों तक फैली हुई हैं। इनकी रोचक कहानी आप फिर कभी सुनेंगे। इस समूह के कुछ जीव मीठे पानी में भी दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु वे अपने समुद्री नातेदारों के मुक़ाबले में बहुत छोटे और गुप्त होते हैं। हाइड्रा (Hydra), जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं, इन्हीं में से एक है।

कृमि तथा अन्य गंडेदार जीव

बहुत से जीव, जो वास्तव में एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं और अलग-अलग समूहों में माने जाते हैं, एक लक्षण में एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। उनमें से अधिकांश के शरीर लम्बे, गंडेदार या जोड़दार कोमल चर्म से ढके होते हैं। कदाचित् यही कारण है कि प्राचीन प्राणिशास्त्रियों ने इन सबको एक ही सा जानकर एक ही समूह में रक्खा था।

इन कृमियों में से बहुतेरे ऐसे हैं, जो पानी या गीली मिट्टी में जीवन व्यतीत करते हैं; जैसे, केंचुवा या गैंसा, जिनको वर्षा ऋतु में खेतों या अन्य स्थानों में आपने रेंगते देखा होगा। केंचुवे की ही तरह के बहुत-से जीव समुद्रों में भी पाये जाते हैं। किन्तु उनमें शरीर के हर एक जोड़ या हिस्से में दोनों ओर बाहर को निकले हुए, चपटे-से अंग तैरने के लिए होते हैं।

बहुत-से कृमि ऐसे भी हैं, जो मनुष्य या और जानवरों के शरीरों में ही फूलते-फलते हैं। ये तीन समूह के होते हैं। एक तो वे जिनके शरीर फ़ीते की भाँति लम्बे और चपटे होते हैं। आम तौर से इन्हें हम फ़ीता कृमि या कद्दूदाना के नाम से पुकारते हैं। इनके प्रत्येक जोड़ शक्ल में लौकी के बीज के समान होते हैं और इनमें से कोई-कोई, जो मनुष्य की आँत में पाये जाते हैं, कई फ़ीट तक लम्बे होते हैं। दूसरे वे हैं, जिनके शरीर विशेषकर फ़ीता कृमि की तरह चपटे होते हैं, परन्तु उनके-जैसे न तो लम्बे ही होते हैं और न उनमें जोड़ ही होते हैं, अथवा यों कहिए कि उनके शरीर में एक ही जोड़ होता है। तीसरे प्रकार के कृमि वे हैं, जो धरती में रहनेवाले केंचुवे जैसे लम्बे तथा दोनों छोर पर नोकीले होते हैं। किन्तु उसकी तरह उनके शरीर में गंडे स्पष्ट नहीं होते। दो प्रकार के ऐसे कृमियों से साधारण लोग बहुत परिचित हैं। एक वे जो आँत के नीचे के भाग या पाख़ाने के मुक़ाम के पास बहुतेरे मनुष्यों में पैदा हो जाते हैं। छोटे बच्चों में ये अक्सर रात के समय काटते और तकलीफ़ देते हैं। ये महीन डोरे जैसे सफ़ेद और क़रीब आधा इंच लम्बे होते हैं। दूसरे वे जो इनसे बहुत बड़े, ६ से ९ इंच तक लम्बे होते हैं और जो मनुष्यों के मल के साथ बाहर निकलते हैं। इन्हें भी हम केंचुवा ही कहते हैं। पृष्ठ ७०२ पर दिये गये जन्तु जगत् संबंधी चित्र में ये कृमि और गंडेदार जीव चौथी पंक्ति में दिखाये गये हैं।



निराले रूपवाली चार प्रकार की मछलियाँ जो गहरे सागरों में पाई जाती हैं इनके कैसे अनोखे रूप हैं! चौथे नम्बर वाली का मुँह घोड़े जैसा है, इसी से इसे 'समुद्री घोड़ा' कहा जाता है।

सितारा-मछली और इसके नातेदार

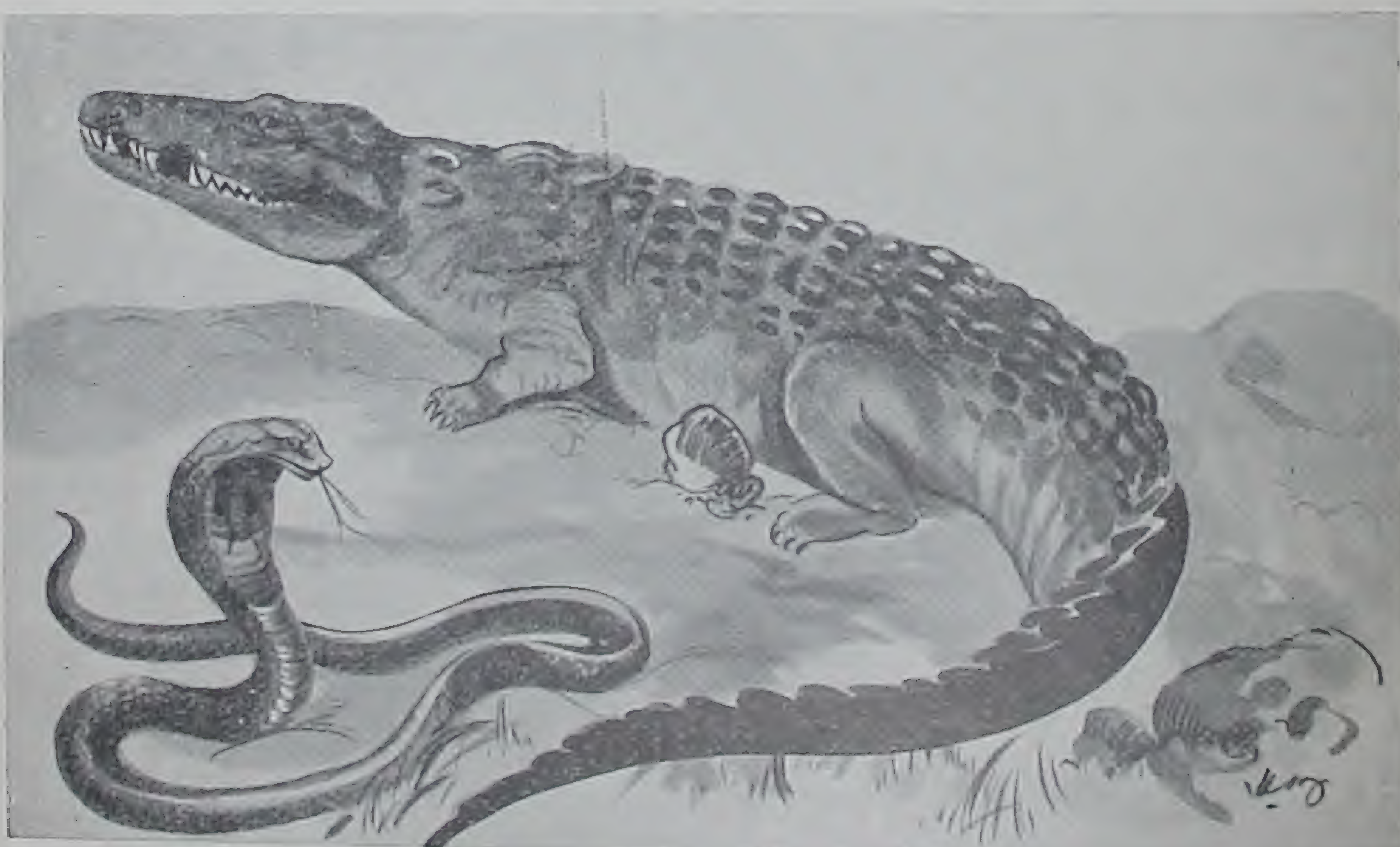
इनसे ऊपर की ओर बढ़कर पाँचवीं और छठी पंक्ति में दो प्रकार के जलवासी बने हुए हैं। जो प्राणी छठी पंक्ति में हैं वे समुद्री जीव हैं और लगभग ३ हज़ार प्रकार के होते हैं। इनमें सबसे परिचित सितारा-मछली है, जिसमें बीच के गोल शरीर से पाँच भुजाएँ बाहर की ओर फैली रहती हैं। इसके शरीर पर छोटे-छोटे गोल या पहलदार पत्तर मढ़े होते हैं और सूख जाने पर यह बड़ी सुन्दर दीख पड़ती है। समुद्री खीरे (Sea Cucumber) और काँटेदार गोले (Echinus) भी इसी समुदाय में गिने जाते हैं। इन सभी में पाया जानेवाला एक लक्षण यह है कि इनकी त्वचा कँटीली होती है और इसीलिए इनको कंटक-चर्मी कहते हैं।

घोंघा व सीप के-से जीव

पाँचवीं क़तार में घोंघा, सीप इत्यादि जीव दर्शाये गये हैं। इनमें से अधिकांश के सीप और घोंघा-जैसे कड़े छिलके होते हैं। यही उनके बाह्य शरीर की रक्षा करते हैं। कुछ ऐसी भी हैं, जिनका कड़ा छिलका शरीर के भीतर होता है। कुछ में घोंघे की तरह एक छिलका चक्रदार होता है, कुछ में सीप की तरह दोहरा छिलका होता है। चूँकि इन जीवों को भी पहले-पहल लोगों ने मछलियों के साथ पानी में देखा था, इसलिए वे उन्हें छिलकेवाली मछली (Shell-fish) कहने लगे थे। परन्तु वास्तव में सितारा-मछली और ये, दोनों ही, असली मछलियों से बिलकुल भिन्न हैं। कौड़ी इसी समूह के एक प्रकार के समुद्री कीड़े की हड्डी या छिलका है। समुद्र के तट की रेत में कौड़ी और शंख जैसे छोटे तथा बड़े सहस्रों सुन्दर रंग-बिरंगे तरह-तरह के छिलके बिखरे रहते हैं। इस वर्ग के जीव अनगिनती संख्या में समूहों में रहते हैं, अतएव जन्तु-जगत् के समूहों में कीड़े-मकोड़ों के बाद जन-संख्या में इन्हीं की गिनती है। इनकी ५० हज़ार से भी अधिक जातियाँ अब तक जानी गई हैं। नर्म और गूदेदार शरीर होने के कारण बहुतेरे जीव इन्हें अपने भोजन की सामग्री बनाते हैं। मनुष्य भी कई तरह के घोंघे और सीपियों को रुचिपूर्वक खाते हैं।

जोड़दार पैरवाले प्राणी

अब हम जीवों के एक और समूह की ओर आपका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। इनके बहुत-से उदाहरणों से आप लोग परिचित होंगे। कौन-सा भारतवासी ऐसा है,



भारतवर्ष के दो सुपरिचित उरंगम। ऊपर दाहिनो ओर घड़ियाल है, जो नदियों के जल में रहता है और मौक़ा पा जाने पर नहानेवाले मनुष्यों को जल में खींच ले जाता और खा जाता है। नीचे बाईं ओर काला नाग (Cobra) है, जिसका डसा मनुष्य शायद ही कभी बचता हो।

जो मच्छर, मक्खी, काँतर, बिच्छू, मकड़ी, तितली, चींटा और बर्रे को नहीं जानता ? इनके अलावा और भी बहुत-से जानवर हैं, जिन्हें हम सभी लोग बहुधा देखा करते हैं, जैसे अँखफोड़ा, झींगुर, खटमल और पानी में रहनेवाले झींगे, केकड़े इत्यादि। इनके अतिरिक्त और भी असंख्य प्राणी हैं, जिन सब में एक लक्षण सामान्य पाया जाता है। क्या कभी आपने इस लक्षण पर ध्यान दिया है ? इन सभी जीवों की टाँगें जोड़दार होती हैं और ये जोड़ हमारी उँगलियों की भाँति एक दूसरे के ऊपर मुड़ सकते हैं। इसी लक्षण के कारण इस समूह का 'जोड़दार पैरवाले प्राणी' नाम रक्खा गया है। जन्तु-जगत् का यह सबसे विस्तृत समूह है। इस वर्ग के लगभग ५ लाख प्रकार के जीवों की तो सूची बन चुकी है और उनका वर्णन भी किया जा चुका है। अभी कितने ऐसे जीव शेष हैं, यह ठीक कहना असम्भव है, परन्तु अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि जितने ऐसे जीव जाने गये हैं, उनके दुगने जीव अभी जानने को बाक़ी हैं। यदि तराज़ू के एक पलड़े में संसार के अन्य सभी जीव रख दिये जायँ और दूसरे पलड़े में अकेले जोड़दार पैरवाले जीव रक्खे जायँ, तो भी इनका पलड़ा उनसे पाँच गुना भारी ही होगा। इनकी जातियाँ ही इतनी अधिक नहीं हैं, बल्कि इनकी एक-एक जाति की संख्या भी अत्यंत विस्तृत है। दीमक, चींटी, टिड्डी, पतिंगे के दल किसने न देखे होंगे ? टिड्डी का दल जब निकलता है, तब खेत-के-खेत तहस-नहस हो जाते हैं। वर्षा-ऋतु में पतिंगों के कारण रात्रि के समय प्रकाश में काम करना हमारे लिए कठिन हो जाता है। हम मिठाई को कितनी ही छिपाकर, बचाकर और चींटी की पहुँच से परे रखने की कोशिश करें, लेकिन फिर भी वे वहाँ तक पहुँच ही जाती हैं, क्योंकि इनमें सूँघने की शक्ति बहुत ही उन्नत है। अपृष्ठवंशियों में सर्वश्रेष्ठ समुदाय पतिंगों का ही है। इनमें



आस्ट्रेलिया-निवासी सुन्दर दुमवाली एक चिड़िया। यह मोर की तरह रंगीन न होते हुए भी पक्षियों में बड़ी रूपवान मानी जाती है। इसकी दुम अंगरेज़ी बाजे 'लायर' के समान है। इसीसे इसका नाम 'लायर पक्षी' रक्खा गया है। यह अब बहुत कम रह गई है। काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के जंतुविभाग में इसका एक जोड़ा रक्खा हुआ है।



(बाईं ओर) अफ़्रीका में मिलनेवाला भयानक गेंडा, जो दरिया के किनारे या दलदलों में रहता है। इसका चमड़ा बहुत मोटा और कड़ा होता है, इसलिए यह ढाल बनाने के काम में आता है । (दाहिनी ओर) अफ़्रीका के ही मैदानों का निवासी सुन्दर धारीदार खालवाला घोड़े से मिलता-जुलता एक पशु—ज़ेबरा ।

से कुछ—चींटी, दीमक, बर्र और शहद की मक्खी—अपनी बुद्धि और सामाजिक जीवन के लिए प्रसिद्ध हैं ।

बिना खोपड़ीवाले पृष्ठवंशी

अब एक अन्य प्रकार के जीवों का हाल सुनिए, जिनकी पीठ में रीढ़ की हड्डी होती है और इसीलिए जो पृष्ठवंशी कहलाते हैं । समस्त पृष्ठवंशी जीव एक ही समूह में गिने जाते हैं; अपृष्ठवंशियों की भाँति उनमें भिन्न-भिन्न समूह नहीं हैं । ऐसे जीवों से हम सबसे अधिक परिचित हैं । इनमें भी कुछ ऐसे छोटे जीव सम्मिलित हैं, जिनमें औरों की तरह रीढ़ की हड्डी न होते हुए भी अन्य गुण पृष्ठवंशियों के-से हैं, या यों कहिये कि ये जीव असली पृष्ठवंशियों और अपृष्ठवंशियों के बीच के हैं । सबसे नीची श्रेणी के इन पृष्ठवंशियों में से कुछ के चित्र पृष्ठ ७०२ के चित्र में 'उपपृष्ठवंशी' शीर्षक के सामने दिये गये हैं । इनमें का एक बैलेनोग्लौसस कृमि के-से शरीर-वाला है और उष्ण कटिबन्ध के कुछ देशों में पाया जाता है । यह लगभग ४-६ इंच तक लम्बा होता है और इसमें अन्नमार्ग से बाहर की ओर कई छिद्र होते हैं, जिन्हें हम गल-फड़ेवाले छिद्र (Gill clefts) कहते हैं । इन छिद्रों का होना पृष्ठवंशियों का दूसरा विशेष लक्षण है, जो किसी भी अपृष्ठवंशी में नहीं होता । एक अन्य जीव एम्फ़ीऑक्सस (Amphioxus) कहलाता है । यह चपटा और २″-३″ लम्बा होता है तथा समुद्र में रहता है । इसके भी गलफड़े के छिद्र होते हैं तथा इसके कुछ अन्य लक्षण भी पृष्ठवंशियों से मिलते हैं । इन नीची जाति के अपरिचित पृष्ठवंशियों से शेष सब पृष्ठवंशी एक विशेष गुण द्वारा अलग किये जाते हैं । यह गुण उनमें खोपड़ी का होना है । खोपड़ीवाले पृष्ठवंशियों को तो हम नित्य ही देखते-भालते हैं; जैसे मछली, मेढक, छिप-कली, पक्षी और पशु ।

मत्स्य-समुदाय

इस समुदाय में १२ हज़ार से अधिक उपजातियाँ हैं । सभी प्रकार की मछलियाँ पानी में ही रहती हैं; इनमें से अधिकांश समुद्र में, कुछ नदी में और कुछ तालाबों में रहती हैं । वे अपने

गलफड़ों द्वारा पानी में ही साँस ले सकती हैं। इसी कारण साधारण मछलियाँ पानी के बाहर निकालते ही तड़फड़ाकर प्राण-त्याग कर देती हैं, परन्तु एक-आध ऐसी जाति की भी मछलियाँ हैं, जो पानी के बाहर जी सकती हैं। उनमें गलफड़ों के अलावा और सहायक श्वासेन्द्रियाँ भी होती हैं। ये इन्द्रियाँ उन्हें हवा में साँस लेने में सहायता करती हैं। हमारे देश में ऐसी कई प्रकार की मछलियाँ मिलती हैं, जैसे सौरी, या बंगाल की कोयमाछ, जो अपने काँटों की सहायता से किनारे के पेड़ों पर चढ़ जाती हैं। यह तो सभी जानते हैं कि मछलियों के शरीर कड़े सिन्नों से आच्छादित होते हैं, परन्तु कुछ के सिन्ने नहीं होते। हाथ-पैरों के बदले उनमें तैरने के लिए जगह-जगह डैने होते हैं।



पच्छिमी और मध्य अफ्रीका के जंगल में रहनेवाला विचित्र बन्दर—मैन्ड्रिल
नाक के दोनों ओर इसका मुँह तेज़ लाल रंग का होता है, जिसमें नीली धारी रहती हैं, मानों किसी ने उसे रँगा हो।

मंडूक समुदाय

मंडूक अथवा जल-थल-चर समुदाय पृष्ठवंशियों का सबसे छोटा समुदाय है। किन्तु इसमें भी लगभग २ हज़ार प्रकार के प्राणी हैं। इनकी खाल पर मछली या उरंगमों की भाँति सिन्ने नहीं होते। इनके चार टाँगें होती हैं, जिनमें छोटी-छोटी उँगलियाँ भी रहती हैं। साधारणतया ये अपने अंडे पानी में ही देते हैं। बच्चा निकलने पर मछली की तरह कुछ दिनों तक पानी में तैरता फिरता है और गलफड़ों से साँस लेता है। बाद को धीरे-धीरे उसके शरीर में परिवर्तन हो जाते हैं। हवा में साँस लेने के लिए फेंफड़े बन जाते हैं और ज़मीन पर कूदने के लिए टाँगें निकल आती हैं। धीरे-धीरे दुम और फेंफड़े ग़ायब हो जाते हैं। अब ये जल को छोड़कर स्थल के वासी हो जाते हैं। इनके अध्ययन से हमें पता चलता है कि प्राचीन काल में जल-चर से प्राणी थल-चर किस प्रकार हुए होंगे। मेढक इसी वर्ग के जीव हैं। इनसे और इनके नातेदारों से लोग डरते और घृणा करते हैं। मछलियों की तरह उन्हें सब देशों में खाया नहीं जाता, किन्तु फ्रांस, ब्रह्मा, जापान आदि देशों में मनुष्य बड़ी रुचि से इनको खाते हैं।

उरंगम समुदाय

कछुए, मगर, छिपकली और सर्प से सभी भारतवासी परिचित हैं। इनकी लगभग ५ हज़ार उप-जातियाँ पृथ्वी पर मौजूद हैं। इन सबके चर्म में छोटे-छोटे सिन्ने या पत्तर होते हैं। पर ये मछलियों के सिन्नों के समान नहीं होते और उनसे आसानी से अलग किये जा सकते हैं। इनमें से कोई भी जीव मनुष्य के लिए उपयोगी नहीं है, बल्कि बहुत-से विषैले और हानिकारक हैं, जैसे साँप और खिसखपड़ा। काला नाग (Cobra), करैत आदि ऐसे विषैले सर्प हैं कि जिनके काटने से मनुष्य सहज ही में नहीं बच सकता। मगर और घड़ियाल भी अवसर पाने पर नहानेवालों को खींचकर हड़पने में नहीं चूकते। पर प्रकृति ने ऐसे दुष्ट जीवों को भी बहुत सुन्दर रंग और रूप प्रदान किया है। ईश्वर को धन्यवाद है कि ऐसे-ऐसे विशालकाय और भीषण स्वरूपवाले कई जीव, जिनके शरीर ५०-६० फ़ीट तक लम्बे थे, और जो किसी समय पृथ्वी के अधिपति बने स्वतंत्रता से विचरते थे, अब नहीं रहे।

स्मरण रहे कि पूर्वोक्त तीनों समुदायों के जन्तु ठंडे रक्तवाले प्राणी हैं। बाक़ी दोनों समुदायों के जन्तु गर्म रक्तवाले हैं। मत्स्य, मंडूक और उरंगम समुदाय के प्राणी अपने ठंडे रक्त के ही कारण सदा पानी में आराम से रह सकते

हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त गर्म रक्तवाले जो स्तनपोषी जन्तु जल में जीवन व्यतीत करते हैं, प्रकृति ने उन्हें गर्म रखने का उपाय कर दिया है। बहुधा उनके शरीर में मोटी चर्बी की पर्त्त होती है, जिससे जल की शीतलता का प्रभाव उनके रक्त पर नहीं पड़ता और ताप की आवश्यक मात्रा उनके शरीर में सुरक्षित बनी रहती है।

पक्षी-समुदाय

जन्तु-जगत् में सबसे अच्छी तरह जाना-बूझा और सर्व-विख्यात समुदाय पक्षियों का है। मनुष्य ने उनके चटकीले रंग, आकर्षक स्वरूप और सुन्दर भाव के कारण उनके विषय में सदा ही अधिक ध्यान दिया है। उनकी मधुर वाणी, घोंसला बनाने के निराले ढंग और हमारी बोली का अनुकरण करने की शक्ति के कारण वे हमें बहुत प्रिय लगते हैं।

कहा जाता है कि दुनिया के सब भागों में क़रीब २० हज़ार जाति के पक्षी पाये जाते हैं। क़रीब-क़रीब सभी हवा में उड़नेवाले होने के कारण उनके शरीर प्रायः एक ही ढंग पर रचे गये हैं—उरंगमों की तरह उनमें विभिन्न रूप और आकार नहीं हैं। इनका सारा शरीर परों से ढका रहता है और उड़ने के लिए इनमें दो परदार डैने रहते हैं। सभी वर्त्तमान चिड़ियाँ बिना दाँतवाली होती हैं, किन्तु भोजन काटने के लिए उनमें तीक्ष्ण चोंच होती है। उनके सारे शरीर की रचना उन्हें हल्का और उड़ने के योग्य बनाने के लिए उपयुक्त है। उनकी हड्डियाँ खोखली होती हैं और हवा से भरी रहती हैं तथा उनके फेफड़ों से हवा की थैलियाँ सारे शरीर में फैली रहती हैं। इस कारण उनके शरीर में ओषदीकरण बहुत तीव्र हो जाता है और इसी से वे दिन भर उड़ा करती हैं तथा उनकी साँस नहीं फूलती। हमारे शरीर में ऐसा न होने के कारण ही थोड़ा-सा दौड़ते ही हम थक जाते हैं और हमारी साँस फूलने लगती है।

स्तनपोषी-समुदाय

अन्त में हम जन्तु-जगत् के सर्वोच्च समुदाय के प्राणियों का हाल बतलाना चाहते हैं। इनमें से बहुतों को हम पशु कहते हैं। यह नाम बड़े शरीरवालों के लिए तो ठीक है, लेकिन चूहे-जैसों को पशु कहना उचित नहीं जान पड़ता। वास्तव में कोई ऐसा नाम नहीं है जो इन सब प्रकार के जीवों पर लागू हो। इनकी मुख्य विशेषता—जिसके द्वारा ये अन्य समुदायों के प्राणियों से अलग किये जा सकते हैं—यह है कि इनकी सब मादाओं के स्तन होते हैं। इनसे वे अपने बच्चों को दूध पिलाकर उनका पालन करती हैं। अन्य किसी समुदाय के प्राणियों का पोषण स्तनों से नहीं होता। इसलिए हम इस समुदाय को स्तनपोषी-समुदाय कहते हैं। मनुष्य के बहुतेरे घरेलू जानवर—गाय, बैल, ऊँट, घोड़ा, बकरी, कुत्ता, आदि—इसी समुदाय के सदस्य हैं। उनसे भोजन के लिए हमें दूध, मांस आदि प्राप्त होता है; वस्त्रों के लिए ऊन, बाल और खालें मिलती हैं; और उनके चमड़े से हम बहुतेरी उपयोगी वस्तुएँ तैयार करते हैं। इस वर्ग के जीवों में घोड़ा, हाथी और ऊँट आदि हमारे लिए सवारी का काम देते हैं, तथा बैल हमें खेती में सहायता देते और बोझ लादने का काम करते हैं। साथ-ही-साथ शेर और चीते-जैसे फाड़ खानेवाले भयंकर जीव, एवं ह्वेल-जैसे दैत्याकार तथा वानर-वंश जैसे चंचल प्राणी भी इसी समुदाय के अन्तर्गत हैं। स्वयं मनुष्य भी इसी समुदाय का प्राणी है और अपने शरीर की रचना और इन्द्रियों की शक्तियों के कारण वह सब स्तनपोषियों में शिरोमणि है।

इस समुदाय के सभी जन्तुओं के शरीर पर थोड़े-बहुत बाल होते हैं, जो उनकी सबसे अच्छी पहचान है। किन्तु कुछ स्तनपोषी लोमहीन शरीरवाले भी होते हैं, जैसे ह्वेल। पर बचपन में उसके भी बाल होते हैं, जो बड़े होने पर गिर पड़ते हैं। मनुष्य और कुछ समुद्री जीवों को छोड़कर सभी स्तनपोषी चौपाये हैं। इस वर्ग के क़रीब-क़रीब सभी प्राणियों में बच्चा अपनी माता के गर्भ में नियुक्त समय तक बढ़ता रहता है और काफ़ी बड़ा हो जाने के बाद जन्म लेता है। जन्म हो जाने पर कुछ समय तक वह बिल्कुल माता के दूध पर ही निर्भर रहता है। इस तरह हम देखते हैं कि इस समुदाय के सभी जीव जरायुज हैं। स्तनपोषियों की ७ हज़ार से अधिक उपजातियाँ जानी गई हैं। उनमें से कई मनुष्य के लिए उपयोगी हैं, इसलिए उनका वृत्तान्त हमको मनोरंजक लगना स्वाभाविक है। आगे चलकर हमारा इनसे और भी अधिक परिचय हो जायगा।

जैसा कि हम इस लेख के आरंभ ही में कह चुके हैं, जंतु-जगत् का विस्तार इतना लंबा-चौड़ा है कि कुछ पृष्ठों में उसका पूरा चित्र उतारना असंभव है। यहाँ हमने सरसरी तौर से जंतु-संसार के मुख्य-मुख्य वर्गों पर एक नज़र भर दौड़ा ली है। उन वर्गों के विशेष लक्षणों का भी हमने यहाँ केवल संक्षेप में उल्लेख भर किया है। आगे के लेखों में हम जीव-जगत् की विभिन्न श्रेणियों के मुख्य-मुख्य प्रतिनिधियों में से कुछ की कहानी विस्तारपूर्वक आपको सुनाएँगे।



मनुष्य की कहानी



प्राचीन मनुष्य की पहली सम्पत्ति—उसके आदिम अस्त्र-शस्त्रों के कुछ चुने हुए नमूने ये संयुक्त-राज्य (अमरीका) के राष्ट्रीय अजायबघर में हैं। ऊपर की पहली पंक्ति में प्रस्तर-युग तथा उसके कुछ बाद के युग के चाकू-जैसे काटने के धारदार पत्थर और हड्डी के औज़ार हैं। दूसरी पंक्ति में यह दिखाया गया है कि साधारण पत्थर से क्रमशः धातु की कुल्हाड़ी (इसी पंक्ति में अन्तिम) कैसे बनी। तीसरी पंक्ति में प्रस्तर-युग के बिना दस्ते के और दस्तेदार हथौड़े हैं। चौथी पंक्ति में खुरखुरे किनारेवाले पत्थरों से आरी का ज्ञान होता है। पाँचवीं पंक्ति में पत्थर की साधारण बर्मी से धनुषदार हाथ से खींचनेवाली बर्मी कैसे बनी यह दिखाया गया है।



आदिम मनुष्य की आदि सम्पत्तियाँ

पिछले लेखों में हम यह कह चुके हैं कि बहुत-सी मुख्य बातों में मनुष्य भी अन्य जानवरों के सदृश है। पर उसकी प्रकृति पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि बहुत-सी बातों में वह अन्य जीवित वस्तुओं से बिल्कुल भिन्न है। हम यह भी देख चुके हैं कि अब से लाखों वर्ष पहले किस प्रकार वन-मानुष से उप-मनुष्य और उप-मनुष्य से असली आदिम मनुष्य बने, तथा किस विशेष वस्तु के बल पर आदिम मनुष्य ने उस समय के बिसन, मैमथ, भालू, और चीते-जैसे भयंकर जंगली जीवों पर विजय पाई, जिसके कारण वह अन्य जीवधारियों को पीछे छोड़कर सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर हुआ। योरप में अन्तिम हिम-प्रलय के समय नीएनडरथल नामक मनुष्य फैले हुए थे, जो कई हज़ार वर्ष तक वहाँ रहे, परन्तु आज से लगभग ४६ हज़ार वर्ष पूर्व असली मनुष्य के पूर्वजों के आने पर ये नीएनडरथल मनुष्य एकाएक पृथ्वी से लुप्त हो गये। इनकी कहानी हम आपको सुना चुके हैं। अब हम आपको यह बताना चाहते हैं कि इन नये मनुष्यों में, जिनकी सन्तानें आज भी पृथ्वी पर फैली हुई हैं—कौन-से गुण थे, जिनके कारण ये इतने वर्षों से पृथ्वी के शासक बने हुए हैं और भविष्य में भी न जाने कब तक बने रहेंगे।

आदि-मनुष्यों का जीवन

यह तो निश्चित है कि आदि-मनुष्यों का सारा समय अपने लिए भोजन ढूँढने में ही बीतता होगा। उनका भोजन शिकार किये हुए या मरे हुए जीवों पर ही निर्भर रहता था। नीएनडरथल मनुष्य मछली, चिड़िया, ख़रगोश इत्यादि छोटे जानवरों को, जिन्हें वे पत्थर फेंककर मारते थे, तथा जंगली फलों को खाकर सन्तुष्ट रहते थे। वे बासी और सड़ा हुआ गोश्त भी ख़ुशी से खा लेते थे। उस समय बड़े जानवरों का गोश्त इन्हें तभी प्राप्त होता था, जब वे अपने आप ही मर जाते थे या दलदल में फँसकर उनका अन्त हो जाता था। अब से लगभग ३५ या ४० हज़ार वर्ष पहले माध्यमिक प्रस्तर-युग के सबसे पहले असली मनुष्यों ने चुम्बक पत्थर और हड्डी के छुरे, भाले, आदि बनाना सीख लिया था। इनके द्वारा वे विशालकाल भयंकर जीवों का शिकार करने लगे थे। वे उस समय तक गुफाओं और चट्टानों की आड़ में ही रहते थे। न उन्हें झोपड़ी बनाना आता था, न खेती करने का ही ज्ञान था। वे कदाचित् नंगे ही घूमते-फिरते थे, परन्तु शायद लज्जा के कारण शरीरों पर रंग पोत लिया करते थे। यह जाति योरप में लगभग २५ हज़ार वर्ष तक क़ायम रही। इसके बाद एक और जाति के लोगों ने उसकी जगह पर अपना आधिपत्य जमा लिया। ये लोग शायद एशिया से आये थे। उत्तरी प्रस्तर-युग के ये निवासी पूर्वी और माध्यमिक युग के मनुष्यों से अधिक चतुर और बुद्धिमान् थे। ये धनुष-बाण से शिकार करते थे। इनके बाणों के सिरे चिकने पत्थरों के होते थे और वे लकड़ी के डंडों में चमड़े की पट्टी से कसे होते थे। ये लोग दस्तेदार कुल्हाड़ी भी बना लेते थे और यद्यपि इनका जीवन अधिकतर शिकार पर ही निर्भर था, फिर भी ये थोड़ी-सी खेती करना भी सीख गये थे। आगे चलकर तो खेती ही इनका मुख्य व्यवसाय हो गया। इन्हीं लोगों ने पहले-पहल जानवरों को पालना सीखा तथा अपने रहने के लिए मैदान या छिछले पानी में डंडे गाड़कर झोपड़ियाँ भी बनाना शुरू किया। यह ज्ञान उन्हें तभी प्राप्त हुआ जब उन्होंने जानवरों की खाल से अपने शरीर को ढँकना और अपने घरों के चारों ओर आग जलाकर जानवरों से अपनी रक्षा करना सीख लिया था। कुछ समय बाद उन्होंने सन के मोटे सूत से मोटा और खुरदरा कपड़ा बुनना, वृक्षों की डालियों से टोकरी इत्यादि बनाना, तथा मिट्टी से बर्त्तन बनाना भी सीख लिया।

इन बातों से यह पता चलता है कि जब पहले-पहल मानव-

जाति ने सबसे साधारण औज़ार डंडे को चलाने का ढंग सीख लिया तो उसके जीवनक्रम में एक बहुत ही क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो गया। पत्थर मारने और डंडा चलाने के ज्ञान ने ही आगे चलकर मनुष्य को हथौड़ा, कुल्हाड़ी, भाला, तीर व कमान की राह बतलाई, और इसी ज्ञान पर उसके भावी यंत्र-कल-सम्बन्धी युग की बुनियाद पड़ी। इसके बाद जब उसने जानवरों के चमड़े से अपने शरीर को ढककर मौसम की सख्ती से बचना और आग का प्रयोग करना सीख लिया तो वह ऐसी दो सम्पत्तियों का अधिकारी हो गया जिनके कारण उसे अपने कठोर जीवन में सबसे अधिक सहायता मिली। अब वह गुफाओं को छोड़कर खुली जगहों में रहने लगा तथा अपने देश को छोड़कर उत्तर के ठंडे देशों की ओर, जहाँ पहले उसका जाना असम्भव था, बढ़ने लगा।

नये देशों में भटकते हुए उसे नई कठिनाइयों का सामना अवश्य ही करना पड़ा होगा, जिनको झेलने के लिए उसे अपनी अक्ल लड़ानी पड़ती होगी। उसे अपने भोजन प्राप्त करने के प्रश्न पर भी विचार करना पड़ा होगा। अब उसने यह सोचा कि पशुओं को पकड़कर अपने साथ ही क्यों न रख लिया जाय और समय आने पर उन्हीं को मार कर खाने के काम में लाया जाय। इस प्रकार वह जानवर पालने लगा और शिकारी से चरवाहा बन गया। अब उसे भोजन के लिए, जब उसकी इच्छा होती थी, मांस मिल जाता था। तदनन्तर उसका ध्यान शाक-पात की ओर गया। उसने सोचा कि जब जानवरों को पालकर उन्हें जब चाहे तब मारकर खाया जा सकता है तो फिर उसी प्रकार वह अनाज और शाक-पात को भी क्यों न इकट्ठा करके रख ले और अवसर पर उन्हें काम में लाये। इस प्रकार उसने फ़सल काटकर इकट्ठा करना और उसे दूसरी जगह बोना भी सीखा, जिसके फलस्वरूप वह कृषक बन गया। जब वह इन बातों को सीख गया, तब तो वह सभ्यता के पथ पर बड़ी ही तेज़ी से आगे की ओर बढ़ने लग गया।

हम इस लेख में मानव-जाति की इन्हीं सम्पत्तियों का उल्लेख करना चाहते हैं, जो उसे सभ्य बनाने में बहुत ही अधिक सहायक हुई हैं। ये सम्पत्तियाँ उसको उस समय से पहले ही मिल चुकी थीं, जिसका ज्ञान हमें मनुष्यों के गुफाओं में दबे हुए अवशेषों और प्रस्तर-विकल्पों से होता है। इनमें से कौन-सी सम्पत्ति उसे पहले मिली और कौन-सी बाद में, इसकी खोज करना व्यर्थ है और इनमें से कौन-सी कब मिली यह पता लगाना तो और भी निरर्थक है।

सर्वप्रथम सम्पत्ति—अस्त्र और शस्त्र

वर्त्तमान काल यंत्रों और कलों का युग है। हमारे सभी काम कलों से होते हैं। हमारे कपड़े मशीन से बनते हैं, खेती-बारी भी मशीन से होती है, आटा कल में पिसता है। हम मोटर, रेल और हवाई जहाज़-जैसी मशीनों द्वारा यात्रा करते हैं। भाफ और बिजली की नाना प्रकार की मशीनों से हम काम लेते हैं। यही नहीं, मनुष्य ने बहुत-सी ऐसी कलें भी बना ली हैं जो एक बार चालू कर देने पर अपना काम स्वयं करती रहती हैं और उसी समय में कारीगर अपना ध्यान दूसरे काम में लगा सकता है। परन्तु एक समय था जब मनुष्य के लिए सबसे साधारण प्रकार के शस्त्र भी अप्राप्य थे। अपने सब कामों के लिए उसे अपने हाथों का ही एकमात्र भरोसा था। जब आदमी केवल शिकारी ही था, तब उसको हथियारों की आवश्यकता की अनुभूति हुई और इसकी पूर्त्ति के लिए उसने जिस सर्वप्रथम अस्त्र का आश्रय लिया वह पत्थर था। वह पत्थर को ही फेंककर अपने शिकार को मारता था, पत्थर से ही वह कड़े छिलकेवाले फलों की मींगी निकाल कर खाता था, ऊँचे वृक्षों में लगे हुए फलों को भी वह पत्थर और लकड़ी के डंडे फेंक कर तोड़ता था। मनुष्य के सर्व-प्रथम हथियार जो मिले हैं वे पत्थर ही हैं या पत्थर ही के बने हुए हैं। पहले-पहल वह पड़े हुए पत्थरों से ही काम लेता रहा होगा, किन्तु उसने जल्दी ही पत्थरों के टुकड़ों को एक दूसरे से ठोक कर, उन्हें गढ़कर पकड़ने योग्य बना लिया। इस तरह सर्वप्रथम हाथ में पकड़कर चलानेवाली कुल्हाड़ी की बुनियाद पड़ी। पत्थर से पत्थर तोड़ने में चिप्पड़ निकले, जिन्हें वह छोटे-मोटे शस्त्रों की भाँति फल और नर्म लकड़ी काटने के काम में लाने लगा। जब उसका ध्यान पत्थर में तेज़ धार बनाने की ओर गया, तब वह काटने और खुरचने के योग्य औज़ार भी बनाने लगा। आगे चलकर हमको पुराने हाथ से चलानेवाले बड़े पत्थर के टुकड़ों की जगह छोटे-छोटे नोकदार और कटीली धारवाले पत्थर के औज़ार मिलते हैं। इस ज़माने में पत्थरों के साथ-साथ हड्डी के भी औज़ार बनने लगे तथा दिन प्रतिदिन उन्नति होती गई।

जिस प्रकार प्राचीन मनुष्य ने पत्थरों से काम लेकर अपने हाथों की शक्ति बढ़ाई, उसी प्रकार पेड़ों से डंडे और बाँस के टुकड़े तोड़कर उनको फेंककर वह जानवरों को मारता रहा होगा। इसके कुछ समय के पश्चात् उसे यह समझ आई होगी कि डंडे को हाथ में पकड़े रहकर जानवरों पर आक्रमण करना और उनसे अपनी रक्षा करना अधिक लाभ-

दायक है। इसलिए उसने अपने हाथ की पहुँच बढ़ाने के लिए लम्बी-लम्बी लाठियों से काम लेना शुरू किया और उनमें पत्थर और हड्डी के तीक्ष्ण नोकोंवाले शस्त्र बाँधकर उनसे भाले और बर्छी का भी काम लिया। इस तरह जब उसे हाथों की शक्ति और पहुँच बढ़ाने का साधन मिल गया तो उसने वह पहली सम्पत्ति प्राप्त कर ली, जिसने उसे अन्य पशुओं से श्रेष्ठ और बलवान् ही नहीं बना दिया बल्कि उन्नति और सभ्यता के पथ की ओर अग्रसर कर दिया। कोई-कोई पशु भी पत्थर या ढेले फेंक सकते हैं और डंडे चला सकते हैं। बन्दर कड़े छिलकेवाले फलों को पटककर या ईंट से मारकर तोड़ लेते हैं और उनकी मींगी निकाल लेते हैं। गौरिल्ला लकड़ी पा जाने पर उसको पकड़कर लड़ता है। मैडागास्कर के निवासी कहते हैं कि यदि वहाँ के लीमर नामक अर्द्ध-वानर पर कोई भाला फेंके तो वह उसे पकड़ लेता है और वापस फेंककर बदला लेता है। हाथी भी गुस्सा होने पर चारे की लकड़ियाँ सूँड़ से उठाकर फेंकता है। लेकिन यह सब होते हुए भी कोई जानवर कभी अपने साथ पत्थर या डंडा इसलिए लिये हुए नहीं रहता कि आवश्यकता पड़ने पर वह उसे काम में लाये। केवल मनुष्य ने ही ऐसा किया है। प्रकृति ने पशुओं के शरीर में सींग, पंजे, आदि के रूप से कई प्रकार के शस्त्र प्रदान किये हैं, जिनसे वे अपने मुख्य काम लेते हैं। किन्तु मनुष्य के शरीर पर ऐसे कोई शस्त्र नहीं उगते। इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि **मनुष्य एक शस्त्र बनानेवाला जीवधारी है**। मनुष्य के अतिरिक्त और कोई ऐसा जीव नहीं है, जो अपने प्रतिदिन के कार्यों के लिए शस्त्र बना सके। मनुष्य ही ऐसा जानवर है, जिसने अपने हाथ को एक ऐसे उपयोगी दस्ते की तरह काम में लाना सीख लिया है कि जब जैसी ज़रूरत होती है, वैसा ही औज़ार वह अपने हाथ में लेकर उससे काम किया करता है। सीने की ज़रूरत होती है तो नन्हीं-सी सुई पकड़ लेता है, लिखने का काम हुआ तो क़लम उठा लेता है। मारने के लिए वह घूँसा काम में लाता है, तो आटा माड़ने के लिए मुट्ठी। अनाज काटने के लिए यदि वह हँसिया पकड़ लेता है, तो युद्ध में तोपें, बन्दूकें तथा अन्य सैकड़ों ही तरह के यंत्र भी चला लेता है। आजकल जो सहस्रों प्रकार के यंत्र, अस्त्र-शस्त्र, कलें, मशीनें दिखलाई पड़ती हैं, इन सभी को मनुष्य ने अपने मस्तिष्क और हाथों के द्वारा ही तैयार किया है। हाथ और मस्तिष्क ने ही मिलकर मनुष्य को जीवधारियों की श्रेणी में श्रेष्ठ और उच्च पदवी प्रदान की है। बहुतेरे जीवधारी अपने अंगों की विशेषता के कारण एक-आध काम बहुत अच्छी तरह कर सकते हैं, किन्तु मनुष्य अपने साधारण-से हाथ से ही उन सब कामों को कर लेता है, और कभी-कभी तो वह इन कामों को उनसे भी अच्छी तरह से कर लेता है। हमारे पूर्वजों के पत्थर, लकड़ी और हड्डी के आदिम भौंडे औज़ारों ने ही हमारे हाथों और उँगलियों को वह विशेषता दी है जिसके कारण आज हमने कितने ही प्रकार के नये-नये और आश्चर्यजनक आविष्कार कर लिये हैं। इसलिए यही साधारण औज़ार मनुष्य की पहली सम्पत्ति थे।



प्रस्तर-युग के दो मनुष्य
एक चुम्बक पत्थर को तोड़कर अस्त्र बना रहा है और दूसरा सबसे पहले पालतू जानवर और विश्वासी चौकीदार कुत्ते को पास लिये बैठा है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति—अग्नि

अब हम आदि-पुरुष की दूसरी महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति अग्नि के विषय में चर्चा करना चाहते हैं। मनुष्य की उन्नति कराने में यह सम्पत्ति पहली सम्पत्ति (अस्त्र-शस्त्र) की अपेक्षा अधिक उपयोगी सिद्ध हुई है। मानव-जीवन में आग का कितना महत्त्व है, यह तो आपको मालूम ही है। आग के बिना ठंडे देशों तथा शीतकाल में हमारा जीवन कठिन हो जायगा। आग से ही हमारा खाना पकता है और वह करामाती भाप बनती है, जिससे इंजन और कल-कारख़ाने चलते हैं। आज दिन हमारे पास दियासलाई मौजूद है, जिससे जब आवश्यकता होती है, हम आग जला लेते हैं। हमें आग इतनी सुगमता से मिल जाती है, इसीलिए इस बात की ओर कभी हमारा ध्यान ही नहीं जाता कि प्राचीनकाल में हमारे असभ्य पूर्वजों को सभ्य बनाने में अग्नि का कितना हाथ था। इसी अग्नि के सहारे उप-मनुष्य वृक्ष-वासी से गुफा-वासी बने और गुफाओं को त्यागकर क्रमशः खुले मैदानों में रहने

लगे। इसी के बल पर मनुष्य उस समय के भयंकर जीवों से सुरक्षित रहा। आग ही के द्वारा बहुत-सी वस्तुएँ, जिन्हें वह पहले न खा पाता था, उसके खाने योग्य हुईं। लकड़ी की झोपड़ियों को छोड़ पक्के मकानों में रहना संभव बनानेवाली मिट्टी की ईंटें भी आग में ही पकीं, और आग ही के द्वारा मिट्टी के बर्त्तन बनाये गये। जब धातुएँ मिलीं तो उनके भी बर्त्तन और औज़ार आग के ही ज़रिये बनाये गये। प्रकाश और दीपक का विचार भी अग्नि ही के कारण उत्पन्न हुआ। जब आदि मानव ने आग के द्वारा सर्दी से शरीर की रक्षा करना सीख लिया, तो उसने अगम्य ठंढे देशों की ओर क़दम बढ़ाया। इस तरह जहाँ की धरती वर्ष के अधिकांश समय में बर्फ़ से ढँकी रहती है, वहाँ भी आग के सहारे वह जीवित रहने लगा। आज भी ग़रीब लोग, जिनके पास सर्दी से बचने के लिए वस्त्र नहीं होते, रात को अपनी झोपड़ी के सामने आग जलाकर उसी के सहारे शीत-काल बिता देते हैं।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक रूपों में आग हमारे पूर्वजों की सहायक हुई होगी। यही कारण है कि सभी देशों के प्राचीन मनुष्य अग्नि की पूजा भी करते थे। बैबीलोनिया, मेक्सिको, मिस्र और भारतवर्ष में अग्नि को देवता माना गया है। फ़ारस के लोग भी आग को अत्यन्त पवित्र समझते थे। इससे विदित होता है कि मानव और अग्नि का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है और रहा है। मनुष्य से अग्नि का परिचय होने की तीन अवस्थायें रही हैं—अग्नि का ज्ञान, उसका प्रयोग और उसका उत्पादन। इनमें से अन्तिम अवस्था ही मानव-इतिहास में सबसे मुख्य है। पर हमारी जिज्ञासा की एक पहेली यह भी है कि मनुष्य ने आग कहाँ से पाई और इसे जलाना उसने कहाँ से सीखा? आइए, इस पर भी विचार किया जाय।

पहले-पहल आग कहाँ से आई?

अत्यन्त प्राचीनकाल में पृथ्वी पर आज से अधिक ज्वालामुखी भभकते रहे होंगे। बिजली भी उन दिनों अब से अधिक चमकती रही होगी और घने जंगल होने के कारण दावानल भी अक्सर लगती रही होगी। इन प्राकृतिक अग्निकाण्डों को हमारे पूर्वज अवश्य ही देखते रहे होंगे, परन्तु उस समय अन्य पशुओं की भाँति वे उनसे कुछ भी काम लेना न जानते थे। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि पेकिंग के मनुष्य—साइननथ्रोपस—को आग का प्रयोग करना आता था। इसके संबंध में मतभेद है; किन्तु यह बात सभी वैज्ञानिक मानते हैं कि चतुर्थ हिम-प्रलय के काल में रहनेवाले नीएनडरथल मानव सर्वप्रथम मनुष्य थे, जो आग का प्रयोग करते थे। इन लोगों ने आग कैसे पाई, यह तो हम ठीक-ठीक नहीं बता सकते, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आग की ओर हमारे पूर्वजों का ध्यान पहले-पहल अनायास ही हुआ होगा। इस विषय की एक मनोरंजक कल्पना हमने कहीं पढ़ी थी। पाठकों के मनोरंजन के लिए उसको हम आपके सम्मुख ज्यों-की-त्यों नीचे उद्धृत कर रहे हैं:—

"५०-६० हज़ार वर्ष की बात है। भूमध्य-सागर के उत्तर में नीएनडरथल नामक मनुष्य गुफाओं में रहते थे। गर्मी के दिन थे और रात का समय। बड़ी तेज़ आँधी-सी हवा चल रही थी। बादलों की गड़गड़ाहट से जंगल गूँज जाता था। बीच-बीच में बिजली की चमक से आँखें चकाचौंध हो जाती थीं। डर के मारे सब मनुष्य अपनी-अपनी गुफाओं में छिपे सो रहे थे। सूर्योदय हुआ। लोग जागे और अपनी-अपनी गुफाओं को छोड़कर बाहर निकले। देखा, बहुत-से पेड़ जले हुए हैं! किसी की डालियाँ जल गई हैं, किसी के पत्ते झुलस गये हैं, कोई बिल्कुल ही जल गया है। इधर-उधर घूमते-घामते एक आदमी ने देखा कि एक जगह दो-चार मरी हुई चिड़ियाँ पड़ी हैं, जो पेड़ों में आग लग जाने के कारण जल गई थीं। मन तो चाहता था कि उनको उठा लायें और खायें, क्योंकि सुबह का समय था और भूख लगी हुई थी; परन्तु आग को देखकर उनके निकट जाने का साहस न होता था, क्योंकि उस समय तक मनुष्य आग से डरते थे। फिर भी बहुत सोचने-विचारने के बाद एक ने हिम्मत की और धीरे-धीरे वह उन मरी हुई चिड़ियों के पास पहुँचा। उनकी राख-धूल झाड़कर उसने उनमें दाँत लगाया। कच्चे गोश्त की अपेक्षा उसे यह गोश्त बहुत सोंधा और स्वादिष्ट लगा। उसने स्वयं भर-पेट खाया और थोड़ा-सा अपने साथियों के पास गुफा में ले गया। उन्होंने भी खाया और बड़े ख़ुश हुए। अब वे भी वैसे ही और जानवरों की तलाश में निकल पड़े। उन्हें भी वैसी ही जली और झुलसी हुई चिड़ियाँ तथा अन्य छोटे-छोटे जानवर मिले। तब इधर-उधर ढूँढने में किसी एक की दृष्टि एकाएक जलती हुई लकड़ी के कोयलों पर जा लगी। चौंककर उसने अपने और साथियों को भी बुला लिया। आश्चर्य भरी दृष्टि से वे सब उसे देखने लगे। देखते-देखते उनके मस्तिष्क में यह बात आई कि इसी आग के कारण ही इन जानवरों का गोश्त इतना नर्म, रसीला और स्वादिष्ट हो गया है। बस, जैसे ही यह बात उनके

दिमाग़ में आई, उन्होंने सोचा कि इस आग को अपनी गुफा में उठा ले चलें। एक मनुष्य ने एक पत्थर का टुकड़ा उठाया और डरते-डरते सँभलकर उस पर आग रखकर वे सब उसे अपनी गुफ़ा में ले गये। जब आग धीमी पड़ने लगी तो उसे बनाये रखने के लिए उन्होंने उस पर सूखे पत्ते, घास इत्यादि डाली। बस, फिर क्या था! आग जलने लगी, उसमें से लौ उठने लगी और सब ख़ुश हो पड़े!!"

सम्भव है कि इसी प्रकार कहीं ज्वालामुखी, कहीं बिजली और कहीं दावानल से आग की ओर मनुष्य का ध्यान आकर्षित हुआ हो। इसी प्रकार अकस्मात् ही मनुष्य ने आग से अपना भोजन भूनना भी सीखा। ऐसी ही एक-आध जगह से, जहाँ पर वह अचानक मिल गई थी, आग और गुफाओं में भी फैल गई। अब भूनने के लिए लोग एक जगह से दूसरी जगह आग माँगकर ले जाते थे। इस आग को बराबर क़ायम रखने के लिए रात-दिन सूखे पत्ते, लकड़ियाँ आदि डालते रहना पड़ता होगा। इस तरह बच्चों और स्त्रियों के लिए सूखे पत्ते और झाड़-झंखाड़ इकट्ठा करने का यह एक नया काम बन गया। उस समय तक लंबे बाल और टेढ़ी कमरवाले हमारे इन पुरखों ने यह जान नहीं पाया था कि आग अपने आप कैसे बनायें; किन्तु हमारे इन जंगली और अबोध पूर्वजों के लिए पत्ते और लकड़ी डालकर बुझती हुई आग को बनाये रखना, उससे गोश्त भूनना तथा अपने शरीर को गर्म रखना भी बहुत बड़ी बात थी। यह कल्पना की जा सकती है कि उस समय रात की सर्दी या शीतकाल के दिनों में गोरिल्ला या चिम्पाञ्ज़ी-जैसे बन-मानुष भी सर्दी से कँपकँपाते हुए उन बड़ी आगों के निकट आकर अपने ठिठुरे हुए शरीर को गरमाते रहे होंगे, जिन्हें तत्कालीन मनुष्य अपनी गुफ़ाओं के आगे जलाये रखते थे। लेकिन किसी भी वानर या बन-मानुष को यह बात न सूझी कि इस आग को सदैव जलती कैसे रक्खें। केवल मनुष्य को ही



प्राचीन मनुष्यों को पहले-पहल अग्नि कहाँ से मिली और उसका ज्ञान उन्हें कैसे हुआ?

इस चित्र में यही दर्शाया गया है कि रात के तूफ़ान के बाद पुरुष, स्त्री और बालक सुबह अपनी गुफा के द्वार पर आकर देखते हैं कि सामने के जंगल में आग लगी हुई है। पहले तो उन्हें डर लगा, लेकिन जब आग की ज्वालाएँ कुछ शान्त हुईं, तो किसी मनुष्य ने हिम्मत की और वह आग के पास पहुँचा। वहाँ पर उसने चिड़ियाँ तथा छोटे-छोटे जानवरों को भी मरे पड़े देखा, जो पेड़ों में आग लग जाने के कारण जल गये थे। उन्हें झाड़-पोंछकर उसने खाया। इस प्रकार मनुष्य को यह भी बोध हुआ कि आग से मांस भुन सकता है।

इसका श्रेय प्राप्त हुआ। इस अपूर्व ज्ञान के कारण ही मनुष्य और अन्य पशुओं के बीच में हमेशा के लिए एक ऐसी दीवाल बन गई, जिसको आज तक कोई अन्य प्राणी लाँघ न सका !

पहले-पहल मनुष्य ने स्वयं आग बनाना कैसे सीखा?

आपस में लड़ाई-झगड़ा होने के कारण अक्सर इन गुफा-निवासियों की आग बुझ या छिन जाती होगी, जो उनके लिए एक कठिन विपत्ति-सी हो जाती होगी। ऐसे अवसरों पर अवश्य ही उनका ध्यान इस बात की खोज में रहता होगा कि किस प्रकार वे अपनी इच्छानुसार ऐसी अनमोल वस्तु को स्वयं ही बना सकें। यह ध्यान में रखने योग्य है कि ये लोग उन दिनों चुम्बक-जैसे कड़े पत्थरों को गढ़कर अपने काम के योग्य कई प्रकार के शस्त्र बनाते थे। इन पत्थरों के तोड़ने में कभी-कभी अवश्य ही चिनगारियाँ भी निकलती होंगी। इन्हीं को देखकर, तथा यह मालूम करके कि ऐसा करने से हाथ का पत्थर गर्म हो जाता है, किसी चतुर कारीगर को संभवतः यह बात सूझ गई होगी कि पत्थरों को रगड़कर चिनगारी निकाली जा सकती है, तथा सूखे पत्तों के बीच में ऐसा करने से उनमें आग लग सकती है। सम्भव है कि दो-चार बार ऐसा प्रयोग करने के बाद वह एक बार सफल हो गया हो ! यह भी हो सकता है कि इन आदि-मनुष्यों में से किसी ने जंगल में बाँस-जैसे लम्बे-लम्बे वृक्षों के समूह में एक दूसरे से रगड़ खाकर आग लगते देखी हो, जिससे, उसका ध्यान इस बात की ओर गया हो कि दो सूखी लकड़ियों को लेकर देर तक रगड़ने से शायद वह स्वयं भी आग पैदा कर सके, और कई प्रयास के बाद उसको इसमें सफलता मिल गई हो। इस प्रकार ऐसा समय आ गया कि मनुष्य ने अपनी इच्छानुसार किसी भी समय आग जलाना सीख लिया और उसे दिन-रात जलाये रहने तथा बुझ जाने पर एक गुफा से दूसरी गुफा में माँगकर ले जाने के झंझट से वह बच गया।



प्राचीन मनुष्य की सर्वप्रधान सम्पत्ति

अग्नि का आविष्कारकर्त्ता पत्थर से पत्थर रगड़कर चिनगारी द्वारा सूखे पत्तों या फूस में आग लगाकर अपने साथियों को दिखा रहा है। एक दूसरा मनुष्य सूखे पत्तों को फूँककर जला रहा है। शेष सब अचम्भे से देख रहे हैं।



एक स्थान से दूसरे स्थान को आग लिये हुए नीएनडरथल मनुष्य दौड़ा जा रहा है, क्योंकि तब तक उसे स्वयं आग बनाना न आया था।

एक बार जब मनुष्य को आग जलाना आ गया तो सुविधानुसार भिन्न-भिन्न स्थान के लोगों ने आग जलाने के ढंग में भिन्न-भिन्न सुधार कर लिये। दियासलाई और बिजली के इस युग में भी पृथ्वी पर अभी ऐसी कई जातियाँ हैं, जो पुराने तरीक़ों से ही आग जलाती हैं। कैलीफ़ोर्निया के असली निवासी अभी तक लकड़ी की बर्मी द्वारा आग बनाते हैं और ऑस्ट्रेलिया के आदि-निवासी भी एक कड़ी लकड़ी पर नर्म लकड़ी को घुमाकर बुरादा सुलगा लेते हैं। हमारे देश में भी राजपूताने में देहाती लोग चकमक पत्थर को लोहे से मारकर कपड़े को जला लेते और उससे तम्बाकू पी लेते हैं।

आदि मनुष्यों ने जब आग जलाना सीख लिया तो उन्हें बहुत-सी बातें आ गईं। आग के लालच में वे मिल-जुलकर पेड़ों और ज़मीन पर झोपड़ियाँ बनाकर पास-पास ही रहने लगे, जिससे उनमें पारिवारिक जीवन की नींव पड़ी। तत्पश्चात्

जब खुले मैदानों में रहनेवालों ने धरती में गड्ढे खोदकर आग जलाते और खाना पकाते समय यह देखा होगा कि वहाँ की मिट्टी सूखकर कड़ी हो जाती है, तो इससे उनका स्थान मिट्टी के बर्त्तन और ईंटें बनाने की ओर आकर्षित हुआ। आग जलाने के लिए गड्ढे खोदते समय ही उन्हें कहीं-कहीं धातुएँ भी दिखलाई पड़ गई होंगी। इस प्रकार अग्नि से ही उन्हें धातु के बर्त्तन बनाने का ज्ञान भी हुआ होगा। अतः अग्नि की खोज ही नीएनडरथल मनुष्यों की सबसे मुख्य संपत्ति थी।

मानव-इतिहास में यह खोज बहुत ही महत्त्वशाली और सहायक सिद्ध हुई है। आग ही के प्रकाश से क्रोमैगनन मनुष्यों ने, जो विशेषतया गुफाओं में ही रहते थे, अल्टामीरा आदि की गुफाओं की दीवारों पर वे चित्र बनाये थे, जो आज दिन भी हमको चकित करते हैं।



कैलीफ़ोर्निया के आदिम निवासी रेडइंडियन

जो अभी तक इस प्रकार लकड़ी में रगड़ द्वारा इतनी गर्मी पैदा करते हैं कि जो बुरादा निकलता है, उसमें आग लग जाती है। सम्भव है कि आग बनाने की सर्वप्रथम रीतियों में यह भी एक रही हो।

तीसरी सम्पत्ति—खेती-बारी

आदि मनुष्य को अपनी तीसरी सम्पत्ति उस समय प्राप्त हुई जब उसे खेती करने का ज्ञान हो गया। यह कोई नहीं कह सकता कि पेड़-पौधे उगाना मनुष्य ने कब सीखा, पर हम यह कह सकते हैं कि इसका ज्ञान मनुष्य को अत्यन्त प्राचीनकाल में ही हुआ होगा, क्योंकि प्रागैतिहासिक काल के मिस्री और चीनी अच्छी तरह खेती करना जानते थे। अब से लगभग १५-१६ हज़ार वर्ष पहले—जब दक्षिणी स्पेन में क्रोमैगनन के बाद ऐज़ीलियन जाति के लोग मौजूद थे और उनसे पहले के बचे-बचाये शिकारी मनुष्य उत्तरी और पूर्वी देशों में भटक रहे थे—उत्तरी अफ़्रीका या पश्चिमी एशिया अथवा भूमध्य-सागर की उस भूमि में जो आजकल जल-मग्न है, ऐसे लोग थे जो दो अत्यावश्यक कार्यों में ध्यान लगा रहे थे। वे खेती-बारी शुरू कर रहे थे तथा कुछ जानवरों को पालतू बनाना भी सीख रहे थे। ये लोग पत्थरों के औज़ारों पर पालिश करना ही नहीं जान गए थे, वरन् पेड़ के डंठलों की भद्दी-सी टोकरियाँ भी उन्होंने बना ली थीं, साथ ही केले-जैसे पत्तों के रेशे से टाट की तरह मोटा और खुरदरा कपड़ा, तथा मिट्टी के टेढ़े-मेढ़े बर्त्तन भी वे बनाने लगे थे। मानवीय उन्नति के इस युग को उत्तर-प्रस्तर-युग कहा जाता है। यह काल ई० पू० लगभग १० हज़ार वर्ष पहले था।

आजकल हमें हल चलाना, खेतों में बीज बोना, फ़सल काटना, उसको कूटकर नाज निकालना और पीसकर आटा बनाना आदि बड़े ही स्वाभाविक और सरल काम जान पड़ते हैं। किन्तु २० हज़ार वर्ष पूर्व के आदमी के लिए ये सब बातें कल्पना से परे की बातें थीं। वे बेचारे घी, मलाई और मक्खन तो क्या, दूध का भी नाम नहीं जानते थे; क्योंकि उनके पास कोई पालतू जानवर नहीं थे। जिन जंगली जानवरों का वे शिकार करते थे, उन्हें ही वे खाते थे और आजकल के आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों की तरह, जो नाज और कंद इकट्ठा कर पाते थे उस पर ही अपना जीवन-निर्वाह करते थे। आज भी अफ़्रीका के जंगली बौने (पिगमी) खेती नहीं जानते। दक्षिणी महासागर के द्वीपों में भी कुछ ऐसे लोग हैं जो कन्द-मूल ही खाते हैं, नाज को बिल्कुल जानते ही नहीं। मेरी समझ में पेड़ उगाने की ओर मनुष्य का ध्यान सर्वप्रथम कन्द-मूल द्वारा ही गया होगा। किसी चतुर स्त्री ने खाने-योग्य जड़ों को नित्य

इकट्ठा करने के परिश्रम से बचने के लिए ज़मीन में गाड़ दिया होगा और जब उनमें अँखुवे फूट आए होंगे तो उन्हें देखकर उसे ऐसी चीज़ों को बोकर पेड़ उगाने का ज्ञान हो गया होगा। गर्म देशों की शिकारी जातियों की स्त्रियाँ अभी तक इसी तरह जड़ों को गाड़ देती हैं ताकि वे सूख न जायँ।

कुछ लोगों का कथन है कि इकट्ठा करते समय कभी अनाज अचानक झोपड़ी के बाहर गिर गया होगा और जब समय आने पर उसमें अँखुवे फूटकर पौधे निकल आये होंगे तो मनुष्यों ने उन्हें उगने दिया होगा, और जब उनमें अनाज लगते देखा होगा, तब उनकी समझ में आया होगा कि इस प्रकार बीज बो देने से हम पेड़ उगा सकते हैं। जो कुछ भी हो, निरंतर प्रयत्न, परिश्रम और भूलों के बाद मनुष्य को जड़ या बीज बोकर पेड़ उगाना आया होगा। इसमें भी सन्देह नहीं कि मनुष्य पहले केवल काटनेवाला ही रहा होगा, बोनेवाला वह बाद को हुआ।

एक बार जब मनुष्य को बीज बोने और खेती करने का चस्का पड़ गया तो उसे इधर-उधर घूमने की आवश्यकता न रही। अब वह अपने खेतों के निकट लकड़ी या पत्थर या मिट्टी के स्थायी घर बनाकर रहने लगा। अग्नि ने यदि मनुष्यों को पारिवारिक जीवन व्यतीत करना सिखलाया तो खेती से उन्होंने कई कुटुम्बों में मिलकर बस्तियों में रहना सीखा। पहले-पहल प्राचीन मनुष्य को बीज बोने के ठीक समय को पहचानने में बड़ी कठिनाई पड़ती रही होगी; क्योंकि उस समय वह ऋतु और वर्ष को ठीक तरह से न जानता था। यह नहीं कहा जा सकता कि नक्षत्रों की ओर पहले कृषकों का ध्यान गया या इधर-उधर घूमनेवाले गड़रियों का; लेकिन जब एक बार तारों की ओर ध्यान पहुँच गया तो मौसम जानने में उनका प्रयोग करना आ जाना कृषकों के लिए भी कोई कठिन काम न था। बीज के बोने का समय वे किसी विशेष तारे के उत्तर या दक्षिण पर पहुँच जाने से पहचानने लगे। धीरे-धीरे उन्हें मौसम या वर्ष का भी ज्ञान हो गया। इस प्रकार ज्योतिष की बुनियाद पड़ी।

चौथी सम्पत्ति—जानवर पालना

आजकल हम बहुत-से पशु और पक्षी पालते हैं। पशुओं पर हमारी विजय का सबसे बड़ा उदाहरण हाथी है। स्थलचर प्राणियों में वह सबसे विशाल शरीरवाला है, फिर भी वह मनुष्य की इच्छानुसार कार्य करता है, जाता-आता है, और बड़े-बड़े भारी लट्ठे ले जाता है। लेकिन आदि-काल में मनुष्य और पशुओं में यह सम्बन्ध न था। मनुष्य जानवरों का शिकार करता था और जानवर मनुष्य का। उन दिनों मानव-जीवन अन्य पशुओं का पीछा करने, उन्हें पकड़ने या धोखा देकर फँसाने, और मारकर खा जाने पर ही निर्भर था। इन आदि मानवों ने गाय-घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली आदि जानवरों को पालना कब सीखा, यह हम ठीक-ठीक नहीं कह सकते, परन्तु यह निश्चय है कि पशु-जगत् में सबसे पहले हमारी जान-पहचान कुत्ते से ही हुई।

नीएनडरथल और क्रोमैगनन मनुष्यों की हड्डियों के साथ अक्सर कुत्ते की भी हड्डियाँ पाई गई हैं। मानव-जाति के लिए वह बहुत ही महत्त्वशाली दिन रहा होगा जब प्राचीनकाल में किसी जंगली मनुष्य ने अपने से दूनी टाँगों-वाले और दूनी गति से भागनेवाले जीव को जंगल से पकड़ कर उसे अपने साथ रहना सिखाया होगा और इस तरह मानव तथा पशुओं में पारस्परिकता का बीज बोया होगा। यह निश्चित है कि हमारे पूर्वजों ने जंगली कुत्ते को ही पालतू बनाया, परन्तु उन्होंने यह कब और कैसे किया, इसका हमें पता नहीं है। मिलनसार कुत्ते ने मनुष्य को मानो नई आँखें, नये कान और नई नाक दे दी तथा शिकार को खोजने और पकड़ने के लिए उसकी शक्ति दूनी-तिगुनी कर दी। कुत्ता न सिर्फ़ उसके घर का चौकीदार और शिकार का साथी ही था, बल्कि जब मनुष्य ने खेती करना और भेड़-बकरी पालना भी सीख लिया तो वह इनका भी विश्वसनीय रखवाला बन गया। इतना ही नहीं, इन पालतू पशुओं ने मनुष्य का ग़ुलाम बनकर उसे पशुओं की श्रेणी से ऊँचा उठाने में भी सहायता दी। जब हमारे पुरखे कुत्ते, भेड़, बकरी इत्यादि जीवों के स्वामी बन गये और उनसे फ़ायदा उठाने लगे तो उनका ध्यान अवश्य ही अपने इन नये मित्रों को हृष्ट-पुष्ट, स्वस्थ और फुर्तीले बनाये रखने की ओर गया होगा। इसके कारण उनके जी में दया या नम्रता के भावों का उदय हुआ होगा। इस पशु संबंधी चिन्ता ने ही उन अशिक्षित और असभ्य मनुष्यों को—जिन्होंने पहले-पहल जानवरों को अपनाना सीखा था—मनुष्यत्व के गुण प्राप्त करने में सहायता दी।

इसके अतिरिक्त जब मनुष्य ने मौसम की कठोरता से रक्षा पाने के लिए शरीर को ढँकना और झोपड़ी-मकान आदि बनाना सीखा तो अपनी नवीन खोजों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए उसे भिन्न-भिन्न और नये-नये ढंगों से अपनी तीन महान् शक्तियों—मस्तिष्क, वाणी और हाथ—का उपयोग करना पड़ा होगा। इसके फलस्वरूप उसकी इन तीनों शक्तियों में निरंतर सुधार होता गया और वह तेज़ी से सभ्यता की ओर बढ़ता गया।



प्रतिक्रिया और आचरणवादी मनोविज्ञान—(१)

हमने इसी स्तंभ के चौथे लेख में "स्वयंभू वृत्तियाँ और स्वाभाविक कार्य" का तथा पाँचवें लेख में "चेतन-वृत्तियाँ तथा चेतन-क्रिया" का अध्ययन किया है। यद्यपि प्रतिक्रिया अथवा परावर्त्तित क्रिया (Reflex Action) का संक्षिप्त परिचय हम मस्तिष्क के स्थूल रूप और स्नायुतंतुओं के वर्णन के सिलसिले में तीसरे अध्याय में करा चुके हैं, पर उसकी विस्तृत विवेचना आज के मनोविज्ञान की गुत्थियों को समझने के लिए वांछनीय ही नहीं, अनिवार्य है।

अमेरिकन विचारधारा

आचरणवादी मनोविज्ञान वास्तव में अमेरिका की ही उपज है। इस सम्बन्ध में रूसी वैज्ञानिक पोफ़ोलोफ़ का नाम लिया जाता है, परन्तु वह वास्तव में मनोवैज्ञानिक नहीं था, उसके अध्ययन और प्रयोगों का क्षेत्र प्राणि-विज्ञान था। फिर भी उसके प्रयोगों और खोजों ने आचरणवादी मनोविज्ञान पर काफ़ी प्रभाव डाला है, इसलिए बिना उसके विचारों का अध्ययन किये मनोविज्ञान का वर्णन अधूरा ही रहेगा। पोफ़ोलोफ़ के सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे परंतु यहाँ इस बात के महत्त्व पर ध्यान देना उचित होगा कि प्राणिशास्त्र में खोज करनेवाला एक वैज्ञानिक भी आधुनिक मनोविज्ञान को प्रभावित कर सका! यह इस बात को सूचित करता है कि आचरणवादी मनोविज्ञान के प्रतिपादक स्वयं मनोविज्ञान और प्राणि-शास्त्र में एक घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। अमेरिका के एक आचरणवादी लेखक ए० ई० वैस के अनुसार मनुष्य का आचरण प्राणिशास्त्र (Biology) के अंतर्गत आ जाता है, लेकिन मनुष्य के सामाजिक जीव होने के कारण उसका आचरण समाज-शास्त्र के अंतर्गत आता है। इसलिए मनोविज्ञान में, जिसमें हम मनुष्य के आचरण का अध्ययन करते हैं, प्राणिशास्त्र और समाज-शास्त्र दोनों का मिश्रण है। भौतिक विज्ञान में जो उन्नति हुई है, उससे आचरणवादी मनोविज्ञान पूरी तरह प्रभावित है। पुराना मनोविज्ञान बहुत-कुछ इस प्रभाव से परे था। यह बात नहीं थी कि तब भौतिक विज्ञान की उन्नति न हुई हो। उन्नति होने पर भी, अनेक मनोवैज्ञानिक उसके प्रभाव से अपने मनोविज्ञान को अछूता रखना चाहते थे, जैसा कि आज के भी कई मनोविज्ञान-शास्त्री करते हैं। इसीलिए नये आचरणवादी लेखक चाहते थे कि मनोविज्ञान वास्तव में एक विज्ञान हो, विज्ञान की अन्य शाखाओं की भाँति उसका भी अध्ययन किया जा सके, तथा प्रयोगों द्वारा उसके तथ्य निश्चित किये जा सकें और लोग अपने ही अनुभव से उलझकर व्यर्थ का एक वाग्जाल खड़ा कर विज्ञान का ढोंग न रचें।

अमेरिका में आचरणवादी मनोविज्ञान के लिए उचित वातावरण तैयार करने में उन लोगों ने काफ़ी सहायता दी जिनका मनोविज्ञान से कोई सीधा सम्बन्ध न था। इन व्यक्तियों में थॉर्नडाइक नामक वैज्ञानिक का स्थान प्रमुख है। पोफ़ोलोफ़ की भाँति, परंतु उससे भी पहले, उसने पशुओं पर प्रयोग आरंभ कर दिये थे। उसकी खोज का विषय पशुओं की प्रकृति और उनका अर्जित अनुभव था। आचरणवादी मनोविज्ञान में आचरण को भौतिक रूप से समझने की चेष्टा की गई है—मनुष्य के विचारों और भावनाओं आदि को एक अगोचर और सूक्ष्म संसार से खींचकर गोचर और प्रयोगों द्वारा बोधगम्य संसार में रखा गया है। इसलिए आधुनिक मनोविज्ञान के लिए थॉर्नडाइक के प्रयोगों की महत्ता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। थॉर्नडाइक ने प्रयोगों द्वारा दिखलाया कि हाल की पैदा पिड़कुली यदि एक छोटे-से बक्स पर रख दी जाय तो बिना हिचकिचाए नीचे कूद पड़ेगी। यदि बक्स अधिक ऊँचा हो तो वह कुछ हिचकिचाकर कूदेगी। परंतु

यदि बक्स को बहुत ऊँचा, उदाहरणार्थ एक फुट ऊँचा, कर दिया जाय, तो वह कूदेगी ही नहीं। पशु औचित्य-ज्ञान तक कैसे पहुँच जाते थे, थॉर्नडाइक ने इस प्रश्न को हल करने में काफ़ी समय लगाया। क्या वे भी विचारते हैं, तर्क-वितर्क करते हैं और तब एक निश्चित परिणाम पर पहुँचते हैं? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए प्रयोगों द्वारा थॉर्नडाइक इस तथ्य पर पहुँचा कि पशु अपनी क्रियाओं द्वारा सीखते हैं। परिस्थिति के अनुसार उनके भीतर प्रतिक्रियाएँ जन्म लेती हैं, और धीरे-धीरे अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल बनाने की आवश्यकता उन्हें इसके लिए बाध्य करती है कि वे कुछ क्रियाओं को ग्रहण करें और कुछ को छोड़ दें। जैसे किसी बिल्ली को एक पींजड़े में बंद कर दिया जाय और बाहर उसके लिए खाना रख दिया जाय तो पहले वह बिल्ली इधर-उधर भटकेगी, बार-बार हाथ-पाँव मारेगी, सीखचों को दाँतों से काटेगी, परन्तु भटकते-भटकते जब वह कुण्डी या चटकनी तक पहुँचेगी तो उसे खोल लेगी। बार-बार यदि उसके लिए यही परिस्थिति उत्पन्न की जाय तो भटकना छोड़कर वह सीधे चटकनी पर ही झपटेगी। इस प्रकार चेष्टा और श्रम द्वारा पशु सीखते हैं, परंतु यह व्यवस्था पशुओं के लिए ही सीमित नहीं है। मनुष्यों में विचार होते हैं, परंतु उनकी भी भित्ति वही पशुओं की ही अनुभव-प्रणाली है। टेनिस खेलने में कुशलता विचार करने से नहीं आती; परिस्थिति के अनुसार ही खिलाड़ी के भीतर विभिन्न प्रतिक्रियाएँ होती हैं। वह सफल प्रतिक्रियाओं को ग्रहण करता है और असफल प्रतिक्रियाओं को दूर करता जाता है। इसी तरह वह सीखता है। मनुष्य पशु से केवल इसलिए श्रेष्ठ है कि उसमें पशु की अपेक्षा सीखने की सामर्थ्य अधिक है। वह जल्दी सीखता है और एक साथ बहुत-सी बातें सीखता है और यह सीखना ही उसके विचारों का आधार होता है।

थॉर्नडाइक के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए अमेरिका के अन्य मनोवैज्ञानिकों ने पशुओं पर प्रयोग किये। इनमें वहाँ के आचरणवाद के मुख्य प्रवर्तक डॉक्टर वाटसन भी थे। पुरानी धारा के मनोवैज्ञानिक इन पशुओं पर प्रयोग करनेवालों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। उनके अनुसार मनोविज्ञान का विषय चेतन अनुभव का अध्ययन होना चाहिए, और कुछ नहीं। इसलिए पशुओं पर किये गये प्रयोग उनके अनुसार व्यर्थ थे; क्योंकि पशुओं में चेतनता का अभाव था। इधर ये पशुओं पर प्रयोग करनेवाले मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक नवीन प्रयोग-सिद्ध विचारधारा को अग्रसर कर रहे थे और स्वभाव तथा अनुभव आदि के सम्बन्ध में इन्होंने नई खोजें भी की थीं, इसलिए इन्हें उन पुरातन-पंथियों की अवज्ञा खलती थी। ऐसी परिस्थिति में स्वाभाविक था कि आचरणवाद बहुत-कुछ पुराने मनोविज्ञान के विरोध में एक विद्रोह का रूप धारण कर फलता-फूलता। इसीलिए वाटसन ने इस संचित विद्रोह को वाणी देते हुए पुराने विचारकों से पूछा कि क्या तुम्हारे कथित मनोविज्ञान का एक तथ्य भी हमारे प्रयोग-सिद्ध परिणामों से वैज्ञानिक सत्यता में टक्कर ले सकता है? वास्तव में मनोविज्ञान के क्षेत्र में यदि कुछ भी वैज्ञानिक कहे जाने योग्य कार्य हुआ है तो वह इन पशु पर किये गये प्रयोगों द्वारा ही। जब तक मनोविज्ञान अन्तश्चिन्तन से अपना पीछा न छुड़ायेगा तब तक वह विज्ञान न होकर एक वितंडावाद का विस्तृत क्षेत्र मात्र रहेगा।

वाटसन ने मनोविज्ञान से प्रचलित 'चेतना' (Consciousness) और उसके साथ लगे हुए अन्य अवैज्ञानिक शब्दों को निकाल बाहर किया। उसका यह अर्थ नहीं था कि आचरण केवल बाह्य होता है और सदा देखा जा सकता है; आचरण आंतरिक भी होता है और साधारण दृष्टि से उसे देखना संभव नहीं है। स्वतः संभाषण में या चिंतन में भी भीतरी अवयवों में क्रियाएँ होती हैं। परंतु वे इतनी सूक्ष्म होती हैं कि हम उन्हें देख नहीं सकते। आचरण बाह्य या आंतरिक तथा स्वाभाविक या अर्जित, सभी तरह का हो सकता है। विचार भी एक प्रकार से आचरण ही है, क्योंकि विचार का अर्थ शब्द है और जब हम सोचते हैं, तब हम शब्दों का अज्ञात रूप से उच्चारण करते हैं। विचार आंतरिक आचरण की श्रेणी में आता है क्योंकि बहुधा उसका बाह्य प्रदर्शन नहीं होता। वाटसन के अनुसार विचार वाक्शक्तियों की एक अत्यंत सूक्ष्म क्रिया से सम्पन्न होता है। सोचना चुपचाप बातचीत करना है, यह बात आचरणवाद के पहले अनेक बार कही जा चुकी थी। परंतु इस तथ्य की जाँच करने के लिए पुरानी प्रणाली से ही काम लिया जाता था; उसके लिए कोई भौतिक प्रयोग न थे। वाटसन और उसके बाद अनेक वैज्ञानिकों ने विचार करते समय जिह्वा आदि की गति जानने की चेष्टा की है। परन्तु जब विचार में कोई वाक्य अपने मन में कहा जाता है तब सभी वागींद्रियाँ परिचालित नहीं होतीं। अभी तक इन प्रयोगों से लोग किन्हीं निश्चित परिणामों तक नहीं पहुँचे, परन्तु इसका कारण अभी प्रयोग के लिए उचित यंत्रों की कमी है। जब ज़ोर से बात न कर हम केवल फुस-

फुसाते हैं, तब भी इंद्रियों की क्रिया का नापना कठिन होता है। अतः जब बातचीत मानसिक क्षेत्र में होती है तब तो उनकी क्रियाओं का अति सूक्ष्म होना स्वाभाविक ही है और उस क्रिया को ग्रहण कर हमें बताने के लिए एक अति सूक्ष्म यंत्र की आवश्यकता है। विचार में स्थूल स्नायुओं आदि की भौतिक क्रिया होती है, इस अनुमान को सिद्ध करने के लिए आवश्यक नहीं है कि हम यह मान ही लें कि विचार करते समय हम बोलते हैं। बहुधा ऐसा होता है कि अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए हमारे पास उपयुक्त शब्द नहीं होते इसलिए विचार पहले तो अशब्द रूप में ही पैदा होता है। परन्तु फिर भी यह संभावना रहती है कि यह विचार का प्राथमिक अशब्द रूप भी शरीर की सूक्ष्म क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का परिणाम हो सकता है। अस्पष्ट और अशब्द विचारों का शारीरिक क्रियाओं से कितना संबंध है, यह साधारण अनुभवों द्वारा देखा जा सकता है। क्रोध में शब्द नहीं आते, परन्तु सारा शरीर उत्तेजित हो उठता है, मानों कोई आंतरिक क्रियाएँ, जिन्हें हम देख नहीं पाते, हमें आन्दोलित किये डालती हों! अनेक कलाकारों, कवियों आदि में देखा गया है कि भावना की अव्यक्त दशा में वे अनेक भाँति से आन्दोलित हो जाते हैं, और उसे शब्दों आदि द्वारा व्यक्त करने में उन्हें काफ़ी समय लग जाता है। कैनन के अनुसार स्नायुओं की क्रिया और शरीर में एकत्र रसों के प्रवाह से अनेक भावनाएँ उत्पन्न होती हैं; आन्तरिक क्रियाओं का बाह्य निदर्शन हृदय की तीव्रतर गति, रुधिर का द्रुत प्रवाह, पेट में स्थिरता आदि के रूप में होता है।

आचरणवाद के अनुसार किसी विशेष भावना का अपना एक मानसिक अस्तित्व नहीं होता है; वह परिस्थिति से उत्पन्न हमारे शरीर-यंत्र की एक प्रतिक्रिया-मात्र है। भय और क्रोध की विभिन्नता परिस्थिति के कारण है; शारीरिक क्रियाएँ दोनों दशाओं में एक ही हैं। वाटसन के अनुसार बच्चों में केवल तीन प्रकार की भावनाएँ होती हैं, भय, क्रोध और मोह। मनुष्य में ये ही तीन मूल भावनाएँ काम करती हैं, शेष वह अनुभव से सीख लेता है। बच्चों में भय की भावना भारी शब्द से, या उसका सहारा खींच लेने से, पैदा होती है; क्रोध उसकी गति रोकने से पैदा होता है और मोह या प्रेम उसे थपथपाने और सहलाने से होता है। तीनों भावनाओं को परिस्थिति ही उत्पन्न करती है और परिस्थिति के बदलने पर ये भावनाएँ भी बदल जाती हैं। जहाँ पहले भय न था, वहाँ परिस्थिति में थोड़ा परिवर्तन होने से भय उत्पन्न हो जाता है। एक बच्चा सामने पड़े खिलौने को पकड़ने जाता है, परन्तु पीछे से किसी ने खट-खट शब्द किया। इससे परिस्थिति में परिवर्तन हुआ और उस खिलौने के प्रति उसकी भावना में परिवर्तन हुआ। बच्चे ने भय के चिह्न दिखाये और शायद रोने भी लगा। फिर जब भी वह उसे पकड़ने चला तब यदि फिर वैसा ही शब्द हुआ तो इस भाँति उस खिलौने के प्रति उसके भीतर एक भय की भावना पैदा हो जायगी। बड़ों में भी इस प्रकार की वास्तव में निर्मूल भय की भावनाएँ पाई जाती हैं, और वे एक बार परिस्थिति से इस प्रकार निर्मित हो गई हैं कि उनसे छुटकारा पाना असम्भव है।

इस आधार पर वाटसन ने एक क़दम और आगे बढ़ कर कहा कि उचित वातावरण और शिक्षा मिलने पर किसी भी बच्चे को लेखक, कवि, वैज्ञानिक आदि बनाया जा सकता है। इसी के साथ इस अनिवार्य परिणाम पर वह पहुँचा था कि बच्चा अपने माता-पिता से जन्म से ही कोई भी संस्कार नहीं पाता। यहाँ आचरणवाद अपनी तर्कसंगत अंतिम सीमा को पहुँच गया है; इसलिए मनोविज्ञान में सारा ज़ोर परिस्थिति पर ही डाला गया है। परन्तु इस अंतिम परिणाम तक पहुँचने के लिए अभी उचित प्रमाणों का अभाव है। न अभी ऐसी परिस्थिति पाई गई है, न उस शिक्षाप्रणाली का ही हमें ज्ञान है, जिससे किसी भी बच्चे को इच्छानुसार एक उच्च मानसिक विकास की दशा तक पहुँचा दिया जाय। आचरणवादी जिस प्रयोगसिद्ध वैज्ञानिकता को लेकर चले थे, वह यहाँ उनसे छूट जाती है। वाटसन ने भी स्वीकार किया है कि उसके परिणाम प्रमाणों से परे हैं और ऐसा करने के लिए उसके पास एक यही दलील रह गयी है कि विपक्षी भी ऐसा सैकड़ों वर्षों से करते चले आ रहे हैं।

अन्य वैज्ञानिकों ने अपने-अपने ढंग से आचरणवाद को पुष्ट करने में सहायता दी है। मैक्स मेयर ने कान और मस्तिष्क की रचना का विशेष अध्ययन किया है और उसके अनुसार मनोविज्ञान यदि वास्तव में विज्ञान है तो उसमें स्नायु-क्रियाओं का विशेष अध्ययन होना आवश्यक है। मनुष्य की चेतना और उसके विचारों और भावनाओं का अध्ययन तब तक अर्थहीन है जब तक मनुष्य की क्रियाओं को प्रेरणा देनेवाले स्नायु-नियमों का अध्ययन न किया जाय। वाटसन की भाँति मेयर आत्मचिंतन को बिल्कुल बेकार नहीं समझता। उसका उपयोग हम वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए कर

सकते हैं। मनोवैज्ञानिक को चाहिए कि वह अपनी विचार-शृंखलाओं को छोड़कर दूसरे व्यक्तियों को अपने प्रयोगों के लिए चुने। अभी तक मनोवैज्ञानिक अपने व्यक्तिगत अनुभव पर ज़ोर देते थे, परन्तु मनोवैज्ञानिक को अपने विषय का एक प्राणि-शास्त्रवेत्ता की ही भाँति अध्ययन करना चाहिए। विभिन्न जीवों का अध्ययन करनेवाला प्रयोग के लिए कुछ जीवों को ले लेता है; वह अपने ऊपर ही प्रयोग नहीं करता। पूर्ण निष्पक्षता के लिए आवश्यक है कि मनोवैज्ञानिक अपने ही अनुभव को अपने प्रयोग का विषय न बनाये। ए० पी० वैस ने और आगे बढ़कर कहा कि मनोविज्ञान के मूल तत्त्व वही हैं जो पदार्थ और जीवविज्ञानों के हैं। भौतिक विज्ञान के मूल तत्त्व ही मनोविज्ञान में भी काम आने चाहिए और यह भ्रम अब दूर हो जाना चाहिए कि मनोविज्ञान में हम ऐसे तथ्यों तक पहुँचते हैं, जो भौतिक विज्ञान की परिधि से बाहर हैं।

यह आवश्यक नहीं कि पदार्थ-विज्ञान में तत्त्वों का अंतिम विश्लेषण हो चुका हो, परन्तु जो कुछ हो चुका है उससे मनोविज्ञान को संतोष करना पड़ेगा। मन की दशाएँ भी भौतिक परिस्थितियों के अंतर्गत हैं और मनोविज्ञान में भी हमें उन्हीं अणुओं-परमाणुओं से वास्ता पड़ेगा, जिनकी छानबीन हम पदार्थ-विज्ञान में करते हैं जैसे हम अन्य भौतिक दशाओं का विश्लेषण करते हैं, उसी भाँति मनोदशाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण भी सम्भव है।

लैश्ले नामक मनोवैज्ञानिक भी आचरणवादी है, परन्तु वह वाटसन की भाँति आत्मचिंतन का विरोधी नहीं है। इसके अनुसार आत्मचिंतन के उचित तथ्य हम वैज्ञानिक शब्दावली में व्यक्त कर सकते हैं। लैश्ले ऐसा कर सकता था या नहीं इसे विवादास्पद समझकर छोड़कर, ध्यान देने की बात यहाँ पर यह है कि आत्मचिंतन से भी कुछ ऐसे तथ्य जाने जा सकते हैं जो विज्ञान की कसौटी पर खरे उतरें। लैश्ले आदि की विचारधाराओं को देखते हुए जान पड़ता है कि पुराने मनोविज्ञान के प्रति आचरणवाद के रूप में जो विद्रोह फूटा था, वह अब तक बहुत मंदा पड़ गया है और आत्मचिंतन की प्रणाली और आचरणवाद में कोई तात्त्विक विभिन्नता अब नहीं है। लैश्ले के कुछ प्रयोगों से अनेक आचरणवादी चिंतित भी हुए हैं। वाटसन ने अपने प्रयोगों से दिखाया था कि चूहे, जो एक बार एक टेढ़ी-मेढ़ी राह को सीख लेते हैं, बाद में दृष्टि, घ्राण, श्रवण आदि की इंद्रियों के न रहने पर भी अपने लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं। इससे वाटसन इस परिणाम तक पहुँचा था कि वे स्नायुज्ञान द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं। परन्तु लैश्ले ने उनके लिए वह स्नायुज्ञान भी असम्भव कर दिया, जिससे प्रतिक्रिया-सिद्धांत (Theory of Reflex Action) पर निर्भर आचरणवाद को भारी धक्का लगा। परन्तु लैश्ले के प्रयोगों से घबड़ाने की कोई बात नहीं है। आचरणवाद एक सीमित विचार-समूह नहीं है; वह एक नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण है और इसी में उसकी उपयोगिता है।

रूसी विचारधारा

रूस के जिन वैज्ञानिकों का संबंध आचरणवाद से स्थापित किया जाता है, वे वास्तव में मनोवैज्ञानिक न थे, पर उनकी खोजों ने अमेरिकन आचरणवाद पर भारी प्रभाव डाला है। इन रूसी वैज्ञानिकों में पोफ़ोलोफ़ का नाम हम पहले ले चुके हैं। दूसरा वैज्ञानिक बेख्तेरेफ़ था जो अपनी खोजों से उन्हीं परिणामों पर पहुँचा जिन पर कि पोफ़ोलोफ़। बेख्तेरेफ़ स्नायविक प्रतिक्रियाओं और विकृत मानसिक चेष्टाओं के संबन्ध में खोज कर रहा था। बेख्तेरेफ़ ने देखा कि यदि देह पर कोई ठंढी चीज़ मली जाय तो उसका प्रभाव श्वास पर पड़ता है जो कि एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। यदि बाद में कोई ऐसी चीज़ उसी ठंढी वस्तु के साथ मली जाय, जिसका अपने आप श्वास पर कोई प्रभाव पड़ता हो, तो समय पाकर वह प्रभावहीन दूसरी वस्तु भी अकेले मले जाने पर श्वास पर वैसा ही प्रभाव डालेगी। ठंढी वस्तु के संसर्ग से बाद में स्नायुओं पर उस दूसरी वस्तु का भी वही प्रभाव पड़ेगा। यह प्रतिक्रिया स्वाभाविक न होकर संसर्ग से उत्पन्न हुई। बेख्तेरेफ़ और उसके शिष्य इन संसर्गजात प्रतिक्रियाओं के संबन्ध में पशुओं और विकृत मस्तिष्क के मनुष्यों पर काफ़ी दिनों तक धैर्य के साथ प्रयोग करते रहे, जिससे कि आधुनिक मनोविज्ञान में वे अपनी खोज का समावेश कर सकें। बेख्तेरेफ़ ने खुलकर आत्मचिंतन पर निर्भर पुरानी मनोविज्ञान-प्रणाली का विरोध नहीं किया, परंतु उसका विचार था कि पुराने पारिभाषिक शब्दों को लिये बिना भी वह अपनी नवीन वैज्ञानिक शब्दावली द्वारा मनोविज्ञान की सभी सूक्ष्म और स्थूल बातों को व्यक्त कर सकता है।

पोफ़ोलोफ़ पहले हाजमे के संबन्ध में कुछ खोज कर रहा था और इस खोज के सिलसिले में ही वह संसर्गजात प्रतिक्रियाओं तक पहुँच गया था। किस तरह वह उक्त विषय तक पहुँचा और उसने किन नई बातों का अनुसंधान किया, इसका हाल हम अगले लेख में बताएँगे।



समाज का रूप

मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक जीव है। रहन-सहन की आवश्यकताओं ने उसके समाज-बन्धन को और भी सुदृढ़ बना दिया है। आज यह स्थिति है कि समाज से अलग रहनेवाले मनुष्य की गणना साधारण मनुष्य में नहीं की जाती। अर्थशास्त्र तो उसे मानव समाज का अंश ही नहीं मानता। ऐसे मनुष्य असाधारण व्यक्ति समझे जाते हैं। विचारने की बात यह कि मनुष्य-समाज है क्या वस्तु? किस बन्धन में बँधे हुए मनुष्यों को मानव समाज का अंश कहा जा सकता है? अतएव यह भी जानना आवश्यक है कि किन-किन बातों पर समाज-संगठन निर्भर है।

मानव समाज की व्याख्या के विषय में समाज-शास्त्रज्ञों में मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि मानव समाज सम्पूर्ण मनुष्य-जाति का सम्बोधक है। अन्य विद्वान् इसको 'राष्ट्र' शब्द का पर्याय कहते हैं। इस विचार के अनुसार प्रत्येक देश का एक भिन्न मानव समाज है। परन्तु यह मत सर्वमान्य नहीं है। वास्तव में इस मत का अधिकतर विरोध है। तीसरा मत यह है कि कुछ चुने हुए अथवा विशेष समूह या सभ्यता का अनुसरण करनेवाले मनुष्यों के दल को मानव समाज कहते हैं। सर्वमान्य नियम यह हो रहा है कि मनुष्य के किसी भी समूह को, जो स्थायी बन्धन से सम्बद्ध हो—जैसे कि परिवार, संस्था, बन्धुत्व, वर्ग अथवा दल—हम समाज कह सकते हैं। एलवुड नामक विद्वान् ने समाज की व्याख्या इस प्रकार की है कि मानव समाज मानसिक सहानुभाव रखनेवाले मनुष्यों का समुदाय है। सारांश यह है कि समाज शब्द का सम्बन्ध विशेष व्यक्तियों की अपेक्षा सामूहिक व्यवहार से अधिक है। प्रो० गिडिंग्स ने सामूहिक व्यवहार को आठ भागों में विभाजित किया है, जिसको उन्होंने सहानुभूतिक, समस्वभाविक, प्रशंसाप्रद, निष्प्रतिबन्धक, शासनात्मक, कूटरचनात्मक, संकुचित तथा कल्पित कहा है। सामाजिक व्यवहार की यह व्याख्या विस्तारपूर्ण अवश्य है, परन्तु इसमें सरलता का अभाव है, बल्कि यह भी कह सकते हैं कि इसमें भ्रम होने की सम्भावना है। प्रोफ़ेसर टारडी ने समाज-रचना को केवल एक नियम, अर्थात् "अनुकरण," द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है इसके मानने में भी विद्वानों को आपत्ति है। वास्तव में किसी एक विशेष नियम—जैसे अनुकरण, वर्गज्ञान, तथा व्यवसायिक समूह—द्वारा समाज का भेद नहीं जाना जा सकता। मनुष्य का पारस्परिक संबंध इतना क्लिष्ट और विषम है कि वह इस प्रकार समझा ही नहीं जा सकता। भिन्न-भिन्न शक्तियाँ निरन्तर इस संबंध में अपना कार्य किया करती हैं। कुछ शक्तियाँ सहयोगिक हैं तो दूसरी असहयोगिक। अनेकानेक भावों द्वारा प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है। उन सब कार्यों को किसी एक विशेष भाव का कारण नहीं बतलाया जा सकता। इन कठिनाइयों के होते हुए भी मनुष्य का समाज-संगठन एक विधान के रूप में रक्खा जा सकता है, और उसके निर्माण के नियम भी निश्चित किये जा सकते हैं। परन्तु यह कार्य भी बहुत सरल नहीं है। यह निश्चय हो चुका है कि समाज मनुष्यों का समूह है, इसलिए समाज का रूप समझने के लिए भाँति-भाँति के मनुष्यों का, जो समाज के अंग हैं और जिनको मिलाकर समाज बन सका है, अध्ययन करना आवश्यक है।

समाज-बंधन तथा उसमें सहयोग की परमावश्यकता का महत्त्व जानने के लिए एक छोटा-सा उदाहरण लेना चाहिये। मनुष्य को क्षुधा-तृप्ति के लिए एक रोटी की आवश्यकता होती है। साधारण मनुष्य यह कह देगा कि बाज़ार में एक रोटी एक पैसे में मिल सकती है। परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो मालूम होगा कि एक रोटी के मिलने में कितने बड़े मनुष्य-समूह के सहयोग की आवश्यकता है। दूकानदार, जिसने हमारे हाथ रोटी बेची; बावरची, जिसने रोटी

पकाई; रेल के कर्मचारी, जिन्होंने सुदूर से गेहूँ का पिसा हुआ आटा लाने में सहायता की; आटा पीसनेवाली चक्की के कर्मचारी, जिन्होंने आटा पीसकर तैयार किया; और किसान जिन्होंने गेहूँ पैदा किया; इन सबके सहयोग बिना रोटी का मिलना दुष्कर था। यदि रेलवालों, चक्की की मशीन बनानेवालों, और खेती-बारी में सहायता देनेवालों की संख्या देखी जाय तो मालूम होगा कि मनुष्य की एक रोटी में असंख्य मनुष्यों का सहयोग निहित है। ऐसे ही उदाहरण आवश्यकता-पूर्ति की प्रत्येक वस्तु के लिए दिये जा सकते हैं। अब यदि मनुष्य के सभी लभ्य पदार्थों की गणना की जाय, तो अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्पूर्ण मनुष्य-समाज न जानते हुए भी किस प्रकार सहयोग के प्रगाढ़ बन्धन में बँधा हुआ है। अतः सहयोग एक ऐसी शक्ति है, जो मनुष्य के संगठन में बहुत बड़ी सहायता देती है। एच॰ जी॰ वेल्स की धारणा है कि मनुष्य जाति के सामाजिक जीवन का विकास ठीक पशुओं के सामाजिक जीवन की ही तरह हुआ है, जिसमें वृद्धजन युवकों के प्रति सहिष्णुता का भाव बर्तते थे। इस सहनशीलता के कार्य में पुरुष का विशेष भाग था। मनुष्य-समाज का मूल आधार उसकी विविध प्रवृत्तियों का निषेध, प्रतिबंध तथा प्रतिषेध है। मैथुनविषयक द्वन्द्व का निवारण करने के हेतु समाज ने स्वजाति की स्त्रियों के प्रति युवा पुरुषों पर अनेकानेक प्रतिबन्ध लगाये, जैसे एक वर्गसमूह में पुरुष विवाह-सम्पर्क स्थापन नहीं कर सकता था। विवाह-सम्बन्ध के लिए पुरुष को किसी अन्य कुल अथवा वर्ग की कन्या हरण कर लाने ही की आज्ञा थी। इस प्रकार अंतर्जातीय विवाह का निषेध हुआ और बहिर्गोत्र विवाह की प्रथा की स्थापना हुई। आज भी समस्त संसार में बहिर्गोत्र विवाह व स्त्री-हरण के उदाहरण पाये जाते हैं। साथ-ही-साथ हर देश में व्यभिचार निन्दनीय तथा पापमय समझा जाता है। इसके विपरीत पशुओं में गम्य तथा अगम्य का विचार नहीं पाया जाता। व्यभिचार का निषेध ही मनुष्य समाज का वास्तविक जन्मदाता है। इसके द्वारा ही पिता तथा जामातृ में सहिष्णुता के भाव उत्पन्न हुए और उनका एक साथ रहना सम्भव हुआ। क्रमशः छोटे-छोटे समूहों में जन-वृद्धि होने लगी और सामाजिक जीवन असंदिग्ध तथा अभयप्रद हो गया। मनोविश्लेषण-विज्ञान के विद्वानों के मतानुसार मनुष्य-जाति के नैतिक मनोद्वन्द्व का मूल कारण यही मौलिक निषेध हैं, जिनके बिना हमारा सामाजिक जीवन असम्भव था। इन निषेधों ने मनुष्य को आत्मसंयम का पाठ पढ़ाया और साधारण मनुष्य के जीवन पर संयम की छाप लगा दी। इन निषेधों द्वारा अदृश्य रूप में ही कार्य का अनुक्रम स्थापित हुआ। वृद्धजनों का सम्मान और नेतृत्व बढ़ गया। पुरुषों ने आखेट व युद्ध में विशेषता प्राप्त की और स्त्री गृहस्वामिनी बन गई। साधारणतया गुरुजन बुद्धि व चतुरता के कोष समझे जाते थे। कभी-कभी चिकित्सक तथा मन्त्र-तन्त्र का कार्य किसी अन्य पुरुष को भी दे दिया जाता था। बूढ़ी स्त्रियाँ कहानी सुनतीं और पूर्वजों के बल-पौरुष का बखान करतीं। ये ही पूर्वज फिर देवता के स्थान पर माने जाने लगे और विविध कल्पना द्वारा उनका पूजन होने लगा। इस प्रकार परिवार से बड़ी संख्यावाले समाज का निर्माण हुआ, जिसे कुल अथवा वर्ग कहते हैं। प्रत्येक कुल में एक वृद्धजन सबका स्वामी समझा जाता था। अन्य कुल के लोग उसके आदेशानुसार कार्य करते थे। कुछ सैनिक का कार्य, कुछ चिकित्सक का, कुछ रक्षा-कार्य करते थे। यह परिवार-संस्था हमारे आधुनिक राष्ट्र-निर्माण का पूर्वकालीन नमूना है। प्रारंभ में यह कुल माता-पिता, बन्धु-बान्धव व पुत्र-पौत्रादि का समूह था। परन्तु कहीं-कहीं अन्य मनुष्य या परिवार भी, जो युद्धकाल में कुल की सहायता करते थे, कुल में सम्मिलित कर लिये जाते थे।

क्रमशः ये कुल अथवा वर्ग चिरस्थायी हो गये और खेती के युग में निश्चित स्थान पर रहते हुए इन्होंने ग्राम-समाज का नाम धारण किया। भारतवर्ष में और अन्य देशों में भी ग्राम-समाज का वर्णन पाया जाता है। चीन और भारत में आज भी बहुत-से ग्राम मनुष्यों के कुल के नाम से प्रसिद्ध हैं। चीन में कुल का एक पैतृक देव-मन्दिर होता है। कहीं-कहीं प्रत्येक परिवार का अपना-अपना अलग देव-मन्दिर होता है, और सर्वपरिवार द्वारा पूज्य किसी पुराने पूर्वज के नाम का एक बड़ा मन्दिर होता है, जिसमें पूर्वजों का पूजन होता है। इस पैतृक मन्दिर में कुल के मनुष्यों का समान अधिकार होता है। धनी व दरिद्री का उसमें भेद नहीं होता। सामाजिक, आर्थिक, शिक्षा-सम्बन्धी तथा न्याय-सम्बन्धी सभी कार्य इस पैतृक देव-मन्दिर के अधीन होते हैं। यदि वर्ग के सदस्यों में कोई झगड़ा हो जाय तो उसका निपटारा करना, गवाही लेना, इत्यादि सब कार्य इसी पैतृक देव-मन्दिर में होता है। वृद्धजन-सभाएँ ही भारतवर्ष में ग्राम-पंचायत का कार्य करती हैं। कुल के धनी परिवार निर्धन परिवारों की सहायता करते हैं और इस प्रकार आपस में मिलकर समस्त कुल सुखी रहने की चेष्टा करता है। ग्राम-सम्पत्ति समस्त कुल की

सामूहिक सम्पत्ति समझी जाती है। इसमें व्यक्तिगत भाग नहीं होते। इस सामूहिक सम्पत्ति की आय से ही ग्राम-या मन्दिर-सम्बन्धी सार्वजनिक कार्य होते हैं। कहीं-कहीं इस सम्पत्ति-कोष से निर्धन परिवारों को ऋण भी दिया जाता है, जिस पर सूद की दर बहुत मामूली होती है। इसके साथ-साथ धनी परिवार इस ग्राम-सम्पत्ति में सर्वदा दान-स्वरूप धन दिया करते हैं। आज भी दक्षिण भारत के कुछ ग्रामों में इस प्रकार के ग्राम-सम्पत्ति तथा सामूहिक स्वामित्व के उदाहरण वर्तमान हैं। सामूहिक संगठन द्वारा कहीं-कहीं मन्दिर के पुजारियों अथवा किसी विशेष मत के अनुयायियों ने भी समाज का रूप धारण किया है। ऐसे गुरुद्वारों तथा मन्दिरों में भिन्न-भिन्न कुल के मनुष्य आते हैं और उन सब का एक संगठित समूह बन जाता है, जिसका केन्द्र मन्दिर अथवा गुरुद्वारा होता है। भारत-वर्ष में सिक्खों का समाज, आर्य-समाज, राधास्वामी-समाज तथा ईसाई और मुसलमानों के समाज समान धर्मावलम्बन के आधार पर निर्मित समाज के उदाहरण हैं। समय तथा आवश्यकतानुसार इनमें थोड़ा-थोड़ा अदल-बदल हुआ है परन्तु मूल रूप उनका आज भी वही है।

ग्राम-समाज के विकास के बाद क्रमशः समाज के अधि-कार सम्बन्धी जन तथा गुरुजन के अधीन नहीं रहे। अब समाज-नियम और अधिकार भूमि-स्वामित्व के अनुकूल होने लगे। प्रत्येक ग्राम-सभा में ग्राम के भिन्न-भिन्न भागों के स्वामी को स्थान मिला और ग्राम-शासन भूमि-स्वामियों के अधीन हो गया। मरुस्थल में समाज-संगठन व शासन-पद्धति जलाशय के नियम के अनुसार बनाई गई। वहाँ के समाज-नियम में जल लेने का अधिकार निश्चित कर दिया गया। जल नष्ट करनेवालों के लिए समाज ने दण्ड-विधान बनाया। इन सबमें सामूहिक हित ही सर्वप्रधान था। भारतवर्ष के उत्तर-पच्छिम से आजकल भी कुल-समूह (tribes) पाये जाते हैं, जैसे बिलोची कुल, अफ़ग़ान-कुल इत्यादि। इन कुल-समूहों में शासन-पद्धति के सुदृढ नियम हैं और कुल के मुखिया के अतिरिक्त बहुत-से अन्य कर्मचारी भी होते हैं। कुल के आश्रय में आए हुए मनुष्यों की रक्षा का भार समस्त कुल पर होता है। इस प्रकार के आगन्तुक मनुष्यों को जीवन-निर्वाह के लिए थोड़ी-सी ज़मीन खेती के लिए दे दी जाती है और वे इस ज़मीन पर खेती करके अपना व अपने परिवार का उदर-पोषण करते हैं। भूमि की उपज से थोड़ा-सा भाग वे भूमि-स्वामी को भी देते हैं। इस संस्था के बढ़ने से तीसरे प्रकार के समाज-समूह का जन्म हुआ, जिसे भूपति और उसकी प्रजा का समाज कहते हैं। यह संस्था केवल एक ग्राम में ही सीमित न रहकर समीपवर्ती ग्रामों में भी फैली और छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए। इसे भूपति-राष्ट्र (Feudal landlordism) का समय कहते हैं। अन्त में इसने बड़े राज्य का रूप धारण किया। हरएक देश का एक महाराजा होता था और बाक़ी मनुष्य उस राजा की प्रजा होकर अपना कार्य करते थे। महाराजा के अधीन बहुत-से छोटे-छोटे राजा भी होते थे। यह क्रम केवल खेती के कारबार तक ही नहीं रहा। जनवृद्धि होने से और आवश्यकताएँ बढ़ने से मनुष्यों को खेती के अतिरिक्त दूसरे उद्योग-धन्धे भी करने पड़े। अब समाज-संगठन ने एक नवीन रूप धारण किया। प्रत्येक उद्योग में संलग्न मनुष्यों की समस्याएँ समान होने से उन लोगों में परस्पर घनिष्ठता बढ़ने लगी और उनका समूह उद्योग-संबंधी कष्टों का निवारण करने की सामू-हिक रूप से चेष्टा करने लगा। इस प्रकार हर उद्योग के करने-वालों का एक संघ बन गया, जिसे उद्योग-संघ (Trade Union or Guild) कहते हैं। इस संघ के सदस्यों में भ्रातृ-भाव उत्पन्न हुआ और उद्योग में समान व्यवहार के साथ-साथ रहन-सहन के नियम भी बनाये गये। एक नियम के पालनेवालों के समूहों ने क्रमशः जाति (Caste) का रूप धारण किया। एक जाति में खान-पान के नियम, पूजने के देवता, तथा विवाह व समाज-व्यवहार के नियम एक-से होते थे। इस संगठन का वैसे तो हर देश में चलन है, परन्तु भारतवर्ष में यह संगठन बहुत सुदृढ बन गया। यहाँ अगणित जातियाँ हो गईं, जो वास्तव में उद्योग-सभाएँ थीं, परन्तु बाद को जिन्होंने धीरे-धीरे जन्म-प्रधानता के नियम के अनुसार मनुष्य का प्रत्येक जाति में जन्म के अनुसार बाँट दिया। जाति-संगठन के बारे में भी बहुत-सा मतभेद है। हिन्दू शास्त्रज्ञ मनु के मतानुसार जातियाँ सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा के अंग का रूप हैं और इसलिए मुख से तुलना रखनेवाले ब्राह्मण, भुजाओं से तुलना रखनेवाले क्षत्रिय, जंघा से तुलना रखनेवाले वैश्य और पाँव के तुल्य शूद्र हुए। कुछ अज्ञानियों ने इस मत का साधारण ऊपरी अर्थ लगाकर इसकी खिल्ली उड़ाई है। पर हिन्दू-शास्त्र मनुष्य की जातियों को ब्रह्मा के अंग से उत्पन्न मानते हैं, यह बात वास्तव में ऐसी मूर्खतापूर्ण नहीं है। अंग की तुलना केवल उदाहरणार्थ थी और यदि विचार किया जाय तो यह मत भी कार्य-विशेषज्ञता के मत का अदृष्ट रूप अथवा उदाहरण-रूप से पुष्टि करता है। दूसरा कथन यह है कि जातियाँ

केवल उद्योग-सभाओं का रूप हैं और प्रत्येक जाति का आधार एक विशेष उद्योग है, जैसे लोहारी, बढ़ईगरी सैनिक वृत्ति, इत्यादि। इस मत के मुख्य समर्थक नेसफील्ड नामक विद्वान् हैं। एबटसन का कहना है कि जाति केवल वर्ग का दूसरा रूप है। अपने मत का स्पष्टीकरण करते हुए वह बतलाते हैं कि भिन्न-भिन्न वर्गों ने बहिर्गोत्रीय विवाह बन्द कर देने का निश्चय किया और प्रत्येक समान वर्ग ने एक जाति का रूप धारण किया। दूसरे विद्वानों का कथन है कि जब आर्य-जाति भारतवर्ष में आई तब उसने यहाँ के आदिम निवासी कोल व द्राविड़ लोगों को युद्ध में परास्त किया और इन परास्त लोगों को दास का स्थान दिया। इस प्रकार शूद्र जाति और द्विजातीय ये दो बड़े वर्ग बन गये, जिनको पराजित व विजयी दल भी कह सकते हैं। विजयी दल में फिर कार्य के अनुसार मनुष्य-समूहों का नाम निश्चित् हुआ और कुछ समय के बाद एक ही कार्य करनेवाले मनुष्यों के समूह ने जाति का रूप धारण किया। इस मत के खण्डन करनेवालों का तर्क है कि जाति संगठन केवल आर्य-आक्रमण के बाद ही आरम्भ नहीं हुआ, बल्कि भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता तथा अन्य जातियों में भी जाति-भेद पाया जाता है। इन सब विद्वानों के मत में एक समानता यह है कि कार्य या उद्योग का अंश थोड़ा-बहुत सब मानते हैं। वास्तव में बात यह है कि उद्योग-प्रधान होते हुए भी भिन्न-भिन्न वातावरण व आवश्यकतानुसार जाति का संगठन व रूप बदलता रहा है, यहाँ तक कि हज़ारों जातियाँ बन गईं जिनका आज का रूप किसी एक विशेष कारण का फल नहीं कहा जा सकता।

मनुष्य-समाज का दूसरा परिवर्तन कलों के समय में हुआ। एक उद्योग में संलग्न मनुष्य भिन्न-भिन्न कार्यों में विशेषता प्राप्त करने लगे और इस प्रकार प्रत्येक उद्योग-समूह फिर छोटे-छोटे दलों में बँटने लगा। सभी अपने-अपने कार्य में निपुणता प्राप्त करने लगे और इस प्रकार सहयोगिक परि-श्रम से प्राप्त धन को आपस में बाँटकर सब अपना-अपना हिस्सा लेने लगे। इस समय में पुराने ज़माने का-सा सहयोगिक जीवन इसलिए नहीं चल सका कि अब व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना अपना प्रभाव जमा चुकी थी। हर व्यक्ति, हर समूह, अपने निजी भाग को सुरक्षित ही नहीं वरन् बढ़ाने की भी चेष्टा करने लगा। इसका परिणाम, जैसा कि हो सकता है, यही हुआ कि बाहरी सहयोग के साथ-साथ भीतरी द्वन्द्व भी प्रारम्भ हो गया। पूँजीपति की यह चेष्टा हुई कि उपार्जित धन का बड़ा-से-बड़ा भाग उसे ही मिले और इस प्रयत्न में वह सफल इसलिए हो सका कि आज के समय के उद्योग में पूँजीपति का अधिक हाथ है। कारख़ानों में काम मशीनों द्वारा होता है, जिनके लाने के लिए बड़े धन की आवश्यकता है, जो निर्धन श्रमजीवी के पास नहीं है। इसलिए श्रमजीवी के लिए धनी पूँजीपति अनिवार्य हो गया। दूसरी ओर इस युग में मनुष्य का कार्य लोहे के बने हुए यन्त्र करने लगे। जहाँ १०० श्रमजीवी कार्य करते थे, वहाँ मशीन की सहायता से केवल एक या दो श्रमजीवियों से ही कार्य चलने लगा। कहीं-कहीं तो पूरा काम मशीन ही करने लगी। इसलिए असंख्य श्रमजीवियों के लिए कार्य ही नहीं रहा और बेकारों की संख्या बढ़ने लगी। निर्धन, भूखे, बेकार श्रमजीवी आपस में झगड़ने लगे और पूँजीपति की आज्ञापालन के लिए बाध्य हुए। उद्योग में श्रमजीवी की आवश्यकता घट जाने पर मशीन बनाने के कारख़ानों में उनकी माँग अवश्य बढ़ी, परन्तु एक मशीन, जिसे ५०० श्रमजीवी एक मास में तैयार कर देते हैं, कम से कम ५००० हज़ार श्रमजीवियों को अपने जीवन भर के लिए बेकार कर देती है। यदि एक मशीन का जीवन २० साल मान लिया जाय तो ५०० मज़दूर एक मशीन बनाकर अपने ५००० भाइयों को २० साल के लिए बेकार कर देते हैं। यों भी कह सकते हैं कि एक मशीन यदि ५०० को काम देती है तो १०,००० श्रमजीवियों को कार्यरहित बना देती है। दूसरी बात यह है कि आज-कल एक मशीन को दूसरी मशीन ही बनाती है। इस प्रकार इन लोहे के पुर्ज़ों के कुचक्र में पड़कर श्रमजीवी जीविका से हाथ धो बैठे। आफ़त के मारे श्रमजीवियों ने पूँजीपतियों का विरोध किया और उत्पादित वस्तु में अधिक भाग लेने की चेष्टा की। धीरे-धीरे इस द्वन्द्व ने भीषण रूप धारण किया और मनुष्य-समाज पूँजीपति, और श्रमजीवी इन दो बड़े भागों में बँटने लगा। इस विरोध ने मनुष्य का जीवन बड़े संकट में डाल दिया है। पूँजीपति-श्रमजीवी द्वन्द्व संसार के हर भाग में कहीं प्रकट तो कहीं अदृश्य रूप में गत शताब्दी से निरन्तर चल रहा है। इस वैमनस्य का कहीं-कहीं बड़ा भीषण परिणाम हुआ है, जिसमें धन व जन की आहुति दी गई है।। रूस देश में श्रमजीवी दल ने पूँजीपति वर्ग का सर्वथा नाश ही कर दिया है। इस पूँजी-पति-श्रमजीवी द्वन्द्व को पुनः सहयोग के रूप में परिणत करना मनुष्य-समाज की सबसे महत्वपूर्ण समस्या है, जिसको समझने-सुलझाने में संसार के सारे राष्ट्र लगे हुए हैं।



सभ्यताओं का उदय—(५) असीरिया* की सभ्यता

जिस प्रकार सुमेरिया का बेबीलोनिया से घनिष्ठ सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक सम्बन्ध है उसी प्रकार उन दोनों का असीरिया से है। इसी कारण दजला-फ़रात की सभ्यता और वहाँ के इतिहास का इतिहासज्ञ प्रायः एक साथ ही वर्णन करते हैं। यद्यपि कालक्रम के अनुसार एशिया और योरप में बेबीलोनियावालों के समय में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हो गयी थीं, किन्तु उन सबका उल्लेख न करके प्रसङ्गवश असीरिया का वर्णन आवश्यक-सा प्रतीत होता है।

बेबीलोनिया से क़रीब तीन सौ मील उत्तर की ओर एक पहाड़ी चट्टान पर, जो दजला नदी के तट पर थी, एक नगर की स्थापना की गयी, जो आगे चलकर 'असुर' नाम से प्रसिद्ध हो गया। उस नगर के आस-पास पहाड़ी प्रदेश था, अतएव बेबीलोनिया से वहाँ का जल-वायु अधिक सुखकर और स्वास्थ्यप्रद था। वहाँ की घाटियाँ मनोरम और ख़ूब उपजाऊ थीं, जिनमें जौ और गेहूँ बहुत पैदा होते थे। इसी कारण वहाँ के निवासी कृषि का ही प्रायः काम करते थे।

कहते हैं कि ईसा से ३५०० वर्ष पहले वहाँ सुमेरिया के लोग जाकर बसे थे। उन्हीं लोगों ने वहाँ पर 'असुर' या 'अस्सुर' देवता की स्थापना की, जिससे उस नगर का नाम असुर हो गया। उसी नाम के आधार पर आगे चलकर वहाँ के साम्राज्य का 'असीरिया' नाम पड़ गया। सुमेरियावालों के क्षीण हो जाने पर वहाँ मित्तानी आदि अन्य जातियों के लोग आ बसे। किन्तु वहाँ पर स्थायी प्राबल्य सेमेटिक जातिवालों ने ईसा से २५०० वर्ष पहले स्थापित कर दिया। यद्यपि असीरियावालों में सेमेटिक जाति का अंश बहुत अधिक मात्रा में हो गया था तथापि वस्तुतः वे मिश्रित जातियों के थे। उनकी सभ्यता भी मिश्रित थी। जातियों के सम्मिश्रण एवं पहाड़ी प्रदेशों में छाये हुए विजातीय शत्रुओं से निरन्तर लड़ने के कारण असीरिया-वाले सदा उद्यतदण्ड, युद्धशील और सतर्क रहते थे। उन्होंने घोड़ों और लोहे के उपयोग को भी सीख लिया था, जिससे उनकी सैनिक शक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि वे शत्रुओं से अपनी रक्षा ही नहीं बल्कि अवसर मिलते ही उन पर आक्रमण करने के लिए भी तैयार रहते थे।

यद्यपि पुरातन काल में वहाँ अनेक नेता हुए, किन्तु अब उनके नाम भी कठिनता से मिलते हैं। ज्ञात इतिहास में वहाँ के महत्त्वशाली व्यक्तियों में सबसे पहले 'टिगलथ-पिलेसर' प्रथम का नाम मिलता है। वह बड़ा पराक्रमी था। कहते हैं कि उसने ६२० शेर मारे, जिनमें से १२० का तो उसने पैदल शिकार किया था! अपने पराक्रम से उसने हत्ती (खत्ती=हिटाइट) और आरमीनियन आदि चालीस अन्यान्य जातियों पर विजय प्राप्त की। एलामवाले भी उसका लोहा मानने पर मजबूर हो गये। उसने दो बार बेबीलोनिया में जाकर अपने यश की पताका गाड़ दी। उसकी दिग्विजयिनी सेना ने अपना आतंक और उसका आधिपत्य काले समुद्र से भूमध्य-सागर तक स्थापित कर दिया। चारों ओर से उसे कर मिलता था, जिसका अधिकांश उसने देवी-देवताओं के मन्दिरों के निर्माण में लगा दिया। किन्तु तेरह वर्ष तक प्रकाश करने के बाद उसका तेज ऐसा क्षीण हो गया कि बेबीलानवालों ने उसका सारा राज्य छीन लिया और असुर से वे उसके देवताओं तक को उठा ले गये। इसी दुर्भाग्य और लज्जा से घुटकर उसकी मृत्यु हो गयी (१०६० या ११०२ ई०पू०)। असीरिया का इस समय तक कोई राजा न था। इसके बाद सौ वर्ष तक वहाँ की दशा कुछ अस्तव्यस्त अथवा हीन-सी रही।

ईसा से ९११ वर्ष पूर्व असीरिया में 'अदद निरारी' द्वितीय राजा हुआ। उसने दजला-फ़रात की तलहटी और

* अथवा असुरिया (?)।

पश्चिम के कुछ प्रान्तों में अपना प्रभुत्व दृढ़ कर दिया। तब से असीरिया की शक्ति और उसका आधिपत्य बढ़ने लगा। उसकी दूसरी पीढ़ी में असुरनसीरपाल (८८४-८५९ ई० पू०) ने अपनी बलवती सेना के ज़ोर पर बाक़ायदा राज्य बढ़ाना और पाशविक व्यवहार से आतंक जमाना आरम्भ कर दिया। उसका आधिपत्य भूमध्य-सागर के पूर्वीय तट तक स्थापित हो गया। वहाँ के नगरों ने उसे कर दिया। उसके पुत्र शलमन्सर तृतीय (८५९-८२४ ई०पू०) ने दमिश्क़ पर चढ़ाई की और उसके निकट तक राज्य बढ़ाया। उत्तर की ओर भी उसकी सेना 'वान' झील और 'अराराट' पहाड़ तक जा पहुँची। यद्यपि इस वंश का प्रताप कुछ काल तक कम हो गया, किन्तु अददनिरारी पंचम ने फिर फोनीशिया, दमिश्क़ और असीरिया पर अपना आधिपत्य जमा लिया। उशरट्ट, मन्नाई और मीडिया तक उसकी प्रबल सेना धँस गयी। उसके पश्चात् असीरिया का पतन होना शुरू हुआ और राज्य छिन्नभिन्न होता गया। यहाँ तक नौबत पहुँची कि वहाँ का राज्यवंश ही नष्ट हो गया।

राजवंश को निर्मूल करनेवाले सरदार 'पुल' ने अपना नाम 'टिगलथ पिलेसर' चतुर्थ रखकर राज्य करना आरम्भ कर दिया (७२२ ई० पू०)। उसने असीरिया में पुनः जीवन का सञ्चार करके शत्रुओं को मार भगाया और मसोपटेमिया, दमिश्क़, सीरिया और आरमीनिया में अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। किन्तु उसकी मृत्यु के पाँच वर्ष बाद ही उसके वंशज से 'सारगन' द्वितीय नाम के सरदार ने राज्य छीन लिया। यद्यपि चारों ओर से उसका विरोध हुआ तथापि अपने बाहुबल से सब शत्रुओं का दमन करके, उसने मिस्र की सेना को हराकर सीरिया में एवं एलामवालों को हराकर बेबीलोनियामें अपना प्रभुत्व जमा लिया और अपने लिए निनीवे के पास दर-शर्रकिन नामक ऐसी सुन्दर राजधानी बनवाई, जिसके समान बेबिलोनिया में कभी नहीं बनी थी। कहते हैं कि 'सिमिरियन' नामक एक अर्द्ध-सभ्य जाति ने 'उरारतू' की ओर से असीरिया पर चढ़ाई की। उन्हीं से युद्ध करते हुए सारगन द्वितीय का निधन हो गया (७०५ ई० पू०)।

सारगन द्वितीय का पुत्र 'सेनाकिरिब' और भी वीर निकला। सारे अनातोलिया (एशियाई टर्की) पर उसने अपना प्रभुत्व जमाया। उसके नाम से मिस्रवाले दहलते थे। बेबीलानवालों की अदमनीय उद्दण्डता और निरन्तर विद्रोह से क्रुद्ध होकर उसने उनके नगर को अच्छी तरह लुटवा दिया, वहाँ की नहरों का पानी काटकर उन्हें सुखा दिया, और शहर में क़त्लआम करवाकर उसे जलवा दिया। किन्तु बेबीलानवालों को सबसे अधिक दुःख इस बात का हुआ कि उनके प्रमुख देवता 'मरदक' को वह क़ैद करके ले गया और अपने देवता 'असुर' का उसे दास बना दिया! यद्यपि इस क्रूरता का प्रभाव कुछ दिनों तक क़ायम रहा तथापि बेबिलोनियावालों के हृदय में प्रतिहिंसा की आग सुलगती रही। 'सेनाकिरिब' ने अपनी राजधानी निनीवे के विस्तार और सौंदर्य में इतना व्यय और श्रम किया कि उसके सौंदर्य की चर्चा दूर-दूर के देशों में फैल गई। उसने कृषि की उन्नति में भी बहुत धन व्यय किया। राज्य में रुई की खेती का प्रचार करके उसने असीरिया के भविष्य को समृद्धिशाली बना दिया। उसका आतंक इतना जमा था कि साम्राज्य में विद्रोह सिर उठा न सकता था और बिना कष्ट के दूरस्थ प्रान्तों से भी निश्चित विधि और समय पर कर आ जाता था। किन्तु उसके बड़े पुत्रों ने जप करते समय इसलिए उसकी हत्या कर डाली कि उन्हें अपना उत्तराधिकारी न बनाकर अपने तीसरे पुत्र 'ईसार हद्दो' को उसने राज्य का अधिकारी बनाया (६८१ ई० पू०)।

'ईसार हद्दो' सुयोग्य और प्रतापी निकला। अपने भाइयों और अन्य विद्रोहियों का शीघ्र ही दमन कर उसने शान्ति स्थापित कर दी। सीरिया में विद्रोह भड़काने और विद्रोहियों की सहायता करने के कारण उसने मिस्र के राज्य पर चढ़ाई करके उत्तरी मिस्र में अपना आधिपत्य स्थापित करना आरम्भ कर दिया। मेम्फ़िस नगर पर उसका अधिकार जम गया (६७१-२ ई० पू०)। इस विजय से असीरिया का महत्त्व बहुत बढ़ गया और उसकी अपूर्व श्री-वृद्धि हुई। बेबीलोनिया और एलाम के प्रति उसने उदारता की नीति से काम लिया। बेबीलान नगर का उसने पुनः निर्माण करा दिया और उसके देवता 'मर्दक' की एक नये मन्दिर में सादर स्थापना करा दी। एलाम में संयोगवश भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा और प्रजा अत्यन्त पीड़ित हुई। उनको उसने जी खोलकर अन्नदान किया, जिससे उनकी रक्षा हो गई। इस अपूर्व उदार नीति का बेबीलोनिया और एलाम पर अच्छा प्रभाव पड़ा। उसे मिस्र में विद्रोह का दमन करने के लिए जाना पड़ा, किन्तु रास्ते में ही उसकी मृत्यु हो गई (६६९ ई० पू०)।

उसका छोटा भाई 'आसूरबनिपाल' भी बड़ा वीर और प्रतापी था। उसने मिस्र के विद्रोह का दमन कर दिया और थेबीज़ नगर को लूट लिया। सारे मिस्र पर धीरे-धीरे उसने अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया और उस पर शासन करने के लिए अपनी ओर से गवर्नर नियुक्त कर

दिया। उसने यह न सोचा कि मिस्र-ऐसे सभ्य देश का दूर से शासन करना कितना कष्टसाध्य होगा। इससे भी अधिक चिन्त्य बात यह थी कि एलामवालों की उद्दण्डता और बारम्बार बेबीलान में हस्तक्षेप करने के कारण वह ऐसा क्रुद्ध हुआ कि उनकी राजधानी 'सूसा' को उसने नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। वहाँ की मिट्टी में नमक मिलवाकर कुश-काँटे बुवा दिये, उनके राजा का सर काट कर निनवे के सिंह-द्वार पर टँगवा दिया और एलाम के राज्य का सदा के लिए अन्त कर दिया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि ईरान की अन्य जातियों और 'सीथियन' लोगों के लिए असीरिया की ओर बढ़ आने का रास्ता खुल गया। उनकी दूर तक विजय और रोमाञ्चकारी दण्डनीति से उसका आतङ्क ऐसा फैल गया कि किसी को सर उठाने का साहस न रहा। अपनी विजयों को मनाने के लिए उसने एक महोत्सव बड़े धूम-धाम से किया। इस उत्सव को वह घोड़ों की जगह चार राजाओं को अपने रथ में जुतवाकर देखता फिरता रहा। उसके समय में असीरिया का पशु-बल अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया, किन्तु उस बाहरी समृद्धि के अन्तस्तल में विनाश के बीज छिपे हुए थे। उसकी मृत्यु के पहले ही पतन के लक्षण भी दिखायी देने लगे। आसूरबनिपाल केवल विजयी और युद्धप्रेमी न था। वह विद्वान् एवं विद्या-प्रेमी भी था। वास्तुविद्या और कलाओं का वह बहुत आदर करता था। उसके समय में इनकी अच्छी उन्नति हुई। उसने सुमेरिया और बेबीलोनिया के साहित्य को ढूँढ़-ढूँढ़कर एकत्रित करवाया और उनको सजवाकर एक पुस्तकालय में रखवा दिया। तीस हज़ार ईंटों पर खचित उस साहित्य-भांडार का अधिकांश आज भी विद्यमान है और उसी के सहारे दजला-फ़रात की सभ्यता और इतिहास का ज्ञान प्राप्त हो रहा है।



निनवे से प्राप्त असीरिया के प्रतापी सम्राट् असुरनसीरपाल की एक मूर्त्ति

आसूरबनिपाल के अन्तिम दिवस अच्छे न रहे। कुटुम्ब के झगड़ों, शारीरिक कष्टों, विद्रोहों के समाचारों और सीथियन आदि शत्रुओं की बढ़ती हुई शक्ति के कारण उसकी चिन्ता बढ़ती गई। इसी दशा में उसकी मृत्यु हो गई (६२६ ई० पू०)। उसकी मृत्यु होते ही राज्य में अराजकता और विद्रोह की आग भड़कने लगी। मिस्र-ऐसे दूर के प्रान्तों का तो कहना ही क्या, बेबीलान भी स्वतन्त्र हो गया। वहाँ 'नेबो पोलेसर' नामक एक केल्डियन राजा बन गया। उसने मीडिया के राजा 'साई-एक्सारेज़' से और 'सीथियन' लोगों से मिलकर 'निनवे' को वैसी ही निर्दयता के साथ (६१२ ई० पू०) नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जैसी कि असीरियावालों ने बेबीलान और सूसा के प्रति प्रदर्शित की थी। निनवे के विनाश के साथ ही असीरिया सदा के लिए एलाम की तरह नेस्त-नाबूद हो गया।

समाज—असीरिया की जनता में असीरियावालों की संख्या अधिक न थी। निनवे के रहनेवालों में अधिक संख्या असीरियन से भिन्न जातियों के लोगों की थी। वहाँ का जन-समाज दो भागों में विभक्त था—एक स्वतंत्र और दूसरा ग़ुलाम। यद्यपि ग़ुलामों के साथ, उनकी उपयोगिता के कारण, प्रायः व्यवहार अच्छा होता था, और उन्हें जायदाद रखने का अधिकार रहता था, तथापि क़ानून की दृष्टि में उनके अधिकार नहीं के बराबर थे। किन्तु स्वतंत्र समाज तीन वर्गों में विभक्त था। एक तो 'मरबनूती' अथवा बड़े लोग थे। उनके बाद 'उम्मनी' थे, जो कारीगर थे और उद्योग-धन्धों में लगे थे। तीसरे 'ख़ुबशी' थे। साधारण जनता इन्हीं लोगों की थी। 'उम्मनी' वर्ग के लोग अपने-अपने व्यवसाय, पेशों और धन्धों के अनुसार श्रेणियों में संगठित थे। प्रत्येक पेशे के लोग अपने वंशानुगत पेशे में लगे रहते थे। उम्मनी के अन्तर्गत साहूकारों, बढ़इयों, कुम्हारों इत्यादि की अनेक श्रेणियाँ थीं। वे सब अपनी ही श्रेणी से नियुक्त किये हुए कार्यकर्ताओं के निरीक्षण में अपना-अपना प्रबन्ध किया करते थे। वहाँ के कृषकों की परिस्थिति का ठीक पता नहीं चलता। अनुमान किया जाता है कि द्वितीय और तृतीय वर्ग के लोग प्रायः कृषि करते थे। ग़ुलामों से बेगार और बहुत सस्ती मज़दूरी पर काम लिया जाता था। इन लोगों की आर्थिक दशा सन्तोषजनक न थी। तृतीय वर्ग के (अर्थात् ख़ुबशी

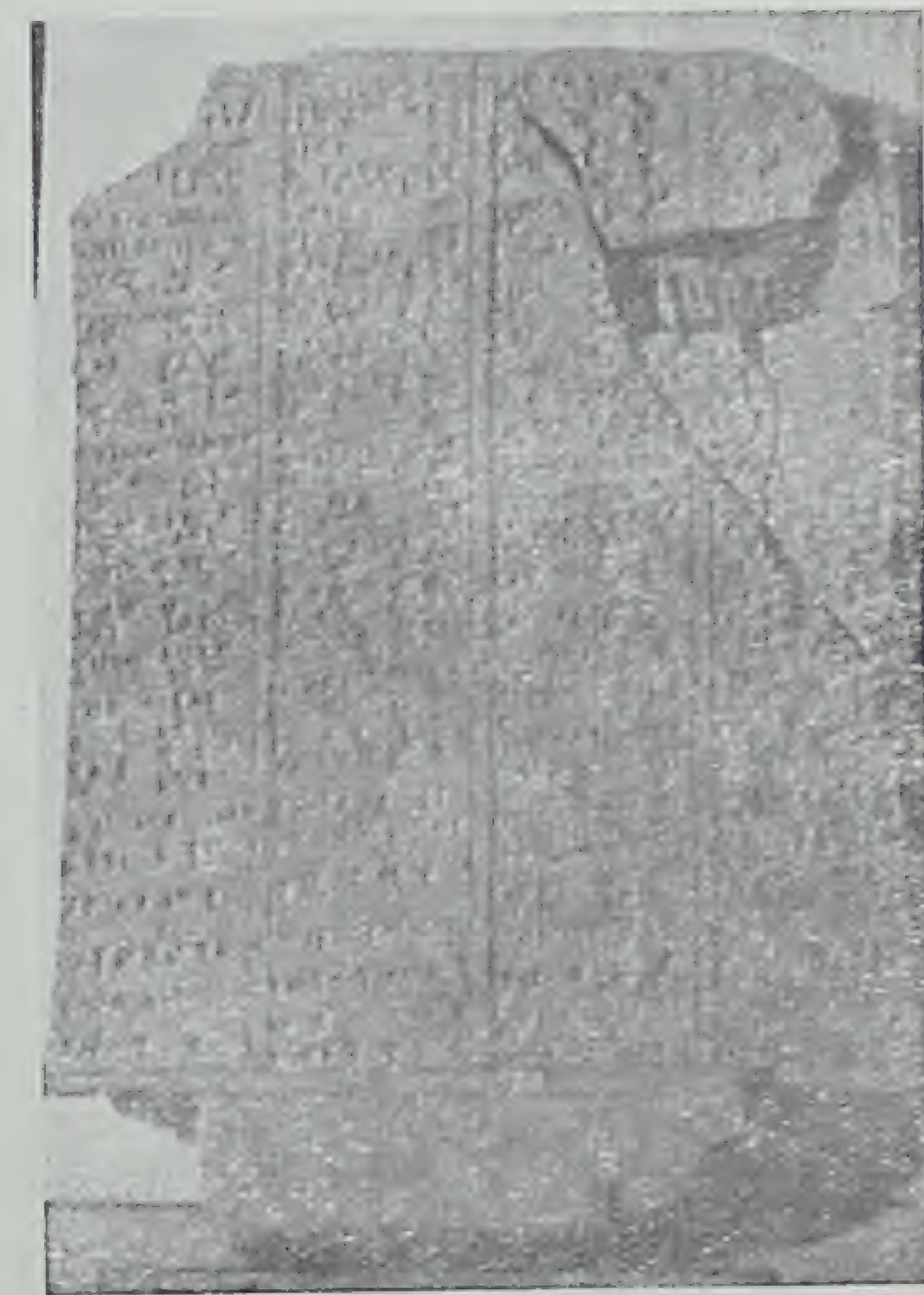
वर्ग के) लोगों में से ही अधिकतर सैनिक चुने जाते थे।

कृषि और व्यापार—असीरिया कृषिप्रधान देश था। कृषि करना उत्तम माना जाता था। इसीलिए वहाँ के श्रेष्ठ वर्ग के लोग प्रायः खेती करवाते अथवा ज़िमींदारी करते थे। वे लोग व्यापार को मध्यम काम ही नहीं बल्कि बुरा समझते थे। सस्ता माल ख़रीदकर महँगा बेचना उनकी राय में अच्छा काम न था। यदि वे व्यापार करते थे तो इसलिए कि उसके बिना बड़ी सेना का ख़र्च चलाना असम्भव-सा हो जाता। वे प्रायः गेहूँ, जौ, सरसों और बाजरे की खेती करते थे। कपास की भी वहाँ खेती होने लगी थी। अन्नों के अलावा वे ज़ैतून, अंगूर, लहसुन, प्याज़, लेटिस, चुक़न्दर, शलजम, मूली, ककड़ी आदि की खेती करते थे। खेती-बारी के सिवा वहाँ के लोग सोना, चाँदी, ताँबा, लोहा और काँसा से अनेक प्रकार की चीज़ें बनाते थे। लोहे के हथियारों का प्रयोग उनकी उन्नति का विशेष कारण माना जाता है। उद्योग-धन्धों और व्यापार की सहायता एवं उन्नति के लिए महाजन और साहूकार पचीस रुपया सैकड़ा पर क़र्ज़ देते थे। उनमें सोने, चाँदी, ताँबे और राँगे के सिक्कों का भी प्रचलन था, जिससे व्यापार में सुविधा हो गई थी। वहाँ धातु की ढलाई, कपड़ों की रँगाई और शीशे का भी अच्छा ख़ासा व्यापार था।

घरेलू जीवन—कौटुम्बिक और गृहस्थ-जीवन में पैतृक प्रभुत्व का महत्व था। गृहपति का बड़ा आतंक रहता था और उसकी आज्ञा का पालन अनिवार्य था। विवाह-सम्बन्धी क़ानून बेबीलोनियावालों से भी अधिक कठोर और स्पष्ट थे। विवाह में लड़केवालों को लड़कीवालों को देना पड़ता था। विवाह हो जाने पर कुछ लोग तो बहू को ससुर के घर ले आते थे और कुछ उसे अपने पिता के घर ही पर रहने देते थे। वहाँ दोनों रिवाज थे। विवाहिता स्त्री को पर्दे में रहना पड़ता था। बिना घूँघट के वह बाहर न जा पाती थी। पातिव्रत का पालन करना अत्यन्त आवश्यक माना जाता था, चाहे पति बहुस्त्रीगामी अथवा वेश्यागामी क्यों न हो। पति पर आक्रमण करने, पति की आज्ञा के बिना व्यापार करने, चोरी करने, व्यभिचार करने, भ्रूण-हत्या करने तथा पति को छोड़कर भागनेवाली को बड़ा कठोर अथवा प्राणदण्ड दिया जाता था। किन्तु यदि ये दोष साबित न हो सके तो दोष लगानेवाले को भी भयंकर दण्ड दिया जाता था। विवाहिता पर्दानशीन स्त्रियों का मुख्य काम नाचना-गाना, कशीदा काढ़ना आदि थे। गृहस्थी के काम के अलावा वे अपना समय गप-शप, लड़ने-झगड़ने और षड़यंत्र करने में बिताती थीं। असीरिया में यदि अविवाहित देवदासियाँ, दासियाँ और वेश्याएँ सड़क पर घूँघट काढ़कर निकलतीं तो उनको ही नहीं किन्तु उन लोगों को भी कड़ी सज़ा दी जाती थी जो उन्हें ऐसा करने देते थे। अवैधगमन और अस्वाभाविक कुचालों के लिए कठोर विधान था, किन्तु वेश्यागमन, तथा दासियों और उपपत्नियों के रखने में विशेष आपत्ति न थी। वेश्याओं का नियंत्रण वहाँ शासन द्वारा किया जाता था। यह सब होते हुए भी रानियों और उच्च वर्ग की स्त्रियों के लिए राजनीतिक क्षेत्र में उन्नति का मार्ग बन्द न था। 'सम्मू रमत' और 'नक़ीया' राजसिंहासन पर बैठकर शासन करती रहीं। श्रेष्ठ वर्ग की स्त्रियाँ भी गवर्नरी के काम पर नियुक्त की जा सकती थीं। वहाँ की साधारण स्त्रियों को भी एक विचारणीय सुविधा थी। यदि किसी स्त्री का पति युद्ध में पकड़ लिया जाता तो दो वर्ष तक उसके रहने और भोजन-छाजन आदि का प्रबन्ध राज्य की ओर से कर दिया जाता था। दो वर्ष के बाद उसे दूसरा विवाह करने की स्वतंत्रता मिल जाती थी।

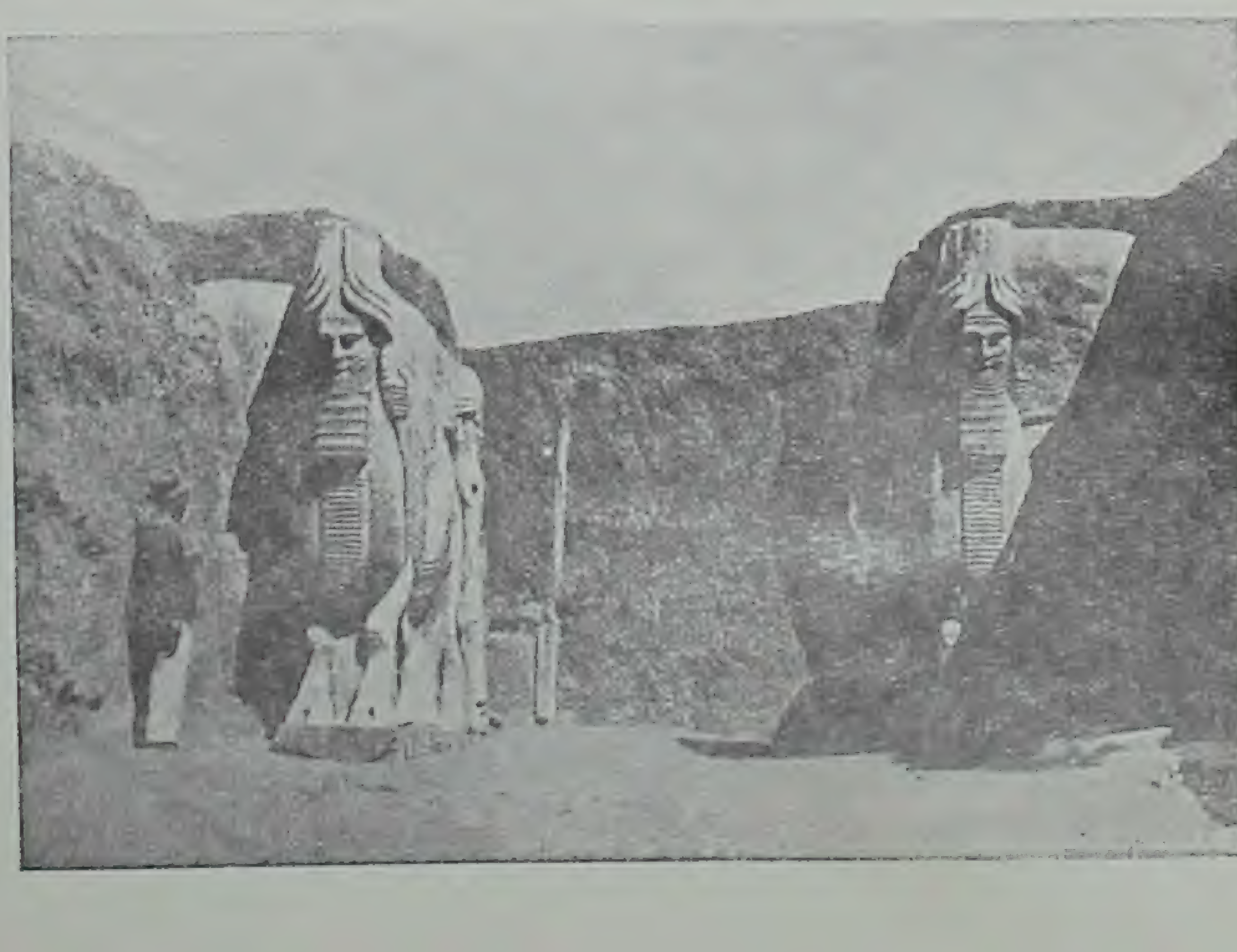
धार्मिक विचार—असीरियावाले 'सूर्य' के पूजक थे। उसका उन्होंने 'अस्सुर' (या असुर) नाम रखा था। पर लगे हुए सूर्यबिम्ब के बीच में तरकस बाँधे और धनुष ताने हुए व्यक्ति के रूप में उन्होंने अस्सुर की कल्पना की थी। संभव है कि उन्होंने सीरिया के हत्ती या खत्ती (हिटाइट) लोगों के द्वारा मिस्र देश के सूर्य देवता का यह स्वरूप प्राप्त किया हो। यह देवता युद्धप्रेमी और भयंकर माना जाता था। असीरिया राज्य की पताकाओं पर उसी का चिह्न रहता था। वहाँ का राजा भी अपने को सूर्य का पुत्र समझता था। युद्ध में विजय प्राप्त होने पर अस्सुर को संतुष्ट करने के लिए बहुत से बन्दी शत्रुओं का बलिदान किया जाता था। इसी निर्दयता के कारण असीरियावालों को छोड़कर अन्य लोगों की श्रद्धा अस्सुर के प्रति न हो सकी। उनकी प्रमुख देवी नीना देवी थी, जो बेबीलानवालों की ईश्तर देवी के समान प्रेम की अधिष्ठात्री मानी जाती थी। इनके अलावा उन लोगों का विश्वास भूत-प्रेत आदि में भी था। इनके मतानुसार वे ही मनुष्य में शारीरिक और मानसिक विकार पैदा करते थे। उनकी बाधाओं को दूर करने के लिए अनेक प्रकार के मंत्रों, तंत्रों और टोटकों का प्रयोग किया जाता था। उनमें शकुन का बड़ा विचार था। वे देवताओं से बहुत डरते थे और उनको प्रसन्न करने के लिए अनुष्ठान और प्रार्थनाएँ किया करते थे। इनके देवता यद्यपि कठोर थे, किन्तु उचित अनुष्ठान और अपराधों की स्वीकृति एवं स्तुतियों द्वारा वे क्षमा





(ऊपर) ख़ोरसाबाद नामक स्थान में सम्राट् सारगन के महल से प्राप्त एक मिट्टी की तख़्ती, जिस पर कीलाक्षरों में असीरिया के ६५ सम्राटों का हाल लिखा है। (बाईं ओर) निमरूद में असुरनासिरपाल तृतीय के महल से प्राप्त एक पंखयुक्त नृसिंहाकार मूर्त्ति, जो अब ब्रिटिश म्यूज़ियम में है। (नीचे—बाईं ओर) असीरिया की लिपि। (दाहिनी ओर) ख़ोरसाबाद में सारगन के महल के प्रधान द्वार के ध्वंसावशेष, जिनके दोनों ओर पंखयुक्त नृसिंहाकार मूर्त्तियाँ हैं।









(ऊपर) युद्धभूमि में रथारूढ़ असीरिया के योद्धा; (नीचे) समृद्धि के दिनों में निनवे नगर कैसा रहा होगा, इसकी एक कल्पना।

कर देते थे। असीरियावालों में दार्शनिक भावों का अभाव-सा था। उन्होंने सृष्टि के रहस्य को समझने के लिए कोई चेष्टा नहीं की। किन्तु अपने धार्मिक विचारों में वे बड़े कट्टर थे और उनकी रक्षा एवं उत्कर्ष के लिए असहिष्णुता, क्रूरता और नृशंसता से काम लेने में ज़रा भी संकोच न करते थे।

शिक्षा-साहित्य—असीरिया में ज्ञान की कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। जो कुछ उन्होंने सीखा, वह सब बेबीलान से प्राप्त किया। तथापि वनस्पतियों की सूची और पदार्थों की तालिकाओं की रचनाएँ करके उन्होंने वनस्पतिशास्त्र और पदार्थविज्ञान की कुछ सेवा अवश्य की। उनकी एकत्रित की हुई सामग्री से यूनान (ग्रीस) वालों ने कुछ लाभ उठाया। उनके कुछ शब्द तो आज तक योरपीय भाषाओं में प्रचलित हैं। उनकी राज और विजय-प्रशस्तियों से इतिहास, लेखन-कला और प्राचीन इतिहास का अवश्य उपकार हुआ है। अक्षरों की रचना को सरल और सुन्दर बनाने का भी उन्होंने अच्छा प्रयत्न किया। किन्तु उनका सबसे महत्त्व-पूर्ण और आदरणीय कार्य पुस्तकालयों का संस्थापन और मसोपटेमिया के प्राचीन साहित्य का संरक्षण माना जाता है। आसूरबनिपाल के पुस्तकालय का महत्त्व मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया जाता है।

कला-कौशल—असीरियावालों ने दूसरों से धन लूट-लूटकर अपनी सेना और नगरों की अच्छी रचनाएँ कीं। उन्होंने आलीशान इमारतें बनवाईं, जिनसे गृह-निर्माण-कला की उन्नति हुई। उनकी बनाई हुई मेहराबें बेबीलोनियावालों से बहुत बड़ी और शानदार थीं। मूर्त्ति-कला और शिल्पकला से सजे हुए बड़े मेहराबदार फाटकों का फ़ैशन उन्हीं से रोम ने सीखा। मेहराबों और डाँट (Vaults) की रचना की उन्नति करने के अलावा उन्होंने पहलूदार तराश के खम्भों का ढंग भी शायद यूनानवालों को सिखाया। असीरियावालों का आदर्श सौन्दर्य न था, बल्कि वे विशालता के प्रेमी थे। उनके राजमहलों के दरवाज़ों पर पत्थर के पशुओं की मूर्त्तियाँ बनी रहती थीं। उनकी दीवालों पर ऐतिहासिक चित्र और मूर्त्तियाँ खचित होती थीं। फ़र्श पत्थरों से जड़ा रहता था और छत के नीचे का हिस्सा प्राकृतिक चित्रों से सजा रहता और ऊपर का हिस्सा सुनहले और रुपहले पत्रों से मढ़ा रहता था। दीवारों पर कहीं लकड़ी की नक़्क़ाशी बनी रहती और कहीं बहुमूल्य कामवाले पर्दे पड़े रहते थे। वे ईंटों, पत्थरों और संगमरमर का प्रयोग करते थे। महल प्रायः दो या तीन मंज़िल के बनाये जाते थे। पत्थर पर नक़्क़ाशी का काम और दीवारों पर चमकदार चिकने चित्र वे बेबीलोनियावालों से बढ़िया बनाते थे। जानवरों के, विशेषतः सिंह के शिल्पचित्र बनाने में वे बड़े कुशल थे। वे लकड़ी पर हाथीदाँत तथा सुनहले और रुपहले तारों की जड़ाई का भी बहुत अच्छा काम बनाते थे।

राजनीतिक विधान—असीरिया की प्रबल शक्ति उसकी भौगोलिक परिस्थिति पर अवलम्बित न थी। उसका मुख्य कारण उनका नैतिक विधान और सैनिक संगठन था। असीरिया का राज्य छोटे-छोटे राज्यों अथवा स्वतंत्र नगरों का समूहमात्र न था। वहाँ एक ही राजा राज्य करता था, जो सूर्य का पुत्र अथवा अवतार माना जाता था। वह असुर देवता के नाम से उसी की इच्छा के अनुसार शासन करता था। आसूरबनि-पाल और सेनाकिरिब ऐसे प्रबल योद्धा और बलवान् सम्राट् भी किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के आरम्भ में देवता की अनुमति पूछते थे। देवता के आवेश से प्रेरित होकर कोई व्यक्ति राजा को उत्तर देता था। ऐसे व्यक्ति ही राजा का पोशीदा तौर से नियंत्रण करते थे। अन्यथा राजा के अधिकार असीम और अनियन्त्रित थे। राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना अस्सुर को असन्तुष्ट करने के बराबर पाप था। राजा के लिए लड़ना, उसे कर देना, तथा उसकी आज्ञा का पालन करना प्रजा के लिए धार्मिक कर्त्तव्य अथवा देवता को प्रसन्न करने का साधन था।

राज्य कई प्रान्तों में विभक्त था। बड़े प्रान्तों में राजा अपनी ओर से एक गवर्नर नियुक्त करता था। गवर्नरी किसी का पैतृक अधिकार न था। हर्रान प्रान्त का गवर्नर (लिम्मू) सबसे बड़ा माना जाता था, क्योंकि राजा के बाद उसी का पद गिना जाता था। वह प्रमुख सेनापति (तर्तनु) भी कहलाता था। इसी प्रकार अन्य गवर्नरों के दर्जे भी निश्चित कर दिये गये थे। सब गवर्नर (शकनू अथवा उरसू) राजा के नौकर और आज्ञानुवर्ती थे। प्रान्त कई ज़िलों (पह्नती) में विभक्त था। बड़े ज़िले का हाकिम 'शकनू' कहलाता था। किन्तु अन्य प्रान्तों में वे 'अमलू' अथवा 'शनू' कहलाते थे। उनकी सहायता के लिए 'ख़ज़नू' आदि कई पदाधिकारी होते थे। शान्ति रखना, कर वसूल करना, सरकारी इमा-रतों आदि के लिए मज़दूर जमा करना और सेना एकत्रित करना आदि गवर्नर के कर्तव्य थे। असीरिया का प्रान्तिक शासन क़रीब-क़रीब वैसा ही था जैसा कि रोम राज्य का था। यह उसके संगठन का प्रमाण है। राज्य का शासन सुसंगठित और सुव्यवस्थित था। राजद्रोह अथवा अराजकता का दमन

बलपूर्वक किया जाता था। यदि किसी प्रान्त या स्थान में निरन्तर उपद्रव रहने की आशङ्का हुई तो वहाँ की सारी प्रजा को दूरस्थ स्थानों में तितर-बितर करके फैला देने की नीति का अवलम्बन किया जाता था। प्रान्तों और स्थानों-स्थानों में घूमकर राजा के दूत और जासूस सब प्रकार के और विशेषतः शासन-सम्बन्धी समाचार निरन्तर राजा के पास भेजा करते थे। इनको शीघ्रातिशीघ्र ले जाने के लिए डाक-चौकी का अच्छा ख़ासा प्रबन्ध था। वहाँ का दण्ड-विधान क्रूर और प्रतिहिंसात्मक था। बेगारी कराने, जनता में बेइज़्ज़त करने, कोड़े मारने, क़ैद करने, नाक, कान, जननेन्द्रिय और गरदन काटने, जीभ और आँख खींचने, ज़हर देने, पानी में डुबाने, जला देने आदि तरह-तरह के रोमाञ्चकारी दण्ड देने का विधान था। व्यभिचार, बलात्कार और बाज़-बाज़ क़िस्म की चोरियों के लिए प्राण-दण्ड देने का नियम था। इतनी कठोर व्यवस्था के होते हुए भी कुछ-न-कुछ उपद्रव होता ही रहता था, जो कि अन्त में राज्य के विनाश का एक मुख्य कारण हो गया।

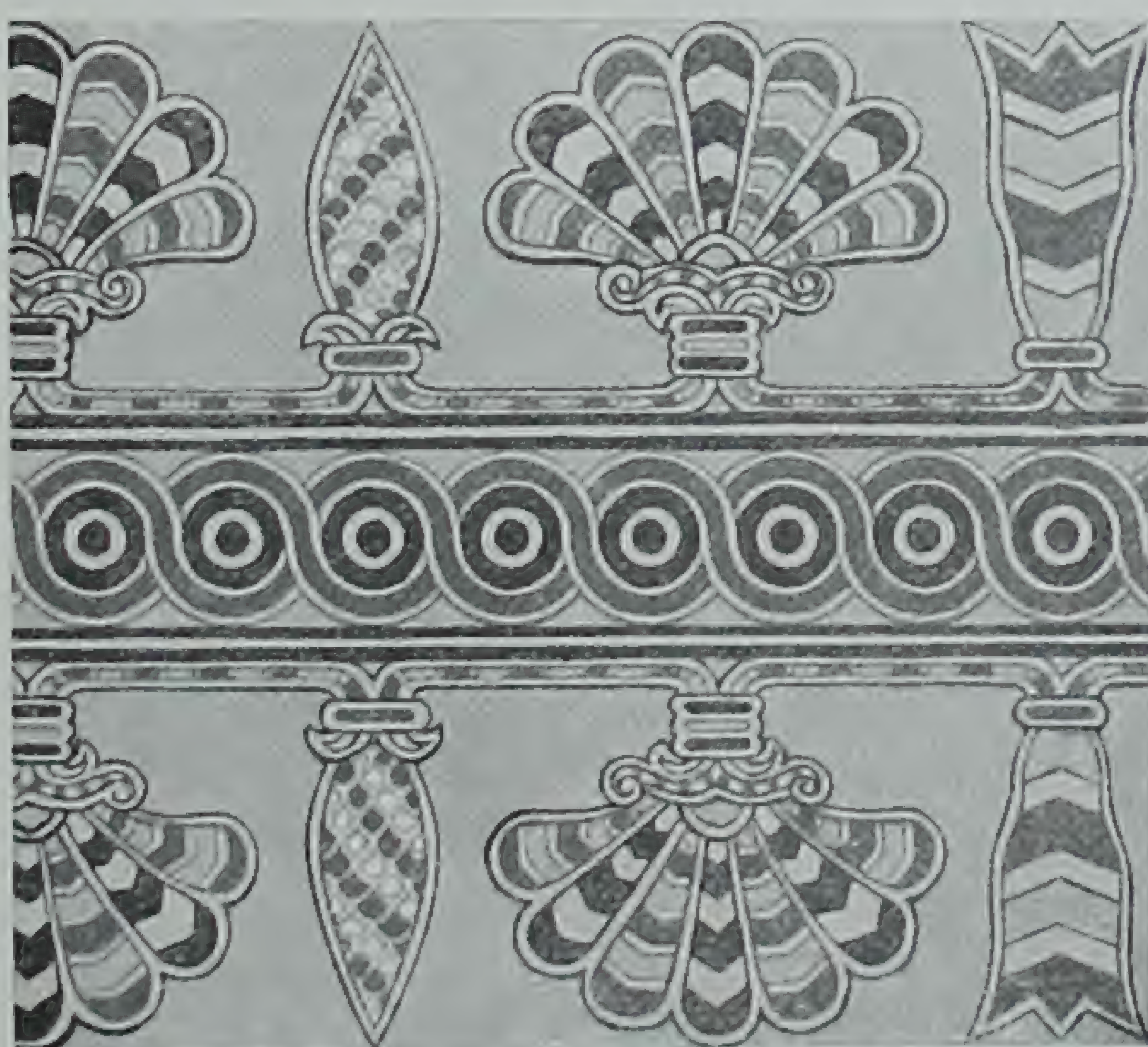


असीरिया के किसी देवता या पुरोहित की एक उभड़ी हुई मूर्त्ति का शीश भाग

असीरिया की कलाकृतियों में देवताओं और मनुष्यों दोनों के दाढ़ी और घने बाल होते हैं। यह उभड़ी हुई मूर्त्ति का टुकड़ा निनवे के ध्वंसावशेषों से प्राप्त हुआ है। इसमें अंकित व्यक्ति की आकृति से पता चलता है कि असीरियन लोग कैसे दिखते रहे होंगे।

सेना—असीरिया की शक्ति के मुख्य कारणों में उसकी सेना थी। सेना में धार्मिक जोश और जातीय उत्साह तो था ही; उसका संगठन तथा युद्ध-कला-कौशल भी ऊँचे दर्जे का था। कहा जाता है कि (यूनान के) सिकन्दर के पहले सैनिक संगठन और युद्ध-कौशल असीरिया के समान किसी जाति का न था। वहाँ के जवानों को शारीरिक सौन्दर्य का इतना शौक़ न था, जितना कि शारीरिक दृढ़ता और बल का था। सैनिक प्रबलता के लिए ही वहाँ देवता, धर्म, राजा, शासन और प्रजा का संगठन किया गया था; क्योंकि सैनिक प्रबलता से अपने प्रभुत्व को स्थापित रखना ही उनका मुख्य ध्येय था। उन लोगों को छोड़कर जो सैनिक कर अथवा अपनी एवज़ में सिपाही दे सकते थे, संभवतः प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य था कि वह सेना में लड़ने के लिए तैयार रहे। सिपाही दो प्रकार के होते थे—एक तो वे जो बाक़ायदा क़वायद सीखते थे और दूसरे जो ख़ास अवसरों पर कुछ काल के लिए बुला लिये जाते थे। सेना के चार अङ्ग थे—रथारोही, अश्वारोही, पदाती और सफ़रमैना (Sappers & miners)। सेना दस-दस और पचास-पचास के जत्थों में श्रेणीबद्ध थी। सेना के चारों अङ्गों का सामूहिक संगठन भी अच्छा था। ये लोग बर्छों, तीर-कमानों और ढालों का प्रयोग करते थे। पहियों पर सुरक्षित मचान बाँधकर लड़ने, यंत्र द्वारा संचालित व भारी-भारी घनों से दीवालों को तोड़ने, सुरंग लगाने और दुर्जय क़िलों की रचना करने का उन्हें अच्छा ज्ञान था। वे प्रायः लोहे के शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करते थे। असाधारण परिस्थिति में कार्यविशेष के लिए सर्वसाधारण जनता से सेना एकत्रित की जाती थी। अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक स्वस्थ पुरुष को अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग और सैनिक व्यवहार की साधारण शिक्षा दी जाती थी, ताकि समय पड़ने पर वह व्यवस्थित सेना के साथ कुशलतापूर्वक सहयोग कर सके। जब तक वह सेना में कार्य करता था तब तक उसके

भोजन-छाजन और ख़र्च का भार राज्य उठाता था। युद्ध समाप्त होने पर लूट का भारी अंश सैनिकों में बाँट दिया जाता था। सफल युद्ध से सैनिक को शान्तिकाल से प्रायः अधिक लाभ होता था, इसीलिए लोग युद्ध के लिए लालायित रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि असीरियावालों ने युद्ध-कौशल में अपूर्व उन्नति की। सैनिक बल को ही उन्होंने अपने राष्ट्र की नींव बना रखी थी। निरन्तर युद्ध करने से उनमें क्रूरता और निर्दयता बहुत बढ़ गई थी। पराजित शत्रुओं को ग़ुलाम बनाना, उनके साथ पशुओं का-सा व्यवहार करना, उनको अनेक प्रकार से बेइज़्ज़त करना, रोमाञ्चकारी शारीरिक दण्ड देना और देवताओं की बलि चढ़ा देना अथवा क़त्लआम करा देना असीरियावालों के लिए साधारण बात थी! सैनिक शक्ति का ह्रास होते ही असीरियावालों का राज्य नष्ट हो गया। केवल उनकी क्रूरता और निर्दयता की स्मृति संसार में बाक़ी रह गयी।



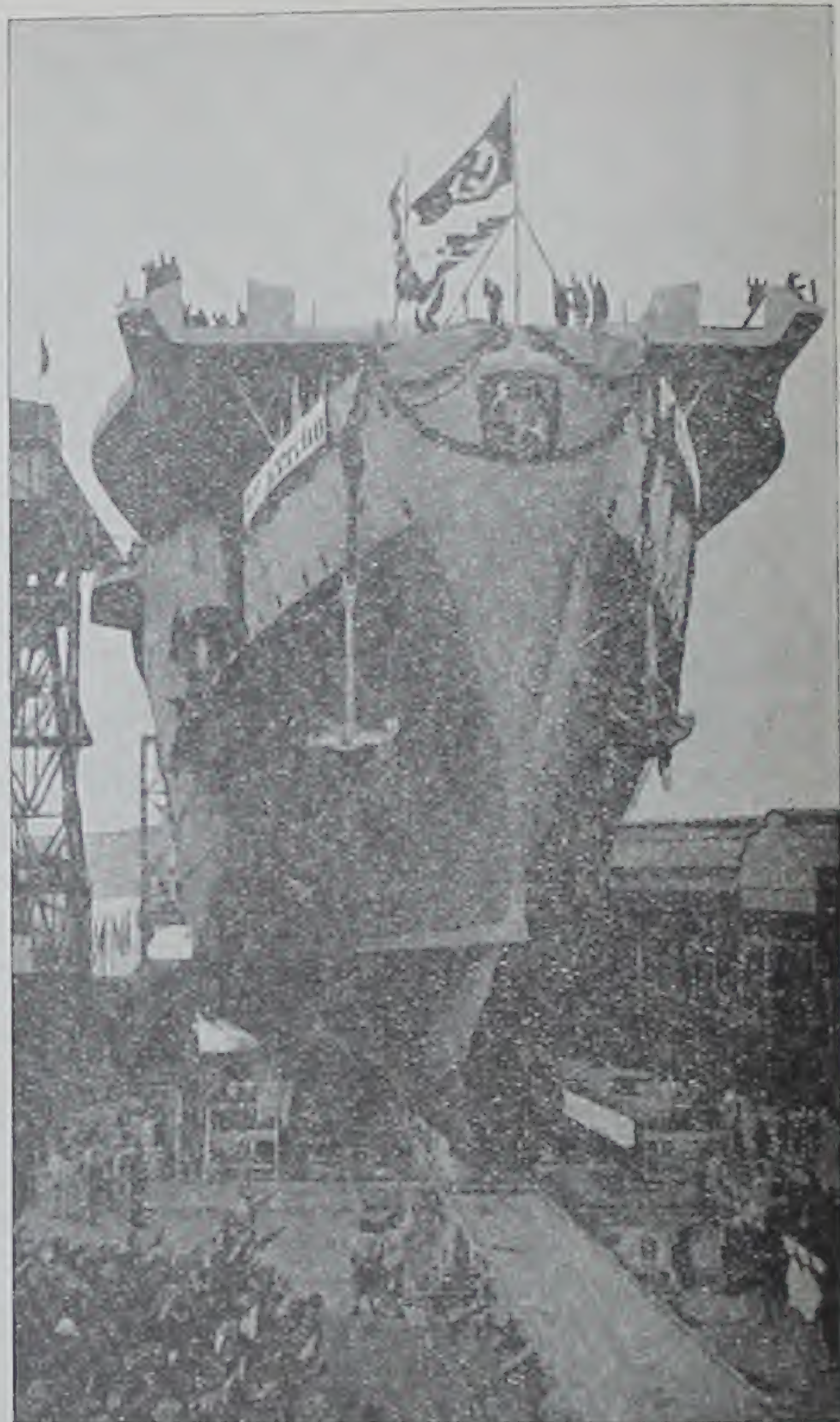
असीरिया की कला का एक नमूना

असीरियावाले दीवारों पर चमकदार चिकनी ईंटों या टाइल्स को जोड़कर तथा उन पर रंगीन काम करके सुंदर चित्रकारी करने में बड़े पटु थे। इस काम में वे बेबीलोनियावालों से भी अधिक आगे बढ़े हुए थे। ऊपर के चित्र में निमरुद से प्राप्त इसी प्रकार के एक रंगीन मोज़क का नमूना है।

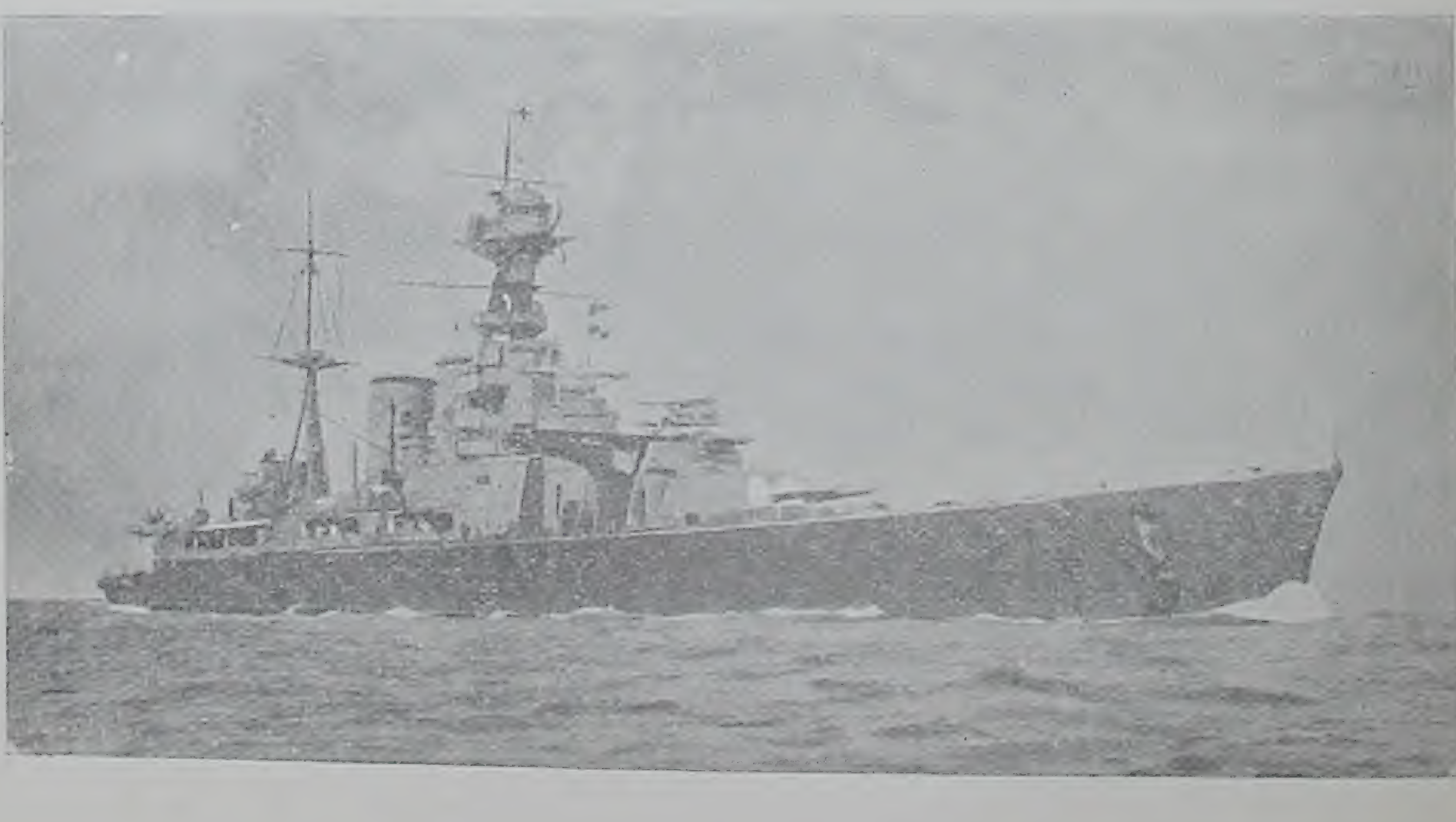
पतन के कारण— असीरिया के पतन के वे ही कारण कहे जाते हैं जिनसे मसोपटेमिया की सभ्यता का विनाश हुआ था। इनमें एक यह है कि वहाँ के लोगों में निर्दयता का भाव और क्रूरता का व्यसन था। मनुष्य की मानवता का आदर करना तो दूर रहा, वे उसका सर्वथा निरादर करते रहे। दूसरा यह कि असीरियावालों ने स्त्रियों का उचित मान और आदर करना न सीखा। उन्होंने इन्हें दबा ही रहने दिया और पुरुष की अनुचरी बनाये रखा। अतः व्यभिचार और दुराचार का आधिक्य हो गया, जिससे उनका सामाजिक और मानसिक बल क्षीण हो गया। किन्तु सबसे बड़ा और सम्भवतः एकमात्र कारण यह है कि आसूरबनिपाल की मृत्यु के बाद वहाँ कोई पराक्रमी, प्रयत्नशील और तेजस्वी राजा न हुआ। इसी कारण गवर्नर और प्रमुख सेनानायक स्वतंत्र बन गये, जिससे साम्राज्य के जोड़-जोड़ खुल गये और वह शत्रुओं के वेग को न सह सका। निरन्तर युद्ध करने के कारण पहले तो राज्य और फिर साम्राज्य में व्यापार और व्यवसायों का नाश हुआ, जिससे वहाँ की आर्थिक दशा अस्तव्यस्त हो गई, कृषि में भी विघ्न पड़ गया और अधिकांश योद्धाओं का निधन हो गया। सेना में विजातियों और ग़ुलामों की वृद्धि होने के कारण उसका देश और जातिप्रेम, उत्साह और वीरत्व क्षीण हो गया। परिणाम यह हुआ कि राज्य ही नहीं, बल्कि अस्सुर के विशद प्रासाद और विशाल मन्दिर तक समूल मिट्टी में मिल गये।

यद्यपि असीरिया ने मिस्र आदि देशों के समान सभ्यता के उत्कर्ष में कोई भारी सेवा नहीं की, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इतिहास में उसका कोई महत्त्व नहीं। असीरियावालों ने साम्राज्य-संगठन में अच्छी उन्नति दिखाई। कहा जाता है कि उन्होंने ही उस सार्वभौमिक साम्राज्य की कल्पना और संगठन का मार्ग दिखाया जो रोम-साम्राज्य में अपनी पराकाष्ठा को पहुँचा। उनकी गृहनिर्माण-कला ने एशिया में उस कला का आरम्भ कर दिया जो आगे चलकर आदरणीय विशालता को पहुँची। उनके राजनीतिक और धार्मिक भावों और कृतियों ने वह वातावरण उपस्थित कर दिया, जिससे हिब्रू जातिवालों ने ईश्वर की उस विशाल कल्पना की सृष्टि कर दी, जिसने आगे चलकर संसार में नई क्रान्ति और शान्ति के साधन उपस्थित कर दिये। यह कल्पना एक दयामय, प्रेममय, दीनवत्सल, न्यायकारक ईश्वर की अखण्ड सत्ता की थी।





(ऊपर) कोलंबस का प्रधान जहाज़ 'सांता मेरिया' जिस पर यात्रा कर उसने 'नई दुनिया' की खोज की थी। इस जहाज़ द्वारा अटलांटिक महासागर को पार करने में ३६ दिन लगे थे। (दाहिनी ओर) १९ हज़ार टन का एक वायुयानवाहक जंगी जहाज़ पहले-पहल समुद्र में उतारा जा रहा है। (नीचे) ४२ हज़ार टन का एक आधुनिक ब्रिटिश रणपोत।





समुद्र पर विजय

साधारण डोंगी से विशालकाय जहाज़ों तक कैसे पहुँचे ?

प्रकृति पर विजय संबंधी मनुष्य की अमर गाथाओं में समुद्र पर उसकी विजय एक ख़ास महत्त्व रखती है। सागर की जो अनंत जलराशि सदियों से विभिन्न भूभागों को एक-दूसरे से विभाजित किए हुए थी वही मनुष्य के कौशल द्वारा आज सारी मानव-जाति के पारस्परिक संसर्ग और यातायात का मुख्य साधन बन गई है। कैसे? आइए, इसका हाल आपको सुनाएँ।

अतीत के धुँधले प्रकाश में जब मनुष्य ने पहली बार देखा कि पानी पर तैरते हुए सूखे लट्ठे उसका भार भी सँभाल सकते हैं, तो उसके आश्चर्य और उल्लास की सीमा न रही। सामने सैकड़ों मील तक फैला हुआ समुद्र अब तक उसके लिए एक वर्जित क्षेत्र था, किन्तु इस नवीन खोज ने उस वर्जित प्रदेश में घुसने के लिए पहली बार उसे साधन प्रदान किया।

जाने कितने साल के प्रयोग तथा लगातार ग़ल्तियों के बाद अपने बेढंगे बेड़े को नाविक इस क़ाबिल बना पाया होगा कि उस पर बैठकर वह क्षितिज के उस पार दिखाई देने-वाले द्वीप तक सही सलामत पहुँच सके। ज़रा कल्पना तो कीजिए, यह साहसी नाविक जब अपनी पहली समुद्र-यात्रा से लौटकर उस द्वीप से एक सुन्दरी युवती साथ में लाया होगा तो उसके देशनिवासियों ने कितने उल्लास के साथ उसका स्वागत किया होगा!



आदिकाल के लोगों ने निस्संदेह लकड़ी के लट्ठों के बेड़े पर ही सर्वप्रथम जलयात्रा करना सीखा होगा। पर आगे चलकर वे पेड़ के तने को खोखला बनाकर डोंगी बनाना भी सीख गये।

उस दिन तक क्षितिज पर दिखाई देनेवाला द्वीप उनके लिए एक दुर्लभ रहस्य की वस्तु थी। इस वीर नाविक ने ही पहली बार इस रहस्य का उद्घाटन किया। देश के इस लाड़ले का समूचे देश में पूजा होना उचित ही था। उस साहसी नाविक के शौर्य्य से उत्साहित होकर उसके अन्य साथियों ने कहा होगा "आओ, फिर चलें और अन्य द्वीपों पर छापा मारकर अतुल धनराशि, ढोर तथा स्त्रियाँ जीत लाएँ।"

किन्तु नाविक ने गम्भीर स्वर में जवाब दिया होगा—"नहीं, मेरे भाई। समुद्र की उत्ताल तरंगें बहुत ही ख़तरनाक हैं। यह तो निरे संयोग की बात है कि मैं इस बेढंगे बेड़े पर सही सलामत लौट आया। हमें अब समुद्रयात्रा करने के पहले मज़बूत और बड़ी नावें बनाना चाहिए जो लहरों की चपेट को सह सकें, और साथ ही हमारे लड़ाकू साथियों का बोझ भी सँभाल सकें, क्योंकि उस द्वीप के निवासी लड़ना भी बख़ूबी जानते हैं।"

पिछले चार-पाँच हज़ार वर्ष के इतिहास में समुद्रयान के विकास की एक लम्बी कथा निहित है। इस कहानी की एक-एक कड़ी जोड़ने के लिए सैकड़ों व्यक्तियों ने अपनी अमूल्य जानें खोई हैं। इनकी अपूर्व लगन और बलिदान का ही नतीजा है कि आज आदिम बेड़े ने परिष्कृत होकर ऐसे बड़े-बड़े जलपोतों का रूप धारण किया है, जो मीलों दूर तक फैले हुए समुद्र के वक्षःस्थल पर तैर रही विशाल नगरी जैसे दिखाई देते हैं। आदि काल के लोगों

ने निस्सन्देह लकड़ी के लट्ठों पर सर्वप्रथम जलयात्रा करना सीखा था। विज्ञान की इस बीसवीं शताब्दी में भी लट्ठे के बने हुए बेड़े पूर्वी द्वीप-समूह के मूलनिवासी काम में लाते हैं। ये लट्ठे दोनों सिरों पर नुकीले बना लिये जाते हैं ताकि पानी की सतह पर तेज़ी के साथ ये आगे को बढ़ सकें।

ऑस्ट्रेलिया के तट पर सरकण्डों को एक दूसरे से बाँध कर बेड़े तैयार कर लेते हैं। मद्रास के समुद्र-तट पर भी तीन या ज़्यादा लट्ठों को नारियल के रेशे से बटी हुई रस्सी से एक दूसरे से बाँधकर बेड़े बना लेते हैं। पेरू में तो बहुत ही चौड़े-चौड़े बेड़े बनाये जाते हैं। कोई-कोई २० फ़ीट तक चौड़े होते हैं। इनमें पाल टाँगने का भी प्रबन्ध रहता है। समुद्र पर विजय प्राप्त करने के आदि प्रयत्न के ये स्मृतचिह्न हैं, जिन्हें भिन्न-भिन्न देशों के मूल निवासी अब भी अपनाये हुए हैं।

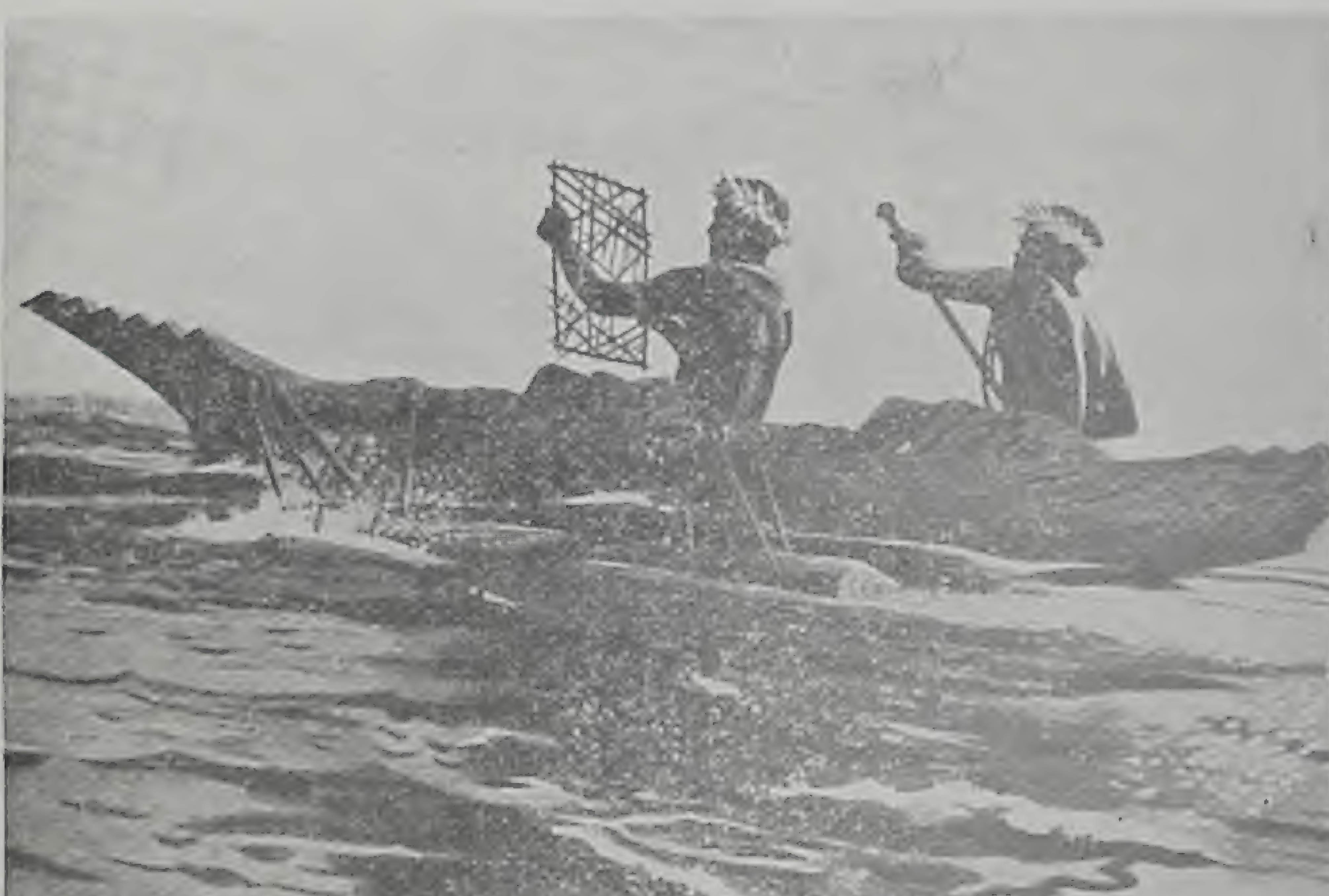
बेड़ों के ऊपर समुद्र की ऊँची लहरों का पहुँचना कुछ मुश्किल न था। अतः बेड़े पर लदे हुए सामान को भीगने से बचाने के लिए बेड़े के ऊपर एक ऊँचा-सा चबूतरा बनाने की बात लोगों ने सोची। आधुनिक जहाज़ के डेक की कल्पना का मानो उसी दिन जन्म हुआ।

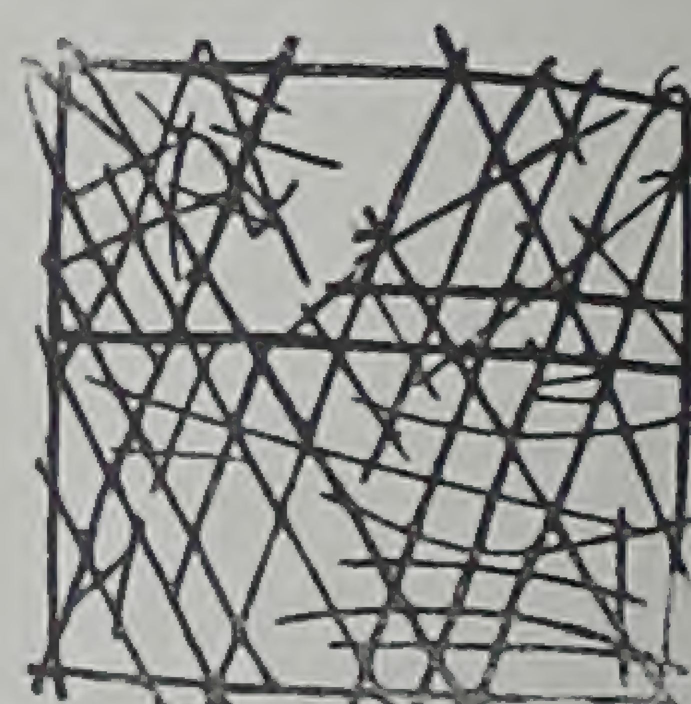
बेड़े के बाद जलयान के विकास की दूसरी सीढ़ी डोंगियों के निर्माण से आरम्भ होती है। पेड़ के भारी तने को खोखला करके उसे पानी में तैरा सकना तत्कालीन नाविकों के लिए एक महत्वपूर्ण घटना थी। कुछ लोगों का ख़याल है कि पानी में तैरते हुए शंख तथा घोंघे को देखकर मनुष्य के दिमाग़ में डोंगी बनाने का ख़याल पैदा हुआ। जो कुछ भी हो, यह बात निश्चय रूप से कही जा सकती है कि सभ्यता के शैशव-काल में भी भिन्न-भिन्न देश के लोग डोंगियाँ बनाना जानते थे। यह ज़माना प्रस्तर-युग का था।

पत्थर की छेनियों से पेड़ के तने का पेटा खोखला करने में काफ़ी परिश्रम और समय लगता था, अतएव आग की मदद से भी पेटे के भीतरी हिस्से को जलाकर खोखला कर लेते थे।

इसके बाद छाल की डोंगियाँ भी बनने लगीं। छाल की डोंगी की शक्ल तनी हुई रखने के लिए ज़रूरी था कि डोंगी के भीतर एक ढाँचा लकड़ी के डण्डों का फ़िट किया जाता। यह आविष्कार भी जलयान के विकास के इतिहास में विशेष महत्व रखता है, क्योंकि ढाँचेयुक्त किश्ती का प्रादुर्भाव इसी आविष्कार के साथ हुआ। कुछ देशों में, जहाँ ढाँचे पर चढ़ाने के लिए उपयुक्त छाल नहीं मिल सकती थी, जानवरों की खाल या कोलतार का पुता हुआ नमदा प्रयोग में आने लगा। किश्ती के अन्दर के इसी ढाँचे ने कुछ सदियों बाद विशालकाय जहाज़ों के ढाँचे का रूप ले लिया।

फिर लकड़ी की तख़्तियों को एक-दूसरे से रस्सी द्वारा





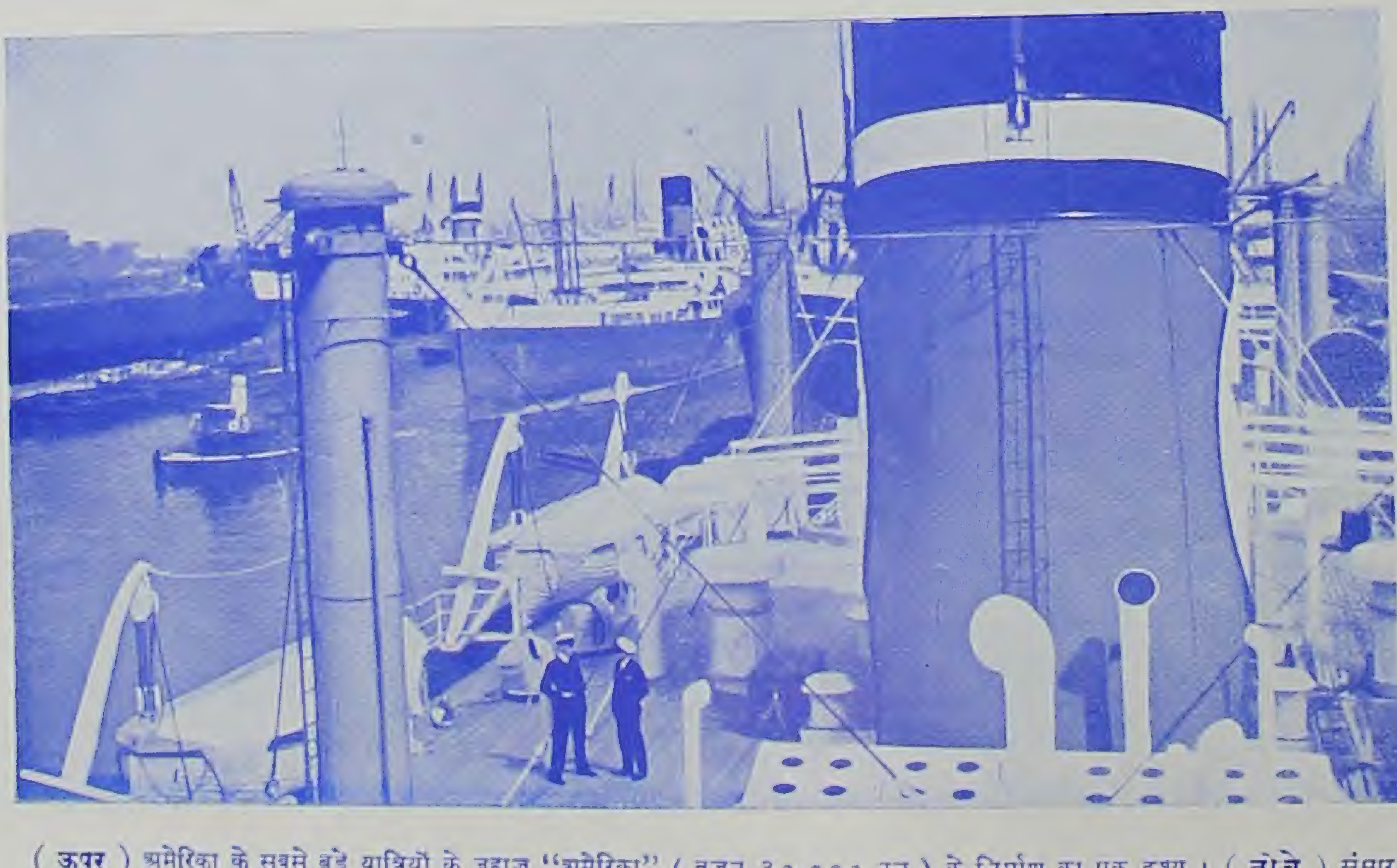
सदियों से पोलीनेशिया के द्वीपों के आदिम निवासी अपनी मामूली नौकाओं पर इसी तरह तूफ़ानी समुद्रों की यात्रा करते रहे हैं। वे यात्रामें मार्ग-निदर्शन के लिए घास या लकड़ी की तिल्लियों के ऐसे ही नक़्शे बना कर साथ रखते थे जैसा कि चित्र में एक नाविक के हाथ में और दाहिनी ओर अलग से दिखाया गया है। इन नक़्शों द्वारा वे दिशा, ज्वार-भाटा, वायु की दिशा आदि का लेखा रखते थे।



समुद्र पर विजय

कुछ लकड़ियों को आपस में बाँधकर जिस दिन मनुष्य ने पहले-पहल अपना साधारण भोंडा बेड़ा समुद्र की छाती पर उतारा था, उस दिन क्या उसे मालूम था कि उसका यही साधारण बेड़ा एक दिन 'क्वीन मेरी' जैसे ८०,००० टन वज़न के भीमकाय जहाज़ों का रूप ले लेगा!





(**ऊपर**) अमेरिका के सबसे बड़े यात्रियों के जहाज़ "अमेरिका" (वज़न ३०,००० टन) के निर्माण का एक दृश्य । (**नीचे**) संसार के सबसे बड़े बंदरगाह, लंदन, के रॉयल अलबर्ट डॉक का दृश्य । यहाँ संसार भर के जहाज़ आते-जाते रहते हैं ।



प्राचीन मिस्र की एक नौका का नमूना

डोंगी और किश्ती से आगे बढ़कर भारी जहाज़ बनाने की नींव डालने का श्रेय मिस्रवालों को ही प्राप्त है। मिस्र के बड़े जहाज़ों में कई डाँड़ चलाये जाते थे और उनमें पाल भी लगाये जाते थे।

बाँधकर किश्ती बनाना भी लोगों ने सीखा। इन किश्तियों में लचक बहुत काफ़ी होती है, अतः समुद्र की लहरों के थपेड़ों की चोट से ये लच भले ही जायँ पर टूट नहीं सकतीं, जब कि मामूली ढाँचेवाली किश्ती चूर-चूर हो जाती है। मद्रास के समुद्र-तट पर इस प्रकार की किश्तियाँ प्रचुरता से देखने में आती हैं। इन किश्तियों की बाहरी खोल पहले तैयार कर लेते हैं, फिर उनके भीतर लम्बे और आड़े डण्डे फ़िट कर देते हैं। इन डण्डों का मुख्य काम डेक का चबूतरा सँभालना होता है।

पैसिफ़िक तट के देशों में इस क़िस्म की लचीली किश्तियों का रिवाज बहुतायत से था। इनमें से कुछ एक किश्तियों की समाई तो २०० टन तक पहुँचती थी। इसी ढंग की किश्तियों में सवार होकर भारत के नाविकों ने हज़ारों वर्ष पूर्व सुमात्रा-जावा आदि देशों में आर्य सभ्यता का प्रकाश पहुँचाया था। आकाश के तारे, चिड़ियों की उड़ान तथा अपनी सहज बुद्धि के भरोसे ये दिशा का अन्दाज़ लगाते थे। न उनके पास क़ुतुबनुमा था न दिशासूचक अन्य साधन ही, जो आजकल के नाविकों को लभ्य हैं। फिर भी प्रशान्त महासागर की असीम जलराशि को पार कर ये कभी-कभी मैक्सिको तक भी पहुँच जाते थे।

इनके पास न टिन के बिस्कुट थे न मुरब्बे, या जमा हुआ दूध और चीनी। फिर भी छः-छः महीने की लम्बी यात्रा पर ये लोग अपने बाल-बच्चों को लेकर निकल पड़ते थे। ग़ज़ब का था उनका आत्मविश्वास और ग़ज़ब की थी उनकी हिम्मत! पीने के लिए नारियल में भरकर पानी साथ ले लेते थे और यदि रास्ते में वर्षा हुई तो उस वर्षा का ही जल ताड़ की बुनी चटाइयों में बटोर लेते थे।

जलयान-निर्माण में अगला क़दम पोलिनेशिया के द्वीपों के लोगों ने बढ़ाया। किश्ती की बाज़ू के तख़्तों को एक-दूसरे से सम्बन्धित रखने के लिए सर्वप्रथम लकड़ी की खूँटियों का इस्तेमाल उन्हीं लोगों ने किया। मिस्र में नील नदी में चलनेवाली किश्तियों में भी लकड़ी की खूँटियों से तख़्ते जड़े जाते थे।

जलयान के इतिहास में मिस्र का एक अपना विशिष्ट स्थान रहा है। ईसा से लगभग ३००० वर्ष पूर्व मिस्र-निवासी पालवाली किश्तियाँ बनाना जानते थे। इनकी किश्तियों में अक्सर दो मस्तूल लगे रहते थे। ऊपर सिरे पर ये दोनों मस्तूल जुड़े हुए रहते थे। इन किश्तियों का आकार भी काफ़ी बड़ा होता था। मवेशियों को लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना इनके लिए मुश्किल न था। बड़ी किश्तियों में २४ जोड़े डाँड़ चलते थे। पतवारों की संख्या भी चार-पाँच से कम न रहती थी। प्रायः इन किश्तियों का अगला सिरा ऊँचा उठा रहता, ताकि शत्रु के छोड़े गये तीर डाँड़ चलानेवालों को न लगकर इसी उठे हुए भाग से टकरा जायँ।

डोंगी और किश्ती से आगे बढ़कर सर्वप्रथम भारी भरकम जहाज़ बनाने का श्रेय मिस्र-निवासियों को ही प्राप्त है। जहाज़-निर्माण की कला मिस्र से ही यूनान, रोम तथा लालसागर के रास्ते पूर्व के देशों तक फैली। भिन्न-भिन्न देशवालों ने इस हुनर में तरह-तरह की उन्नति का समावेश किया। रोम और यूनानवालों ने डाँड़ों की दुहरी और तिहरी पंक्तियाँ अपने जहाज़ों में बिठाईं ताकि जहाज़ की लम्बाई बढ़ाये बग़ैर ही डाँड़ों की शक्ति बढ़ सके। डाँड़ चलानेवालों की पहली पंक्ति सबसे किनारे की ओर बैठती, फिर उसके बाद भीतर की ओर दूसरी पंक्ति, और केन्द्रीय

क़तार के पास तीसरी पंक्ति रहती। तीसरी पाँत में बैठनेवाले नाविकों के डाँड़ सबसे लम्बे होते थे—कभी-कभी इन डाँड़ों की लम्बाई ५० फ़ीट तक पहुँचती थी!

फिर भी बावजूद इन सुधारों के आज से सौ-दो सौ वर्ष पहले तक समुद्र की यात्रा बहुत-कुछ अंशों में समुद्री वायु पर ही निर्भर रहा करती थी। समुद्र के उन भागों में, जहाँ हवा एकदम शान्त रहती है, यदि ये जहाज़ पड़ जाते तो प्रायः महीनों वे वहीं पड़े रहते और उपयुक्त हवा का आसरा ताकते रहते थे। नाविकों का बाहुबल और पाल की हवा, बस इन्हीं के भरोसे ये लोग अपनी लम्बी यात्राएँ पूरी करते थे। फिर भी इन साधारण किश्तियों की मदद से तत्कालीन नाविकों ने कमाल कर दिखाया था।



भारतवर्ष में सतलज नदी पर काम में लाई जानेवाली मशक की नौकाएँ
इस तरह जानवरों की खालों को सीकर और उनमें हवा भर एक दूसरे से बाँध दिया जाता है, जिससे काफ़ी वज़न का बोझ उठा सकनेवाला एक ख़ासा बेड़ा तैयार हो जाता है।

कुछ दिनों बाद इन किश्तियों में डाँड़ के स्थान पर हत्थे लगे पहिए काम में लाए जाने लगे। इन पहियों को नाविक अपने हाथ से घुमाता था। पहिये के घूमने पर हत्थों द्वारा पानी ज़ोरों से कटता और किश्ती आगे को बढ़ती थी। किसी-किसी किश्ती में पहिये घुमाने का काम बैलों से भी लिया जाता था। तदुपरान्त इस काम के लिए भाप के इंजिनों का प्रयोग करने की बात भी सोची गई। भाप के इंजिनों के आविष्कार ने समुद्र-यात्रा के इतिहास में एक नवीन युग का समावेश किया। सर्वप्रथम स्टीम-बोट तैयार करने का श्रेय एक फ्रेञ्च वैज्ञानिक डेनिस पेपिन को प्राप्त है।

बेचारे पेपिन की भी कहानी बड़ी करुणाजनक है। लगभग २०० वर्ष पूर्व की बात है। राजनीतिक कारणों की वजह से पेपिन को फ्रांस छोड़ना पड़ा। फिर इंगलैंड और इटली में कई साल घूमने के बाद उसने जर्मनी में शरण ली। यहीं पर उसने अपनी स्टीम-बोट तैयार की। उसकी वर्षों की संचित मनोकामना पूरी हुई। किन्तु तत्कालीन लोकमत मशीन द्वारा परिचालित वाहन के एकदम ख़िलाफ़ था। पेपिन को भी रूढ़िवादिता के सामने हार माननी पड़ी। ब्रमेन के म्यूनिसिपल अधिकारियों से उसने आज्ञा प्राप्त करनी चाही कि वह अपनी स्टीम-बोट वेजर नदी में जाँच करने के लिए चला सके। म्यूनिसिपल अधिकारियों ने उत्तर दिया कि ऐसी आज्ञा प्रदान करने के रास्ते में भारी अड़चनें हैं, जिनका यहाँ ज़िक्र करना आवश्यक नहीं है। अतः तुम्हें स्टीम-बोट चलाने की आज्ञा नहीं मिल सकती।

बेचारे पेपिन की तमाम आशाओं पर पानी फिर गया। यही नहीं, आस-पास के मल्लाहों ने पेपिन के घाट पर धावा बोलकर उसके स्टीम-बोट के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। पेपिन किसी प्रकार जान बचाकर इंगलैंड भागा, और वहीं तीन साल उपरान्त मर गया। अपने जीवन में वह स्टीम-बोट का पानी पर चलना न देख सका।

तदुपरान्त इंगलैंड के लोगों का ध्यान स्टीम-बोट की ओर आकर्षित हुआ, किन्तु कोई भी सही ढंग का मॉडल तैयार न कर सका। अमेरिका और फ्रांस में अवश्य स्टीम-बोट तैयार किये गये, किन्तु वे भी सन्तोषजनक न थे। तब स्कॉटलैंड में पैट्रिक मिलर ने दो किश्तियोंवाली एक स्टीम-बोट तैयार की। दोनों किश्तियों के बीच एक हत्थेवाला पहिया लगा हुआ था। ब्वॉयलर एक किश्ती पर था और

इंजिन दूसरी किश्ती पर। यह विचित्र स्टीम-बोट ५ मील फ़ी घंटे की रफ़्तार से पानी पर चली थी। इसके इंजिन में केवल एक अश्वबल की शक्ति थी, अतः यह मॉडल निरा खिलौना-सा था। किन्तु फिर भी उसने इंगलैंड के इंजीनियरों के लिए पथ-प्रदर्शक का काम किया। यह घटना सन् १७८७ की है। कुछ ही वर्ष उपरान्त हेनरी वेल नामक एक उत्साही नवयुवक ने १८१२ में क्लाइड नदी में अपना बनाया हुआ स्टीमर उतारा। इंगलैंड का यह सर्वप्रथम पैसेन्जर स्टीमर था। इस स्टीमर का नाम "कामेट" था। नियमित रूप से यह स्टीमर मुसाफ़िरों को एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाता था। इसकी रफ़्तार ८ मील प्रति घंटा थी। इसकी लम्बाई ४० फ़ीट और चौड़ाई १० फ़ीट थी। इसके इंजिन में ४ अश्वबल की शक्ति थी।

थोड़े ही दिनों में 'कामेट' के अतिरिक्त और भी स्टीमर नदियों में चलने लगे! फिर तो समुद्र में चलने योग्य स्टीमर भी तैयार किये गये।

इंगलैंडवालों ने शीघ्र ही जहाज़ों के निर्माण के लिए लोहे का प्रयोग किया। इन्हीं दिनों में ५ इंच मोटी लोहे की चद्दर से ७० फ़ीट लम्बी एक स्टीम-बोट लंकाशायर में तैयार की गई। इस स्टीमर का वज़न ८ टन था। फिर और भी कई स्टीमर लोहे की चद्दरों से बनाये गये। १८१७ में क्लाइड नदी के किनारे विल्सन नामक एक बढ़ई ने एक लोहार की सहायता से जहाज़ बनाने का कारख़ाना खोला। उसने लोहे की चद्दरों से विशालकाय जहाज़ तैयार करने की योजना बनाई। जिन दिनों वह अपना पहला जहाज़ बना रहा था, पास, पड़ौस के लोग आते और उसका मखौल उड़ाते कि क्या तुम समझते हो कि लोहा पानी पर तैर सकेगा? तब विल्सन जवाब देता, 'अपने कनस्टर को पानी के ऊपर फेंककर देखो।' विल्सन ने अपने स्टीमर 'वल्कन' को जब पानी में डाला, तो अब तक जो लोग उसका मज़ाक उड़ाते थे, वे ही लोग उसकी प्रशंसा करने लगे। पूरे ७० वर्ष तक 'वल्कन' मुसाफ़िरों के ढोने का काम करता रहा।

अब बड़े आकार के जहाज़ भी बनने लगे। १८४३ में 'ग्रेटब्रिटेन' नामक जहाज़ अटलांटिक को पारकर अमेरिका से व्यापार करने के लिए बनाया गया। यह जहाज़ ३२२ फ़ीट लम्बा था, और इसका वज़न ३००० टन से भी अधिक था। इन जहाज़ों में पाल टाँगने का भी इन्तज़ाम रहता था, ताकि इंजिन फेल हो जाने पर पाल का प्रयोग किया जा सके। उन दिनों के इंजिन का कुछ भरोसा थोड़े ही था, उन दिनों वे अक्सर फेल हो जाया करते थे। किन्तु कुछ ही दिनों बाद इंजिन इतने अच्छे बनने लगे कि उन पर पूरा भरोसा किया जाने लगा। इस तरह पाल की प्रथा एकदम मिट गई।

लोहे के कारबार में भी काफ़ी उन्नति हो चुकी थी। कच्चे लोहे के स्थान पर अब बढ़िया क़िस्म का फ़ौलाद बनने लगा था। अतः जहाज़ बनाने के लिए भी फ़ौलाद का ही प्रयोग होने लगा, जिससे जहाज़ अब पहले की अपेक्षा अधिक दृढ़ बनने लगे।

१८४२ में जब इंगलैंड का सुप्रसिद्ध उपन्यासकार डिकेन्स अमेरिका गया था, तो उसने अपने जहाज़ के बारे में लिखा था कि वह एक कफ़न के बक्स के तुल्य था, जिसमें दो-चार खिड़कियाँ भी बना दी गई थीं! किन्तु १९वीं शताब्दी के



दजला और फ़रात नदियों की डलियानुमा नौकाएँ

ये नावें हज़ारों वर्षों से इराक़ में काम में लाई जा रही हैं! ये एक तरह की बेंत को बिनकर बनाई जाती हैं और इनके ऊपर राल पुती रहती है।

अन्तिम दिनों में जहाज़ इतने अच्छे बनने लग गये थे कि अनेक यात्रियों ने मुग़ल बादशाहों के दीवानख़ानों से उनकी तुलना की है। इस तरह समुद्र-यात्रा बहुत ही सुखप्रद भी बन गई। जहाज़ों की रफ़्तार भी पहले की अपेक्षा तेज़ हो गई थी।

रफ़्तार बढ़ाने की धुन में इंजिनियरों ने भाप के इंजिनों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया। उन लोगों ने देखा कि इंजिन के पिस्टन की आगे-पीछेवाली गति को वृत्ताकार गति में परिणत करने में काफ़ी शक्ति का ह्रास होता है। क्या शक्ति के इस भारी अपव्यय को किसी तरकीब से रोका नहीं जा सकता?



दक्षिणी अमेरिका के पीरू और बोलिविया देशों की सीमा पर स्थित तीतीका नामक झील में प्रायः ऐसी ही घास को बाँधकर बनाई गई नौकाएँ चलती हैं। इन नौकाओं के पाल भी कपड़े के न होकर एक तरह के सरकंडे की चटाइयों के बने होते हैं।

आख़िरकार एक नवयुवक वैज्ञानिक पार्सन ने इस मुश्किल को हल करने का ज़िम्मा अपने ऊपर लिया। भाप की शक्ति का अधिकसे अधिक उपयोगकरने के लिए उसने स्टीम-टर्बाइन का निर्माण किया। स्टीम-टर्बाइन वाले इंजिन जिन जहाज़ों में फिट किये गये, उनकी रफ़्तार भी ख़ूब बढ़ गयी।

जहाज़ के इंजिनों में निरन्तर सुधारों का समावेश होता रहा। कम-से-कम ख़र्च में शक्ति उत्पन्न करने की कोशिश में लोगों ने इंजिन की भट्टी में कोयले के स्थान पर तेल जलाने का प्रयोग किया। धीरे-धीरे शीघ्रगामी जहाज़ों में ईंधन का काम खनिज तेलों से लिया जाने लगा। कोयले की अपेक्षा तेल सस्ता भी पड़ता था। और जहाँ जहाज़ हज़ारों टन कोयला लादकर अपनी लम्बी यात्रा के लिए चला करते थे, वहाँ अब उनका काम थोड़े-से तेल के भरे पीपे और टैण्क से ही चलने लगा।

किन्तु तेल का प्रयोग भट्टियों तक ही सीमित रह गया हो, सो बात नहीं है। डा० डीज़ेल नामक एक जर्मन ने सुप्रसिद्ध क्रुप फ़र्म की सहायता से तेल की भाप से चलनेवाले इंजिन बनाने की बात सोची। उसने इस सम्बन्ध में अनेक प्रयोग किये, और थोड़े ही समय उपरान्त उसने तेल की भाप से चलनेवाले इंजिन तैयार कर लिये। तेल से चलनेवाले डीज़ेल इंजिनों में सबसे बड़ी ख़ूबी यह है कि ये नितान्त हलके होते हैं, तथा जगह भी कम घेरते हैं। इन इंजिनों में अलग से भट्टी और ब्वॉयलर रखने का झंझट नहीं। अतः जहाज़ों में डीज़ेल इंजिन का प्रयोग लोगों ने स्वेच्छापूर्वक किया।

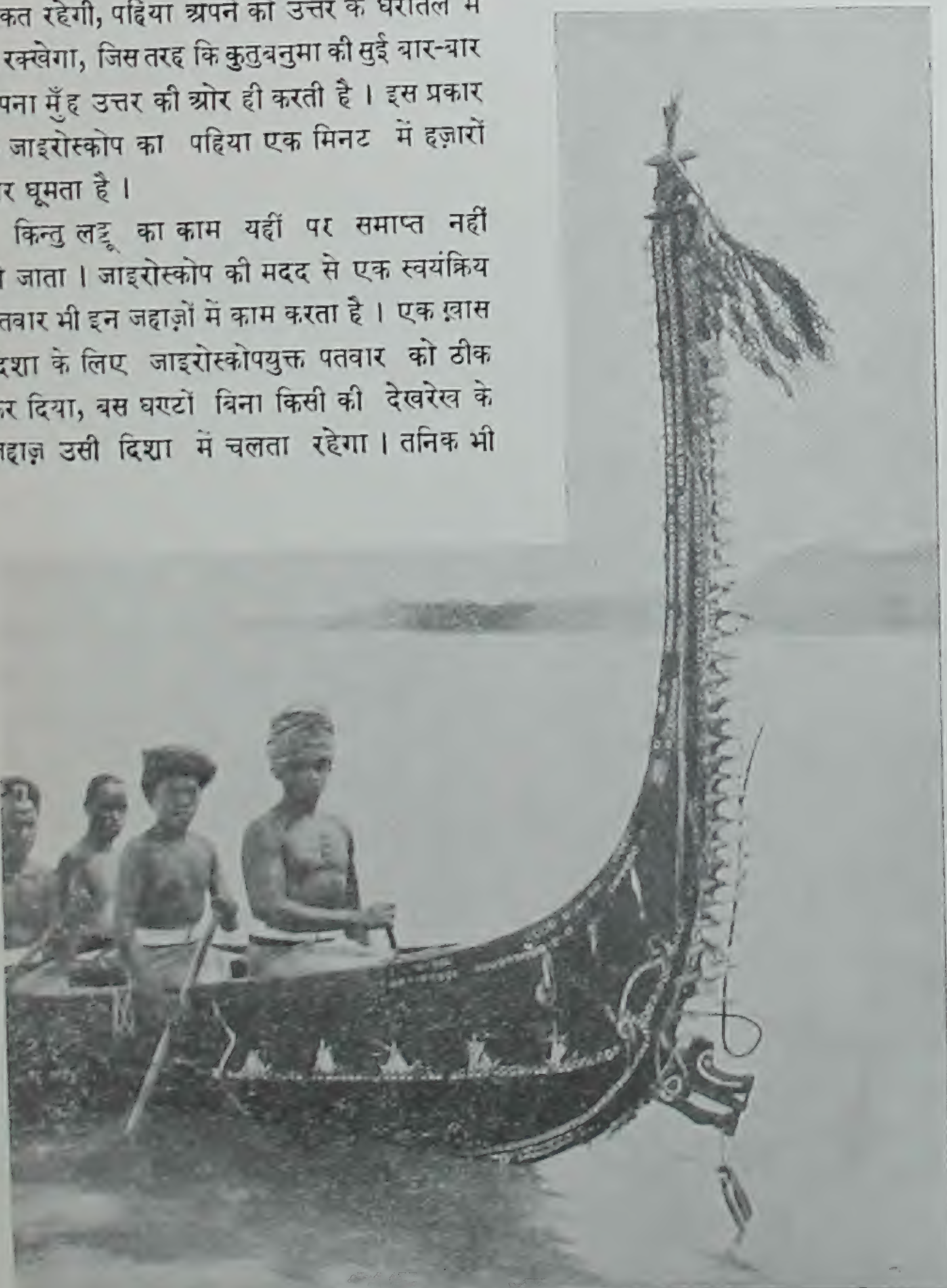
इंगलैंड का सर्वप्रथम जहाज़, जिसमें डीज़ेल इंजिन फिट किया गया था, "फुटलैरिडया" था। १९१२ में यह क्लाइड नदी में उतारा गया और १९३८ तक बराबर काम देता रहा। डीज़ेल इंजिन से चलनेवाले जहाज़ों में धुवाँ देनेवाली ऊँची चिमनियों की भी ज़रूरत नहीं हुआ करती।

डीज़ेल इंजिन की ईजाद ने दौड़ की मोटर-बोट को भी प्रोत्साहन दिया। इन हलके इंजिनों के बग़ैर मोटर-बोट की दौड़-प्रतियोगिता कभी सम्भव न थी। ऐसी मोटर-बोटों की रफ़्तार ११० मील प्रति घण्टा तक पहुँच चुकी है। जिस समय विद्युत्-गति से किश्तियाँ पानी पर भागती हैं, तो ये समूची पानी की सतह से ऊपर उठ जाती हैं। केवल इनके पिछले भाग का थोड़ा-सा हिस्सा पानी के वक्षःस्थल को छूता रहता है। मोटर-लाइफ़-बोट (जान बचानेवाली नौका) अपनी तीव्र गति के कारण बड़ी उपयोगी साबित हुई है। दुर्घटना के समय कम से कम समय में पहुँचना इसने संभव कर दिया है।

समुद्रयात्रा में दिशाज्ञान के लिए निस्संदेह क़ुतुबनुमा बड़े काम की चीज़ है, किन्तु लोहे के बने जहाज़ों में क़ुतुबनुमा की सुई लोहे के कारण प्रभावित हो जाती थी। अतः क़ुतुबनुमा को ठीक रखने के लिए अनेकों प्रकार की सावधानी बरतनी पड़ती थी। आधुनिक युग के जहाज़ अब दिशा-ज्ञान के लिए क़ुतुबनुमा का आसरा नहीं देखते। वे अब जाइरोस्कोप-कम्पास का प्रयोग इस काम के लिए करते हैं। जाइरो-

स्कोप-कम्पास और बच्चों के लट्टू के सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं है। जिस तरह तेज़ी से नाचते हुए लट्टू को आप तख्ते पर लेकर यदि तख्ते को कितना ही हिलायें-डुलायें तो भी लट्टू सीधे एक दिशा में नाचता रहता है, उसी तरह जाइरोस्कोप-कम्पास में भी बिजली की मोटर की सहायता से एक चक्का तेज़ी के साथ घूमता रहता है। इस चक्के को उत्तर दिशा के धरातल में नचाते हैं। अब जब तक पहिये में हरकत रहेगी, पहिया अपने को उत्तर के धरातल में ही रक्खेगा, जिस तरह कि कुतुबनुमा की सुई बार-बार अपना मुँह उत्तर की ओर ही करती है। इस प्रकार के जाइरोस्कोप का पहिया एक मिनट में हज़ारों बार घूमता है।

किन्तु लट्टू का काम यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता। जाइरोस्कोप की मदद से एक स्वयंक्रिय पतवार भी इन जहाज़ों में काम करता है। एक ख़ास दिशा के लिए जाइरोस्कोपयुक्त पतवार को ठीक कर दिया, बस घण्टों बिना किसी की देखरेख के जहाज़ उसी दिशा में चलता रहेगा। तनिक भी रास्ता जहाज़ ने बदला कि जाइरोस्कोप एक बिजली के यंत्र की मदद से पतवार घुमाकर जहाज़ को पुनः पहली दिशा में कर देता है।

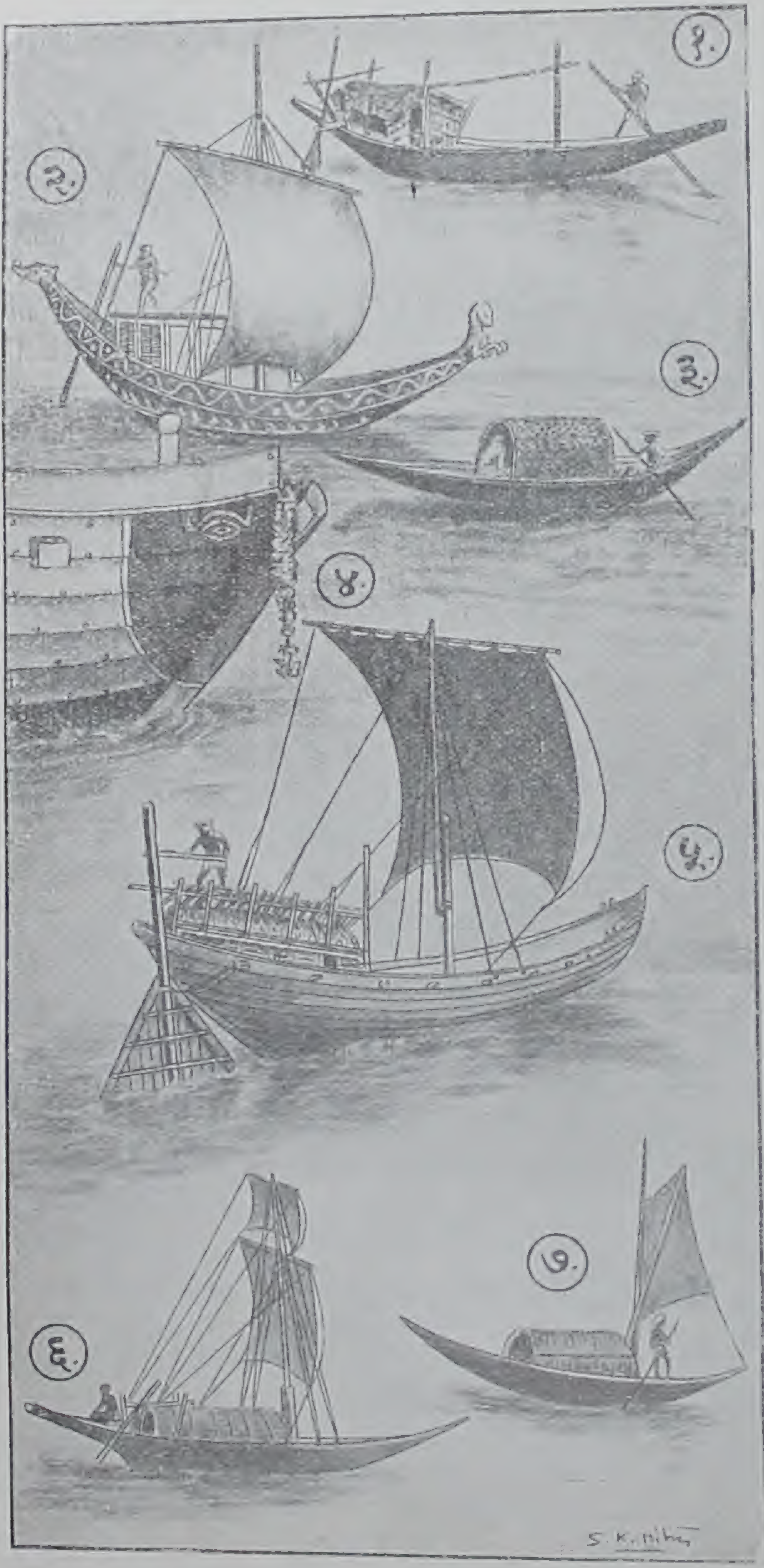


आस्ट्रेलिया के निकटवर्ती सालोमन द्वीपवासियों की रणनौका
ये लोग स्वयं ही पेड़ के तने को खोखला करके अपनी नौकाएँ बनाते हैं। इन नौकाओं में बैठकर ये हज़ारों वर्षों से एक द्वीप से दूसरे द्वीप की यात्रा करते रहे हैं।

पहले ऊँची लहरों के कारण जहाज़ हिलते-डुलते बहुत थे। अभी भी बम्बई से एलिफ़ैन्टा की गुफ़ाओं तक जाते समय हलके स्टीमर लहरों के थपेड़े से ख़ूब पलटा खाते हैं। किन्तु बड़े जहाज़ों में, जहाँ डेक पर टेनिस आदि खेलने तक की सुविधाएँ रहती हैं, इस बात का पूरा ख़याल रक्खा जाता है कि जहाज़ में समुद्र के आन्दोलित होने से व्यर्थ की गति न पैदा हो। जहाज़ का समतुलन बनाये रखने के लिए भी जाइरोस्कोप का ही प्रयोग किया जाता है। यह जाइरोस्कोप जहाज़ के पेंदे में जुड़ा रहता है। जाइरोस्कोप के चक्के का वज़न ५० टन होता है। जब लहरों के थपेड़े से जहाज़ किसी तरफ़ डोलता है, तो जाइरोस्कोप का चक्का जहाज़ की इस हरकत का विरोध करता है। अतः जहाज़ का समतुलन बिगड़ने नहीं पाता।

आधुनिक जहाज़ों की विशालता का सही अन्दाज़ लगाने के लिए ज़रूरी है कि हम जहाज़ों के कारख़ानों में जाकर देखें कि कितने लोग इसके निर्माण में जुटते हैं।

संसार का वर्त्तमान



सबसे बड़ा जहाज़ "क्वीनमेरी" कई हज़ार कुशल कारीगरों की सहायता से कई वर्ष में तैयार हो पाया है। यह जहाज़ १०२० फ़ीट लम्बा और ११८ फ़ीट चौड़ा है। इसका वज़न लगभग ८० हज़ार टन है। इसके इंजिन के लिए २४ विशालकाय ब्वॉयलर स्टीम तैयार करते हैं। इसके स्टीम टर्बाइन इंजिनों की शक्ति २ लाख अश्वबल के बराबर है। लगभग ४० लाख गैलन मीठा पानी इसके ब्वॉयलरों में प्रति दिन ख़र्च होता है। इसकी चद्दर मज़बूत फ़ौलाद की बनी हुई है, और निचले भाग में दुहरी चद्दर लगी हुई है। इन दोनों चद्दरों के बीच ६ फ़ीट चौड़ी जगह है। इस बीच की जगह में अनेक छोटे-छोटे कम्पार्टमेण्ट बने हुए हैं। ये कम्पार्टमेण्ट एक दूसरे से एकदम अलग हैं। यदि किसी दुर्घटना में यह जहाज़ दूसरे जहाज़ से लड़ गया तो छेद होने पर पानी एक ही आध कम्पार्टमेण्ट में घुस पायगा। जहाज़ का शेष भाग पानी के ख़तरे से एकदम सुरक्षित रहेगा। जहाज़ में कुल २० भिन्न-भिन्न डेक हैं। यह जहाज़ कई हिस्सों में एस्बेस्टस नामक अज्वलनशील पदार्थ की दीवालों की सहायता से बाँट दिया गया है ताकि आग लगने पर समूचे जहाज़ में आग तुरन्त फैल न जाय। जहाज़ में चारो तरफ़ बिजली के तार लगे हुए हैं। तख़मीना लगाया गया है कि इन तारों की कुल लम्बाई ४००० मील होगी। रोशनी के लिए जहाज़ में ३०००० बल्ब जलते हैं। बिजली

विभिन्न प्रकार की भारतीय नौकाएँ

१. बंगाल में गंगा नदी पर बोझा ढोनेवाली 'होला' नामक नौका; २. पुराने ज़माने का बनारसी बजड़ा; ३. एक से अधिक आदमियों द्वारा खेई जानेवाली डिंगी; ४. माल ढोनेवाली बनारसी नौका का एक भाग; ५. बड़ा पालदार बनारसी बजड़ा; ६. मलारपांशी नामक छोटी नौका; ७. एक आदमी की डिंगी।

द्वारा एक डेक से दूसरे डेक पर जाने के लिए लिफ़्ट परिचालित होते हैं, उसी से टेलीफ़ोन का काम चलता है और नहाने के लिए पानी भी बिजली ही के चूल्हों पर गर्म किया जाता है। पिछली शताब्दी का यात्री, जो जहाज़ में अपनी निज की मोमबत्ती रात को जलाता था, क्वीन मेरी के इस वैभव को देखकर कितना आश्चर्यचकित होगा! इसके लंगर उठाने-गिराने के लिए और लाइफ़-बोट को उतारने के लिए भी विद्युत्-शक्ति की सहायता ली जाती है।

'क्वीन मेरी' का बेतार का तारघर भी नूतनतम आविष्कारों से सुसज्जित है। जहाज़ पर से ही आप रेडियो द्वारा संसार के किसी भी कोने में बैठे हुए अपने मित्र से बात कर सकते हैं। डेक पर ६ एरियल टँगे हुए हैं, और ट्रांस-मीटिंग के लिए ३२ भिन्न-भिन्न लम्बाई की तरंगों के रेडियो का प्रयोग होता है।

"क्वीन मेरी" की तमाम लाइफ़-बोटों में मोटर-इंजिन फ़िट किये हुए हैं। कुल २४ लाइफ़-बोट 'क्वीन मेरी' के साथ हैं, और प्रत्येक बोट में १४५ मनुष्य आराम के साथ बैठ सकते हैं। इस तरह पैसेञ्जर तथा नाविक सभी आसानी से ख़तरे के समय लाइफ़-बोट की सहायता से अपने प्राण बचा सकते हैं। नाविकों के अतिरिक्त २००० मुसाफ़िरों के

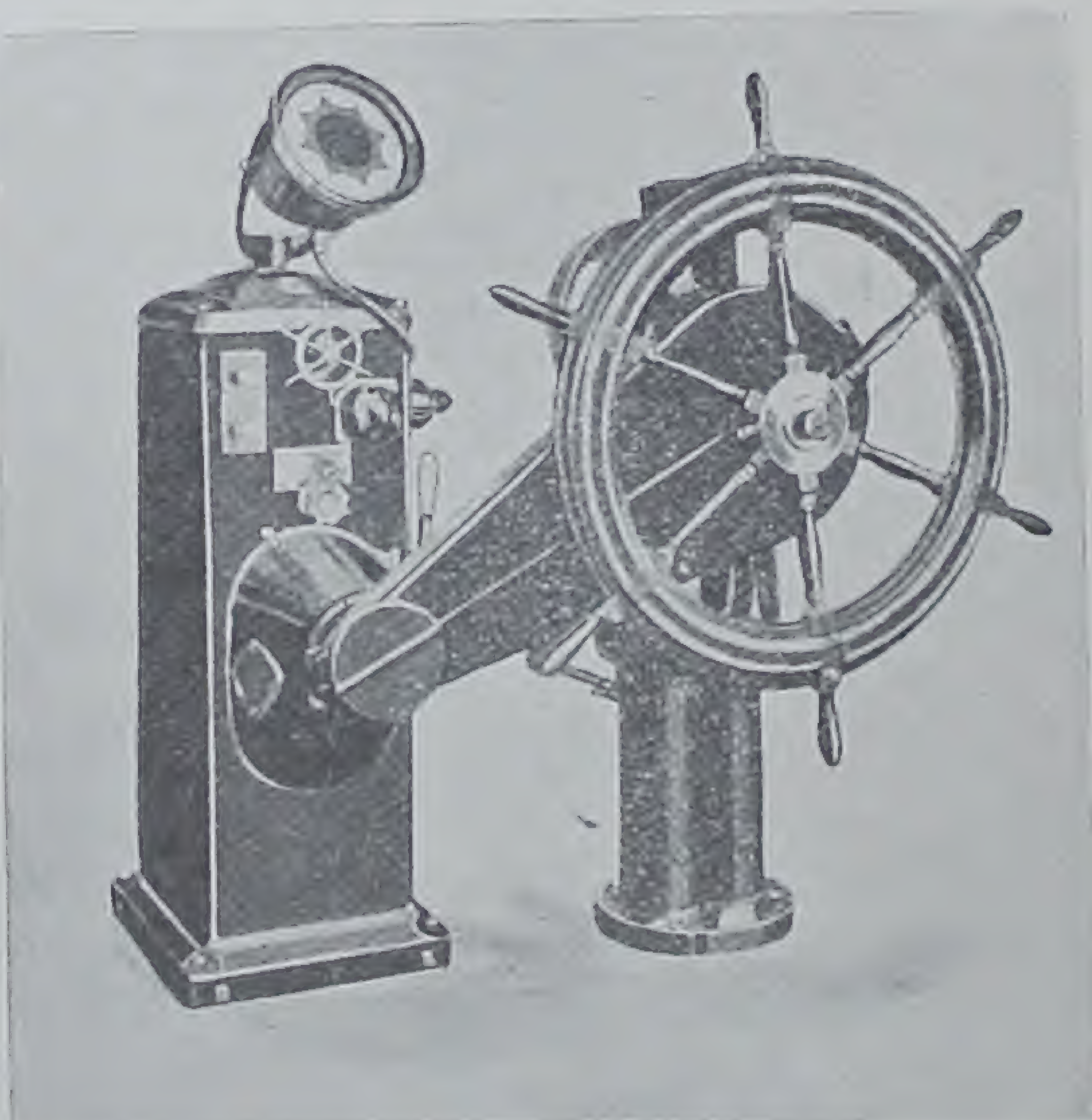


एक आधुनिक सबमैरीन या पनडुब्बी जहाज़

इस तरह के जहाज़ डुबकी लगाकर सतह से बहुत नीचे पानी के भीतर-ही-भीतर समुद्र में गश्त लगाते रहते हैं। ये केवल युद्ध-कार्य के लिए ही बनाये गये हैं। ऊपर अँगरेज़ों की एक ११०० टन वज़नवाली सबमैरीन का चित्र है।

लिए इस जहाज़ में जगह है। उनके मनोरंजन के लिए जहाज़ में ही स्नानागार तथा अनेक प्रकार के आमोद-गृह और क्लब भी बने हैं। इस जहाज़ के सिनेमाघर किसी भी बड़े शहर के सिनेमाहाल से किसी तरह कम नहीं हैं।

आधुनिक जहाज़ों के निर्माण में पूरी सावधानी से काम लिया जाता है। जहाज़ की रचना का काम प्रारम्भ होने के पहले उसका मॉडल तैयार कर लिया जाता है। इस मॉडल के प्रत्येक अंग का अनुपात एकदम सही पैमाने पर रहता है। मॉडल तैयार हो जाने पर उसे प्रयोगशाला के अन्दर तालाब में चलाकर देखते हैं कि मॉडल में किसी प्रकार का दोष तो नहीं है। यदि उसमें कोई नुक़्स देखा तो उस मॉडल की जगह फिर से नया मॉडल तैयार करते हैं। जब पूरा इतमीनान हो जाता है कि इस मॉडल में कोई दोष नहीं है तब उसी के अनुसार वास्तविक जहाज़ के निर्माण का काम आरम्भ होता है। लेखक को, जिन दिनों वह इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की बोट-टीम का कैप्टेन था, एक रेसिंग बोट बनवाने का अवसर मिला था। बढ़ई को रेसिंग बोट का कुछ भी ख़याल न था—निदान जब बोट बनकर तैयार हुई, तो पानी पर उतारने पर वह फ़ौरन एक ओर लौट गई। मजबूर होकर उसे छिन्न-भिन्न करना पड़ा। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस बोट के लिए कोई मॉडल तैयार नहीं किया गया था।

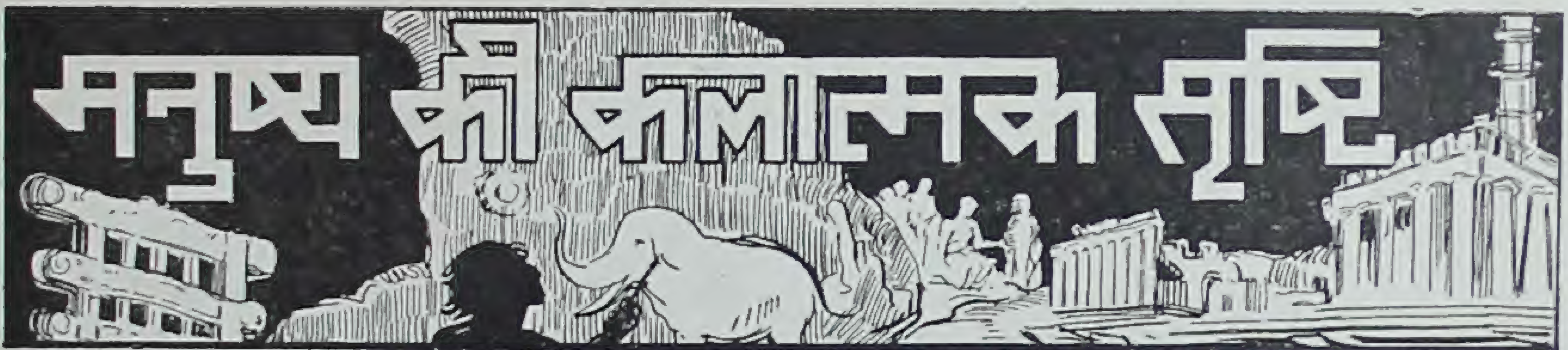


आधुनिक जहाज़ का एक जाइरोस्कोप

जो बिना किसी व्यक्ति की मदद के बिल्कुल सही तरीक़े से दिशा विशेष की ओर जहाज़ का संचालन करता है।

लड़ाई के काम में लाये जानेवाले जहाज़ों की बाहरी चद्दर बहुत मोटी होती है, तथा इनका वज़न भी ज़्यादा होता है, ताकि तोप दागने का धक्का ये आसानी से बर्दाश्त कर सकें। इसी कारण लड़ाई के जहाज़ बहुत महँगे पड़ते हैं। अँगरेज़ों के "नेलसन" नामक लड़ाकू जहाज़ में १६ तोपें लगी हुई हैं। बटन दबाते ही एक-एक तोप दगने लगती हैं। इनसे २० मील की दूरी पर गोले जाकर गिरते हैं। एक फुट मोटी फ़ौलाद की चद्दरों को भी ये गोले भेद सकते हैं! लड़ाई के जहाज़ों के डेक इतने लम्बे-चौड़े होते हैं कि डेक पर से हवाई जहाज़ उड़ सकते हैं, तथा आसमान से उन पर उतर भी सकते हैं। आधुनिक लड़ाई के जहाज़ों के पास अपने वायुयान भी रहते हैं। इस प्रकार शत्रु पर दोहरा हमला करने में ये समर्थ होते हैं।

गत महायुद्ध ने युद्ध के काम के लिए पनडुब्बी जहाज़ों की उपयोगिता योरप के सामने प्रकट की। उस महायुद्ध में इङ्गलैण्ड के एक तिहाई जहाज़ जर्मनी के सबमैरीन या पनडुब्बी जहाज़ों द्वारा नष्ट कर दिये गये थे। पिछले २२ वर्ष के ज़माने में सबमैरीन ने भी लम्बे क़दम आगे बढ़ाये हैं। वज़न, रफ़्तार और इंजिन की शक्ति पहले की अपेक्षा आज दिन पनडुब्बियों की बहुत बढ़ी हुई है। उन दिनों सबसे अधिक शक्तिशाली सबमैरीन इंजिन की शक्ति ८०० अश्वबल थी, और आज दिन इङ्गलैण्ड की पनडुब्बियों के इंजिन की शक्ति १३०० अश्वबल तक पहुँच चुकी है। इनसे दागे गये टार्पेडो का वज़न अक्सर तीन-तीन चार-चार टन तक पहुँचता है। सबमैरीन के संबंध में विशेष विस्तृत हाल हम आपको आगे के किसी लेख में सुनायेंगे। यहाँ केवल यह कहकर इस लेख को समाप्त करते हैं कि अपने बुद्धिबल से मनुष्य ने आज दिन स्थल के साथ-साथ जल पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। वस्तुतः समुद्र ही आज की दुनिया के प्रधान राजमार्ग हैं।



मसोपटेमिया की कला

हम देख चुके हैं कि आदि मानव के जंगलों से बाहर निकलने पर प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक युगों के संधिकाल में पृथ्वी पर स्वतंत्र रूप से अनेक सभ्यताओं का उत्थान हुआ था। इनमें सभ्यता के अन्य अंगों के साथ-साथ कला का भी अद्भुत विकास हुआ। इनमें से मिस्र की कला का दिग्दर्शन हम कर चुके। अब दजला-फ़रात की घाटी में पनपनेवाली कलाओं का हाल आपको बताने जा रहे हैं।

अतीत काल के इतिहास के पृष्ठों को उलटने पर हम देखते हैं कि संसार की कतिपय सर्वोच्च सभ्यताओं का विकास प्रसिद्ध नदियों के तट पर हुआ था। मिस्र की सभ्यता नील नदी के अंचल में पनपी थी और बेबीलान, कैल्डिया और असीरिया की सभ्यतायें दजला और फ़रात नदियों की तलहटी में विकसित हुई थीं। भारतीय सभ्यता का पालन-पोषण सिन्धु और गंगा की घाटी में एवं चीन की सभ्यता का पीली नदी (ह्वांगहो) की घाटी में हुआ था। प्रायः प्रत्येक देश में कोई-न-कोई ऐसी पवित्र स्रोतस्विनी है, जिसे वहाँ के निवासी परम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। इस तरह इंगलैंड में थेम्स है, तो फ्रांस में सीन, जर्मनी में राइन, इटली में टाइबर, हंगरी में डैन्यूब, रूस में वॉल्गा, उत्तरी अमेरिका में मिसिस्सिपी और दक्षिणी अमेरिका में अमेज़न नदी है। कभी-कभी दो नदियों के संगम-स्थान अथवा उनके बीच की भूमि को भी एक विशेष धार्मिक महत्त्व दे दिया जाता है। उदाहरण के लिए, सरस्वती और दृशद्वती नदियों के बीच के उर्वर भूमिखण्ड को आरंभ में आकर बसनेवाले आर्य 'देवभूमि' का लोक समझते थे और मनुसंहिता में इस स्थान को 'ब्रह्मावर्त्त' की पवित्र संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार, दजला और फ़रात की घाटी को प्राचीन बाइबिल (Old Tastament) के रचयिता अति पवित्र स्थान मानते थे। ईडन के जिस नन्दनकानन में, ईसाई धर्मगाथानुसार, आदि मानव के स्वर्ग से पतन-संबंधी दुःखान्त नाटक के अंतिम दृश्य चरितार्थ हुए थे, उसका भी मूलस्थान यह घाटी ही समझी जाती है।



६००० वर्ष पूर्व की सुमेरिया की कला का एक नमूना
यह एक बैल के शीश भाग की मूर्त्ति है। इसमें सोने और लेपिसलेज़ुली का काम है।

मिस्र के इतिहास की भाँति मसोपटेमिया का इतिहास भी अनेक शताब्दियों तक काल के अन्धगर्त्त में ही गहरे दबा पड़ा रहा। कारण यह था कि मिस्र की ही भाँति जिज्ञासु भूपर्यटकों के लिए मसोपटेमिया में भी बहुत दिनों तक प्रवेश-निषेध बना रहा; तुर्क लोग वहाँ विदेशियों का आना पसन्द नहीं

करते थे। १८४० के लगभग, मिस्र की खुदाइयों और अनुसन्धानों से सन्तुष्ट होने पर, फ्रांसीसी पुरातत्त्ववेत्ताओं का ध्यान मसोपटेमिया के मैदानों की ओर आकर्षित हुआ। १८४३ में मोसल-स्थित तत्कालीन फ्रांसीसी राजदूत बोत्ता ने कुछ मज़दूरों को खोरसाबाद नामक गाँव की खुदाई में लगाया। इस जगह को उसने प्राचीन निनवे नगर का मूलस्थान समझा था। इस खुदाई में जो वस्तुएँ मिलीं, उनसे फ्रांस के पुरातत्त्वविदों के क्षेत्र में बड़े उत्साह का संचार हुआ। फ्रेंच सरकार ने पहले की तरह इस खोज के लिए भी काफ़ी धन दिया और स्मारकों के चित्रों और नक़्शों को तैयार करने के लिए फ्लैंड्रिन नामक कलाविद् को भेजा; क्योंकि स्मारक इतने भारी थे कि उनका हटाना संभव न था। बोत्ता और फ्लैंड्रिन ने मिलकर मसोपटेमिया के सम्बन्ध में शैम्पोलियों (Champollions) की पुस्तक 'मिस्र के वर्णन' के टक्कर के एक अपूर्व ग्रंथ की रचना की, जिसने मसोपटेमिया के सम्बन्ध में योरप के विद्वानों की आँखें खोल दीं।



बेबीलान के प्रसिद्ध ईश्तर-द्वार पर अंकित वृषभों के शिलपचित्र

मसोपटेमिया की उभड़ी हुई मूर्तियों पर मिस्र की चित्र-लिपियों से मिलते-जुलते एक प्रकार के विचित्र कीलाकार चिह्न अंकित थे; किन्तु ये कीलाक्षर अब तक ज्ञात वर्णमालाओं या चित्रलिपियों से भिन्न थे। लैटिन भाषा में कील को 'क्यूनियस' कहते हैं, इसलिए यह विचित्र लिपि कीलाक्षर या 'क्यूनीफ़ार्म' लिपि कहलाई। मिस्री लोग चीनियों की भाँति अपनी लिपि को कूँची से रंग द्वारा लिखते थे, किन्तु मसोपटेमियावाले रोमनों की तरह, जो 'स्टाइलस' (stylus) से मोम की तख्तियों पर लिखते थे, अपने अक्षरों को मिट्टी की ईंटों पर किसी कील या नोकदार लकड़ी के टुकड़े से खुरचकर बनाते थे।

अनेक वर्षों तक यह क्यूनीफ़ार्म लिपि असीरिया-संबंधी पुरातत्त्ववेत्ताओं की बुद्धि के लिए एक रहस्यमय पहेली बनी रही। १८२६ में प्रसिद्ध जर्मन इतिहासज्ञ नाइ-भुर (Neibuhr) ने मसोपटेमिया में प्राप्त पुरातत्त्व-संबंधी भव्य स्मारकों को देखकर आश्चर्यचकित होकर लिखा था, "ज्ञान के अक्षय भाण्डार का मार्ग तैयार करते चलो। नये शैम्पोलियों असीरिया की भाषा का अर्थ ढूँढ़ निकालेंगे और हमारी सन्तान क्यूनीफ़ार्म लिपि के अर्थानुसन्धान का निरीक्षण कर सकेगी।" उसकी भविष्यवाणी कुछ ही वर्षों बाद पूरी हुई, जब गूटिंगेन विश्व-विद्यालय के एक यूनानी भाषा के नवयुवक शिक्षक, ग्रोतेफेन्द, ने इनमें के कुछ संकेत-चिह्नों के ध्वन्यात्मक महत्त्व का पता लगाया। जिस प्रकार रोज़ेटा-प्रस्तर पर अंकित सिकन्दर और क्लियोपाट्रा के नामों का पता लग जाने से अंतिम रूप से मिस्र की चित्रलिपि का रहस्योद्घाटन हो सका, उसी प्रकार ज़ेरेक्सेज़ और उसके पिता डेरियस (दारा) के नामों ने असीरियन भाषा के रहस्यानुसन्धान की कुंजी का काम किया। कई साल बाद, रालिन्सन नामक ईस्ट इंडिया कंपनी के एक युवक सैनिक अफ़सर ने, जो ईरान में तैनात किया गया था, बेहिस्तून के महत्त्वपूर्ण अभिलेख की प्रतिलिपि तैयार की। उसने यह कल्पना की कि अभिलेख में बार-बार आनेवाली कुछ शब्दों की नामावली प्राचीन ईरान के बादशाहों के शासनान्तर्गत मण्डलों या प्रान्तों के नामों की सूचक है और इस कल्पना के सहारे उसने बहुत-से नये अक्षरों के अर्थ ढूँढ़ निकाले। इस खोज और पुरातन ईरानी भाषा के ज्ञान की सहायता से अंततोगत्वा ईरानी अभिलेखों के रहस्य का पता चलाया गया। बेहिस्तून का यह महत्त्वपूर्ण अभिलेख ईरानी और बेबिलोनियन दोनों भाषाओं में लिखा हुआ था, इस कारण इस लेख के अर्थानुसन्धान से बेबिलोनियन भाषा के ज्ञान का मार्ग भी प्रशस्त हुआ।

अधिक जानकारी न रखनेवालों को पुरातन मिस्र एवं



प्राचीन सुमेरिया की कला का एक नमूना

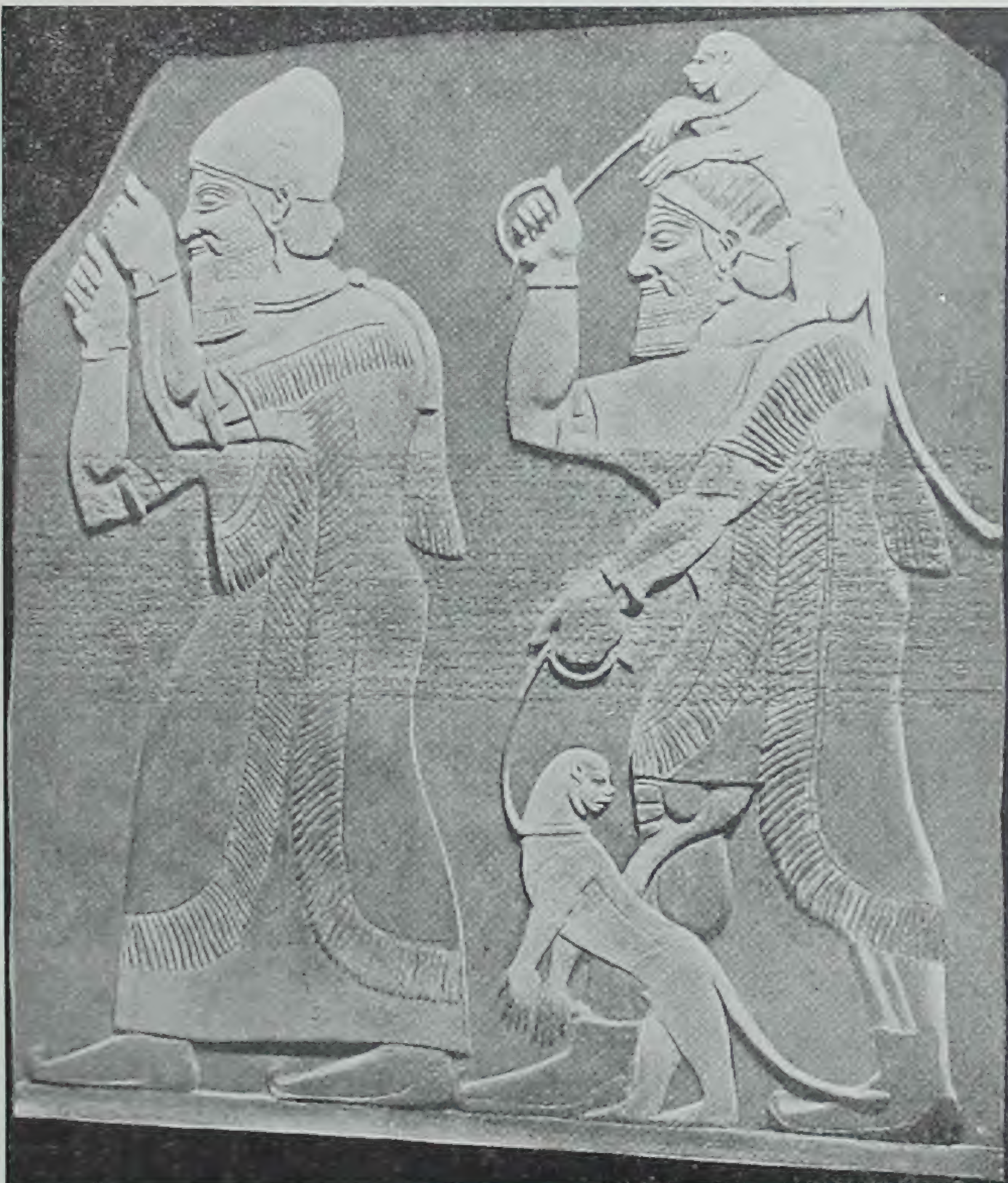
यह इराक़ के लगश नामक स्थान में प्राप्त एक मूर्त्ति का शीश भाग है। बेबीलान और असीरिया की सभ्यता के उदय के पहले दजला-फ़रात की उपजाऊ घाटी में आज से लगभग छः हज़ार वर्ष पूर्व एक स्वतंत्र सभ्यता का विकास हुआ था, जो सुमेरिया की सभ्यता के नाम से विख्यात है। ऊपर के चित्र से सुमेरियावालों की कला का हमें कुछ अंदाज़ हो सकता है। इराक़ में कला मिस्र की बराबरी तक तो कभी नहीं पहुँच पाई, फिर भी मनुष्याकृति और जानवरों की आकृतियाँ उतारने में वहाँ के लोगों ने काफ़ी पटुता प्राप्त कर ली थी। यह मूर्त्ति अब पेरिस के लूव्रे नामक अजायबघर में सुरक्षित है।







(ऊपर) ६ हज़ार वर्ष पूर्व के सुमेरिया के मिट्टी के बर्त्तन; (नीचे बाईं ओर) एक असीरियन मूर्त्ति; (दाहिनी ओर) सूसा से प्राप्त एक काँसे की मूर्त्ति।



एक मनोरंजक उभड़ा हुआ असीरियन शिल्पचित्र
इसमें दो व्यक्ति राजा के लिए भेंट ले जाते हुए दिखाये गये हैं।

प्राचीन मसोपटेमिया की कला में एक प्रकार की ऊपरी समता दिखाई देगी। यह समता इतनी अधिक मात्रा में है कि आरंभिक पुरातत्त्ववेत्ता भी यह निश्चय न कर सके थे कि सुमेरिया, वेबिलोनिया और असीरियावालों की कला का उदय मिस्रवासियों की कला से पहले हुआ था या बाद में। अब यह समझा जाता है कि जहाँ तक तिथि का सम्बन्ध है, दोनों देशों की कला प्रायः समकालीन है और दोनों देशों का इतिहास ईसा के ४००० वर्ष पूर्व आरंभ होता है! ऐतिहासिक दृष्टि से मिस्र और मसोपटेमिया की कला में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ मिस्र में ४००० वर्षों तक केवल एक ही नस्ल के लोग रहते रहे और बहुत-कुछ अंशों में एक ही जाति के लोग शासन करते चले आये, वहाँ मसोपटेमिया प्रदेश का शासन-सूत्र एक के बाद दूसरी जाति के हाथ में इतना अधिक बदलता रहा और उसे निरंतर ऐसी बर्बरता और क्रूरता का शिकार होना पड़ा कि वहाँ से प्रचुर परिमाण में खुदाई द्वारा पाई गई अमूल्य पुरातत्त्व-सामग्री का कालक्रमानुसार वर्गीकरण करना असंभवप्राय है। आरंभिक काल के सुमेरिया के मोज़ेइक (Mosaic) या पच्चीकारी के काम, वेबिलोनिया की मूर्तियाँ, कैल्डिया के देवालय, वेबिलोनिया की उत्तरकालीन नक़्क़ाशीदार तख़्तियाँ, हिट्टाइट या खत्ती युग के नक़्क़ाशी के काम और उर के ध्वंसावशेष आदि का वर्गीकरण और कालनिर्धारण अभी होना बाक़ी है और विशेषज्ञ लोग इस सम्बन्ध में छानबीन कर रहे हैं।

मिस्र और मसोपटेमिया की कला में दूसरा उल्लेखनीय अन्तर यह है कि जहाँ मिस्री कलाकार का माध्यम कड़े-से-कड़े हरित पाषाण से लेकर कोमल-से-कोमल सेलखरी तक सदैव प्रस्तर ही रहा है—चाहे उससे उन्होंने भवन-निर्माण का कार्य लिया हो चाहे मूर्तियों के गढ़न का; वहाँ मसोपटेमियावाले प्रायः संपूर्णतया ईंटों पर ही अवलंबित थे। यही कारण है कि उनके राजप्रासाद, देवालय और अन्य स्मारक आज दिन उतनी सुरक्षित अवस्था में नहीं पाये जाते, जितने मिस्र में पाये जाते हैं। इसके साथ-ही-साथ मसोपटेमिया के निवासियों की धारणाओं और आदर्शों में वह

वीरता का भाव नहीं पाया जाता जो मिस्रवालों में मिलता है। वास्तव में मिस्रवासियों की अपेक्षा उनका बौद्धिक विकास निम्नतर कोटि का था, यद्यपि शारीरिक बल और क्रूरता के कार्यों में वे शायद उनसे बढ़े हुए थे। देवताओं की वंशावली और विश्व की उत्पत्ति, इन दोनों विषयों के सम्बन्ध में असीरियावालों की अपेक्षा मिस्रवालों की कल्पना अधिक रोचक, गूढ़ और आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति की द्योतक थी, और उनकी यह बौद्धिक श्रेष्ठता उनकी कला और कलात्मक आदर्शों में पर्याप्त रूप से प्रतिबिम्बित हुई है। मिस्रवासी जहाँ स्वभाव से ही विनयशील और शान्तिप्रिय होते थे, वहाँ बेबीलोनिया और असीरिया के निवासी क्रूरता का आनन्द लेने के लिए ही क्रूर कार्य करते थे। उनकी कितनी ही अद्भुत कुशलतापूर्वक निर्मित उभड़ी हुई मूर्तियों में ऐसे पैशाचिक अत्याचारों के क्रूर दृश्यों का चित्रण है कि उन्हें देखकर आज भी घृणा से रोंगटे खड़े होने लगते हैं, यद्यपि हत्या और रक्तपात के इन काण्डों में भाग लेनेवाले लोगों को मरे हुए पाँच हज़ार वर्ष से भी अधिक काल बीत चुका है!

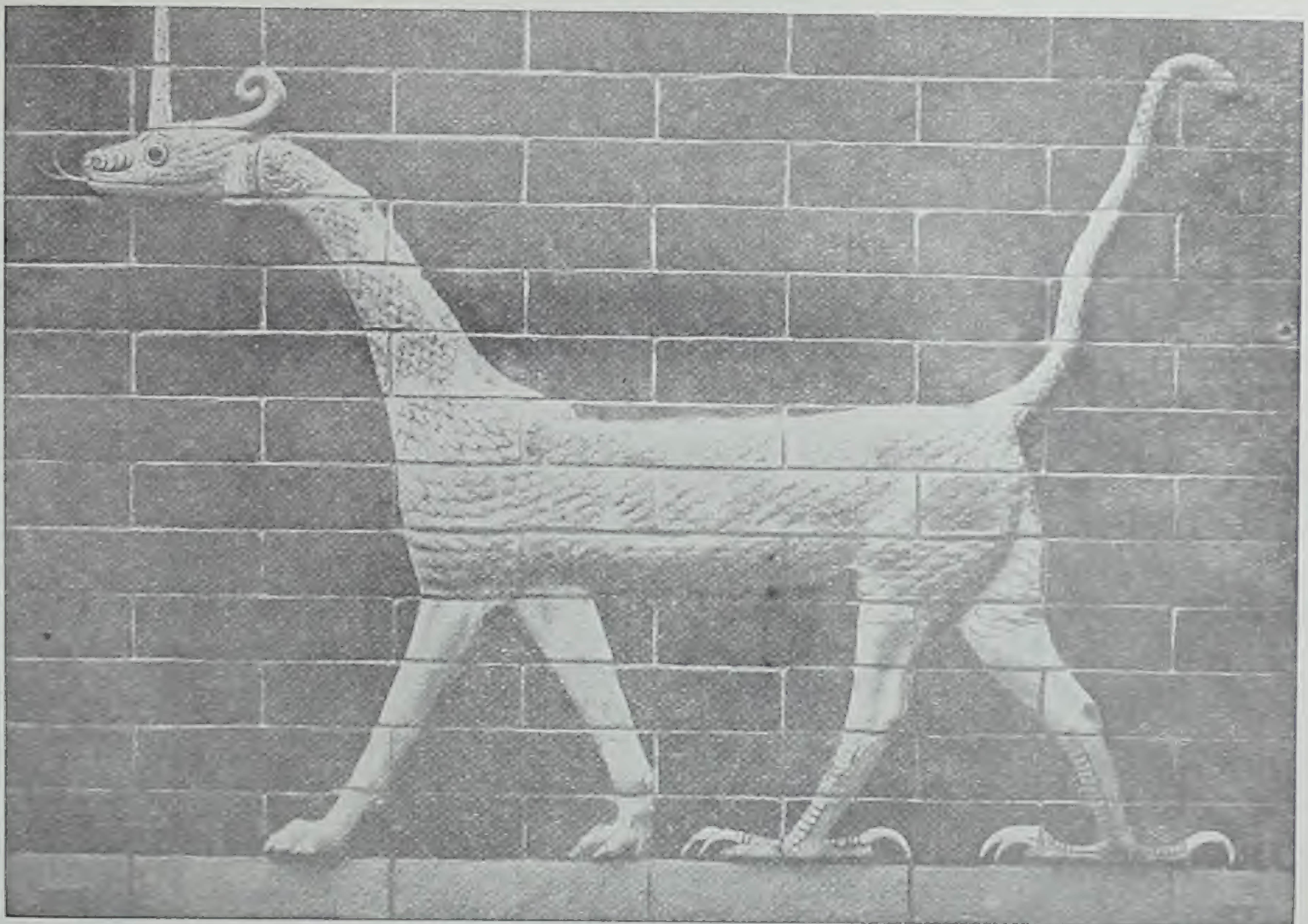
यह क्रूरतापूर्ण कठोरता मसोपटेमिया के कलाकारों द्वारा मानव आकृति के चित्रण में भी स्पष्ट है। मसोपटेमिया की कला में हमें कहीं भी मिस्री रानियों के रमणीय सौष्ठव, सम्राटों की शान्त एवं निश्चल तथापि करुणा-पूर्ण आकृति, साधारण नागरिकों की विकाररहित मनोहारिता और शक्तिशाली देवताओं के अज्ञेय रहस्यमय चित्रण के दर्शन नहीं होते। मसोपटेमिया की कलाओं के सभी रूपों से दर्शक के मन में कठोर शक्ति, पाशविकता, क्रुद्ध गौरव, हृदयहीन आदेशों, अमानुषिक रक्त-पिपासा, निर्दय हत्या एवं रक्त-संहार का भान होता है। मिस्र की कला में हमें जिस मानवता का पर्याप्त परिचय मिलया है, मसोपटेमिया की कला में उसका सर्वथा अभाव पाया जाता है। सुखी घरेलू जीवन, स्त्रियों और बच्चों आदि के दृश्य, जो कि मिस्री कला की एक बहुत ही मनोरम विशेषता है, मसोपटेमिया की कला में विरले ही पाये जाते हैं। राजदरबार की शिष्टाचारगत आवश्यकताओं का कड़ा ध्यान रखकर चलने के कारण यहाँ की सजावट की शैली में भी एक प्रकार की जड़ता आ गई है; उसमें वह हिलोर और लहरन नहीं है जो मिस्रवालों की फूल-पत्तियाँ बनाकर की गई सजावट में पाई जाती है। वास्तव में, कला के क्षेत्र में इतने अद्भुत कला-नैपुण्य के साथ-साथ साधारण मानवीय भावनाओं के संपूर्ण अभाव का ऐसा उदाहरण शायद ही हमें अन्यत्र मिलेगा।

मसोपटेमिया की कला का हमारे मन पर उपर-वर्णित जो प्रभाव पड़ता है वह अंशतः इस कारण हो सकता है कि मुग़ल सम्राटों के काल की भारतीय चित्रकारी की भाँति मसोपटेमिया की सारी कला राजकीय या दरबारी कला थी। उन छोटी-छोटी सामान्य कलाओं को, जिनमें साधारण मनुष्य लगे रहते थे और जिनके कि कारण मिस्र की घाटी अध्ययन का एक बहुत रोचक केन्द्र हो गई है, बेबीलोनिया और असीरिया में संभवतः अधिक प्रोत्साहन नहीं दिया गया। साथ ही सुमेरिया और बेबीलोनियावालों की कला में शाश्वतता और स्थायित्व का वह भाव नहीं पाया जाता जो कि मिस्र की कृतियों की एक उल्लेखनीय विशेषता है। यहाँ की कला की सृष्टि महज़ किसी स्थानीय राजवंश के विक्रम का प्रदर्शन करने के लिए, अथवा हाथीदाँत और सोने से मढ़ी लेपिस-लैज़ुली से बनी कटार की मूठों के लिए किसी राजकुमार की इच्छा को संतुष्ट करने के लिए हुई थी।

मसोपटेमिया के मैदानों के आरंभिक निवासी, जिनके सम्बन्ध में अब तक ऐतिहासिक प्रमाण मिले हैं, सुमेरियन लोग थे, जो वहाँ ईसा से ३५०० से २००० वर्ष पूर्व तक राज्य करते थे। उनके सम्बन्ध में ठीक-ठीक यह बतलाना कठिन है कि वे कौन थे; किन्तु अधिकतर सम्भावना यह जान पड़ती है कि वे मूलतः उत्तर से आये थे, और संभवतः एशिया के उसी ऊँचे पठार के रहनेवाले थे जो स्वयं हमारे पूर्वज आर्यों का मूल निवास था।

इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ये सुमेरियन लोग सेमेटिक जाति के नहीं थे, जैसा कि उनके शिल्पावशेषों से ज्ञात होता है। वे लोग अपने केश मुँडवाते थे और सुदूर दक्षिण से आनेवाले घने केशपाश, नुकीली नाक, काली दाढ़ी और बलिष्ठ देहवाले सेमेटिक नस्ल के लोगों से वे देखने में बिल्कुल भिन्न थे।

सुमेरियन लोगों के शासनकाल में मसोपटेमिया का देश अनेक छोटे-छोटे अर्ध-स्वतंत्र भागों में बँटा हुआ था, जिनमें मज़बूत चहारदीवारियों से घिरे हुए शहरों में रहनेवाले छोटे-छोटे राजे राज्य करते थे। देश का उत्तरी भाग अक्कड और दक्षिणी भाग उर कहलाता था। सुप्रसिद्ध 'कैल्डियनों का उर', जहाँ से अब्राहम ने अपनी प्रसिद्ध यात्रा आरंभ की थी, सुमेरियन लोगों का एक प्रधान गढ़ था। इन राजाओं की अट्टालिकाएँ और उनके ऊँचे गढ़ तो अब विलुप्त हो गये हैं, किन्तु आधुनिक पुरातत्ववेत्ताओं ने, विशेषकर सर लियोनार्ड वूली ने, उनकी बहुत-सी क़ब्रों को ढूँढ़ निकाला है। ये क़ब्रें सोने, चाँदी, काँसे, हाथीदाँत



बेबीलान के सुप्रसिद्ध ईश्तर-द्वार की दीवारों पर ईंटों द्वारा बनाई गई विचित्र जंतुओं की मूर्तियों में से एक।



दीवार पर रंगीन ईंटों या टाइल्स द्वारा बनाई गई एक सिंह की मूर्त्ति। यह भी बेबीलान से प्राप्त हुई है। बेबिलोनिया में पत्थर का अभाव था, इसलिए वहाँ सभी इमारतें ईंटों की बनाई जाती थीं। पत्थर की अनुपस्थिति में ईंटों ही में वहाँ के लोग अपनी कला दिखाते थे और उनके द्वारा दीवारों पर तरह-तरह की मूर्त्तियाँ दिखाते थे। ये दोनों स्मारक अब बर्लिन के अजायबघर में हैं।





(ऊपर बाईं श्रोर) उर नामक स्थान से प्राप्त सुमेरिया की २००० वर्ष पूर्व की एक सुंदर नक़्क़ाशीदार कटार। यह सोने श्रौर लेपिसलेज़ुली की बनी है। (दाहिनी श्रोर) पर्सियोपोलिस से प्राप्त दारा के महल के द्वार पर की एक उभड़ी मूर्त्ति। यह प्राचीन ईरानी कला का एक नमूना है। (नीचे दाहिनी श्रोर) खत्ती (हिट्टाइट) कला का एक नमूना।



और सीपी आदि से बनी तरह-तरह की चीज़ों से भरी पड़ी हैं। इस काल के कलाकारों की कारीगरी बहुत उत्कृष्ट श्रेणी की है और उसमें वह कठोरता बहुत कम मात्रा में है, जो आगे चलकर मसोपटेमिया की कला में दिखाई देती है।



पर्सियोपोलिस से अभी हाल में प्राप्त एक प्राचीन ईरानी शिल्पचित्र

२००० ई० पू० के पश्चात् मसोपटेमिया के इतिहाससे सुमेरियन लोग बिल्कुल ही विलुप्त हो गये। किन्तु एक विलक्षण बात यह है कि कीलाक्षरों या क्यूनीफ़ार्म लिपि के रूप में उन्होंने जिस भाषा का निर्माण किया था, वह उनके बाद भी वहाँ जीवित रही। सेमेटिक विजेता, जो अन्तर्वर्गीय विवाह के द्वारा सुमेरियन लोगों को अपने वर्ग में मिलाते गये, इसके बाद भी २००० वर्षों तक सुमेरियन लिपि से ही काम लेते रहे। इसके पश्चात् यह लिपि स्वाभाविक रूप से विनष्ट हो गयी। कालांतर में उर का लोप हो गया और उसके विध्वंस की नींव पर अक्कड की सेमेटिक सभ्यता का उदय हुआ। किन्तु अक्कड की कला उतनी ही सुमेरियन कही जा सकती है जितनी कि उर की थी। स्पष्टतया विजेताओं ने यह अनुभव किया कि बौद्धिक विकास की दृष्टि से वे सुमेरियन लोगों से पिछड़े हुए हैं, अतः जहाँ कर वसूल करने तथा अन्य राजनीतिक आवश्यकताओं की देखभाल करने का भार उन्होंने अपने ज़िम्मे रखा, वहाँ अपने सांस्कृतिक हितों की रक्षा के लिए उन्होंने ख़ुशी से सुमेरियन लोगों को स्वतंत्रता दे दी।

इस समय तक मसोपटेमिया की ख्याति क्रमशः उसकी सीमा से बाहर बहुत दूर तक फैल चुकी थी और बाहरी लोगों के झुण्ड-के-झुण्ड अधिक सुखमय जीवन की सुविधाओं की खोज में इस भूस्वर्ग की ओर खिंचे चले आ रहे थे। ई० पू० २००० के लगभग बेबीलान के साधारण क़स्बे ने सम्राट् हम्मूरब्बी के राज्यकाल में अचानक एक विराट् नगर का रूप धारण कर लिया। हम्मूरब्बी परम पराक्रमी राजा था। उसने अपने राज्य के लिए एक विधान-संग्रह (जो अब भी सुरक्षित है) लिखा था, जिससे हज़ार साल आगे चलकर हज़रत मूसा ने अपनी प्रजा के लिए १० विधान (दश आज्ञायें) बनाते समय इतनी अधिक सहायता ली थी।

इस प्रतापी नरेश की मृत्यु के कुछ ही समय बाद मसोपटेमिया उस रहस्यमय जाति के लोगों की चढ़ाई से तहस-नहस हो गया जो कि हिक्सोज़ कहलाते हैं और जिन्होंने आगे चलकर गड़ेरिया शासकों (Shepherd kings) के नाम से मिस्र के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। कहा जाता है कि उनके आने से पहले मिस्रवासी गधों से ही काम लेते थे—घोड़ों और सैनिक रथों का प्रचलन मिस्र में उन्हीं के द्वारा हुआ।

कई शताब्दियों के बाद स्वयं मिस्रवासियों द्वारा हिक्सोज़ (Hyksos) जाति के लोग मिस्र के बाहर निकाल दिये गये और उन्हें अपने निवास-स्थान मसोपटेमिया को वापस चला जाना पड़ा। यहाँ पर उन्हें ईसा के पूर्व १४वीं शताब्दी के लगभग हिट्टाइट या खत्ती जाति का सामना करना पड़ा, जिसमें विजय हिट्टाइट लोगों की रही। हिट्टाइट लोगों को फ्रीजियन अर्थात् 'स्वतंत्र जन' नामक जाति से हार खानी पड़ी जो एशिया माइनर से आई थी। फ्रीजियन जाति को असीरियन लोगों ने जीतकर उनका मूलोच्छेद कर डाला। असीरियन जाति के आगमन-काल से वह समय आरम्भ होता है, जिससे हम

अधिक परिचित हैं, क्योंकि असीरियन लोग महान् यहूदी पैग़म्बरों के समकालीन थे। इन लोगों की राजधानी निनवे थी। यहाँ उन्होंने अपने लिए विशालकाय राजभवन बनवाये थे, जिनके भग्नावशेषों की खुदाई हाल ही में हुई है। इनकी दीवालें सतह उभाड़कर बनाये गये चित्रों से भरी पड़ी हैं, जिनमें उन पाशविक दण्ड-प्रणालियों का प्रदर्शन है, जिनका प्रयोग असीरियन शासक विरोधियों पर करते थे।

इसके बाद भाग्य ने कुछ ऐसा पलटा खाया कि बेबीलान का विलुप्त गौरव पुनः अपनी जन्म-भूमि में आ प्रकट हुआ, और असीरियन लोगों का शक्तिशाली साम्राज्य उलट गया। उत्तर-काल के ये बेबिलोनियन असीरियावालों या स्वयं अपने ही पूर्वजों की अपेक्षा कहीं अधिक सभ्य थे। उन्होंने अपनी राजधानी को ज्ञान-विज्ञान के एक बृहत् केन्द्र में परिवर्तित कर दिया। उन्होंने ही गणित तथा खगोल-विद्या की नींव डाली, जिससे यूनानी लोग इतने अधिक प्रभावित हुए कि वे बेबीलान का उल्लेख "सब विद्याओं की जननी" के नाम से करते थे और अपने बेबीलानवासी गुरुओं के ज्ञान-भण्डार का बिना किसी हिचकिचाहट के उपयोग करते थे। कला के क्षेत्र में भी उत्तर-काल के इन बेबीलान-निवासियों ने उन नाना प्रकार के सम्भव तथा असम्भव पशुओं के चिकनी ईंटों पर शिल्पचित्र बनाये थे जो आज भी पुरातन कला के अत्यन्त चित्ताकर्षक उदाहरणों में गिने जाते हैं।

एक शक्तिशाली केन्द्रीभूत शासन के अभाव के कारण द्वितीय बेबीलोनीय साम्राज्य बहुत जल्दी ही विनष्ट हो गया। ई० पू० चतुर्थ शताब्दी में जब सिकन्दर अपनी भारतवर्ष की विजय-यात्रा के मार्ग में बेबीलान पहुँचा तो उस विनष्ट-प्राय महानगरी के विलुप्त गौरव ने उस पर इतना गहरा प्रभाव डाला कि उसने उसका पुनरुद्धार कर उसे अपने पूर्वीय साम्राज्य की राजधानी बनाने का निश्चय किया। उसने प्राचीन राजभवन के पुनर्निर्माण के लिए आज्ञा दी, परन्तु ३२३ ई० पू० उसी राजभवन के भोजकक्ष में अचानक उसकी मृत्यु हो गई।



एक घोड़े का उभड़ा हुआ ईरानी पाषाण-चित्र

मसोपटेमिया के स्थापत्य की मुख्य विशेषता उसकी मेहराबदार छतें थीं। यूनानी लोग, जो अन्य सब दृष्टियों से उस समय के महान् स्थापत्यकारों में से थे, डाँटदार छतें बनाना नहीं जानते थे। मेहराबदार छत का प्रचार शीघ्र ही संपूर्ण एशिया माइनर में हो गया और एक लीडियन जाति, जो कि आगे चलकर एत्रूस्कन नाम से विख्यात हुई, मेहराबदार छत बनाने की कला को इटली ले गई। ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में रोमन लोगों ने इत्रूरिया को जीता और वहाँ वे मेहराबदार छत से परिचित हुए। इसके बाद उन्होंने इस प्रकार की छत का प्रचार सारे योरप में कर दिया।

ईरान का साम्राज्य, जो स्थापत्य तथा अन्य कलाओं की दृष्टि से मसोपटेमिया की कला से घनिष्ट रूप से संबंधित था, केवल दो शताब्दियों तक स्थायी रहा। यह साम्राज्य साइरस, कैम्बीसेस, डेरियस और ज़ेरेक्सेज़ नामक प्रसिद्ध सम्राटों की अधीनता में सभ्यता की एक ऊँची अवस्था को पहुँच गया था। ये सभी सम्राट् महान् भवन-निर्माताओं के रूप में प्रख्यात हैं। किन्तु दुर्भाग्यवश ईरानवालों में मौलिकता नहीं के बराबर थी। सूसा और परसीपोलिस में यूनानी स्थापत्यकारों द्वारा निर्मित ईरानी बादशाहों के राजमहल अधिकतर बेबीलान के राजकीय भवनों की नक़ल मात्र थे। जब उनका साम्राज्य लुप्त हो गया तो उनके राजभवन और मन्दिर भी पुनः मरुभूमि की बालुकाराशि में विलीन हो गये। साथ ही उनकी सभ्यता भी अन्तर्धान हो गई। सूसा और परसीपोलिस के गौरव की आज सिर्फ़ कहानी ही बच रही है; केवल यत्रतत्र पाया जाने वाला कोई स्तम्भ या मेहराबदार छतवाले कक्ष का खण्ड कभी-कभी उस विलुप्त गौरव की याद दिला देता है।



मानव ने लिखना कैसे सीखा—(४)

ईरानी वर्णमालाओं का विकास

यह ऊपर कहा जा चुका है कि आदिम सैमेटिक वर्णमाला की तीन शाखाएँ हुईं—फ़िनीशियन, जौकतानाइत और अरामियन। फ़िनीशियन योरपीय वर्णमालाओं की जननी हुई; जौकतानाइत से भारतीय वर्णमालाओं तथा अरामियन से ईरानी साम्राज्य में प्रयुक्त होनेवाली विभिन्न वर्णमालाओं का सूत्रपात हुआ।

ईरानी वर्णमालाओं का इतिहास अनेक आवश्यक अभिलेखों के अभाव में क्रमबद्ध नहीं मिलता। असीरियन साम्राज्य के पतन से लेकर ससानियन साम्राज्य के स्थापनकाल तक, जो लगभग ६०० वर्ष का दीर्घकाल है, अभिलेखों का पूर्ण अभाव एक खटकनेवाली बात है। केवल एक-दो सिक्कों अथवा एक भारतीय अभिलेख के सहारे ही कुछ अनुमान द्वारा कहा जा सकता है। इसका एक कारण है। निनवे (Nineveh) के समूल नष्ट होने के पश्चात् एक भी ऐसा अभिलेख न बच रहा जैसे कि असीरिया के प्रासादों से उपलब्ध हुए। बड़े-बड़े अभिलेखों के लिए वहाँ क्यूनीफ़ार्म वर्णाक्षर ही प्रयुक्त हुए और सिकन्दर की विजयों के पश्चात् ग्रीक वर्णाक्षर प्रयुक्त होते रहे। नरेशों के सिक्कों तक पर ग्रीक वर्णाक्षर ही अङ्कित मिलते हैं।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ग्रीक और क्यूनीफ़ार्म वर्णाक्षरों के साथ-साथ, जिनका प्रयोग केवल सिक्कों और अभिलेखों के लिए ही होता था, अरामियन वर्णाक्षर भी साधारण कार्यों के लिए अवश्य ही प्रयुक्त होते रहे होंगे। प्रमाणों के अभाव का कारण विनाशशील सामग्रियों का प्रयोग ही हो सकता है—जैसे पैपिरस, जानवरों की खालें, वृक्षों की छालें, तथा मोम या मिट्टी की तख़्तियाँ। जब हम अनेक वर्णमालाएँ एक-दूसरे से मिलती-जुलती पाते हैं तो स्पष्ट ही है कि ये किसी आदिम वर्णमाला ही से जन्मी होंगी।

इसके प्रमाणस्वरूप कहा जा सकता है कि अग्निपूजकों की धर्मपुस्तकों के निर्माणकाल के लगभग अवश्य ही कोई लिपि रही होगी। दसवीं शताब्दी के अरब इतिहासकार मसूदी का कथन है कि ज़ैन्द अवेस्ता ज़र्तुश्त्र द्वारा आविष्कृत अक्षरों में १२००० गौचर्मों पर लिखी गई थी। सिकन्दर की विजयों के बहुत काल पूर्व बैक्ट्रीयन साहित्य का अस्तित्व रहा होगा और वह अरामियन लिपि में ही लिखा भी गया होगा। इसका प्रमाण सम्राट् अशोक का कपूर-दी-गीरी का अभिलेख है, जिसका काल तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व है। इस अभिलेख के अतिरिक्त अगाथोक्लीज़ का एक सिक्का भी प्राप्त है, जिसकी तिथि २४० ईस्वी पूर्व है। चौथी और पाँचवीं शताब्दियों के नरेशों के अनेक सिक्के प्राप्य हैं, जिन पर अरामियन वर्णाक्षर अङ्कित हैं—लगभग वैसे ही जैसे कि अशोक के अभिलेख पर प्रयुक्त हुए हैं। जब चौथी शताब्दी में ग्रीक और क्यूनीफ़ार्म वर्णमालाओं का प्रयोग घटने लगा तो अरामियन वर्णमाला अधिकाधिक व्यवहार में आने लगी और सातवीं शताब्दी तक इसका प्रचलन रहा। इस अरामियन से ही ईरानी वर्णमालाएँ निकलीं।

कपूर दी-गीरी के अभिलेख से, जो कि ईरानी वर्णमाला का आदिम अभिलेख है, इतना प्रकट है कि ईरानी वर्णमाला का अस्तित्व ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी के लगभग अवश्य था। यह कहना कठिन है कि ईरानी वर्णाक्षरों का सर्वप्रथम रूप कैसा था। ईरानी वर्णाक्षरों की चार शाखाएँ बताई जाती हैं—(१) इण्डो-बैक्ट्रीअन, (२) पैह्लवी, (३) आर्मीनियन, (४) जॉर्जियन। इनमें से कौन वर्णमाला किसके पूर्व व्यवहृत होती थी, इसका कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। इन्डो-बैक्ट्रीयन वर्णमाला का केवल एक अभिलेख मिलता है और इसमें और इसके निकटतम स्वरूपवाले वर्णाक्षरों में शताब्दियों का अन्तर है। आर्मीनियन और जॉर्जियन वर्णमालाएँ भी एक-दूसरे से नितान्त विभिन्न हैं। पैह्लवी वर्णाक्षर केवल कुछ सिक्कों पर अङ्कित मिले हैं। इसके तीन विभिन्न रूपों में से केवल पारसी रूप ही अब प्रचलित है (देखो हि० वि० भा० अंक ५)।

पैह्लवी शब्द कदाचित् पार्थिवी का समानार्थक है। जिस काल में पैह्लवी भाषा और साहित्य का सृजन हो रहा था, उस काल में पार्थिअनों के हाथ में ईरान-राष्ट्र की बागडोर थी। इसकी आधारभूत प्राचीन ईरानी है और इसमें अनेक शब्द सैमेटिक हैं, जो ईरानी व्याकरण का पदानुसरण करते हैं। जिस प्रकार आजकल 'डॉग लैटिन' और 'पिजिन इङ्गलिश' बोली जाती हैं वैसे ही यह भाषा भी बोली जाती थी। भाषाविज्ञों का अनुमान है कि पैह्लवी जनता की भाषा न होकर केवल सासानी नरेशों के राज-दरबारियों तक ही सीमित थी। प्रोफ़ेसर हॉग ने प्रमाणित कर दिया है कि पैह्लवी मिश्रित भाषा न होकर केवल मिश्रित लिपि थी। जब अरामियन लेखकों ने फ़ारसी लिखना प्रारम्भ किया तो उन्होंने फ़ारसी शब्दों के द्योतनार्थ सैमेटिक वर्णाक्षरों का प्रयोग किया। जैसे हम आजकल 'ए. एम.', और 'पी. एम.' प्रातःकाल और तीसरा पहर निर्देश करने के लिए प्रयुक्त करते हैं, ठीक वैसे ही अरामियन लेखक भी करते थे।

पैह्लवी वर्णमाला सासानी युग की वर्णमाला थी और इसी में पैह्लवी भाषा के अभिलेख सुरक्षित हैं। परन्तु इससे पार्थिअन साम्राज्य की आदिम वर्णमाला और आधुनिक पारसी का भी निर्देश होता है। ईरान के राजनीतिक इतिहास के साथ पैह्लवी का घनिष्ट सम्बन्ध है। सिकंदर महान् के साम्राज्य के बँटवारे के समय मध्यवर्ती एशिया सिन्धुनद के निकट तक सैल्यूकस के हिस्से में आया। अरसासीज़ ने सैल्यूकस की मृत्यु के पश्चात् बलवा कर दिया और छठे अरसासीज़, मिथ्रीडेटीज़ प्रथम, ने समस्त ईरान पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। अरसासीज़ पार्थिया प्रदेश (आधुनिक ख़ुरासान) का हाकिम था। देश छोटा था पर यहाँ के निवासी बड़े ही पराक्रमी थे। इन लोगों ने एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया, और लगभग ५०० वर्षों तक इन्होंने मध्यवर्ती एशिया को विदेशियों के हाथों में जाने से बचाया। जब पार्थिया-साम्राज्य का अन्त हुआ तो सासानियों के हाथ में ईरान का साम्राज्य आया। यह महान् परिवर्तन आर्देशर द्वारा संपादित हुआ। आर्देशर ने ईरान भर में देशप्रेम की ज्वाला प्रज्वलित की। इसने पुनर्वार अग्निपूजा जारी कराई, और नक़्शए-रुस्तम के पास की चट्टान पर एक प्रस्तरमूर्ति बनवाई। इस मूर्ति पर तीन लिपियाँ अङ्कित हैं—पश्चिमी पैह्लवी, पूर्वी पैह्लवी और ग्रीक (यूनानी) में उनका अनुवाद। इसके पुत्र शाहपुर ने भी अपनी विजय-गाथा नक़्शए-रुस्तम के निकट की चट्टान पर अङ्कित कराई। इस तरह के जितने अभिलेख चट्टानों, प्रस्तर-मूर्तियों और सिक्कों पर उपलब्ध हुए, उनके द्वारा पैह्लवी वर्णाक्षरों पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा सकता है। सासानी साम्राज्य का अन्त मुसलमानों ने किया। ईरान प्रथम देश था, जिस पर पैग़म्बर मुहम्मद के अनुयायियों ने आक्रमण किया। नेहावेन्द के युद्ध में एक लाख ईरानी काम आए और ईरान से पारसी धर्म को देश-निकाला दिया गया। मुसलमानों की विजय के पीछे पैह्लवी लिपि का स्थान अरबी लिपि ने ग्रहण किया और यही आधुनिक पर्शिया (ईरान) की लिपि है। जब मुसलमानों ने तलवार के बल पर ईरानियों को अपने मुसलमानी धर्म में दीक्षा देना चाहा तो अनेक ईरानी अपनी जन्मभूमि को छोड़कर भागे। इन्हीं भागे हुए लोगों की सन्तान आज बम्बई, सूरत आदि नगरों में बसी हुई है। ये लोग पारसी भाषा बोलते हैं और अपने आदिम धर्म और साहित्य तथा लिपि के संरक्षण में तत्पर रहते हैं।

उपरोक्त ऐतिहासिक रेखा-वर्णन से हम पैह्लवी वर्णमाला के इतिहास को तीन विभिन्न कालों में विभाजित कर सकते हैं—(१) अरसासीज़ का काल, अर्थात् पार्थियन साम्राज्य का काल; (२) सासानी युग; (३) पारसी अथवा भारतीय पैह्लवी का काल।

अरसासीज़ के काल की पैह्लवी में बहुत कम संख्या में अभिलेख मिले हैं। इसका कारण यह है कि पार्थिया के सम्राट् साधारणतया ग्रीक वर्णाक्षरों का ही व्यवहार करते थे। उन्होंने ऐसा लगभग दो या ढाई सौ साल तक किया। प्रारम्भिक काल के सिक्कों पर जो ग्रीक वर्णाक्षर अङ्कित हैं, वे सुस्पष्ट तथा सुन्दर आकृतिवाले हैं। कालान्तर में लापरवाही के कारण अथवा अनभिज्ञता के कारण यूनानी वर्णाक्षरों की आकृति में परिवर्तन होने लगे और ग्रीक लिपि का स्थान दूसरी लिपि ने ग्रहण किया। यही प्रारम्भिक पैह्लवी लिपि है और यह अनेक नृपों के सिक्कों पर अङ्कित मिलती है। इसका सर्वाङ्गपूर्ण रूप नक़्शए-रुस्तम और हाजिआबाद के अभिलेखों में देखने को मिलता है। अनेक शताब्दियों तक तो पैह्लवी लिपि सिक्कों पर अङ्कित मिलती है, फिर कहीं उसके दर्शन अभिलेखों में भी होते हैं। यही लिपि बदलते-बदलते अवेस्ता की प्राचीनतम प्रतियों में मिलती है। सासानी युग की पैह्लवी आर्देशर के अभिलेख से प्रारम्भ होती है। किन्तु उस युद्ध-काल में भी उसके अक्षरों के रूपों से स्पष्ट झलकता है कि उसका वह रूप काफ़ी पुराना है। आर्देशर और

शाहपुर ने अपनी वीर-गाथाओं को दो लिपियों में अङ्कित कराया, यह इस बात का प्रबल प्रमाण है कि दोनों पैह्लवी लिपियाँ (सासानी और अरसासीज़) जनता में उन दिनों व्यवहृत होती थीं। जो कुछ भी अन्तर था केवल भौगोलिक था। एक पूर्वी थी और दूसरी पश्चिमी। अरसासीज़ के युग की पैह्लवी पुरानी है और उसके कई वर्ण कपूर-दी-गीरी के वर्णों से मिलते हैं।

पैह्लवी लिपि के सर्वाङ्गपूर्ण रूप को ज़ैन्द (Zend) के नाम से पुकारते हैं। इसी ज़ैन्द में ज़ैन्द अवेस्ता की वर्तमान प्रतियाँ प्राप्य हैं। परन्तु ज़ैन्द नाम ठीक नहीं है। इसके प्रयोग से काफ़ी भ्रम होने की गुञ्जाइश है। ज़ैन्द भाषा ईरानियों की बोलचाल की प्राचीनतम भाषा है और ज़ैन्द वर्णाक्षर ईरानी लिपि के अन्तिम विकसित रूप हैं। ज़ैन्द भाषा और ज़ैन्द वर्णाक्षरों में लगभग २००० वर्षों का अन्तर है। इसलिए इनको पारसी वर्णाक्षर कहना अधिक उपयुक्त है। पारसी लोग जिस लिपि को अपनी धर्मपुस्तकों की प्रतियों के लिए प्रयुक्त करते हैं, वह ज़ैन्द अवेस्ता में प्रयुक्त वर्णमाला का ही परिवर्तित रूप है। परन्तु वर्णों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं है।

ज़ैन्द अवेस्ता का सर्वप्रथम अधिकारपूर्ण अनुवाद प्रस्तुत करने का श्रेय एक फ्रांसीसी दुपेरों को है, जिसने कठोर परिश्रम के पश्चात् १७७१ में उसे मुद्रित कराया। परन्तु विद्वत्-मण्डली ने उसके अनुवाद का परिहास किया और उसे झूठा क़रार दिया। अनुवादक की मृत्यु के २० वर्ष पश्चात् रास्क और बूर्नू की खोजों ने उसको सही प्रमाणित किया।

ईरानी वर्णमालाओं का प्राचीनतम अभिलेख सिन्धुनद के पश्चिम में मिला है। जिस ग्राम में यह मिला है, उसी के नाम से यह प्रख्यात है। इसको कपूर-दी-गीरी (Kapur-Di-Giri) का अभिलेख कहते हैं। अनेक विद्वानों की खोज के फलस्वरूप यह सम्राट् अशोक के १४ प्रस्तर-अभिलेखों में एक प्रमाणित कर दिया गया है। अशोक के अभिलेख दो लिपियों में प्राप्य हैं। कपूर-दी-गीरी का अभिलेख दाईं ओर से बाईं ओर अरामियन द्रुत-लेखन-लिपि में है। अन्य अभिलेख एक दूसरी ही लिपि में हैं, जिनसे समस्त भारतीय लिपियों को जन्म मिला।

कपूर-दी-गीरी के नाम से अभिलेख को पुकारना वास्तव में एक भूल होगी ; क्योंकि जिस स्थान से अभिलेख उपलब्ध हुआ है, वह वास्तव में शाहबाज़गढ़ी का ग्राम है। कपूर-दी-गीरी के अभिलेख की लिपि को टॉमस महोदय ने इन्डो-बैक्ट्रीअन नाम दिया है, क्योंकि न केवल यह बैक्ट्रिया प्रदेश की ही लिपि थी, वरन् अफ़ग़ानिस्तान और पञ्जाब की भी।

कपूर-दी-गीरी का अभिलेख लगभग २५१ ई० पू० लिखा गया बतलाया जाता है। अगाथोक्लीज़ का एक सिक्का भी इस लिपि में अङ्कित मिला है, जिसकी तिथि ईस्वी पूर्व २४० है। इससे यह प्रकट है कि यह लिपि बैक्ट्रिया और भारत में प्रचलित थी। इन्डो-सीथिअन राजाओं के काल में इस लिपि का बहुत प्रचार बढ़ा, जैसा कि भावलपुर में प्राप्त कनिष्क के एक सिक्के से स्पष्ट हो जाता है। ईसा की पहली शताब्दी में इस लिपि का भारतवर्ष से प्रचार उठ गया और उसका स्थान ब्राह्मी लिपि ने ले लिया। इन्डो-बैक्ट्रिअन लिपि से ही हमको भारतीय और योरपीय संख्या-चिह्न मिले हैं। संख्या-चिह्न अरबवासियों द्वारा स्पेन में आए और १२ वीं और १३ वीं शताब्दियों से समस्त योरप में उनका प्रयोग होने लगा। पारसी लिपि को छोड़कर आर्मीनियन और जार्जियन लिपियों द्वारा ही ईरानी वर्णाक्षरों का अस्तित्व प्रमाणित होता है। कुछ विशेष कारणों से ही ये दो लिपियाँ सुरक्षित रह सकी हैं और इन पर अरबी और यूनानी भाषाओं का प्रभाव नहीं पड़ पाया है। जार्जियन लिपि तो कुछ निजी विचित्रता के कारण और कुछ भौगोलिक स्थिति के कारण तथा आर्मीनियन लिपि भी इन दो कारणों के अतिरिक्त धार्मिक कट्टरता के कारण सुरक्षित रह सकी है।

जार्जियन और आर्मीनियन वर्णमालाओं के आविष्कार का श्रेय सन्त मेस्रौब को दिया जाता है। यह महाशय आर्मीनियन राजाओं के यहाँ सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त थे। राजदरबार में ईरानी लिपि का आदर था। राजनीतिक और धार्मिक कारणों से प्रेरित होकर मेस्रौब ने धार्मिक कार्यों के उपयुक्त एक वर्णमाला की आवश्यकता को समझा और ग्रीक वर्णाक्षरों का पदानुसरण कर आर्मीनियन वर्णमाला का आविष्कार किया। मेस्रौब ने इञ्जील का अनुवाद आर्मीनियन भाषा में किया। इतना कर चुकने पर यह महाशय जार्जिया पहुँचे और २८ वर्णों की एक लिपि वहाँ की जनता के लिए बना दी।

विद्वानों में मतभेद है कि आर्मीनियन लिपि ग्रीक वर्णाक्षरों में परिवर्त्तन करके बनाई गई है अथवा वह ईरानी वर्णमाला के समूह से सम्बन्ध रखती है।

अगले लेख में भारतीय वर्णमालाओं पर प्रकाश डाला जायगा।





(ऊपर) शरीर पर विचित्र चित्रकारी किये और पत्तियों, परों आदि से पक्षियों जैसी शक्ल बनाये हुए आॅस्ट्रेलिया के आदिम निवासी आग के आसपास उछलते-कूदते हुए नृत्य कर रहे हैं। (दाहिनी ओर) शिकार के लिए सज्जित एक जंगली ऑस्ट्रेलियावासी योद्धा।



ऑस्ट्रेलिया और वहाँ के आदिम निवासी

पापुआनों और मेलानेशियनों के ही समकक्ष या किसी-किसी बात में उनसे भी गये बीते ऑस्ट्रेलिया के आदिम निवासी हैं, जिनकी गिनती आज भी पत्थर-युग के मनुष्यों में की जाती है। इस लेख में उन्हीं का मनोरंजक हाल आपको सुनाया जा रहा है।

सभ्यता से परिचित जिन मनुष्यों की दृष्टि पहले-पहल ऑस्ट्रेलिया पर पड़ी थी, उन्होंने इसे 'काला, जंगली, ख़ूँख़ार प्रदेश' नाम दिया था। इस महादेश के जिस हिस्से में ये पहुँचे थे, वह वास्तव में ही प्राकृतिक सौंदर्य-विहीन, भद्दा मरुप्रदेश था। यहाँ के बाशिन्दे उन प्रथम पहुँचनेवालों को निर्दयी, दरिद्र और स्वाभाविक ही जंगली दिखाई दिए। यहाँ तक कि सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब विलियम डाम्पियर नामक अन्वेषक इस महादेश के उत्तर-पश्चिम तट पर पहुँचा तो उसकी भी यही धारणा रही कि यहाँ के बाशिन्दे संसार में सबसे अधिक दरिद्री हैं और यह देश रहने के उपयुक्त नहीं है।

ऑस्ट्रेलिया के विषय में सभ्य संसार की यह धारणा बहुत दिनों तक बनी रही। लोग इस देश को निम्न कोटि के जानवरों का देश समझते रहे। बहुत हुआ तो वे इसे आदिम निवासियों का अजायबघर मान सकते थे। जब अन्वेषकों ने वहाँ के आदिम निवासियों का विशेष रूप से अध्ययन करना आरंभ किया और उनकी भाषा की खोजबीन की तो यह निश्चित रूप से साबित हो गया कि इस महादेश के उत्तरी भाग में बसनेवाले मनुष्य 'पापुआन' सरीखे ही हैं। इनका रहन-सहन भी उन्हीं की कोटि के आसपास जैसा है। और इसीलिए आज भी ऑस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों की गिनती पत्थर-युग के आदमियों में की जाती है। ये आज भी पत्थर घिसकर अपने हथियार बनाते हैं और नरम कुन्दे पर पेन्सिल की तरह की सख़्त लकड़ी घिसकर चिनगारी द्वारा आग जलाते हैं।

घर बनाने की कला में ये लोग पक्षियों के घोंसले बनाने की मामूली हिकमत से भी पीछे हैं। वर्षा से बचने के लिए वृक्षों की खाल, घास और जंगली लकड़ियों द्वारा



ऑस्ट्रेलिया का अद्भुत जानवर कंगारू

ये अपनी पिछली टाँगों और दुम के सहारे फुदकते हुए बड़ी तेज़ी से दौड़ते हैं। मादा कंगारू के पेट में बाहर की ओर एक थैली होती है, जिसमें उसका बच्चा सुरक्षित बैठा हुआ झाँकता रहता है।

पापुआन लोगों से सीखे हुए तरीक़े पर किसी प्रकार ये अपने घोंसले तैयार कर लिया करते हैं।

आधुनिक औज़ारों और यंत्रों के अभाव में, अपने प्रदेश के उपजाऊ और समृद्धिशाली रहते हुए भी ये लोग भूख और दरिद्रता का जीवन बसर करते आए हैं। इनकी आजीविका का आधार अब भी प्राचीन ढंग का शिकार, ज्यों-त्योंकर पकड़ ली गई मछलियाँ और जंगल के कंदमूल हैं। इस देश में कोयला, ताँबा, चाँदी, टीन, लोहा सब कुछ प्राप्य होने पर भी ये उनका उपयोग न कर सके। यह कहना अक्षरशः सत्य होगा कि ये लोग सदैव सोने को रौंदकर चलते रहे, फिर भी इनकी दरिद्रता चरम सीमा को ही पहुँची हुई रही।



ऑस्ट्रेलिया-निवासी एक और विचित्र प्राणी—कोआला

ऑस्ट्रेलिया के जानवर केवल ऑस्ट्रेलिया ही में पाये जाते हैं, संसार के अन्य किसी भी भाग में नहीं।

ज़मीन के भीतर छिपे धन की तो बात दूर रही, सतह पर बिछे धन का भी कोई उपयोग इन्होंने नहीं किया। ज़मीन को जोतने-बोने की कभी कोई कोशिश इन्होंने नहीं की। अत्यन्त समृद्धिशाली भूमि पर रहते हुए भी ये भिखारियों का जीवन व्यतीत करते रहे। खाद्य पदार्थ उपजाने या उपयुक्त हथियार-औज़ार बनाने से इन्हें कोई मतलब नहीं। जो कुछ भी अनायास हाथ लग गया या भाग्य से सामने आ गया उसी पर ये अपना गुज़ारा चलाते रहे और आज भी वैसा ही कर रहे हैं। एक शब्द में—मनुष्य का शरीर रहने पर भी ये आज तक प्रकृति के सामने जानवरों की ही भाँति अपने को असहाय पा रहे हैं।

बात कुछ अजीब-सी भले ही दिखाई देती हो, पर इतना सत्य है कि इस देश के निवासियों को अथवा उनकी प्रकृति को ठीक-ठीक पहचान पाने के लिए, जिन जानवरों के साथ ये हज़ारों शताब्दी से रहते चले आए हैं, उन पर एक दृष्टि डालना आवश्यक हो जाता है। जो जानवर आज के सभ्य देशों में हज़ारों शताब्दी पहले पाए जाते थे वे ऑस्ट्रेलिया में आज भी वर्तमान हैं। हमारे यहाँ के बड़े-बड़े अजायबघरों में जिन प्राचीनकाल के जानवरों की सिर्फ़ अस्थियाँ भर मिलती हैं, वे ऑस्ट्रेलिया में आज भी जीवित और बहुत अधिक संख्या में वर्तमान हैं। इस दृष्टि से ऑस्ट्रेलिया को अति प्राचीनकाल का जीवित अजायबघर नाम देना पड़ेगा।

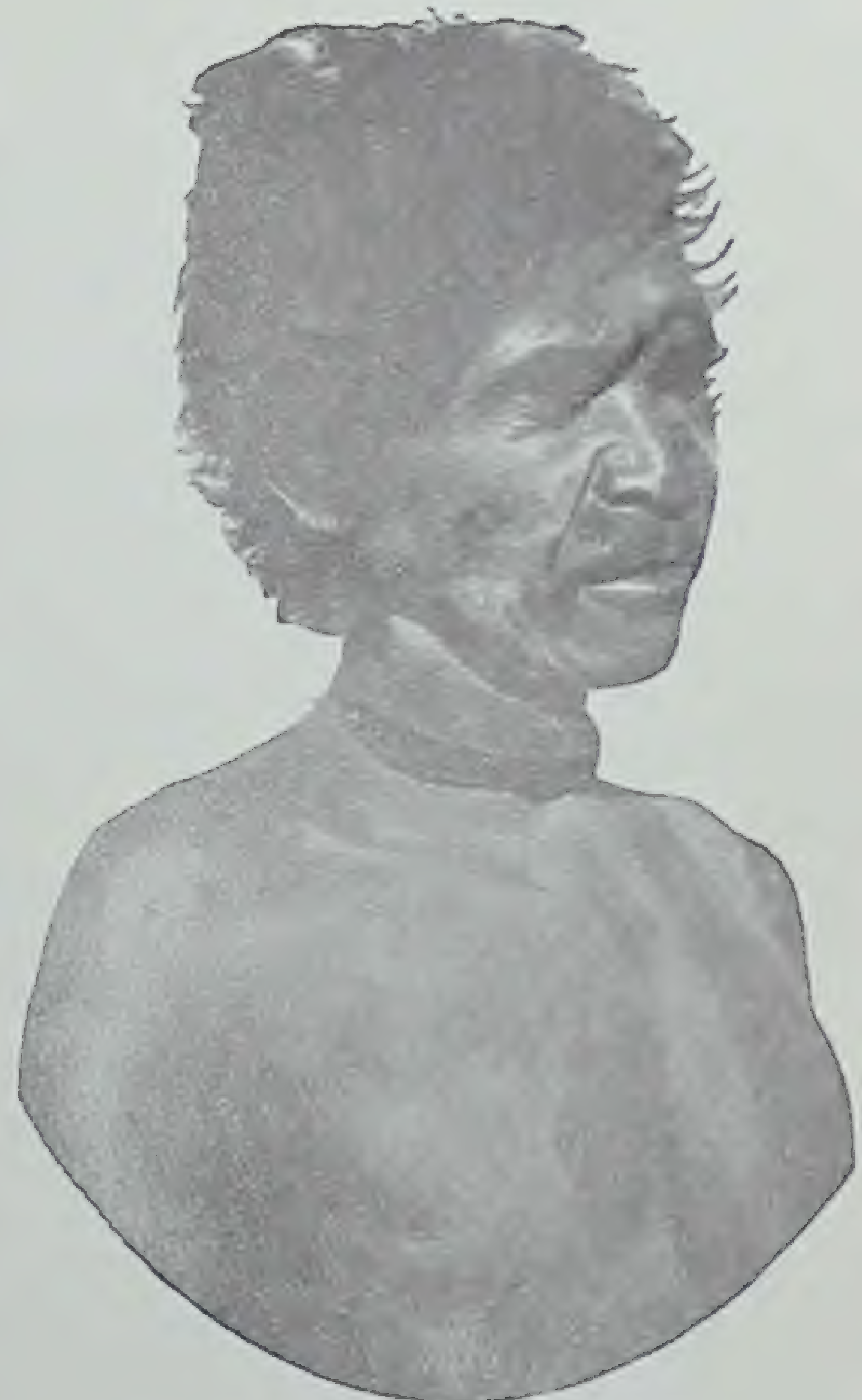
इस देश के जानवरों में सबसे पहले कंगारू आते हैं। इनके अगले पाँव बहुत छोटे होते हैं, पर पिछले पाँव और दुम बड़ी ही मज़बूत होती है। वैसे तो ये जानवर ख़तरनाक नहीं होते पर छेड़ने या खदेड़ने पर अपनी प्राण-रक्षा के लिए ये अड़ जाते हैं। ऐसी अवस्था में ये आदमियों की जान तक ले लेते हैं। सिर्फ़ पत्थर के हथियार से काम लेनेवाले आदमियों से तो ये डरते ही नहीं।

विषैले साँप और मकड़ों के सिवा इस देश में एक ख़ास क़िस्म की विषैली चींटियाँ भी होती हैं। इनकी एक जाति सफ़ेद रंग की और ज़मीन के नीचे रहनेवाली होती है। ये अक्सर दल-के-दल बाहर निकलती हैं, और जो भी लकड़ी सामने आई उसे चबा डालती हैं। ये पूरे घर का घर खोखला कर डालती हैं। एक दूसरी तरह की भी चींटी होती है, जिस पर यदि छड़ी चलाई जाय तो वह प्राण रहते भागती नहीं, बल्कि काटने के लिए बराबर आक्रमण करती है।

पर ऑस्ट्रेलिया के आदिम निवासी सबसे अधिक अपने



ऑस्ट्रेलिया का एक आदिम निवासी



ऑस्ट्रेलियावासिनी एक आदिम स्त्री





(ऊपर) ऑस्ट्रेलिया का एक विचित्र सुंदर पक्षी जिसकी दुम अँगरेज़ी बाजे लायर की शक्ल की होती है। इसीलिए इसे 'लायर बर्ड' कहते हैं। (दाहिनी ओर) उत्सव के लिए सज्जित एक ऑस्ट्रेलियावासी। शरीर पर की गई विचित्र चित्रकारी पर ग़ौर कीजिए।







(ऊपर की पंक्ति में—बाईं ओर) एक ऑस्ट्रेलियावासी जंगली कलाकार उत्सव के समय काम में लाये जानेवाली पेड़ की छालों (वल्कल) पर बारीक चित्रकारी कर रहा है। (दाहिनी ओर) एक ऑस्ट्रेलियावासी बुड्ढा प्राचीन मनुष्यों की तरह गढ़कर पत्थर की कुल्हाड़ी बना रहा है। (नीचे दाहिनी ओर) ये ऑस्ट्रेलियावासी अपना निर्वाह मुख्यतया तरह-तरह के कंद-मूल-फल खाकर करते हैं। इस तरह की इनकी आहार की वस्तुओं में मुख्य साइकेड-नामक एक वृक्ष के फल तथा एक तरह की कुमुदिनी के बीज होते हैं, जिन्हें इनकी स्त्रियाँ बड़ी चतुराई से तरह-तरह की विधियों द्वारा खाने के लिए तैयार करती हैं। इस चित्र में एक स्त्री बैठी हुई इनके बीजों को सिल-बट्टे से पीस रही है।

यहाँ के कौओं को मारने पर उतारू रहते हैं। जब कोई भेड़ बच्चा देती होती है अथवा गरमी से तबाह होकर क्लान्त बन जाती है, उस समय कौए उसका मांस नोचने के लिए उस पर आक्रमण करते हैं। कभी-कभी ये कौए भेड़ की आँख तक नोचकर ले जाते हैं और उस जानवर को घुल-घुलकर मरने के लिए मजबूर कर देते हैं। अक्सर ऐसा भी होता है कि आदमी जंगल में राह भूलकर प्यास से तबाह होने लगता है, उस समय ये कौए उसके ज़िन्दा रहते ही उसकी आँख नोचकर ले भागते हैं। इसीलिए यहाँ के निवासी अक्सर एक कौए को मारने के लिए दिन-दिन भर उसके पीछे दौड़ते रहते हैं।

यहाँ के जंगलों में प्रकृति के बनाये कुछ ऐसे भी पक्षी रहते हैं, जो आदमियों के लिए उपयोगी साबित होते हैं। इनमें एक कूकाबूरा होता है। इसकी बोली ठीक आदमियों की हँसी-जैसी होती है। यह साँपों को मारने में बड़ा तेज़ होता है। इसीलिए यहाँ के निवासी इसे पवित्र मानते हैं।

ये पशु-पक्षी ही ऑस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों के विचार और रहन-सहन को सबसे अधिक प्रभावित करते हैं। जब से आधुनिक संसार को ऑस्ट्रेलिया के धन का पता लगा है, कई योरपियन, जिनमें अधिकांश अँगरेज़ हैं, ऑस्ट्रेलिया में बसने लगे हैं और इनका भी थोड़ा-बहुत असर आदिम निवासियों पर पड़ा है। पर यह प्रभाव एक भिन्न प्रकार का है। अँगरेज़ों ने इस महादेश के दक्षिण की ओर के पूरे आधे हिस्से से आदिम निवासियों को हमेशा के लिए खदेड़ दिया है। अन्य हिस्सों में भी यूरोपीय ढंग की बीमारियाँ, शराब और कपड़े आदिम निवासियों को प्रभावित करने लगे हैं, इसलिए अब इनकी आबादी पहले की तरह फैली हुई नहीं रही है; ये एक विशेष क्षेत्र में केन्द्रीभूत हो गये हैं।

कारपेन्टारिया की खाड़ी के दक्षिण-पश्चिम में लगभग एक लाख वर्ग मील से अधिक के क्षेत्र में अब भी वैसे आदिम निवासी हैं, जो बाह्य संसार से बिलकुल ही अछूते हैं। इनमें आसंता, बारामुगा, बिंग-बिंगा और कामिलरोई जातियाँ प्रमुख हैं। जहाँ ये जातियाँ बसी हैं, उस प्रदेश विशेष में वर्ष के अधिकांश भाग में पानी और भोजन की बड़ी किल्लत रहती है और इसी वजह से आबादी घनी नहीं हो पाती। बीस से लेकर सौ मनुष्यों तक की आबादी साधारणतया एक स्थान पर रहती है; पर ख़ास-ख़ास मौकों पर ये कुछ अधिक संख्या में भी एकत्रित हो जाते हैं।

विशेषकर इन हिस्सों के ही निवासी ऐसे हैं, जिनके जीवन तथा मनोभावना को सभ्य अँगरेज़ों की अपेक्षा उनके अपने यहाँ के पशु-पक्षी आज भी अधिक प्रभावित किये रहते हैं। यह बात इनकी कुछ विशेष प्रकार की रीति-रस्मों की जाँच करने पर तुरंत ही स्पष्ट हो जाती है। ऐसी रस्मों में सदियों से चली आ रही कुछ पुश्तैनी रस्में बड़े मार्के की हैं। इन रस्मों के अदा करते समय ये अपने प्रदेश के पशु-पक्षियों की आवाज़ की पूरी नक़ल उतारते हैं। यह आवाज़ इतनी हूबहू उतरती है कि इसे उतारनेवाले आदमी उस समय के लिए पूरे जानवर या पक्षी हो गये-से दीखते हैं। इस नक़ल उतारने के काम से उन लोगों की तबियत जल्दी नहीं भरती। इस रस्म को वे अपने बाप-दादों से आई जान कर उसका अक्षरशः पालन करते हैं, और साथ ही यह भी विश्वास रखते हैं कि उनके पूर्वजों का शरीर अपूर्ण मनुष्य का था, तथा उसे पूर्ण बनाने का श्रेय विशेषकर जानवरों के भीतर पाये जानेवाले अर्धदेवों को था।

पर्याप्त मात्रा में भोजन न मिलने के कारण इन पत्थर-युग में रहनेवाले मनुष्यों के बीच कई तरह के नियम चल पड़े हैं, जिन्हें वे पुश्तैनी बतलाते हैं। ऐसे नियमों में बच्चों या युवकों के लिए बनाये गये क़ानून भी हैं। किसी जाति-विशेष में जन्म होने से ही किसी का अधिकार उस जाति का सदस्य हो जाने का नहीं रहता। सदस्य बनने के लिए की जानेवाली साधनाओं की कई मंज़िलें रहती हैं और वे साधनायें एक-से-एक भयानक होती हैं। बच्चे जैसे ही बड़ों को सहायता पहुँचाने योग्य बनते हैं, वैसे ही उनके खाने की चीज़ों पर रोक लगा दी जाती है। एक ख़ास तरह की स्वादिष्ट चर्बी वे फिर खा नहीं सकते, पर यह चर्बी प्राप्त कर उन्हें बिना किसी और को दिये ससुर के नाम से पुकारे जानेवाले बूढ़ों को देना पड़ता है। यदि इस नियम में कोई ढिलाई करता है तो इसका बहुत ही बुरा परिणाम उसे भुगतना पड़ता है। रस्म अदा करने के सिलसिले में बूढ़े उस क़ानून तोड़नेवाले की घूँसे और तमाचों से ख़बर लेते हैं। इसके सिवा उन युवकों में यह अन्ध-विश्वास भर दिया जाता है कि यदि उन्होंने मना की गई चीज़ों का उपभोग किया तो एक ख़ास जादू का उन पर असर होगा और वे अंधे, लूले, पंगु हो जावेंगे तथा उनके बुज़ुर्गी के चिह्न-स्वरूप दाढ़ी कभी उगेगी ही नहीं। इस प्रकार के प्रतिबंध और रस्मों का ख़ास मतलब यही है कि बूढ़ों के लिए स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ सुरक्षित रहें। ख़ासकर इसीलिए ये नियम अक्षरशः पालन कराये जाते हैं।

इन प्रतिबंधों के हटाने के पहले के रस्म भी बड़े भयानक हैं। जो व्यक्ति किसी पद से हटाया जानेवाला होता है उसे तरह-तरह के कष्ट बर्दाश्त करना पड़ता है। इन कष्टों में एक ज़िन्दा भुना जाना भी है। कुन्दे की आग पर वह आदमी पाँच मिनट तक चित सुलाया जाता है। आग धीरे-धीरे तेज़ कर दी जाती है। फिर वह पाँच मिनट तक पट लेटता है। एक स्थान पर अधिक जल न जाय, इसके लिए वह बराबर करवटें बदलता रहता है।

विधि समाप्त होने पर वह युवक रस्म अदा करानेवाले बूढ़ों से गुप्त बातें सीखने का अधिकारी हो जाता है। बूढ़े इस मौक़े पर अपने को जाति के पूर्वज बनकर आये हुए बताते हैं और उसी के लिए अपने शरीर पर ख़ास तरह की चित्रकारी भी किये रहते हैं। कभी-कभी ये चित्रकारियाँ पशु-पक्षियों की शक्ल दिखाने के उद्देश से की जाती हैं, पर अधिकतर वे साँप के शक्ल की होती हैं, क्योंकि उसी को ये लोग आदमी को पैदा करनेवाला पवित्र जीव समझते हैं।

इसके सिवा जीभ छेदने, अपना बाल काट कर रस्सी बनाने के काम में लाने के लिए बूढ़ों को देने, अथवा जाति के किसी व्यक्ति के मरने पर अपनी छाती पर गरम पत्थर से दाग़ उखाड़ लेने का भी रिवाज़ है। मर्द अपने बालों के बदले औरतों के बाल काटकर अपनी बाँह में बाँधे चलते हैं। दाँत उखड़वाने का रिवाज़ अब मर्दों के बीच से उठ गया है, पर यह औरतों के लिए लाज़िमी बना दिया गया है। छड़ी से मार-मारकर पहले उनके दाँत हिला दिये जाते हैं, फिर पत्थर से ठोंक-ठोंक कर उखाड़ दिये जाते हैं। इससे औरतें समझती हैं मानों वे अधिक सुन्दर हो गयी हैं।

तरह-तरह का अत्याचार झेलते रहने के कारण यहाँ की औरतों की उम्र पहचान पाना कठिन हो जाता है। पचीस वर्ष में ही वे बूढ़ी हो गई सी दीखती हैं। यहाँ से अधिक पीड़ित औरतें संसार के और स्थान में बिरले ही मिलती हैं। इनके समाज में जितने भी अच्छे खाद्य पदार्थ हैं, उनसे औरतें वंचित रखी जाती हैं। रस्मों के अदा करते वक़् भी खाने-पीने की क्रिया के समय ये अलग कर दी जाती हैं। इसके सिवा, मर्दों द्वारा और कितने ही प्रकार के अत्याचार इन पर होते हैं। किसी जाति के चार विभाग के चार आदमी यदि थोड़े काल के भीतर मर जाते हैं तो सब औरतों को एक साल तक बिलकुल मूक रहना पड़ता है। वे एक शब्द भी उच्चारण नहीं कर सकतीं। साल के आख़िर में वे मर्द का हाथ दाँत से काटती हैं और उसे खाना देती हैं, तब कहीं वे मौन तोड़ सकती हैं।

यदि तकलीफ़ बर्दाश्त करने से भागने के लोभ ने लोगों को कभी विवश किया तो वे उस समय एक ख़ास तरह की आवाज़ सुनते हैं। इसे वे 'त्वानिका देव' की आवाज़ मानते हैं, जो उन्हें लालच में पड़ने से मना करता है। बड़े हो जाने पर वे अवश्य जान जाते हैं कि यह आवाज़ महज़ खोखली की गई एक लकड़ी से निकलती है। पर वे इस रहस्य को न खोलने के लिए हमेशा बाध्य रहते हैं।

खाद्य पदार्थ पर्याप्त मात्रा में न मिलने या शरीर को निरंतर यंत्रणा देते रहने के कारण जब इन्हें रोग होते हैं तो ये आदिम निवासी उसे जादू की करामात मानते हैं और अधिकतर यह विश्वास रखते हैं कि वह जादू शत्रु ने अदृश्य ज़हर की हड्डी के रूप में उन पर चलाया है। इसके उपचार के लिए रोगी लेट जाता है और जादू झाड़नेवाले कुछ देर उसे ध्यान से देखते रहते हैं। फिर रोगी के शरीर पर लेटकर उसकी मालिश करते हैं और दाँत से काट-काट कर ज़हर निकालने की क्रिया दिखाते हैं।

स्वाभाविक रीति से मृत्यु होने में भी इन आदिम निवासियों का विश्वास नहीं। मौत का कारण वे जादू ही समझते हैं। इसीलिए मरने से संबंध रखती हुई कई रस्म इनमें होती हैं। जब व्यक्ति मृत्युशय्या पर पड़ता है उसी समय से 'शोक' की रस्म का आरंभ होता है। लोग रोते-चिल्लाते और अचेत होने लगते हैं; औरतें अपनी जाँघ में घाव करने लगती हैं; कभी-कभी इतने गहरे किये जाते हैं कि स्त्री खड़ी भी नहीं हो सकती। मृत्युशय्या पर पड़े व्यक्ति की मृत्यु होते ही स्त्री-पुरुष छड़ी-लाठी हाथ में लेकर एक दूसरे को भोंकते-पीटते जुलूस बनाकर निकलते हैं। इस मौक़े पर एक दूसरे के आघात से बचने की कोशिश नहीं की जाती। इसीलिए बहुतों का शरीर लहू-लुहान हो जाता है। फिर लाश को लेजाकर एक पेड़ की खोह में रख दिया जाता है। तीन दिन बाद लोग जाकर उस खोह को देखते हैं और पता लगाते हैं कि वहाँ किसी पशु-पक्षी के कोई चिह्न तो विद्यमान नहीं हैं। यदि कोई चिह्न उन्हें मिलता है तो वे उस चिह्न द्वारा उस शत्रु का पता लगा लेते हैं जिसके जादू से व्यक्ति मारा गया होता है और उससे बदला लेते हैं। यदि पेड़ की खोह में तीसरे दिन उन्हें कोई चिह्न नहीं मिलता तो वे लाश को एक साल तक वहीं रक्खी रहने देते हैं। साल पूरा होने पर मरे आदमी के भूत की अनुमति लेकर लाश की अस्थियाँ उतारी जाती हैं। इस मौक़े पर सबसे कम अवस्थावाला युवक पत्थर के कुल्हाड़े से अस्थि-पंजर को तोड़ता है और हाथ की एक हड्डी को छोड़कर बाक़ी सभी

अस्थियों को वृक्ष की खाल में लपेटकर बँधा छोड़ दिया जाता है।

ऑस्ट्रेलिया में कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं, जो अपनी जाति के मुर्दों का मांस खाना अपना धार्मिक फ़र्ज़ समझती हैं, क्योंकि इससे वे समझती हैं कि मरा हुआ आदमी फिर से उनकी ही जाति में जन्म लेगा। कुछ जातियाँ ऐसी हैं, जो वृक्ष की खोह से अस्थि निकालकर उसे उजली चींटी के ढेर के बीच गाड़ देती हैं। सिर्फ़ हाथ की हड्डी अपने पास रख ली जाती है। जाति का सरदार उस हड्डी को खाल में लपेटता है और किसी लसीले वृक्ष की खोह में रख देता है। फिर लोग शिकार की तलाश में निकलते हैं और रस्म अदा करने के अवसर पर काम आनेवाले मांस की दिन भर खोज करते हैं। तब यह मांस पत्ते में लपेटा जाता है और मृत व्यक्ति के हाथ की हड्डी भी अलग लपेटी जाती है और दोनों चीज़ें मरे हुए व्यक्ति के पिता को दे दी जाती हैं। इस मौक़े पर औरतें बैठ जाती हैं और ख़ूब चिल्ला-चिल्लाकर रोना शुरू करती हैं। मृत व्यक्ति का पिता औरतों में सबसे बूढ़ी को मरे हुए की हड्डी रखने को देता है। बाक़ी औरतें खाने के काम में आनेवाले साँप पकाने लगती हैं। फिर मरे हुए आदमी का भाई बूढ़ी औरत से हड्डी लेकर उसे एक गढ़े में गाड़ देता है। किसी-किसी जाति में इस अवसर पर 'साँप का जादू' चलाया जाता है। इसके लिए ज़मीन पर और साथ ही आदमियों की पीठ पर साँप की शक्ल बनाई जाती है और लोग एक विशेष प्रकार का नृत्य करते हैं, ताकि मरा हुआ यदि मर्द हो तो औरत, और औरत हो तो मर्द के रूप में फिर से उसी जाति में जन्म ले।

एक साथ मिलकर शिकार जुटाने तथा खाने-पीने की समस्या हल करने के सवाल से मृत्यु-संबंधी ये रस्म संबंध रखती हैं, इसलिए इनकी महत्ता अधिक होती है। ये रस्म ही इनके मन-बहलाव का भी काम देती हैं। यदि ये न रहें तो उनके जीवन में और कोई बात मार्के की रह ही नहीं जाती। इनमें मर्द पुरातन ढंग से पत्थर के बर्छे की भाँति हथियार बनाते हैं, या शिकार के पीछे घूमते रहते हैं। औरतें भोजन के लिए साँप, छिपकलियाँ या घासों के बीज इकट्ठा करती रहती हैं।

रोज़मर्रे के जीवन में औरतें अधिक काम करती हैं। मर्दों को प्रायः फ़ुर्सत ही रहती है। उन्हें जब और कोई रीति-रस्म न अदा करना हुआ तो एक ख़ास स्थान पर इकट्ठा होकर पक्षियों के पर से वे अपने को सजाते हैं, शरीर पर गहने पहनने के ढंग पर चित्रकारी करते हैं और नाचते हैं। इस नाच को वे कोरोबोरी कहते हैं। अपने आनन्द में खलल न पहुँचने पाए, इसलिए वे औरतों और बच्चों को उसमें भाग नहीं लेने देते। पर इस प्रकार के नाच बिरले ही हुआ करते हैं। साधारणतया उनका जीवन कष्टमय ही बीतता है।



आदिम ऑस्ट्रेलियावासी अपनी एक गुप्त रस्म अदा कर रहे हैं

सभ्यता का विकास इन आदिम निवासियों में रुके रह जाने के कई कारण हैं। हज़ारों शताब्दी पहले इनका विशाल टापू बाक़ी संसार से कटकर अलग हुआ और दक्षिणी प्रशांत महासागर में अकेला पड़ गया। इसी कारण यहाँ के निवासियों के जीवन का संपर्क बाह्य संसार से बिलकुल ही न रहा। इन लोगों की दृष्टि दूसरों से अपनी तुलना करने की ओर कभी गई ही नहीं; ये अपने महादेश की विकरालता से अकेले ही अपने अति प्राचीन ढंग पर युद्ध करते आए और हमेशा ही उससे परास्त होते रहे हैं। आज बीसवीं शताब्दी में भी इनके लिए संसार के सबसे छोटे महाद्वीप की प्रकृति अजेय बनी हुई है; उसके सामने आज तक सर उठाने की इनकी हिम्मत नहीं हुई है। यही मानवी सभ्यता की दौड़ में इनके पिछड़े रहने का सबसे बड़ा कारण दीखता है।







छोटा नागपुर की मुण्डा भाषा-भाषी जंगली जातियों की
कुछ स्त्रियों की आकृतियों के नमूने

(ऊपर की पंक्ति में) औरावँ जाति की युवतियाँ। (नीचे बाईं ओर) (मुण्डा जाति की एक उपजाति) जुआङ्ग जाति की युवती।



सिंगभूम (या सिंहभूमि) की 'हो' जाति

बिहार प्रान्त के छोटा नागपुर पठार में पाई जानेवाली मुण्डा भाषा-भाषी जातियों की एक शाखा

भारत में बसनेवाली आदिम जातियों के अध्ययन का क्षेत्र इतना विशाल है और उसके पहलू इतने विविध हैं कि दस-बीस लेखों में इस विषय का संपूर्ण विवेचन होना असंभव है। यदि हम प्रत्येक जाति को अलग-अलग लें—किसी को भी न छोड़ें—और उसका विस्तृत वर्णन करें, तो एक ही समूह के अध्ययन में एक ख़ासा पोथा तैयार हो जायगा। पर प्रस्तुत ग्रंथ में हमारा उद्देश पाठकों के समक्ष एक भारत-संबंधी 'गज़ेटियर' प्रस्तुत करना नहीं है, वरन् इस देश की विभिन्न प्रतिनिधि सांस्कृतिक अवस्थाओं के कुछ सजीव चित्र उपस्थित करना है। यही कारण है कि हम विविध जातियों के समूहों में से एक प्रतिनिधि जाति को चुनकर उक्त समूह विशेष की संस्कृति की रूपरेखा से पाठकों को परिचित करने का प्रयास करते आ रहे हैं।

पिछले अंक में मैंने अपने लेख में आसाम की लूशेई कूकी जाति का वर्णन किया था। आसाम से बिहार वास्तव में बहुत दूर पड़ जाता है, किन्तु दोनों प्रान्तों में एक प्रकार का सांस्कृतिक सम्बन्ध पाया जाता है, कारण आसाम के चाय के बगीचों में काम करनेवाले मज़दूरों का बहुत बड़ा भाग बिहार की आदिम जातियों ख़ासकर छोटा नागपुर पठार में रहनेवालों से आता है। छोटा नागपुर के पठार का क्षेत्र सांस्कृतिक दृष्टि से एक ऐसा द्वीप-सा है, जिसमें अब भी वे सामाजिक प्रथायें सुरक्षित हैं, जो किसी समय सम्भवतः कहीं अधिक विस्तृत भूभाग पर फैली हुई होंगी। वे आदिम जातियाँ, जो प्रागैतिहासिक काल से ही इस प्रदेश में रहती आई हैं, ऑस्ट्रिक भाषा-परिवार की ऑस्ट्रो-एशियाटिक शाखा की विभिन्न बोलियाँ बोलती हैं। ऑस्ट्रो-एशियाटिक शाखा के अन्तर्गत मुण्डा भाषा-समूह भी गिना जाता है, जिसे भारतवर्ष के लगभग ६० लाख आदमी बोलते हैं। मुण्डा समुदाय की विभिन्न शाखायें मुण्डा, हो, सन्थाल, भूमिज, कोरवा तथा वे दूसरी कई जातियाँ हैं, जो अपनी भाषा तो भूल गई हैं किन्तु जिन्होंने अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को काफ़ी सुरक्षित रखा है।

बहुत आरंभिक काल से ही बहुत दूर-दूर जाकर बसने की प्रवृत्ति के कारण उत्तर भारत की आदिम जातियों में मुण्डा भाषा-भाषी जातियाँ अन्य सभी जातियों से अधिक विस्तृत रूप से ज्ञात हैं। इन्हीं जातियों से बंगाल, बिहार, उड़ीसा और आसाम के चाय आदि के बागानों और कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूरों की पूर्त्ति होती है। जनसंख्या की वृद्धि के दबाव और दूर देशों की जानकारी के कारण सन्थाल लोग उत्तरी बंगाल के मैदानों तक जा पहुँचे हैं और मुण्डा, हो, तथा उनके दूसरे सजातीय लोग आसाम के चाय-बागानों में जा बसे हैं और इनमें से बहुत-से लोग बंगाल की जूट की मिलों में भी काम करते पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त गुजरात के भील और कोली तथा दूसरी कई आदिम जातियों का सम्बन्ध भी मुण्डा भाषा-भाषी जातियों के साथ जोड़ा जा सकता है।

मुण्डा संस्कृति का प्राकृतिक क्षेत्र छोटा नागपुर का पठार है। यह घने जंगलों से ढँका हुआ उतार-चढ़ावदार प्रदेश है, जिसे पहाड़ियों की पंक्तियाँ कई हिस्सों में बाँटती हैं और जिसके बीच से होकर ज़मीन को उपजाऊ बनानेवाली नदियाँ बहती हैं। इस प्रदेश में कहीं-कहीं ग्रेनाइट

पत्थर की बड़ी-बड़ी विचित्र अर्ध-गोलाकार चट्टानें देखने को मिलती हैं जो भीमकाय देवालयों के धँसे हुए गुम्बदों की तरह जान पड़ती हैं। मुण्डा लोग अधिकांश राँची ज़िले में केन्द्रीभूत हैं और 'हो' लोग कोल्हन में रहते हैं, जो कि सुन्दर और उपजाऊ मैदानों की एक शृङ्खला-सी है, जो प्रायः चारो तरफ़ पहाड़ियों से बँटी और घिरी हुई है। छोटा नागपुर के पठार के पूर्वी और उत्तर-पूर्वी छोरों पर जो पहाड़ियाँ और जंगल हैं, उनमें बीरहोर लोग रहते हैं।

छोटा नागपुर पठार में मुण्डा लोगों के बसने का उल्लेख ई० पूर्व छठी शताब्दी तक पाया जाता है। प्राचीन पाली ग्रंथों में मुण्डा लोगों का नाम आता है। इन ग्रंथों में कहा गया है कि बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिए जो प्रतिनिधिमण्डल लंका भेजा गया था उसमें राजकीय परिवार के सदस्यों और उच्च वर्ण के लोगों के अतिरिक्त मुण्डा जाति के लोग भी थे। असुर लोग मुण्डा लोगों के निकटतम सम्बन्धी थे और मुण्डा लोगों के आने के पहले इस प्रदेश पर उन्हीं का अधिकार था। जब मुण्डा लोग इस प्रदेश में आये तो उन्होंने असुरों को 'तिरकी' लोगों के अधीन खेती करते पाया। ये तिरकी ज़मीन के मालिक थे और बुँइहार कहलाते थे। राँची ज़िले में कच्चे लोहे की ऐसी बहुत-सी खानें पाई जाती हैं, जिनका सारा लोहा निकाल लिया गया है। स्थानीय किम्बदन्ती के अनुसार ये खानें असुरों द्वारा ही खोदी गई थीं। इसी प्रकार कहीं-कहीं खुदाई में बहुत बड़े-बड़े ईंटों के ढेर पाये जाते हैं। ये तिरकी लोगों की इमारतों के बतलाए जाते हैं। कहा जाता है कि दोइसा नामक स्थान में उन्होंने अपने क़िले बना रखे थे। सर्वसाधारण में इस आशय की एक दन्तकथा प्रचलित है कि जब हृष्टपुष्ट आकृतिवाले मुण्डा लोगों ने इस प्रदेश में प्रवेश किया तो उन्हें देखकर तिरकी और असुर लोग एकदम भयभीत हो गये। मुण्डा लोग आज भी बड़ी शान के साथ कहते हैं कि उस ज़माने में उनकी औरतें १० सेर वज़न के रत्नजटित आभूषण पहनती थीं और मर्द लोग १० मन तक बोझ ढो सकते थे। जब असुरों और तिरकी लोगों ने सूर्य के प्रकाश में जगमगाते हुए गहने पहने मुण्डा औरतों को देखा तो वे देश को आगन्तुक मुण्डा लोगों के लिए छोड़कर ख़ुद पश्चिम की ओर भाग चले। इस किम्बदन्ती पर हम चाहे अक्षरशः विश्वास न करें, पर यह सच है कि हिन्दू-धर्म के साथ हाल में सम्पर्क में आने पर ही मुण्डा लोगों का बहुत-कुछ शारीरिक ह्रास हुआ है; अन्यथा ये लोग सचमुच ही बड़े बलिष्ठ रहे होंगे। आदिम जातियों का भोजन सदैव बहुत पुष्टिकर और कई प्रकार का होता है, किन्तु क्रमशः हिन्दुओं के रस्म-रिवाज और रहन-सहन का ढंग अपनाने से उनके भोजन का चुनाव सीमित हो गया है और अपने पूर्वजों के सम्बन्ध में जो कुछ वे अभिमान के साथ कहते हैं, उससे एकदम विभिन्न आज वे एक दुर्बल जाति के रूप में मिलते हैं।

विभिन्न जातियों के रूप में संगठित मुण्डा भाषा-भाषी लोगों की शाखाओं में, बहुत-सी परम्परागतगत धारणायें अब भी समान रूप से पाई जाती हैं। संसार की सृष्टि किस प्रकार हुई, ख़ासकर स्त्री-पुरुष की पहली जोड़ी किस तरह बनाई गई, किस प्रकार एक ऐसी अग्निवर्षा हुई जिसने मनुष्य-समाज का अन्त कर दिया, किस प्रकार आधुनिक मानवों के पूर्वज एक स्थान से दूसरे स्थान में भटकते रहे और किस तरह आज भी यह क्रम जारी है, इन सबके बारे में उनमें एक-जैसी ही कथाएँ प्रचलित हैं। उदाहरण के लिए 'हो' लोगों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कथा पाई जाती है कि हो लोगों के प्रधान देवता सिंगबोंगा (सूर्य) अपनी ही सृष्टि से इतने कुपित हुए कि उसे जलाने के लिए उन्होंने अग्नि की ऐसी महाविकराल लपटें पैदा कीं, जिन्होंने मानव समेत संसार के समस्त प्राणियों को स्वाहा कर डाला। बाद में जब सिंगबोंगा ने अपने कोप के इस परिणाम को देखा तो उन्हें अपने किये पर बड़ा पछतावा हुआ। तब वे छोटे-छोटे देवी-देवताओं के पास पहुँचकर उनसे पूछने लगे कि किसी ने कोई जीवित प्राणी देखा है। इस प्रकार पूछते-पूछते उनकी भेंट सरिता देवी नगेरा से हुई, जिसने कहा कि मैंने जल के नीचे दो प्राणियों को छिपा रखा है और यदि सिंगबोंगा मुझे यह वचन दें कि वे इन लोगों को कोई कष्ट न देंगे तो मैं उन्हें बाहर निकाल सकती हूँ। सिंगबोंगा के अभय वचन देने पर नगेरा ने भाई-बहन के एक मनुष्य-जोड़े को बाहर निकाला। सिंगबोंगा इस जोड़े से पृथ्वी को फिर से बसाना चाहते थे, किन्तु मुश्किल यह थी कि ये भाई-बहन सन्तानोत्पत्ति के लिए एक दूसरे के प्रति आकर्षित नहीं हो सकते थे। इसलिए लाचार होकर सिंगबोंगा ने उन्हें इल्ली नाम की सुरा तैयार करना सिखलाया। जब उन्होंने इस मादक सुरा का पान किया, तो वे अपने भाई-बहन के रिश्ते को भूल गये। उनके ही सम्भोग से हमारी आज की मनुष्य-जातियों और नस्लों के पूर्वज पैदा हुए। इसलिए इल्ली को हो लोग एक पवित्र पेय समझते हैं, क्योंकि उसे स्वयं देवाधिदेव सिंगबोंगा ने मनुष्य को तैयार करना सिखलाया था।

छोटा नागपुर की अधिकांश आदिम जातियों पर, जिस ज़िले में वे रहती हैं उसके अनुसार, हिन्दू और ईसाई धर्मों का असर कमोबेश रूप में हुआ है। ईसाइयों की संख्या में सबसे अधिक उल्लेखनीय वृद्धि राँची ज़िले के मुण्डा, ओरॉव और खरिया जाति के लोगों में हुई है। बिहार प्रान्त में जितने हिन्दुस्तानी ईसाई पाये जाते हैं, उनमें ६० फ़ीसदी केवल राँची ज़िले में रहते हैं। इस स्थान के हिन्दू ज़मींदारों और आदिम जाति की रैयतों का पारस्परिक सम्बन्ध कभी भी सन्तोषजनक नहीं रहा है। छोटी सरकारी नौकरियों के ओहदों पर बंगाल, बिहार और युक्तप्रान्त के ऐसे बाहरी लोगों के भरे रहने के कारण, जो कि यहाँ के लोगों की प्रथाओं, भूमि-सम्बन्धी व्यवस्था ओं और भाषा से नितान्त अनभिज्ञ होते हैं, तथा बाहर ही से आकर बसने वाले ज़मींदारों के कारण मुंडा भाषी जातियों को वास्तव में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा है। छोटा नागपुर में ब्रिटिश हुकूमत की जड़ जमने के पहले मुण्डा तथा उनके दूसरे सजातीय सम्भवतः जंगली जानवरों आदि का शिकार करके 'झूम'-प्रणाली द्वारा खेती करके और जंगल की जड़ी-बूटियों आदि को जुटाकर अपना जीविका-निर्वाह करते थे। वे जंगल के एक हिस्से के पेड़ों को काटकर और उन्हें जलाकर पहले उसे साफ़ कर लेते थे और खेत के जल चुकने पर कुदाल की सहायता से उसमें बीज बोते थे। इसमें शक नहीं कि खेती का यह तरीक़ा बहुत फ़िज़ूलख़र्ची का है, लेकिन छोटा नागपुर के पठार के जंगलों में कुछ समय तक के लिए इस प्रकार की खेती की गुंजाइश थी। जब छोटा नागपुर के जंगल के एक बहुत बड़े हिस्से के संरक्षण के लिए कड़े क़ानून बनाये गये और उसके फलस्वरूप खेती के इस आदिम तरीक़े पर आगे चलकर पाबन्दियाँ लगा दी गईं तो उन्होंने मानो आदिम वासियों के ज़ख़्म पर नमक छिड़कने का काम किया और समूचे छोटा नागपुर की आदिम जातियों में असन्तोष के लक्षण स्पष्ट देख पड़ने लगे। ज़मींदारों ने भी दिन-ब-दिन अपनी माँगें और कड़ी बनाकर आदिम जातियों की असन्तोष की आग को और भी भड़काने में पूरी मदद दी। इधर सिक्खों और खत्रियों ने, जो क़र्ज़ देने वाले साहूकार, और घूम-घूमकर शाल और ज़री के कपड़े तथा दूसरी चीज़ें बेचने वाले व्यापारियों के रूप में आये थे, इन आदिम जातियों को लूटना शुरू किया। वे उन लोगों को मनमाने ब्याज पर क़र्ज़ देते और क़र्ज़ की अदायगी न होने पर उनकी ज़मीन ले लेते और उनकी औरतों तक पर अत्याचार करते थे। ऐसे ही समय में ईसाई-धर्म-प्रचारक आदिम जातियों की मदद के लिए आ उपस्थित हुए। उन्होंने हिन्दू ज़मींदारों और उनके दलालों के ख़िलाफ़ लड़ने में मुण्डा तथा दूसरी आदिम जातियों की मदद करने का वादा किया और उन्हें क़र्ज़ दिया, जो बाद में ईसाई बन जाने पर उन्हें भेंट में मिल जाता था और अदा नहीं



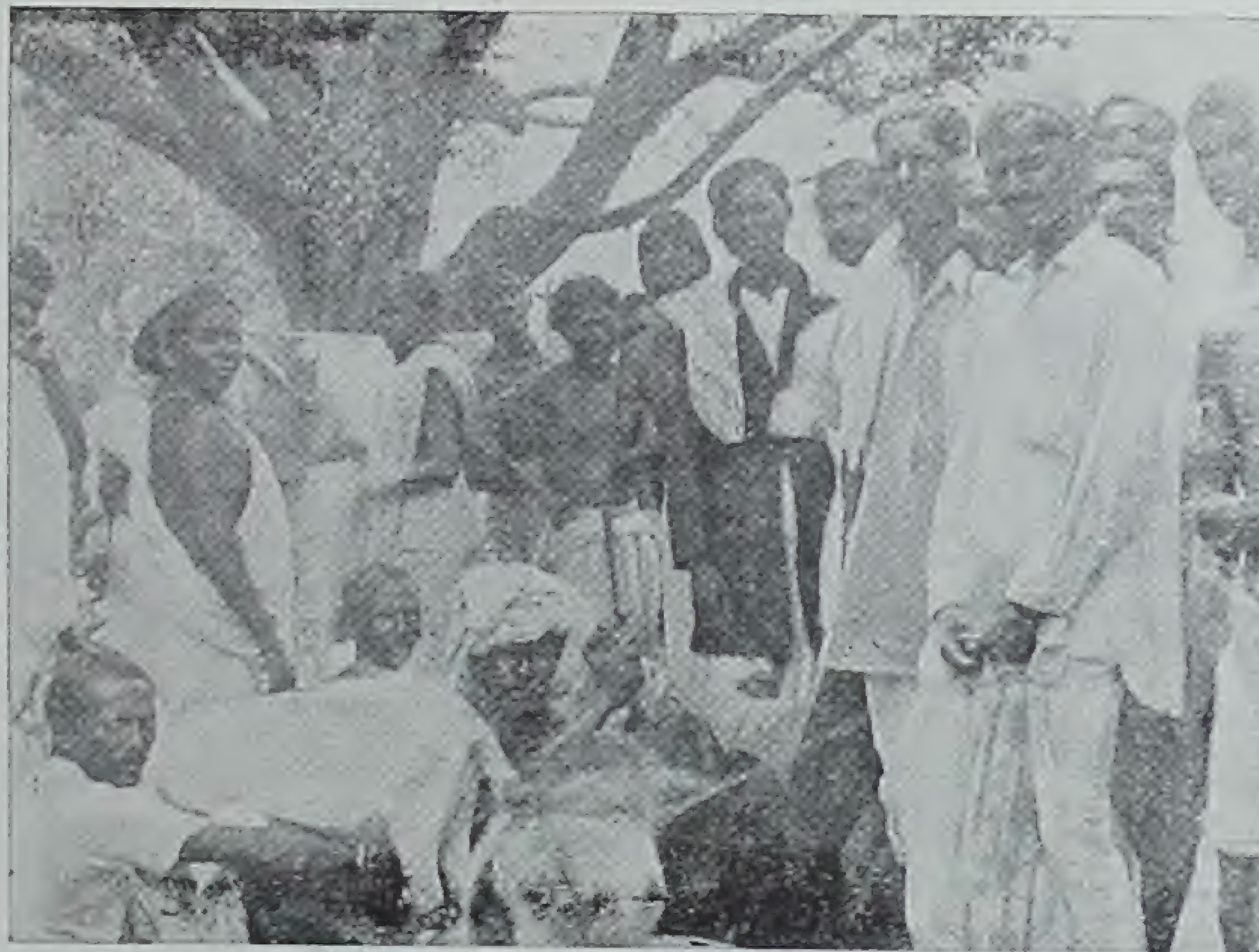
'हो' जाति की युवतियाँ सज-धजकर हाट-बाज़ार करने जाती हैं। इन बाज़ारों में ये प्रायः नई जान-पहचान करने या महज़ तमाशा देखने ही जाती हैं। अपने शरीर की सुडौल गठन और चेहरे के मनोरम भाव के कारण ये बहुत आकर्षक और भली मालूम देती हैं। आजकल हो जाति की स्त्रियों में छाते का उपयोग बहुत बढ़ता जा रहा है। [यह चित्र लेखक द्वारा प्रस्तुत फ़ोटोग्राफ़ के आधार पर बनवाया गया है।]

करना पड़ता था। इन पादरियों में कुछ तो धार्मिक जोश की बहक में आकर इन लोगों को नई ज़मीन दिलाने के वादे भी कर देते थे। आदिम जातिवालों को इससे बड़ी राहत मिली और उन्होंने ईसाई संस्कृति को अपनाने में निकट संकट से त्राण पाने का मार्ग देखा। फलस्वरूप आदिम जातियों के लोग बड़ी तादाद में धर्म-परिवर्त्तन करके ईसाई बनने लगे। साथ ही हिन्दू ज़मींदारों की कड़ाई भी उन पर और बढ़ती गई। कुछ समय तक ईसाई बननेवाले लोगों पर तरह-तरह के अत्याचार हुए, और वे शहीद समझे जाने लगे। इससे धर्म-परिवर्त्तन के आन्दोलन को और भी बल मिला और हज़ारों की संख्या में लोग ईसाई बनने लगे। धर्म-परिवर्त्तन से होनेवाले आर्थिक लाभ, ईसाई बननेवालों की शिक्षा तथा परिवार के लिए प्रबन्ध और फलस्वरूप उनके रहन-सहन के दर्जे में उन्नति, इन सबसे आदिम जातियों के बीच में ईसाई मज़हब की जड़ जमने में बड़ी मदद मिली। आज दिन मुण्डा लोगों की आबादी में एक मील के दायरे में औसत २५०, ओराँवों में एक मील के भीतर २३० और खरिया लोगों में एक मील के भीतर ४५० ईसाई व्यक्ति पाए जाते हैं। केवल हो लोग ही ईसाई बनने से बच पाए हैं। १६३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार उनमें एक मील के भीतर सिर्फ़ ४ व्यक्ति ईसाई पाए जाते हैं। इसका कारण जानने के लिए दूर जाने की ज़रूरत नहीं। हो लोग कोल्हन प्रदेश में, जो कि छोटा नागपुर के पठार के निचले हिस्से का महत्त्वपूर्ण भाग है, एक प्रकार के रक्षित शासन के अन्तर्गत रहते हैं। कोल्हन में बाहरी लोगों को ज़मीन पर अधिकार करने का हक़ नहीं है और जाति के मुखियों के अप्रत्यक्ष शासन द्वारा आदिम संस्कृति की रक्षा का वहाँ विशेष प्रबन्ध है। इसलिए हो लोग बहुत हद तक अपने सांस्कृतिक आदर्श और रक्त की शुद्धता को सुरक्षित रख सके हैं।

अब मैं संक्षेप में हो लोगों के सांस्कृतिक जीवन की कुछ विशेषताओं का वर्णन करूँगा। छोटा नागपुर के पिछले कोल-विद्रोह में ब्रिटिश फ़ौजों के साथ अक्सर मुक़ाबला करने के कारण ये लोग 'लड़ाका कोल' भी कहे जाते हैं। हो लोगों की कुल जन-संख्या आजकल लगभग ५ लाख है और उसका अधिकांश भाग कोल्हन में केन्द्रीभूत है। हो लोगों का देश उत्तर में सरायखेला और खरसवाँ की जागीरदारी रियासतों, दक्षिण में मयूरभंज, क्योंझर, बोनाई और गंगपुर की ब्रिटिश सरकार को खिराज देनेवाली रियासतों (जिनमें उड़िया भाषा-भाषी लोग बसते हैं), पूर्व में खरकाई नदी और ढालभूम के बंगाली भाषा-भाषी परगने तथा पश्चिम में गंगपुर की जागीरदारी रियासत और आनन्दपुर तथा पोरहाट की ज़मींदारियों से घिरा हुआ है। कोल्हन के उत्तर-पूर्व में ऑस्ट्रिक समूह की मुण्डा तथा दूसरे सजातीय भाषा-भाषी लोगों का लोहार-डगा नामक स्थान है।

हो जाति के लोग सौन्दर्यशाली होते हैं। यद्यपि वे अब देखने में बलवान् नहीं मालूम पड़ते, न उनका सीना गहरा और कन्धा चौड़ा होता है और न वे बलिष्ठ मांस-पेशी या गठीले बदन के लोग ही होते हैं, किन्तु फिर भी वे बहुत सुन्दर आकृति और हँसमुख स्वभाव के लोग हैं। उनका क़द प्रायः नाटा और रंग काला होता है और नाक छोटी, चौड़ी और चिपटी होती है। उनकी आँखें छोटी और कान व सिर के बाल लहरदार या घुँघराले होते हैं। उनके दाढ़ी और मूँछ के बाल प्रायः नहीं होते, ठुड्ढी पतली होती है और ओठ न बहुत मोटे होते हैं न बहुत पतले। उनके कान छोटे होते हैं पर उनकी गढ़न सुन्दर होती है। उनके दाँत अत्यंत मज़बूत और श्वेत होते हैं और दाँतों के रोग उन्हें बहुत कम सताते हैं। कुछ समय से उनमें मदिरा-सेवन बेहद बढ़ जाने से उनके साधारण स्वास्थ्य को धक्का पहुँचा है, जिससे उनकी आयु का औसत घट गया है और पहले की अपेक्षा अब वे लोग रोग के कहीं ज़्यादा शिकार होते हैं। यद्यपि हो जाति के मर्द अब दुर्बल, लचर और अल्पायु होते हैं, किन्तु हो औरतें सुन्दर आकृति, आकर्षक चाल-ढाल और सराहनीय स्वभाव की होती हैं। उनके प्रफुल्लित प्रसन्नवदन चेहरे, दूध-से धवल दाँत और हृष्टपुष्ट शरीर को देखकर स्विट्ज़रलैण्ड की किसान-कन्याओं की याद आ जाती है। हो लड़कियाँ जीवनी-शक्ति से ओतप्रोत, व्यवहार में शिष्ट एवं सभ्य, और देखने में बहुत मनमोहक होती हैं। पिछली शताब्दी के जिन लेखकों ने उनके सम्बन्ध में लिखा है, उनमें से प्रायः सभी ने एक स्वर से उनके सौन्दर्य और मनोहारिता की सराहना की है। यद्यपि हो औरतें खेती के सभी कड़े काम करती हैं (क्योंकि हो मर्द अपनी औरतों की मिहनत पर ही बसर करते हैं) और घर का सारा धन्धा भी करती हैं पर वे अपने शरीर का सौष्ठव और स्वभाव की मधुरता बनाये रख सकी हैं।

हो लोगों में एक ही पूर्वज की सन्तान और पितृघराने के दूसरे लोगों के एक ही स्थान में रहने का रिवाज है।



हो लोग बकरे-बकरियाँ बेच रहे हैं।
बाईं ओर हो स्त्री-पुरुष हैं। दाहिनी ओर खड़े अधिकांश लोग 'डिकू' अर्थात् हिन्दू लोग हैं। [फ़ोटो—लेखक द्वारा।]

हो लोगों के गाँवों में साधारणतया एक ही क़बीले या जन के लोग रहते हैं या दो या अधिक क़बीले हुए तो उनमें से एक अधिक प्रभावशाली होता है। हो लोग बहुत से क़बीलों में बँटे हुए हैं, जिनमें से बहुतों का नामकरण किसी पशु, वृक्ष या और किसी भौतिक पदार्थ के नाम पर हुआ है। अधिकांश क़बीले किसी-न-किसी पशु के ही नाम से पुकारे जाते हैं, किन्तु बहुत-से क़बीले ऐसे हैं जिनके नाम वृक्षों, स्थानों या किसी विख्यात पुरुष आदि के नाम पर रखा गया है। थोड़े क़बीले ऐसे भी हैं, जो जानवरों या पौधों के किसी ख़ास अंग के नाम से पुकारे जाते हैं। हो लोगों के ख़ास क़बीले कौंडिन्य या चीता, हसदा या धरती, सर्प, बाँस, टोकरी, बाण, ईंट और हेम्ब्रोम अर्थात् जंगली बतख़ आदि के नामों के हैं। हो लोग क़बीले के नाम और अपने बीच एक रहस्यमय सम्बन्ध मानते हैं और एक ही क़बीले के लोगों में आपस में शादी करना मना है। इस प्रकार हरएक क़बीला बहिर्गोत्रीय विवाह के नियम का पालन करता है अर्थात् एक क़बीले के सदस्य अपने क़बीले के भीतर न शादी करके दूसरे क़बीले में शादी करते हैं। किन्तु समूची जाति को लें तो उनमें सजातीय विवाह प्रचलित है अर्थात् एक क़बीले के सदस्य दूसरे क़बीले में शादी करते हुए भी हो जाति के भीतर ही शादी करते हैं, उससे बाहर नहीं। क़बीले बहिर्गोत्रीय विवाह के नियम का पालन करने के अतिरिक्त अपने गाँव के भीतर शादी नहीं कर सकते, क्योंकि हो लोगों का विश्वास है कि जो लोग एक ही स्थान में रहते हैं, एक ही देवता की उपासना करते हैं, तथा जिनके पुरोहित और गाँव के अधिकारी एक ही होते हैं उनमें आपस में एक तरह का रिश्ता बँध जाता है। इन नियमों का कड़ाई के साथ पालन किया जाता है और किसी के उनका उल्लंघन करने पर समाज द्वारा उसे दण्ड दिया जाता है। इन पाबन्दियों की शक्ति का महत्त्व और उस संबंध में अपना उत्तरदायित्व लोग ख़ुद समझते हैं और अपराधी प्रायः स्वयं ही अपनी इच्छा से सज़ा भुगतता है, जैसा कि नीचे लिखी घटना से स्पष्ट है।

कोल्हन में की गई यात्राओं में से एक में मैंने अपने साथ हो जाति के 'जुरिया पुर्त्ती' नामक एक आदमी को सहायक के रूप में रक्खा था। एक दिन दुद्बिल्ला नामक गाँव में हम उसके एक मित्र को देखने गए, जो कि बीमार था और जिसने मेरे सहायक से मिलने की इच्छा प्रकट की थी। मेरे साथी का यह मित्र झरिया के कोयले की खानों में काम करता था और २६ वर्ष का एक चलता-पुर्ज़ा चतुर नवयुवक था। जब हमने उसके कमरे में प्रवेश किया, तो उसे तेज़ बुख़ार चढ़ा हुआ था और वह अपनी माता, रिश्तेदार और गाँव के ओझा से घिरा हुआ था। ओझा मंत्र पढ़ने में व्यस्त था, ताकि उस दुष्ट प्रेत का प्रभाव दूर हो जाय, जो उसके मत में बीमारी का कारण था। यह नवयुवक माघी त्यौहार में घर आया था, क्योंकि हो लोगों में बिना किसी ख़ास कारण के इस त्योहार में अनुपस्थित रहना परिवार के लिए अशुभ माना जाता है। वह अपने क़बीले की एक युवती से स्नेह रखता था, मगर अपने समाज की पाबन्दियों के कारण उससे ब्याह न कर सकता था। माघी त्यौहार के मारंग (महान्) 'परब' अर्थात् प्रधान पर्व में कुछ घण्टों के लिए उसने इस युवती के साथ नृत्य किया और उसके बाद गाँव के समीपवाले खेतों में सोने के लिए चला गया। आधी रात को वह एक स्थान में उस युवती के साथ पाया गया, जिससे उसका अपराध छिप न सका। इस बात की ख़बर गाँव के बड़े-

बूढ़ों को दी गई। उन्होंने जैसा कि इन मामलों में प्रायः किया जाता है, तुरन्त अपनी सभा बुलाना उचित नहीं समझा, शायद इसलिए कि अपराधी को अपने दुष्कृत्य का प्रायश्चित्त करने के लिए पर्याप्त अवकाश मिल सके। वह नवयुवक यदि चाहता तो अपना गाँव छोड़कर कोयले की खान को वापस भाग जा सकता था, लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। उसका चित्त अपने अपराध की गुरुता तथा उस सामाजिक नियम की महत्ता से, जिसका उसने उल्लंघन किया था, व्याकुल हो गया था और वह यद निश्चय न कर सका कि उसके दुष्कर्म के प्रायश्चित्त का सबसे अच्छा तरीक़ा कौन होगा। स्वभावतः वह अपने अपराध की बात हमेशा सोचा करता था, और उस दिन से उसकी तंदुरुस्ती और शक्ति क्षीण होने लगी। उसने हम लोगों को जल्दी में सारा क़िस्सा सुनाया और अन्त में कहा, "मैंने ख़ुद अपनी मौत बुलाई थी और अब मैं मर रहा हूँ।" दो दिन बाद हम लोगों को ख़बर मिली कि सचमुच ही उसकी मृत्यु हो गई।

हो लोगों में पत्नी के प्राप्त करने के बहुत-से तरीक़े पाये जाते हैं। उनके विवाह के भी विभिन्न रूप हैं। कुछ में विवाह की रस्मों को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है जबकि कुछ में रस्म का प्रायः बिल्कुल अभाव रहता है। यदि एक घर में स्त्री-पुरुष रहते हों तो महज़ यह विशेषता ही उनकी संतान को जायज़ क़रार देने के लिए यथेष्ट समझी जाती है। हो समाज इसकी चिन्ता नहीं करता कि पति-पत्नी का सम्बन्ध विवाह की रस्म के अनुसार हुआ था या केवल सम्बन्ध की पारस्परिक इच्छा के कारण। विधिवत् विवाह, जिसे 'अण्डी' कहते हैं, से उत्पन्न हुए सन्तान का परिवार की सम्पत्ति पर उतना ही अधिकार रहता है जितना कि उस सन्तान का जो बिना विवाह के उत्पन्न होती है, बशर्ते कि उसके माता-पिता एक साथ रहते हों। लेकिन उन परिवारों का, जो वधू की क़ीमत देते हैं और विधिवत् विवाह करते हैं, समाज में ऊँचा स्थान होता है तथा पूछने पर बड़ी उत्सुकता के साथ यह बताया जाता है कि परिवार के किस सदस्य की वधू के लिए कितनी क़ीमत दी गई थी। वधू की क़ीमत चुकाकर विवाह करने की प्रथा इनमें सबसे अधिक प्रचलित है और ये क़ीमतें इतनी चढ़ गई हैं कि बहुत-से लोगों के लिए विवाह करना सम्भव नहीं होता। विवाह हमेशा युवावस्था प्राप्त होने पर होता है। पुरुष बीस वर्ष से पहले ब्याह नहीं करता और स्त्री शायद ही कभी अठारह वर्ष के नीचे ब्याह करती हो। स्त्री-पुरुष के स्वच्छन्द संपर्क की प्रथा के कारण विवाह वर-वधू की सम्मिलित राय से ही होता है। सिर्फ़ चुनाव होने की देर होती है, उसके बाद प्रेमी-प्रेमिका के मित्रगण दोनों पक्ष के माता-पिताओं से बातचीत करके विवाह तय कर लेते हैं। परन्तु यदि वर-वधू के माता-पिता स्वयं विवाह तय करते हैं तो चुनाव का अन्तिम निर्णय वर-वधू के हाथ में रहता है। यह निर्णय समाज में प्रकट रूप में किया जाता है। वधू वर को शराब का प्याला देती है, जोकि वर यदि उसे ब्याह करना होता है तो स्वीकार कर लेता है। इसी तरह वर भी वधू को शराब का प्याला देता है, जिसे वह अस्वीकार कर सकती है यदि उसे यह ब्याह पसन्द न हो। किसी भी पक्ष से अस्वीकृति होने पर दूसरे पक्ष को उपहार दिये जाते हैं ताकि सम्बन्ध अच्छा बना रहे। यदि अस्वीकृति वधू-पक्ष की तरफ़ से होती है तो उपहारों के अतिरिक्त आभूषण और वस्त्र देने के वादे किए जाते हैं। अधिकतर वधू-पक्ष की तरफ़ से ही अस्वीकृति होती है। यह स्त्री-स्वातंत्र्य हो संस्कृति की एक अपनी विशेषता है।

वधू की क़ीमत के बहुत बढ़ा-चढ़ाकर माँगे जाने के कारण लोगों के लिए विवाह करना एक कठिन कार्य हो जाता है। अतः इनमें कन्या का अपहरण करके विवाह करने का तरीक़ा, जिसमें ख़र्च का कोई सवाल नहीं रहता, अधिक प्रचलित हो गया है। यदि कोई आदमी किसी लड़की से ब्याह करना चाहता हो और वधू की आवश्यक क़ीमत उसके पास न हो तो वह लड़की को ईंधन इकट्ठा करने के लिए जंगल को जाते वक़्त या हफ़्ते में एक दिन लगनेवाले पड़ोस के हाट में जाते समय पकड़ ले सकता है। वह अपने साथियों की मदद से ज़बर्दस्ती अपनी मनचाही वधू का अपहरण करके उसे अपने गाँव में छिपा रखता है। यह ख़बर जब लड़की के गाँव में पहुँचती है तो तुरन्त लड़की को लौटा ले आने के लिए गाँववालों का एक गिरोह तैयार होता है। ऐसे मौक़ों पर प्रायः गाँव की औरतें लाठियाँ और पत्थर लेकर निकल पड़ती हैं और लड़की को पकड़ ले जानेवाले के गाँव पर हमला करती हैं। ऐसी हालत में उनका मुक़ाबला नहीं किया जाता, बल्कि उन्हें लड़की के अपहरण करनेवाले के घर में घुसकर जो कुछ मिले उसे ले जाने दिया जाता है। यह दल उस अभागी लड़की की खोज के लिए उतना उत्सुक नहीं रहता जितना कि अपने परंपरागत अधिकारों के प्रदर्शन के लिए। इस तरह पकड़कर लाई गई लड़की,

अगर वह नवयुवक और उसके परिवार को पसन्द करती है तो, अपने हरण करनेवाले के यहाँ रह जाती है और उसकी धर्मपत्नी के रूप में रहने का निश्चय कर सकती है ; परन्तु यदि वह वहाँ नहीं रहना चाहती तो भाग जाने के अवसर की ताक में रहती है। इस तरह दो या तीन बार वह अपने प्रेमी द्वारा बराबर पकड़कर लाई जाती है और अन्त में उसका स्वामित्व स्वीकार कर लेती है।

विवाह का एक अन्य मनोरंजक रूप "अनादेर" है, जिसे "हठ-विवाह" (intrusion marriage) कहा जा सकता है। इस प्रकार के विवाह में लड़की अपने प्रेमी के घर में बलात् चली आती है, जहाँ उसका शायद ही कभी स्वागत होता है। लड़की के इस दुस्साहस का कारण उसका गहरा स्नेह हो सकता है, जिसके कारण वह अपनी सामाजिक स्थिति, सम्मान तथा भौतिक सुखों की प्रेम की वेदी पर बलि दे देती है। अगर किसी युवक और युवती से प्रेम हो जाय और किसी कारण वे ब्याह न कर सकें तो लड़की अपनी इष्ट-प्राप्ति के लिए अपने प्रेमी के घर में ज़बर्दस्ती चले आने का ख़तरा उठा सकती है। ऐसी अवस्थाएँ भी होती हैं जबकि कोई लड़की किसी युवक पर मुग्ध तो हो जाती है पर विवाह-सम्बन्ध की सम्भावना नहीं देखती; इन अवस्थाओं में लड़की के लिए अनादेर का तरीक़ा अख्तियार करना ही एक रास्ता रह जाता है। लड़की अपनी सास के लिए एक बर्तन में इल्ली—अर्थात् चावल से बनी शराब—और अन्य उपहार लेकर अपने प्रेमी के गाँव के लिए रवाना होती है और प्रेमी के घर पहुँच जाने पर अपनी सास को अपने आने का कारण और अपनी इच्छा की सूचना देती है। स्वभावतः उसके प्रेमी की माता इस बात से आगबबूला हो उठती और लड़की को गालियाँ सुनाती है। पहले तो लड़की चुपचाप सब कुछ सुनती रहती है, परन्तु जब प्रेमी की माँ का गर्जन-तर्जन एक सीमा तक पहुँच जाता है तो लड़की भी चिढ़ जाती है और अपने प्रेमी की माँ को अपने पुत्र को मनमानी करने देने के लिए जली-कटी सुनाती है, क्योंकि अगर वह अपने पुत्र को उचित निगरानी और अनुशासन में रखती तो वह उसके साथ प्रणय-क्रीड़ा करके इस तरह उसका जीवन नष्ट न करता। प्रायः यह दृश्य फ़साद का रूप धारण कर लेता है और पड़ोस के लोग तमाशा देखने के लिए आँगन में इकट्ठे हो जाते हैं। परन्तु घर की मालकिन का कोप बहुत देर तक ज्यों-का-त्यों नहीं बना रहता, पड़ोसी लोग उसे समझा-बुझाकर शान्त कर देते हैं और लड़की को घर में आने की इज़ाज़त दे दी जाती है। तत्पश्चात् जो परीक्षा की अवधि आरम्भ होती है वह लड़की के लिए बहुत ही कठिन होती है, क्योंकि नौकरानी की तरह उसे घर का सारा काम करना पड़ता है। घर की मालकिन उसके रास्ते में हर तरह से रोड़े अटकाने की कोशिश करती रहती है। जब वह पानी भरकर ले आती है तो वह बाहर उड़ेल दिया जाता है, उसको ठीक तरह से भोजन नहीं दिया जाता, और वह अपने प्रेमी के साथ रहने भी नहीं पाती। परन्तु अन्त में उसे उसकी लगन का पुरस्कार मिलता है। वह परिवार के सदस्यों की सहानुभूति और विश्वास प्राप्त कर लेती है। जब युवक के माता-पिता लड़की को काम की पाते हैं तो वह उसे अपने घर में पुत्र-वधू की तरह रहने की अनुमति दे देते हैं।



हो लोग अपनी बनाई हुई चटाइयाँ बेच रहे हैं।
[लेखक द्वारा प्रस्तुत फ़ोटो के आधार पर बनाया गया चित्र]

हो जाति के अधिकतर त्योहार और पर्व कृषि-सम्बन्धी रस्मों से निकले हैं और ये सब खेती की विविध क्रियाओं के

बीच-बीच पड़ते हैं ताकि खेत या जंगल में कठिन काम करने के बाद लोग अपने परिश्रम के फल का आनन्द ले सकें। चावल की पहली फ़सल के लिए बीज बोने से पहले, ग्राम-पुरोहित ग्राम-देवता देस्सौली और उनकी संगिनी जाहिरा-बरी की पूजा करता है और परिवार का सबसे बूढ़ा सदस्य परिवार के 'एडिंग' में पूर्वजों की मृतात्माओं की पूजा करता है, जिन्हें वे ओआ बोंगा के नाम से पुकारते हैं। 'एडिंग' प्रधान गृह के उस कोने का नाम है, जो कि परिवार की मृतात्माओं के लिए अलग कर दिया जाता है। इन लोगों का विश्वास है कि अगर ये क्रियायें न हों तो बीज नहीं उगते और धान का रोपना सम्भव नहीं होता। इसी तरह यदि प्रत्येक कृषक एक-एक मुर्गी मारकर उसके पंखों को खेत के बीच में गाड़े गये एक बाँस से न लटकाये तो ऐसा समझा जाता है कि धान के पौधे नहीं पकेंगे और इष्ट मात्रा में अन्न न पैदा कर सकेंगे। हो जाति के अधिकतर त्योहार और पर्व इस तरह पड़ते हैं कि किसान का ध्यान ख़ास-ख़ास अवसरों पर खेती के काम की ओर लग सके, अर्थात् खेती के आदि, मध्य और अवसान में वह बराबर दत्तचित्त रह सके, साथ-ही-साथ बिना अपने कृषि-कार्य की हानि किए वह इन त्योहारों और पर्वों में भी भाग ले सके। हो जाति का प्रधान त्योहार माघी है, जो जनवरी और फ़रवरी में पड़ता है। इस त्योहार पर युवक और युवतियों को प्रणय-क्रीड़ा करने का तथा गाँव के लोगों को शराब पीकर मस्त होने का अच्छा अवसर मिलता है। साथ ही इस अवसर पर वर-वधू के चुनाव का भी मौक़ा मिलता है, जो इन लोगों के लिए बहुत हो महत्वपूर्ण है, क्योंकि परम्परा से विवाह होने की एक अवधि निश्चित है और बधू की क़ीमत आजकल बड़ी बढ़ी-चढ़ी होती है। हो जाति में विवाह एक अवधि विशेष के अन्दर ही हो सकता है—हमेशा माघी त्योहार के बाद या बाहा अर्थात् इनमें प्रचलित 'पुष्प-पर्व' के बाद। इनका कहना है कि बाहा त्योहार में पृथ्वी देवी के युवा होने की ख़ुशी मनायी जाती है। वसन्त में साल नामक वृक्ष के फूल खिलते हैं, उस समय पृथ्वी को कुमारी समझा जाता है जो कि प्रकाशमान सूर्य से सम्बन्ध करने के लिए उत्सुक रहती है। हो लोग इस दैवी विवाह की ख़ुशी प्रत्येक वर्ष मनाते हैं। इस दैवी विवाह के बाद ही मनुष्यों के इहलोक के विवाह सम्पन्न हो सकते हैं। विवाह की यह अवधि वर्षा के प्रारम्भ तथा बीज बोने के कार्य के पहले एकाएक समाप्त हो जाती है।

हो जाति में शव को गाड़ने और जलाने दोनों की प्रथा प्रचलित है। मृत्यु के बाद वे मृत व्यक्ति के लिए पत्थर के स्मारक खड़े करते हैं। उनका विश्वास है कि मृत व्यक्ति की आत्मा मृत्यु के बाद समाज से शत्रुता करने लगती है, अतएव यदि रक्षा के उचित उपाय न किए जायँ तो शरीर से अलग हुई आत्मा शरारत करके परिवार के दूसरे लोगों को परेशान कर सकती है। क़ब्र के चारों ओर पत्थर और काँटे रख दिए जाते हैं तथा भोजन, पानी, छाता, यहाँ तक कि दातौन भी क़ब्र पर रख दिये जाते हैं; ताकि मृतात्मा को नाराज़ होने का कोई कारण न मिले। मृत्यु-संस्कार दो प्रकार के मनाये जाते हैं—एक तो मृत्यु के बाद तुरन्त ही और दूसरा महीनों या एक बरस बाद, जबकि ये लोग उस अवधि में गाँव के सारे मृत व्यक्तियों के लिए संस्कार की क्रिया करते हैं। यह विश्वास किया जाता है कि इस समय मृत व्यक्ति का अपने मृत पूर्वजों से मिलन होता है।

इस द्वितीय मृत्यु-संस्कार के लिए, जो कि जंग-तोपा कहलाता है, तिथि निश्चित हो जाने पर तिथि के एक रात पहले ही गाँव में लोगों का आना शुरू हो जाता है। ये लोग अपने साथ इल्ली, चावल, मुर्गी और बकरे लाते हैं। सवेरे पुरुष परिवार के क़ब्रगाह में एक गड्ढा खोदते हैं। जब गड्ढा खुद जाता है तो एक मिट्टी का बर्तन—जिसमें यदि शव जलाया गया है तो उसकी जली हड्डियाँ, और यदि गाड़ा गया है तो उसकी अन्य कोई चीज़ रहती है—गाड़ने के लिए लाया जाता है। यह बर्तन फूलों से ढक दिया जाता है और दो स्त्रियाँ उसको गाड़ने के स्थान में ले जाती हैं। गाड़ने के पहले बर्तन चावल से भर दिया जाता है और ६ या १२ फ़ीट लम्बा सूत का एक टुकड़ा उसमें इस तरह रक्खा जाता है कि उसका एक सिरा बर्तन को छूता रहता है और दूसरा सिरा सतह पर रहता है। तब गड्ढा मिट्टी से भर दिया जाता है और इस तरह यह संस्कार-क्रिया समाप्त हो जाती है। तब गाँव की कोई विधवा, जो मृत व्यक्ति के रिश्ते की रहती है, गड्ढे से सूत खींचकर वहाँ दौड़ कर जाती है, जहाँ मृत व्यक्ति की मृत्यु हुई थी। यह सूत खींचने की क्रिया ढके हुए गड्ढे से मृतात्मा को निकलने में सहायता देने के लिए की जाती है। इन रस्मों के समाप्त होने पर लोग इल्ली पीते हैं और एक जुलूस बनाकर बाँसुरी के स्वर तथा नगाड़ों की चोट पर नाचते-कूदते गाँव में चक्कर लगाते हैं।



वाल्मीकि

वाल्मीकि हमारे राष्ट्रीय आदर्शों के आदि विधाता हैं। धर्म और सत्य रूपी महावृक्षों के जो अमर बीज वाल्मीकि ने बोये हैं वे आज भी फल-फूल रहे हैं। इस देवपूज्य पुण्यभूमि में रहने योग्य देवकल्प मानव के निर्माण का श्रेय वाल्मीकि को ही है।

भारतवर्ष की पुण्यभूमि के लिए महर्षि वाल्मीकि का काव्य गंगा के पवित्र जल की तरह अनेक लोकोपकारी मङ्गलों का करनेवाला है। भारत के भौतिक रूप को देवयुग में प्रजापति ने रचकर तैयार किया। इसमें पृथ्वी के धारण करनेवाले जहाँ एक ओर गिरिराज हिमालय है, वहाँ दूसरी ओर अगाध गाम्भीर्यवाले समुद्र हैं। इसके वक्षःस्थल पर गंगा और यमुना की वारि-धाराओं के उज्ज्वल कण्ठहार हैं। मध्य में गहन दण्डकवन का अगम्य विस्तार है। सर्वाङ्ग-सुन्दर इस भूप्रदेश में अनेक रत्नों की समृद्धि, दिव्य ओषधि-वनस्पतियों के भण्डार और उपयोगी पशु-पक्षियों की सम्पत्ति को विधाता ने चारों ओर से भरपूर करके प्रस्तुत किया है। उसमें रहने योग्य मानव की जब हम कल्पना करने लगते हैं तो हमें महर्षि वाल्मीकि का ध्यान आता है। उपरोक्त प्रकार से देवों से पूजी गई पुण्यभूमि में रहने योग्य देवकल्प मानव का निर्माण किसने किया? इस देश में मानव के मस्तक को ऊँचा रखनेवाले हिमालय के समान उन्नत आदर्शों की स्थापना किसने की? गम्भीर सागर के समान त्रिकाल में भी मर्यादाओं का उल्लङ्घन न करनेवाले पूर्ण पुरुष का निर्माण किसने किया? पुण्यसलिला भागीरथी के समान सब लोगों से वन्दनीय चरित्र की कल्पना यहाँ किसके द्वारा हुई? किसने सबसे पहले जीवन के अगम्य, अज्ञात दण्डकवन में चारित्र्य की सुलभ पगडण्डियों का निर्माण किया? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें महर्षि वाल्मीकि की शरण में जाना पड़ता है। वाल्मीकि हमारे राष्ट्रीय आदर्शों के आदि विधाता हैं। धर्म और सत्य रूपी महावृक्षों के जो अमर बीज वाल्मीकि ने बोये वे आज भी फूल-फल रहे हैं। रामायण के प्रारम्भ में ही महाकवि ने दृढ़ता के साथ प्रश्न किया है—

चारित्र्येण च को युक्तः?'

'जीवन में **चरित्र** से युक्त कौन है'? वाल्मीकि का सम्पूर्ण दृष्टिकोण चरित्र-योग की जिज्ञासा है। चरित्रवान् व्यक्ति को ढूँढने के लिए ही आदिकाव्य रामायण का जन्म हुआ है। जितने भी अन्य गुण हैं सब चरित्र की व्याख्या के अन्तर्गत आ जाते हैं। वाल्मीकि के लिए चरित्र और धर्म पर्यायवाची हैं। अतएव उनकी दृष्टि में राम धर्म की प्रकट मूर्त्ति हैं—

'रामो विग्रहवान् धर्मः' (अरण्य० ३८ । १३)

राम शरीरधारी धर्म हैं। वाल्मीकि राम की प्रशंसा में धर्मज्ञ, धर्मिष्ठ, धर्मभृतां वर आदि विशेषण देते हुए नहीं थकते। मन, कर्म और वाणी से राम जो भी चरित्र करते हैं, उससे हमें धर्म की नई-नई व्याख्या प्राप्त होती है। राम सनातन धर्मवृक्ष के बीज हैं। अन्य सब मनुष्य उस वृक्ष के पत्र, पुष्प और फल हैं।* वाल्मीकि की दृष्टि में संसार में दो ही प्रकार के मनुष्य बसते हैं—एक अल्पसत्त्व या हीन पराक्रमवाले साधारण मनुष्य, जिन्हें रामायण में प्राकृत नर कहा है, दूसरे धीर या चरित्रवान् व्यक्ति, जो धर्म और सत्य के आदर्शों को कर्म के मार्ग से अपने जीवन में प्रत्यक्ष कर दिखाते हैं। दूसरा मार्ग ही जीवन के लिए बहुमूल्य है। हमारे चारों ओर साधारण जीवन

---

* मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः॥
(अयो० ३३ । १५)

व्यतीत करनेवाले मनुष्य ढेरों दिखाई पड़ते हैं। परन्तु जीवन की मर्यादाओं में पूरा उतरनेवाले सत्यसन्ध और दृढ़व्रत मनुष्य विरले ही होते हैं। वाल्मीकि ने जिस चरित्र-योग का वर्णन किया है, धीर पुरुष उसके केन्द्र हैं। कवि और उसका काव्यादर्श दोनों एक-दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। इसीलिए वाल्मीकि और उनके आदर्श राम भी एक दूसरे से अभिन्न हैं।

चरित्र-योग

मानव क्या है? इस प्रश्न का उत्तर दार्शनिक लोग कई प्रकार से देते हैं। किसी के मत में मनुष्य मनन करने-वाला प्राणी है। किसी की दृष्टि में वह केवल बाह्य साधनों और औज़ारों से काम लेनेवाला जन्तु है। कोई इसे हँसने और बोलनेवाला पशु समझकर इसकी एक साधारण-सी परिभाषा करते हैं। वाल्मीकि की परिभाषा इन सबसे विलक्षण है। उनकी दृष्टि में मनुष्य एक चरित्रवान् प्राणी है। चरित्र से युक्त मनुष्य ही जीवन को मूल्यवान् और आकर्षण की वस्तु बनाता है। चरित्र ही धर्म है। चरित्र में जो मोहन-मंत्र है, वह अन्यत्र कहीं नहीं।

चरित्र के आदर्श में शरीर और मन दोनों का समा-वेश है। वाल्मीकि के मत से चरित्रवान् पुरुष वह है जिसमें शारीरिक विकास और नैतिक विकास रथ के दो पहियों की तरह साथ-साथ चलते हैं। राम के वर्णन में वाल्मीकि ने जिन विशेषणों का प्रयोग किया है, उनके अध्ययन से राम का शारीरिक सौन्दर्य और गठन हमारे सामने मूर्त्ति-मान् हो उठता है। राम के शरीर में कंधे चौड़े और उठे हुए, भुजाएँ लम्बी, ग्रीवा शंख की तरह और ठोड़ी दोहरी थी। छाती चौड़ी, लम्बा धनुष सँभालनेवाले घुटनों तक लम्बे हाथ, गले की हड्डी मांस से दबी हुई, उत्तम शिर, सुन्दर ललाट, बड़ी-बड़ी आँखें, चमकीला रंग, सब अंग बराबर बटे हुए, सब प्रकार शुभ लक्षणों से युक्त देह—इस प्रकार राम का क्षत्रिय स्वरूप था। सप्तसिन्धु और गंगा की अन्तर्वेदी में दृढ़ता के साथ जिन आर्यों ने सभ्यता का विकास किया, मालूम होता है राम उनके मूर्त्तिमान् प्रतीक हैं।* हमें स्मरण है कि महाकवि कालि-दास ने भी रघुवंशी राजाओं के भौतिक स्वरूप की ऐसी ही उदात्त कल्पना रक्खी है:—

> व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः तालप्रांशुर्महाभुजः।
> आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥

अर्थात् राजा दिलीप की छाती चौड़ी, कन्धे बैल के समान, लम्बाई शाल वृक्ष का स्मरण दिलानेवाली और भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं। वह क्षत्रिय थे, क्षत्रियों का कर्म रक्षा करना है। उस कर्म के अनुरूप ही मानो स्वयं क्षात्रधर्म ने शरीर धारण किया था। राम पूर्ण रूप से दिलीप आदि राजर्षियों की परम्परा के प्रतिनिधि हैं। आर्य-सभ्यता का जो युगान्त तक फैला हुआ इतिहास है, इक्ष्वाकुवंशी राजा उसके मेरुदण्ड कहे जा सकते हैं। राम को उस शृंखला का सुमेरु ही समझना चाहिए।

आरम्भ में ही तपस्वी वाल्मीकि नारदजी से प्रश्न करते हैं कि इस समय लोक में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्य बोलनेवाला, दृढ़व्रती, चरित्र से युक्त, सब भूतों का हित करनेवाला, विद्वान्, सुन्दर, जितेन्द्रिय और क्रोध को जीतनेवाला कौन है? उत्तर में नारदजी राम के अनेक गुणों की तालिका प्रस्तुत करते हैं। नारद का उत्तर भारतीय चरित्र की विशेषताओं को बताने के लिए आज भी एक मानदण्ड है। अपने राष्ट्रीय चरित्र की गुण-गरिमा का अनुसंधान करने के लिए जब हम परिषद् का संगठन करेंगे तब हमें नारद के उत्तर का मूल्य ठीक-ठीक आँकने का दृष्टिकोण प्राप्त होगा। मनु ने राष्ट्र के मस्तक को गर्व से ऊँचा रखने के लिए लिखा है कि इस देश में जन्म लेनेवाले अग्रणी पुरुषों का चरित्र पृथ्वी के दूसरे देशों के लिए शिक्षा की वस्तु है। मनु की प्रतिज्ञा का पूरा महत्त्व हमारी आँखों से ओझल हो गया है। हमारी अन्त-रात्मा का सुवर्ण दैन्य के लोहे से छूकर निस्तेज बन गया है। परन्तु नारद के उत्तर से चरित्र की उस ऊँचाई का कुछ आभास हमें अब भी प्राप्त होता है।

राम नियतात्मा हैं। उन्होंने इन्द्रियों का जय किया है। वे महावीर्य हैं। संग्राम में पैर पीछे नहीं रखते। धृति और बुद्धि दोनों का उनमें विकास है। वे नीतिमान् और

*** सुन्दरकांड ३५वें सर्ग में सीता ने हनुमान् की परीक्षा के लिए राम के संस्थान या शरीरगठन के बारे में प्रश्न किया है। उत्तर में हनुमान् ने संकेत के द्वारा कहा है कि राम के तीन अंग (जंघा, गट्टे और मुष्टि) स्थिर हैं, तीन लम्बे, तीन सम, तीन उन्नत, तीन ताम्रवर्ण, तीन स्निग्ध, तीन गम्भीर, तीन अवनत, चार छोटे, चार रेखायुक्त, चार किष्कु के बराबर लम्बे, चार सम, चौदह जोड़े समान, चार-चार प्रकार की गतिवाले, पाँच चिकने, आठ लम्बी पोरी के, दस कमल की तरह बड़े, छः अंग उभरे हुए और नौ सूक्ष्म हैं। ये परिभाषाएँ भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के अध्ययन के लिए उपयोगी हैं।**

वाग्मी, सुन्दर भाषण करनेवाले हैं। वे देवकल्प, ऋजु और दान्त हैं। धर्म के तत्त्व को जानते हैं। सत्य-संध अर्थात् मन, कर्म और वचन से सत्य का पालन करनेवाले हैं। राम क्षत्रिय पद से सदा प्रजाओं का हित करते हैं। यशस्वी, ज्ञानसंपन्न, शुचिवश्य, और समाधिमान् या चित्त की एकाग्रता से युक्त हैं। जीवों के रक्षक, धर्म के रक्षक, स्वधर्म के और स्वजनों के पालन करनेवाले हैं। वेदवेदांग में पारंगत और धनुर्वेद में निष्ठित हैं। राम आर्य हैं। सदा हँसकर बोलते हैं, उनका दर्शन ही सुन्दर है। वह सब शास्त्रों के मर्म को जाननेवाले, स्मृतिवान् हैं: उनकी बुद्धि में नवीन कल्पनाओं या विचारों का स्फुरण होता रहता है। पराक्रम में विष्णु, कान्ति में चन्द्रमा, क्रोध में कालाग्नि, क्षमा-गुण में पृथिवी, त्याग में कुबेर और सत्य गुण में साक्षात् धर्म के समान हैं।*

प्राचीन ऋषियों ने जिस बुद्धियोग का विकास किया था, राम उसके उदाहरण हैं। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में एकसमान अविचल रहनेवाली बुद्धि ही प्रज्ञा है। गीता में भी इस प्रज्ञायोग का वर्णन है। राम के लिए प्रसिद्ध है कि राज्याभिषेक के समाचार के बाद वरदानिक वनवास के समाचार से उनके मुख पर कोई परिवर्त्तन नहीं देखा गया। राज्य के नाश से उनके मुख की लक्ष्मी में कोई अन्तर नहीं पड़ा। वन को जाते हुए और पृथिवी को छोड़ते हुए उनके चित्त में ज़रा-सा विकार नहीं आया।† राम ने स्वयं कैकेयी से कहा है—

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम्॥

(अयो० १६। २०)

हे देवि, मैं अर्थपरायण बनकर जगत् में जीना नहीं चाहता। मुझे तुम ऋषियों के समान निर्मल धर्म का अनुगामी समझो।

वाल्मीकि की दृष्टि में भरत भी धार्मिक हैं, राम भी धार्मिक हैं। चित्रकूट में मन्दाकिनी के तीर पर भरत ने राम की पूर्वोक्त प्रज्ञा का वर्णन करते हुए कहा है—

हे राम, लोक में ऐसा कौन है जैसे तुम हो? दुःख से तुमको व्यथा नहीं पहुँची, कल्याण से तुम हर्षित नहीं हुए। तुम्हारे लिए मृत्यु और जीवन, होना और न होना, दोनों समान हैं। ऐसी बुद्धि जिसकी हो उसको परिताप कहाँ से हो सकता है?—

यथा मृतस्तथा जीवन् यथासति तथा सति।
यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात्परितप्येत केन सः॥

(अयो० १०६। ४)

वाल्मीकि की दृष्टि में चरित्र जीवन का सक्रिय मार्ग है। अपने केन्द्र में आप समाकर निस्तेज स्वार्थी जीवन बिताते हुए जो सदाचार रचा जाता है, वह हेय है। उससे जीवन का गहन दण्डकवन पार नहीं किया जा सकता। वाल्मीकि हमें बार-बार याद दिलाते हैं कि राम प्रजाओं के हित में रत रहनेवाले हैं, वह स्वजन और धर्म के रक्षक हैं। सघन दण्डकारण्य में मुनि राम के पास आकर कहते हैं—'हे राम, तुम धर्मज्ञ, धर्मवत्सल हो। कुछ याचकभाव से नहीं, धर्म के भाव से हम तुमसे कहते हैं। राजा को पुत्र के समान प्रजा का पालन करना चाहिए। वन में फल-मूल खानेवाले मुनि जो तप करते हैं उसका एक चौथाई भाग धर्म से प्रजारक्षण करनेवाले राजा को प्राप्त होता है। पम्पा, मन्दाकिनी और चित्रकूट आदि स्थानों में रहनेवाले मुनियों को राक्षस लोग अनेक प्रकार से सताते हैं।' यह सुनकर राम अपने धनुष की ओर देखते हुए प्रतिज्ञा करते हैं—'मेरा वन में आना बड़ा फलदायक हुआ। मैं आपके शत्रु राक्षसों का अवश्य वध करूँगा।'

इस प्रकार की प्रतिज्ञा से पति का कल्याण चाहनेवाली सीता को भय हुआ। वह बोलीं—'हे राघव, मिथ्या वाक्य तुम्हारा कभी न हुआ है, न होगा। पर बिना वैर के रुद्र-भाव धारण करना भी तो उचित नहीं है। स्नेह से और आदर से मैं तुम्हें स्मरणमात्र दिलाती हूँ, शिक्षा नहीं देती। हम वन में आए हुए हैं, कहाँ वन का वास और कहाँ शस्त्र उठाना, कहाँ तप की वृत्ति और कहाँ क्षात्रधर्म? दोनों में मेल नहीं है, यहाँ हमको देशधर्म का ही पालन करना उचित है। शस्त्र के सेवन से बुद्धि मलिन हो जाती है। अयोध्या लौटने पर फिर क्षत्रियधर्म का ग्रहण कीजिएगा।‡ यदि राज्य त्यागकर और संन्यास लेकर आप वन में नियमों का पालन करते हुए रहें तो और भी अधिक धर्म और प्रसन्नता

* मूल रामायण सर्ग १।

† न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति।
न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया॥
(अयो० १६।३२-३३)

‡ क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च।
व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम्॥ २७॥
कदर्य कलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात्।
पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षत्रधर्मं चरिष्यसि॥ २८॥
(अरण्य० सर्ग ९)

की बात होगी। धर्म से ही सब कुछ बनता है, धर्म ही जगत् का सार है। हे सौम्य, तपोवन में रहकर धर्म का आचरण करो।'

सीता एक उपाख्यान के द्वारा तलवार की उत्पत्ति बताती हैं। इन्द्र ने एक मुनि को तपभ्रष्ट करने के लिए उसके आश्रम में आकर उसे तलवार रखने के लिए दे दी। बस हर समय तलवार पास में रखने से उस मुनि की बुद्धि प्रचंड बन गई और वह मुनि शस्त्र रखने से नरक को चला गया। 'दण्डकवन के राक्षसों ने आपका क्या बिगाड़ा है, बिना अपराध आप उन्हें क्यों मारने चले हैं?'

परन्तु राम का निर्माण दूसरे प्रकार की मिट्टी से हुआ था। उनके रोम-रोम में क्षात्रधर्म फड़कता था। सीता के धर्मवाद की युक्ति का उन पर कुछ असर न हुआ। उन्होंने कहा—'हे देवि, मैं क्या कहूँ, तुम स्वयं समझती हो। क्षत्रिय लोग इसीलिए धनुष बाँधते हैं कि राष्ट्र में आर्त-शब्द सुनाई न पड़े—

क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति।

(अरण्य० १०। ३)

दुःखी होकर दण्डकवन में मुनि लोग मेरे पास आए। मैंने उनके दुःख की कथा सुनकर उनसे कहा कि मेरे लिए तो यह बड़ी लज्जा की बात है जो आप-जैसे विप्रों को मेरे पास आने तक का कष्ट उठाना पड़ा। क्यों नहीं मैंने स्वयं ही आपका कष्ट दूर कर दिया! यह कहकर मैंने उन मुनियों के सामने राक्षसों को मारने की प्रतिज्ञा की। उस प्रतिज्ञा का पूरी तरह पालन करना मेरा धर्म है। जब तक मेरा जीवन है उस व्रत से मैं नहीं फिर सकता। हे सीते, चाहे मेरे प्राण चले जायँ, चाहे उस प्रतिज्ञा की पूर्ति में लक्ष्मण के साथ तुमको भी मुझे छोड़ना पड़े, पर उस व्रत का पालन मैं अवश्य करूँगा। बिना कहे भी मुझे वह कार्य करना चाहिए था, प्रतिज्ञा करके तो बात ही दूसरी है।'

इस प्रकार का कर्मण्य धर्म, सत्य और चरित्र वाल्मीकि को इष्ट था, जिसकी व्याख्या के लिए उन्होंने रामकथा का आश्रय लिया। वाल्मीकि अपने युग के असाधारण व्यक्ति थे। वह जनक के प्रिय सखा और दशरथ के बालपन में साथ खेले हुए मित्र थे। अपने युग के आदर्शों को, ब्राह्म-धर्म और क्षात्रधर्म के समन्वय को, उन्होंने सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किया है।

वाल्मीकि का लोकागम धर्म

वाल्मीकि का धर्म का आदर्श मनु और व्यास के धर्म की तरह प्रजाओं के पालन और राष्ट्र के धारण के लिए है। उन्होंने अनेक स्थलों पर अपने दृष्टिकोण का व्याख्यान किया है। धर्म के द्वारा सब वर्णों का पालन राजा का श्रेष्ठ कर्म है।

भरतजी राम से कहते हैं—हे धर्मज्ञ! चारो आश्रमों में गृहस्थ-आश्रम श्रेष्ठ है, उसको त्यागना उचित नहीं है—

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्।
आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमिच्छसि॥

क्षत्रियों का यही प्रथम धर्म है कि राज्याभिषिक्त होकर प्रजाओं की रक्षा करें। प्रत्यक्ष को त्यागकर अनिश्चित मार्ग की उपासना क्षत्रबन्धुओं का काम है। तीन ऋणों का परिशोध यही जीवन का ध्येय है।

भरत के इस आदर्श से राम का मतभेद नहीं है। परन्तु वह पिता की सत्य प्रतिज्ञा के पालन को श्रेष्ठ मानते हैं। सत्य धर्म का मूल है। सत्य के छोड़ देने से जीवन और लोक दोनों में संकट हो जाता है। राम स्वयं अपने चरित्र से लोकदूषण या लोकसंकर नहीं कर सकते। दशरथ के मंत्री जाबालि लोकायत पक्ष के माननेवाले थे। 'परलोक कुछ नहीं, धर्मबन्धन कुछ नहीं, प्रत्यक्ष ही सब कुछ है, इसलिए हे राम, राज्य पर अधिकार कर लो, फिर अब तो भरत भी कह रहे हैं।' जाबालि की इस युक्ति का राम ने ओजपूर्ण खंडन किया है। 'आर्य होकर मैं अनार्यों जैसा काम नहीं करूँगा, कुलीन होकर अकुलीनों का आचार नहीं करूँगा, काम के वशीभूत होकर सब लोकों को डुबानेवाला आचरण मुझसे न होगा। राजा जैसा आचरण करते हैं, प्रजाएँ भी वैसे ही बरतती हैं'—

यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः।

(अयो० १०६। ६)

भीष्मपितामह के शब्दों में राजा समय का बनानेवाला है। 'सत्य ही सनातन राजवृत्त है, इसलिए राज्य की नींव सत्य पर है, सत्य से ही लोक प्रतिष्ठित हैं। ऋषि और देव सत्य को ही श्रेष्ठ मानते हैं। अनृतवादी मनुष्य से लोग ऐसे डरते हैं जैसे साँप से। सत्यपरायण धर्म ही सबका मूल है। सत्य ही लोक का ईश्वर है, धर्म सत्य के ही आश्रित है। सत्य से परे और कुछ नहीं है। दान, यज्ञ, अग्निहोत्र और तप सब सत्य के बल पर टिके हुए हैं। वेद भी सत्य पर प्रतिष्ठित हैं, इसलिए सत्यपरक होना चाहिए। अकेला सत्य ही लोक का पालन करता है, वही कुलों की रक्षा करता है। मैं अवश्य पिता के सत्य की रक्षा करूँगा। मेरे लिए यह असम्भव है कि लोभ से, मोह

से या अज्ञान से किसी भी प्रकार मैं सत्य की मर्यादा का उल्लंघन करूँ—

नैव लोभान्न मोहाद्वा न चाज्ञानात्तमोऽन्वितः ।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्य प्रतिश्रवः ॥
(अयोध्या० १०९ । १७)

यह सत्य प्रत्येक व्यक्ति के भीतर रहनेवाला (प्रत्यगात्म) धर्म मुझे जान पड़ता है। यदि मैं असत्य का आचरण करूँगा तो क्षात्रधर्म से पतित हो जाऊँगा। यह भूमि, कीर्ति, यश और लक्ष्मी सब सत्यवादी के लिए है। मैं कार्य-अकार्य को जानता हुआ श्रद्धा के साथ लोकयात्रा का निर्वाह करूँगा। यह लोक कर्मभूमि है। यहाँ आकर शुभ कर्म करना चाहिए। अग्नि, वायु, सोमादि देव भी कर्म का ही फल भोग पाते हैं। सत्य, धर्म, पराक्रम, भूतानुकम्पा, और प्रिय वचन, यही 'एकोदय' धर्म है, लोकागम की इच्छा रखनेवाले पुरुष जिसका आचरण करते आए हैं।'

धर्म का ऊपर कहा हुआ आदर्श जीवन के भीतर से पनपता है। इस मार्ग का अनुयायी जीवन से भागता नहीं, वह उसको कर्म के जल से सींचता है और उसकी छाया में शान्ति और विश्राम प्राप्त करता है।

धर्मबन्ध

वाल्मीकि ने ऋजु जीवन की जो कल्पना की है उसमें हरएक पात्र धर्म के बन्धन से बँधा हुआ है। हम अपने जीवन में जिस जगह भी हैं, अनेक प्रकार के सत्य बन्धनों में हम उस स्थान पर स्थिर हैं। विद्यार्थी के लिए अपना धर्म है, गुरु के लिए अपना धर्म है। माता और पिता, भाई-बन्धु, राजा-प्रजा, सभी धर्म के बन्धन से बँधे हैं। जिस प्रकार आकाश में प्रत्येक नक्षत्र-ग्रह अपने मार्ग में स्थिर है, न वहाँ भय है ; न स्खलन। इसी प्रकार जीवन में अपने धर्म पर ध्रुव रहते हुए हम दूसरों से बिना टकराये प्रगति कर सकते हैं। क्षण भर के लिए कल्पना कीजिए कि जीवन में नीति और अनीति के बन्धन टूट जायँ, उस समय समाज और मानव की कैसी शोचनीय दशा होगी। यही लोकसंकर है, जिसमें स्मरणमात्र से भारतीय समाजशास्त्री काँप उठते थे।

वाल्मीकि ने बड़ी सुन्दरता से कई स्थानों पर हमें इसका परिचय दिया है कि यदि धर्म की मर्यादाएँ टूट जातीं, सत्य के बाँध ढीले पड़ जाते, तो राम और भरत-जैसे धीर पात्र भी किस प्रकार आचरण कर बैठते। आखिर मनुष्य के भीतर क्षमा भी है, क्रोध भी ; धर्म भी है, अधर्म भी; सत्य भी है, असत्य भी। एक ही जगह ये द्वन्द्व रहते हैं। धीर मनुष्य वही है जो इनके दिव्य भाव को ग्रहण करता है। श्रुति का ज्ञान रखनेवाले पुरुष भी जब रजोगुण में सन जाते हैं तभी महान् अनर्थ उपस्थित होता है। राम धर्म-बन्धन से च्युत होकर क्या करते ? 'हे लक्ष्मण, मैं अकेला ही क्रुद्ध होकर इस अयोध्या को और सारी पृथिवी का अपने बाणों से नष्ट करके अपना अभिषेक कर सकता हूँ, पर अधर्म से डरता हूँ (अयोध्या० ५३।२५-२६)।' कल्पना कीजिए उस अयोध्या की जिसमें राज्य लेने के लिए राम बाणों का प्रयोग करते ! क्या फिर हमें वहाँ स्वर्ग का वह सौरभ मिल सकता था जो आज तक फैला हुआ है ? भरत को यदि धर्म का बन्धन बाँधकर न रखता तो वह क्या करते, इसका उत्तर उन्हीं के मुँह से सुनने योग्य है—

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम् ।
हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम् ॥
(अयो० १०६ । ६)

'मैं धर्मबन्धन से बँधा हुआ हूँ, इसीलिए पापकारिणी दण्ड के योग्य माता को तीव्र दण्ड से मारे बिना छोड़ता हूँ।' भरत क्रोध में भरकर कैकेयी को मार डालते और फिर उस पाप के दुःख से सम्भवतः अपनी भी हत्या कर लेते ! धर्म-बन्धों के टूटने का कैसा घातक परिणाम होता, इसकी कल्पनामात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं ! यह वह भरत हैं, जिनके लिए गोस्वामीजी ने यथार्थ ही लिखा है—

जो न जनम जग होत भरत को ।
सकल धरम धुरि धरणि धरत को ?

ठीक ही है, राम ने, सीता ने, लक्ष्मण ने एक-एक धर्म का पालन किया। यदि वे वैसा न करते तो उनकी गणना प्राकृत जीवों में होती। पर यह भरत ही हैं जिन्होंने सब पात्रों के धर्म की धुरी को अपने कन्धों पर रखकर पूरा उतारा। भरत अड़ जाते तो राम का धर्म, दशरथ का धर्म, लक्ष्मण और सीता का धर्म, सभी संकट में पड़ जाते।

धर्म से स्खलित होकर दशरथ क्या करते ? 'हे राम, कैकेयी ने मुझे मोहित करके वरदान ले लिया है ; तुम मुझे कैद करके अयोध्या के राजा बनो !' परन्तु जिन राम से दशरथ ने यह प्रस्ताव किया, उनके लिए वाल्मीकि सबसे पहले 'धर्मभृतां वर' विशेषण रखते हैं (अयो० ३४।२७)। राम ने उत्तर में यह गीत गाया—

'इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला ।
मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम् ॥

'धन, धान्य, राष्ट्र और जनों से भरी हुई यह पृथिवी भरत को दो, इसमें सोच-विचार का स्थान नहीं है, मुझे राज्य नहीं चाहिए।'

राम की माता, दशरथ की अग्रमहिषी कौशल्या धर्म को भूलकर क्या करतीं ? 'हे राम, मैं बड़ी मन्दभाग्य हूँ। न जाने मुझे सपत्नियों के कौन-कौन-से वाग्वाण सुनने पड़ेंगे ? मेरे व्रत, दान और संयम सब ऊसर में बोये हुए बीज की तरह व्यर्थ चले गए। हे पुत्र, माता तुम्हारे लिए वैसे ही है जैसे पिता हैं; वैसे ही माता का कहना मान्य है। मैं तुम्हें वन जाने की आज्ञा नहीं देती।' *

कोई भी साधारण माता और क्या कहती ! परंतु धर्मज्ञ राम माता को स्मरण दिलाते हैं—

पितुर्नियोगे स्थातव्य मेष धर्मः सनातनः ।

हे देवि, राजा दशरथ, हमारे-तुम्हारे दोनों के गुरु हैं, उनकी आज्ञा ही गति और धर्म है। लक्ष्मण तो धर्मबन्ध के अभाव में साक्षात् ज्वालामुखी ही थे। कौशल्या के विलाप को सुनते ही उनका अवरुद्ध हृदय फूट पड़ता है, वह कौशल्या से राम के सामने ही कहते हैं—'हे देवि, राम का वन जाना मुझे तो कुछ नहीं जँचता। बूढ़े राजा विषयान्ध थे। नहीं तो कौन राम-जैसे देवकल्प पुत्र को वनवास दे देगा। जब तक यह ख़बर फैलने न पावे तभी तक राज्य अपने हाथ में कर लेना चाहिए। किसकी शक्ति है जो मेरे सामने आवे ? आज अयोध्या को मैं सुनसान बना दूँगा, यदि भरत का कोई साथी मेरे सामने युद्ध के लिए आवेगा। यदि पिता कैकेयी के साथ हों तो उनका भी बन्ध या वध कर देना चाहिए। उत्पथ में गए हुए का शासन करना ही पड़ता है (अयो० सर्ग २१। १–१३)।' कौशल्या ने राम से कहा—'हे तात, तुमने लक्ष्मण की बात सुनी। जो धर्मानुकूल जान पड़े, करो। परन्तु धर्मज्ञ राम को लक्ष्मण का झटपट राज्यहरण (coup d'etat) का यह प्रस्ताव बिल्कुल पसन्द न आया। उन्होंने समझाया—'हे लक्ष्मण, तुम्हारे स्नेह को मैं जानता हूँ। इस अनार्य बुद्धि को दूर करो।'

वशिष्ठ जैसे शान्त और सदा एकरस रहनेवाले व्यक्ति भी, कैकेयी जब औचित्य भुलाकर सीता को वल्कल पहनाने लगती है, रो पड़ते हैं। वह कहते हैं—'हे कुलपांसिनी, दुर्बुद्धि, राजा को ठगकर तुम मर्यादा भूल गई हो। सीता वन को नहीं जायँगी, केवल राम के लिए ही तो वनवास हुआ है। गृहस्थ-आश्रम स्वीकार करनेवालों के लिए स्त्री उनकी प्रतिनिधि और साक्षात् अपना आपा है। इसलिए सीता राम की जगह गद्दी पर बैठेंगी।' (अयो० ३७।२२–२४)।

वसिष्ठ ने बात तो धर्मशास्त्र के अनुकूल कही। मनु ने भी कहा है—'यो भर्ता सा स्मृतांगना', जो पति है वही पत्नी है। पर जीवन का जो सत्य है, वह क़ानून की बारीक़ियों का मुँह नहीं देखता। धर्मबन्ध की दृष्टि से वसिष्ठ का प्रस्ताव राम को और स्वयं सीता को भी मान्य नहीं हो सका।

वाल्मीकि मनुष्य को मनुष्य करके जानते हैं। मनुष्य कैसा ही पूर्ण क्यों न हो, उसमें निर्बलता के क्षण आ ही जाते हैं। सीता के अपहरण के बाद राम के धैर्य का बाँध टूट जाता है। वह क्रोध के वशीभूत होकर अपनी सुध-बुध भूल जाते हैं। 'हे लक्ष्मण, यदि सीता कुशलपूर्वक मुझे न मिलीं, तो त्रिलोकी को मृत्यु के मुख में पहुँचा दूँगा। मेरे बाणों से आज सारा जगत् मर्यादा के बिना अस्त-व्यस्त हो जायगा। हे लक्ष्मण, जिस प्रकार जरा और मृत्यु, काल और विधाता, टाले नहीं टलते, उसी प्रकार मेरा क्रोध अनिवार्य है।' राम के अदृष्टपूर्व क्रोध को देखकर लक्ष्मण उन्हें शान्त करते हैं। 'राजाओं को युक्त-दण्ड अर्थात् अपराध के अनुसार दण्ड देनेवाला होना चाहिए। पहले मृदु और दान्त होकर अब क्रोध के कारण अपनी प्रकृति को छोड़ देना आपको शोभा नहीं देता। यदि आप-जैसे धीर पुरुष भी इस दुःख को न सह सकेंगे, तो क्या सामान्य और अल्प सत्त्ववाले व्यक्ति सह सकेंगे ? संसार में किसको आपत्तियाँ नहीं आतीं ! यह लोक का स्वभाव ही है। पर आपके-जैसी बुद्धि रखनेवाले प्रज्ञावान् पुरुष दैव के सामने शोक नहीं करते। जगत् की माता सर्वलोकनमनस्कृता जो भूमि है वह भी कंप से विचलित हो सकती है, पर धीर पुरुष धर्म से विचलित नहीं होते।'†

वस्तुतः सत्य ही जिसका दूसरा नाम है, ऐसा धर्म पृथ्वी और आकाश का आधार है।

सत्येनोत्तभिता भूमिः सत्येनोत्तभिता द्यौः ।

(अथर्व०)

धर्म की कल्पना को यहाँ के विचारकों ने उसी शाश्वत मूल पर प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार पर्वत, नदियाँ, आकाश और नक्षत्र प्रकृति में ध्रुव हैं, उसी प्रकार सत्य भी ध्रुव है। इस विषय में वाल्मीकि का दृष्टिकोण शुद्ध भारतीय है।

वाल्मीकि और राष्ट्र

वाल्मीकि के अनुसार राजा की गद्दी राष्ट्र के कल्याण का हेतु है। प्रजाओं का न्याय और धर्म से परिपालन यही

* अयोध्याकाण्ड, सर्ग २०–२१।

† अरण्यकांड, सर्ग ६४–६६।

राजा का प्रधान कर्त्तव्य है। राजा ही साधु और असाधुओं को अलग-अलग रखता है। राष्ट्र और लोक-पक्ष के समर्थन में वाल्मीकि का मत ऊपर लिखा जा चुका है। वाल्मीकि अराजक राष्ट्र को एक क्षण के लिए भी नहीं सह सकते। अराजक राष्ट्र घोर जंगलीपन है, जिसमें सब प्रकार की मर्यादाओं का लोप हो जाता है। अराजक राष्ट्र के वर्णन में वाल्मीकि ने एक गीत दिया है, वह संस्कृत साहित्य में अद्भुत है, उसी से उनके राष्ट्रीय आदर्श का सम्यक् परिचय मिलता है—

अराजक राष्ट्र विनाश को प्राप्त हो जाता है।

अराजक जनपद में मेघ दिव्य जल से पृथ्वी को नहीं सींचते।

अराजक जनपद में बीज की मूठ खेतों में नहीं बखेरी जाती।

अराजक देश में पुत्र पिता के और स्त्री पति के वशीभूत नहीं रहती।

अराजक राष्ट्र में न धन रहता है, न स्त्री। सत्य अराजक स्थान में कहाँ रह सकता है?

अराजक देश में मनुष्य सभा नहीं कर पाते, प्रसन्न होकर उद्यान और घर नहीं बनवा सकते।

अराजक देश में यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण व्रत ग्रहण करके सत्रों में नहीं बैठ पाते।

अराजक देश में यज्ञशील धनी ब्राह्मण भी महायज्ञों में रत्नों से पूर्ण पूरी दक्षिणा नहीं देते।

अराजक देश में राष्ट्र की वृद्धि करनेवाले नट और नर्तकों से युक्त समाज और उत्सव नहीं हो पाते।

अराजक देश में व्यवहार करनेवालों के मनोरथ पूरे नहीं होते। कथाप्रिय लोग कथा कहनेवालों के साथ प्रेम नहीं रखते।

अराजक देश में सायंकाल के समय कुमारियाँ स्वर्ण के अलंकार पहनकर उद्यानों में क्रीड़ा के लिए नहीं जा पातीं।

अराजक देश में धनी लोग, जो कृषि और गोरक्षा से जीविका करते हैं, सुरक्षित रहकर घर के किवाड़ खोलकर नहीं सो सकते।

अराजक देश में शीघ्रगामी वाहन और यानों पर स्त्री-पुरुष वन में घूमने नहीं जा सकते।

अराजक देश में साठ वर्ष के जवान हाथी घन्टे बाँधकर राजमार्गों पर झूमते हुए नहीं निकलते।

अराजक देश में बाण चलाने का अभ्यास करनेवाले योद्धाओं का टंकार-घोष नहीं सुनाई पड़ता।

अराजक देश में दूर की यात्रा करनेवाले वणिक् बहुत-सी पण्य-सामग्री लेकर कुशलपूर्वक मार्गों में नहीं चल सकते।

अराजक देश में आत्मा से आत्मा का ध्यान करनेवाले, अकेले विचरनेवाले, जहाँ साँझ हो वहीं बसेरा करनेवाले मुनि कुशल से नहीं रह पाते।

अराजक देश में योग और क्षेम का नाश हो जाता है। अराजक राष्ट्र की सेना शत्रुओं से युद्ध नहीं करती।

अराजक देश में अलंकृत मनुष्य प्रसन्न अश्वों और रथों पर चढ़कर नहीं चल सकते।

अराजक देश में शास्त्रविशारद मनुष्य वनों और उपवनों में शास्त्र की चिन्ता करते हुए एक दूसरे से नहीं मिलते।

अराजक देश में जितेन्द्रिय पुरुष माला, मिष्ठान्न और दक्षिणा से देवताओं की पूजा नहीं कर सकते।

अराजक देश में राजकुमार लोग चन्दन और अगुरु से देह सजाकर वसन्त में धान की तरह सुशोभित नहीं करते।

जैसे बिना जल के नदी, बिना घास के वन और बिना गोपाल के गौएँ होती हैं, वैसे ही बिना राजा का राष्ट्र होता है।

अराजक देश में मनुष्य का कुछ भी अपना नहीं होता। जल में मछलियों के समान मनुष्य एक दूसरे को हड़पने लगते हैं।

वर्णाश्रम की मर्यादाएँ जिन्होंने तोड़ दी हैं, जिन्हें पहले राजदण्ड दिया जाता था, वे नास्तिक लोग निडर होकर अराजक राष्ट्र में प्रभावशाली बन जाते हैं।

जिस प्रकार शरीर के हित-अहित की प्रवर्त्तक आँख है, उसी प्रकार राष्ट्र में जो सत्य और धर्म हैं, उनका प्रवर्त्तक राजा है।

राजा सत्य और धर्म है, राजा कुलीनों का कुल है। राजा माता-पिता और राजा ही हितकारी है।

अन्त में महाकवि राष्ट्र और राजा की महिमा और कर्त्तव्य को सर्वोच्च पद पर पहुँचा देते हैं:—

यदि साधु-असाधुओं का पृथक् विभाग करनेवाला राजा इस लोक में न होता, तो जैसे दिन अन्धकार में विलीन हो जाता है, वैसे ही सब कुछ तम में डूब जाता।*

---

* **अहो तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किंचन।**
राजा चेन्न भवेल्लोके विभजन्साध्वसाधुनी॥
(अयो० ६७। ३६)



अमरीका के दो वीर उड़ाके—
(खड़े) मेजर केपनर और
(बैठे हुए) कैप्टन स्टीवेंस

जो गुब्बारे में ११॥ मील की ऊँचाई तक जा पहुँचे थे। दूसरी बार कैप्टन स्टीवेंस कप्पटन एण्डरसन के साथ १४ मील तक जा पहुँचे थे।



प्रोफ़ेसर पिकार्ड (दाहिनी ओर खड़े) और
उनका गंडोला

जिसमें बैठकर उन्होंने १० मील ऊपर तक उड़ान ली थी।



(दाहिनी ओर)
लेफ्टिनेन्ट - कमांडर सेटल और उनका गोलाकार गंडोला

जिसमें मेजर फ्रोर्डनी के साथ उन्होंने ११.६ मील की ऊँचाई तक वायुमण्डल को भेदा था।

(बाईं ओर)
मेजर केपनर और कैप्टन स्टीवेंस के गुब्बारे से बँधे हुए गंडोला के भीतरी भाग का एक दृश्य।

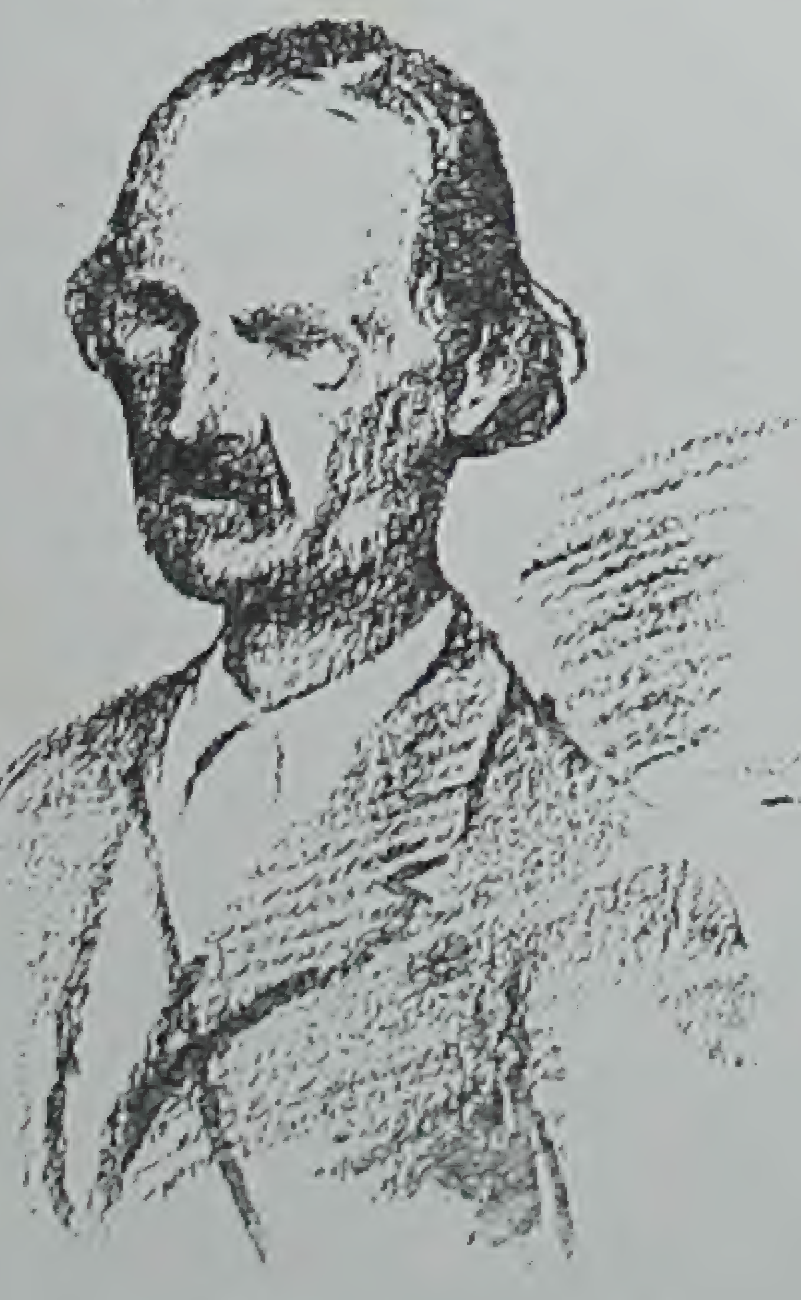




ऊपरी वायुमण्डल पर चढ़ाई

ऊर्ध्वाकाश-अभियान के प्रयत्न

अत्यन्त प्राचीन काल से मनुष्य अन्तरिक्ष के अनन्त रहस्यों के अनुसंधान में संलग्न रहा है। वायुमण्डल एवं आकाश के अन्तर्हित रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए मनुष्य बहुत दिनों से अपनी विद्या, बुद्धि का उपयोग कर रहा है। अपने कौतूहल की निवृत्ति के लिए उसने गुब्बारों और वायुयानों का आविष्कार किया। इन आविष्कारों में सफलता मिलने पर वह और अधिक प्रोत्साहित हुआ। वह आकाशमंडल में और अधिक ऊँचे उठने के उपाय सोचने और उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने में संलग्न हुआ। वायुयानों और गुब्बारों की सहायता से जो कुछ सफलता मिली, उससे मनुष्य केवल इतना ही जान सका कि जहाँ उसके लिए श्वास-प्रश्वास संभव है वह स्थान बहुत परिमित है। ६ मील से अधिक ऊँचे जाने पर वह श्वास लेने में असमर्थ हो जायगा, उसका दम घुटने लगेगा और वह मृत्यु के निकट पहुँच जायगा।



प्रो० ऑगस्ट पिकार्ड

परन्तु मनुष्य की ज्ञान-पिपासा कभी शान्त नहीं होती। जैसे-जैसे उसकी ज्ञान-परिधि का प्रसार होता जाता है, ज्ञान-पिपासा उतना ही उग्र रूप धारण करती जाती है। यह मालूम हो जाने पर भी कि ६ मील के ऊपर जाने पर उसका अन्त अवश्यम्भावी है, वह और अधिक ऊपर उठने से सर्वथा निराश न हुआ। अब ६ मील से ऊँचे उठकर जीवित रहने के उपाय सोचे जाने लगे। ऑक्सीजन (प्राणवायु) की सहायता से ६ मील से ऊपर जीवित रहने के प्रयत्न किये गये और उनमें आशातीत सफलता भी मिली। इधर दस वर्षों में इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय कार्य हुआ है। अनेक वैज्ञानिक अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर ऊर्ध्वाकाश-अभियान कर चुके हैं और उन्होंने १४-१५ मील की ऊँचाई तक पहुँचने में सफलता प्राप्त की है।

साहसी पिकार्ड

ऊर्ध्वाकाश-अभियान के लिए सबसे पहले सुप्रसिद्ध बैलजियन प्रो० ऑगस्ट पिकार्ड (Anguste Piccard) ने क़दम उठाया था। मई १९३१ में प्रो० पिकार्ड अपने सहयोगी डा० किफर के साथ धातु के एक गोले में बन्द होकर एक गुब्बारे की सहायता से आकाश में उड़े थे। समुद्री धरातल से ५२००० फ़ीट अर्थात् लगभग १० मील ऊँचे पहुँचकर १७ घण्टे तक आकाश में विचरण करने के बाद वे सकुशल पृथ्वी पर वापस आये थे। इससे पहले कोई भी व्यक्ति ऊर्ध्वाकाश में इतना ऊँचा न पहुँच सका था। यह ऊर्ध्वाकाश में विजयाभियान का प्रथम प्रयत्न था।

समुद्र के धरातल से १० मील ऊँचे, ऊर्ध्वाकाश में, जहाँ आधुनिक काल में उस समय तक कोई भी मानव देहधारी प्राणी न जा सका था और जहाँ तक पहुँचने पर जीवित लौट आना असम्भव समझा जाता था, पहुँचकर

उससे भी ऊपर के नीरव वायुमण्डल के भयानक अज्ञात प्रदेश की ओर बढ़ने को प्रो० पिकार्ड और उनके सहयोगी डा० किफर की योजना का हाल जब संसार को विदित हुआ तो इस बीसवीं सदी में भी लोग उनका मज़ाक़ उड़ाने से बाज़ न आये। प्रोत्साहित करना तो बहुत दूर रहा, उन्हें ऐसे 'घातक' (!) प्रयत्न करने से रोकने की चेष्टा की गई। कुछ ने उन्हें पागल और सनकी तक बतलाया। कुछ ने अभियान की इस उन्मत्ताकांक्षा को आत्महत्या का साधन बतलाने में भी आगा-पीछा न किया और बेचारे पिकार्ड की हालत पर अफ़सोस ज़ाहिर किया। परन्तु साहसी पिकार्ड वायुमण्डल के उपरी स्तरों के अनुसन्धान सम्बन्धी दृढ़ निश्चय पर अटल रहे।

उनकी असाधारण सफलता को देखकर विज्ञान-संसार दंग रह गया। जन-साधारण भी इस असाधारण विजयाभियान का विवरण जानकर विस्मय-विमुग्ध हो गये। अब वैज्ञानिक लोग केवल आश्चर्य और कौतूहल प्रकट करके ही शान्त नहीं हुए। वे भी स्वयं ऊर्ध्वाकाश-अभियान की योजनायें तैयार करने लगे।

प्रो० पिकार्ड ने अपनी पथप्रदर्शक ऊर्ध्वाकाश-यात्रा द्वारा वैज्ञानिकों के लिए अनुसन्धान-कार्य के एक सर्वथा नवीन क्षेत्र का मार्ग प्रशस्त कर दिया। वैज्ञानिक इस निश्चल निस्तब्ध आकाश के रहस्यमय ऊर्ध्व प्रदेश में स्वयं भी पहुँचने के लिए उत्सुक हो उठे और अपनी उत्सुकता के निवारणार्थ प्रयत्न करने लगे। वास्तव में आधुनिक समय में वायुमण्डल का ज्ञान प्राप्त करने के लिए किये गये प्रयत्नों में प्रो० पिकार्ड का अभियान एक असाधारण घटना थी। इससे विज्ञान-संसार में एक विलक्षण क्रान्ति उत्पन्न हो गई।

पिकार्ड-अभियान के पूर्व

वास्तव में पिकार्ड के पूर्व कोई भी वैज्ञानिक १० मील की ऊँचाई तक पहुँचकर ऊपर वायुमण्डल संबंधी अनुसन्धान-कार्य करने में समर्थ न हो सका था। अभी बहुत दिन नहीं बीते, जब जनसाधारण ही नहीं वरन् वैज्ञानिक लोग भी यह कल्पना किया करते थे कि वायुमण्डल की ऊँचाई ६-७ मील तक ही सीमित है। उससे अधिक ऊँचे जाने पर फिर और कुछ नहीं है—वहाँ सर्वथा शून्य है। आधुनिक समय में ऊपरी वायुमण्डल या स्ट्रेटस्फ़ीयर प्रदेश की स्थिति का ज्ञान सबसे पहले फ्रेंच वायुविज्ञान-विशारद टर्सेरींक डी० बोर्ट ने प्राप्त किया था। इस बात को ४० साल से कुछ ही अधिक समय हुआ है। स्ट्रेटस्फ़ीयर या ऊपरी वायुमण्डल प्रदेश का पता चल जाने पर भी, पिकार्ड के अभियान के पूर्व तक, वह वैज्ञानिकों के लिए सर्वथा अज्ञात प्रदेश बना रहा, और अब भी अनेक विजयाभियान हो चुकने के बाद भी उसके बहुत-से रहस्यों का उद्घाटन नहीं हो सका है।

पिकार्ड-अभियान के बाद

पिकार्ड के पथप्रदर्शक अभियान के पूर्व न तो कोई वैज्ञानिक ऊर्ध्वाकाश अभियान कर ही सका था और न किसी ने इस ओर विशेष ध्यान ही दिया था। वायुयानों और गुब्बारों के आविष्कार से आकाश में ऊँचे उठने का मार्ग प्रशस्त अवश्य हो गया था, परन्तु फिर भी कोई उस प्रदेश की यात्रा न कर सका था। पिकार्ड के अभियान से वैज्ञानिकों को अनुसन्धान के लिए सर्वथा एक नवीन कार्यक्षेत्र मिल गया और अब पिकार्ड के अतिरिक्त काजिन्स, सेटिल, प्रोथोफीफ, बर्नबाम, गोड्नफ, स्टीवेन्स, एण्डर्सन और केपनर प्रभृति अनेक गण्यमान्य वैज्ञानिक ऊर्ध्वाकाश-अभियान के प्रयत्न कर चुके हैं। इन महान् वीरों को अपने विजयाभियानों में जो सफलता मिली है उसका अन्दाज़ा निम्नलिखित अंकों से लगाया जा सकता है:—

प्रो० पिकार्ड और किफर (स्विस और बेलजियन) ९½ मील
काजिन्स और वान्डरएल्स्ट (बेलजियन) १० मील
पिकार्ड और काजिन्स (बेलजियन) १० मील
केप्टेन सेटिल और मेजर फोर्डनी (अमेरिकन) ११½ मील
केपनर, एण्डर्सन और स्टीवेन्स (अमेरिकन) ११½ मील
बेलून यू० एस० एस० आर०
(विमान आरोही अज्ञात) (सोविएट रूस) ११½ मील
फीडोसीनको और उसके दो साथी
(सोविएट रूस) १३½ मील
प्रोकोफीफ और उसके दो साथी (सोविएट रूस) १३½ मील
कैप्टन ओलिवर एण्डर्सन और अलबर्ट स्टीवेंस
(अमेरिकन) १४ मील

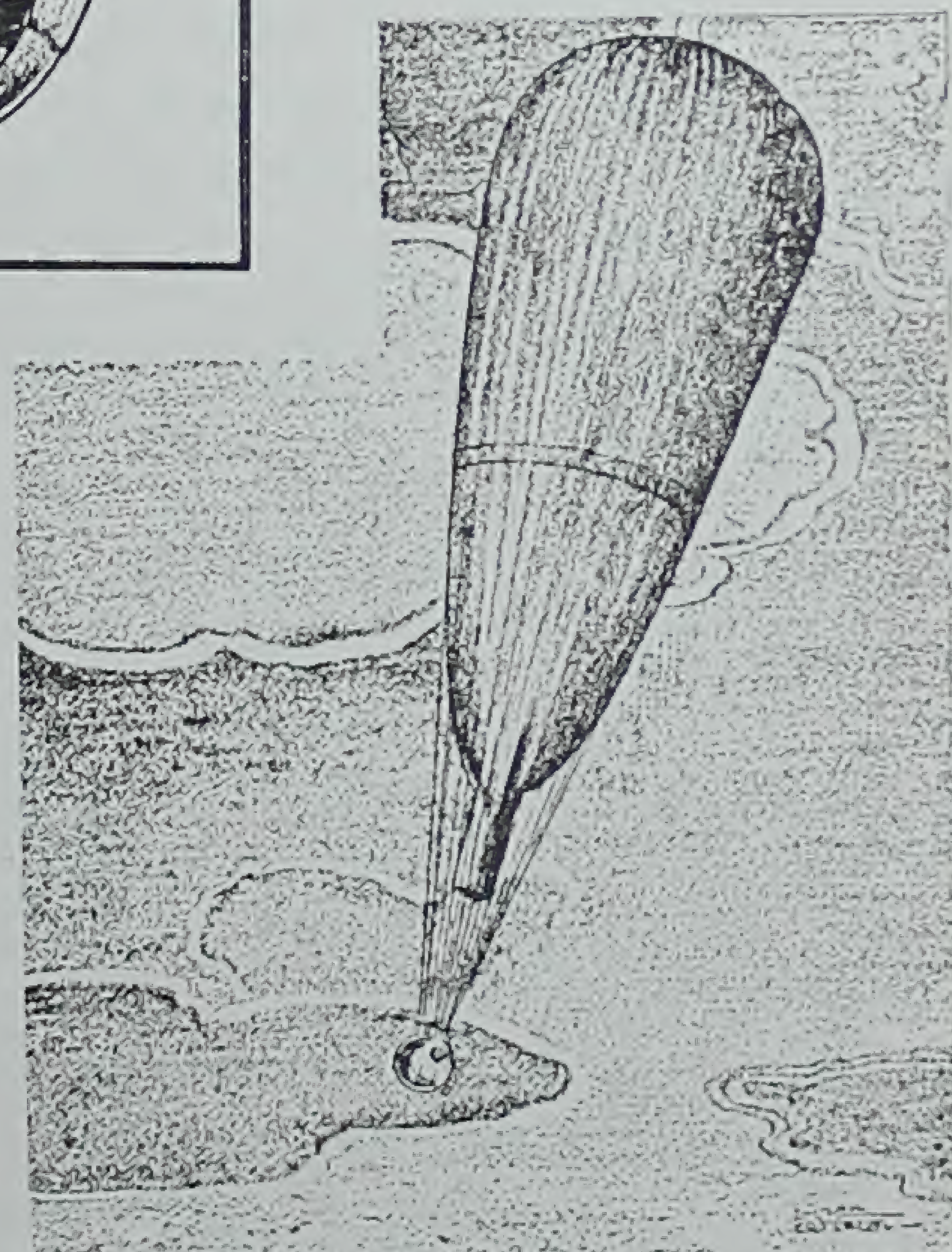
परंतु वैज्ञानिक इतने ही से सन्तुष्ट नहीं हैं। अभी तो वे यह भी निश्चय नहीं कर सके हैं कि स्ट्रेटस्फ़ीयर का विस्तार ऊर्ध्व में कहाँ तक है। वैज्ञानिकों ने अपनी गवेषणा के द्वारा आकाश में ५० मील ऊर्ध्व तक के वायुमण्डल का हाल मालूम करने की कोशिश की है। परंतु वे जो कुछ ज्ञात कर सके हैं, उससे उनकी वर्त्तमान समस्याएँ और अधिक जटिल होने के साथ ही नवीन समस्याएँ भी उत्पन्न हो गई हैं।

ऊपरी वायुमंडल में भावी वायुमार्ग



प्रो० पिकार्ड का मशहूर गुब्बारा

(नीचे) गुब्बारा आकाश में चढ़ रहा है। (बाईं ओर) गुब्बारे के नीचे बँधा हुआ वह गंडोला जिसमें प्रो० पिकार्ड और उनके साथी बैठे थे। चित्र में बाजू काटकर भीतर का भाग दिखाया गया है।



इधर ५-६ वर्षों में वायुमण्डल के बारे में वैज्ञानिकों ने बहुत-सी नई बातें मालूम की हैं। स्ट्रेटस्फीयर का जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उससे मनुष्य की लालसा और लिप्सा और अधिक बढ़ गई है। अब ऊपरी वायुमण्डल की यात्राओं का उद्देश्य केवल ज्ञान-पिपासा को शान्त करना ही नहीं रह गया है। इधर वैज्ञानिक स्ट्रेटस्फीयर को भविष्य का वायु-मार्ग बनाने के भी स्वप्न देख रहे हैं। इटली, फ्रान्स, इंगलैंड और अमेरिका में स्ट्रेटस्फीयर से होकर वायुयानों द्वारा लम्बी-लम्बी यात्राएँ करने के प्रयत्न आरम्भ भी हो गये हैं। इटली के डोनाटी, इंगलैंड के स्वेन और फ्रान्स के दात्रे आदि वीर उड़ाके वायुयानों द्वारा ६-१० मील की ऊँचाई तक पहुँचने के सफल प्रयत्न भी कर चुके हैं। वास्तव में इन महान् वीरों ने अपने प्राणों को संकट में डालकर मानव के ज्ञानभण्डार को भरने के असाधारण प्रयत्न किये हैं और अपने जीवटपूर्ण कार्यों के द्वारा विज्ञान-संसार में अपने नाम अमर बना लिये हैं।

वैज्ञानिक आकाश में जितना ही ऊँचा पहुँचते जा रहे हैं उन्हें उतना ही अधिक ऊँचे उठने की आवश्यकता प्रतीत होती जा रही है। १६३१ के पहले १० मील ऊँचा उड़ना भी सर्वथा असम्भव समझा जाता था। पिकार्ड के पथ-प्रदर्शक अभियान ने इस 'असम्भव' को सम्भव तो कर दिया, परन्तु यह बात असाधारण फिर भी रही। अब वैज्ञानिक १४ मील ऊपर पहुँच चुके हैं और भविष्य में इससे भी ऊर्ध्व में पहुँचने की तैयारी में संलग्न हैं।

पिकार्ड का नया आयोजन

स्वयं प्रो० पिकार्ड, जो अपने १६३१ के दूसरे ऊर्ध्वाकाश अभियान के बाद पुनः स्ट्रेटस्फीयर प्रदेश की यात्रा करने के विचार को तिलाञ्जलि दे चुके थे, अब ५७ वर्ष की आयु में पुनः ऊपरी वायुमण्डल की चढ़ाई के लिए कटिबद्ध हैं। इधर कई वर्षों से वे अब २० मील ऊपर पहुँचने की तैयारियाँ कर रहे हैं। १६३७ में इसी भावी अभियान की तयारी के सिलसिले में, जबकि वह अपने नये गुब्बारे की जाँच-परताल कर रहे थे, उनका एक नवीन बहुत बड़ा गुब्बारा जलकर नष्ट हो गया था। परन्तु वह इस दुर्घटना से भी निराश नहीं हुए हैं और बराबर प्रयत्नशील हैं। परन्तु बीस मील तक ऊँचे जाना कोई आसान बात नहीं है। १२-१४ मील की ऊँचाई तक पहुँचने में ही लोहे के चने चबाने पड़ते हैं, असाधारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। २० मील तक ऊँचे उठने के लिए तो इन कठिनाइयों का रूप और भी अधिक उग्र हो जाता है। वहाँ पहुँचना, पहुँचकर जीवित रहना और जीवित ही पृथ्वीतल को सकुशल लौट आना, ये सब बड़ी विकट समस्याएँ हैं। पिकार्ड अब जिस ऊर्ध्व प्रदेश के अभियान की तैयारी कर रहे हैं वह सर्वथा अज्ञात और

रहस्यमय है। अब तक की समस्त यात्राओं द्वारा उपलब्ध ज्ञान से इस भावी यात्रा की तैयारी में कोई विशेष लाभ नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिए इस यात्रा के लिए सर्वथा नवीन यंत्र और उपकरण तैयार किये जा रहे हैं। प्रो० पिकार्ड इस बात का पूरा-पूरा प्रबन्ध कर लेना चाहते हैं कि वह अपने गण्डोले में उतनी अधिक ऊँचाई पर भी अपनी प्रयोग-शाला की-सी सुविधा से काम कर सकें। उनका उद्देश्य बहुत ऊँचे उड़ने का रेकार्ड स्थापित करना न होकर ऊपरी वायुमण्डल का विधिवत् अध्ययन करना है और इस कार्य के लिए साहसी पिकार्ड अपने प्राणों को भी घोर संकट में डालकर जी-जान से प्रयत्न करने में लगे हुए हैं।

अभियान के गुब्बारे

वैज्ञानिकों ने अपने अभियानों और गवेषणा द्वारा यह मालूम किया है कि गुब्बारे को आकाश में बहुत अधिक ऊँचा उठाने के लिए, उसका हलका होना बहुत ज़रूरी है। हलके होने के साथ-ही-साथ वह बहुत बड़ा भी होना चाहिए। प्रो० पिकार्ड के सर्वप्रथम अभियान के गुब्बारे का व्यास ३० मीटर (लगभग १०० फ़ीट) था। यह गुब्बारा 'एफ० एन० आर० एस०' [F. N. R. S.] के नाम से प्रख्यात है। इसकी सहायता से पिकार्ड १६००० मीटर (लगभग १० मील) की ऊँचाई तक पहुँचने में सफल हुए थे। अमेरिका की नेशनल-जागराफ़िकल सोसाइटी के गुब्बारे का व्यास ५८½ मीटर था। इसकी सहायता से कैप्टन ओलिवर एण्डर्सन और अलबर्ट स्टीवेंस १४ मील की ऊँचाई तक पहुँच सके थे। पिकार्ड अपने भावी अभियान के लिए ६० मीटर (लगभग २०० फ़ीट) व्यास का एक गुब्बारा बनाना चाहते हैं। उन्हें आशा है कि इसकी मदद से वे ३०,००० मीटर की ऊँचाई तक पहुँच सकेंगे। इस गुब्बारे और उससे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त यंत्रों की योजना कई वर्षों से तैयार है, परंतु अर्थाभाव के कारण वह अभी तक कार्य रूप में परिणत नहीं हो सकी है। इन भारी-भरकम भीमकाय गुब्बारों के निर्माण में नाना प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयों को हल करने के लिए बरसों पहले से उनका विधिवत् अध्ययन किया जाता है। गुब्बारा तैयार हो जाने के बाद उसे आकाश में बहुत ऊँचा उड़ाना भी एक कठिन समस्या सिद्ध होती है। परन्तु स्वयं पिकार्ड के शब्दों में, गुब्बारे को ऊर्ध्वाकाश में ले जाने की अपेक्षा उसे अत्यधिक ऊँचाई से नीचे लाना और भी अधिक कठिन होता है। पिकार्ड अब जितनी ऊँचाई पर जाने का विचार कर रहे हैं, वहाँ हवा बहुत ज़्यादा पतली है। ३०,००० मीटर की ऊँचाई पर वायु का दबाव समुद्री धरातल की हवा की तुलना में केवल एक दशांश रह जाता है। इतने कम दबाव (Pressure) की हवा में गुब्बारे को सुरक्षित रखना और सुरक्षित दशा ही में उसे धीरे-धीरे पृथ्वी तक उतारना एक विकट समस्या है। प्रो० पिकार्ड इस बार ऊर्ध्वाकाश-अभियान करने के पूर्व इसी समस्या को सुलझाने में लगे हुए हैं।

प्रो० जीन पिकार्ड के प्रयत्न

प्रो० ऑगस्ट पिकार्ड के दूसरे जुड़वाँ भाई प्रो० जीन पिकार्ड भी ऊर्ध्वाकाश-अभियान में बड़ी दिलचस्पी लेते हैं। उन्होंने भी ऊर्ध्वाकाश-अभियान के लिए काम में लाये जानेवाले ग़ुब्बारे के बारे में अमेरिका में काफ़ी छान-बीन की है। वह अपने अनुसन्धान के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि एक बहुत-ही बड़े गुब्बारे की सहायता से ऊर्ध्वाकाश में पहुँचने की अपेक्षा बहुत-से छोटे-छोटे गुब्बारों के समूह की मदद से ऊपर पहुँचना और फिर नीचे वापस आना अधिक सुरक्षित और सुगम है। ये गुब्बारे रबड़ के बनेंगे और इनमें हाइड्रोजन भरी जायगी। ७०-८० गुब्बारों का एक समूह एक भारी-भरकम गंडोले को ऊपर उठा ले जाने में समर्थ होगा। ऊर्ध्वाकाश का निरीक्षण करनेवाला वैज्ञानिक इसी गंडोले के भीतर अपने यंत्रों और उपकरणों सहित बन्द रहेगा। अपने इस नवीन यान को प्रो० जीन पिकार्ड ने 'प्लीएड' का नाम दिया है। प्लीएड द्वारा ऊर्ध्वाकाश-अभियान करने में अकेले गुब्बारे की अपेक्षा कुछ अधिक सुभीते मालूम हुए हैं। और अब पिकार्ड-बन्धु अपने भावी अभियानों के लिए 'प्लीएड' ही को व्यवहार में लाने का विचार कर रहे हैं।

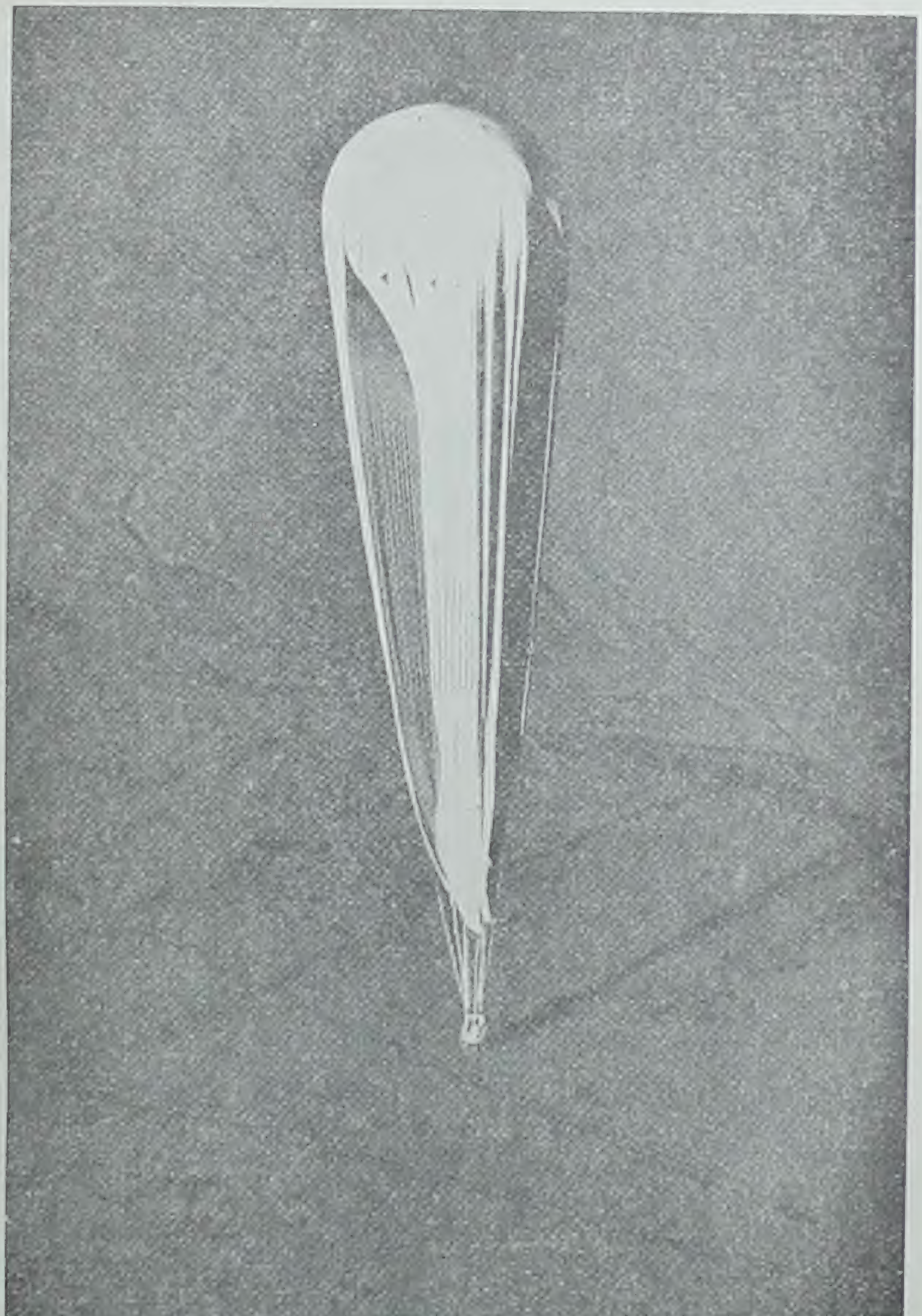
नवीन समस्याएँ

प्रो० पिकार्ड के प्रथम पथप्रदर्शक अभियान के पूर्व वैज्ञानिकों की धारणा थी कि ६-७ मील की ऊँचाई के बाद आकाश सर्वत्र शून्य है और वहाँ पहुँचने पर मनुष्य का अन्त अवश्यम्भावी है। पिकार्ड के अभियान के बाद इन धारणाओं में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुए और दूसरे वैज्ञानिक भी स्वयं वहाँ पहुँचकर अनुसन्धान करने के किए कटिबद्ध हुए। उन्हें आशा थी कि १०-१२ मील ऊँचा उठने ही से ऊर्ध्वाकाश का अच्छा ज्ञान प्राप्त हो जायगा। परन्तु यह आशा सफलीभूत नहीं हुई। वैज्ञानिक लोग ऊर्ध्वाकाश में

जितने ऊँचे उठते गये उतनी ही नवीन और विभिन्न समस्याएँ उत्पन्न होती गई। कुछ वैज्ञानिकों की धारणा थी कि ऊर्ध्वाकाश-अभियान से अत्यन्त रहस्यमय और शक्तिशाली विश्वब्रह्माण्ड रश्मियों (Cosmic Rays) के बारे में, विशेषतः उनके उद्गम-स्थल के विषय में, कुछ ज्ञातव्य तथ्यों का पता चलेगा। परंतु महत्त्वपूर्ण अभियान हो चुकने के बाद भी यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना हुआ है।

ऊर्ध्वाकाश की वायु

ऊर्ध्वाकाश-अभियान करने-वाले वैज्ञानिकों ने वहाँ के वायु-मण्डल का समुचित अध्ययन किया है। रूस के वीर उड़ाके ऊर्ध्वाकाश से १२ मील की ऊँचाई की हवा के नमूने भी लाने में सफल हुए हैं। इन नमूनों से पता चला है कि बारह मील ऊपर की हवा में और पृथ्वीतल पर समुद्र-तट की हवा की रचना में कोई विशेष अन्तर नहीं है। पृथ्वीतल की वायु के समान ऊर्ध्वाकाश की वायु में भी ऑक्सीजन (ओषजन) का पाँचवाँ भाग पाया जाता है। विशेषज्ञों का विश्वास है कि १२ मील से ८ मील और ऊँचे उठने पर जो वायु मिलेगी, उसमें भी कोई विशेष अन्तर न होगा। प्रो० पिकार्ड स्वयं उतनी ऊँचाई पर पहुँचकर इस बात का निर्णय करना चाहते हैं।



कैप्टन स्टीवेन्स और कैप्टन एण्डरसन का गुब्बारा "एक्स्प्लोरर सेकंड" इसमें बैठकर ये दोनों वीर उड़ाके १४ मील ऊपर जा पहुँचे थे। गुब्बारा वापस लौटते वक़्त ज़मीन से लग रहा है।

आकाश के रंग

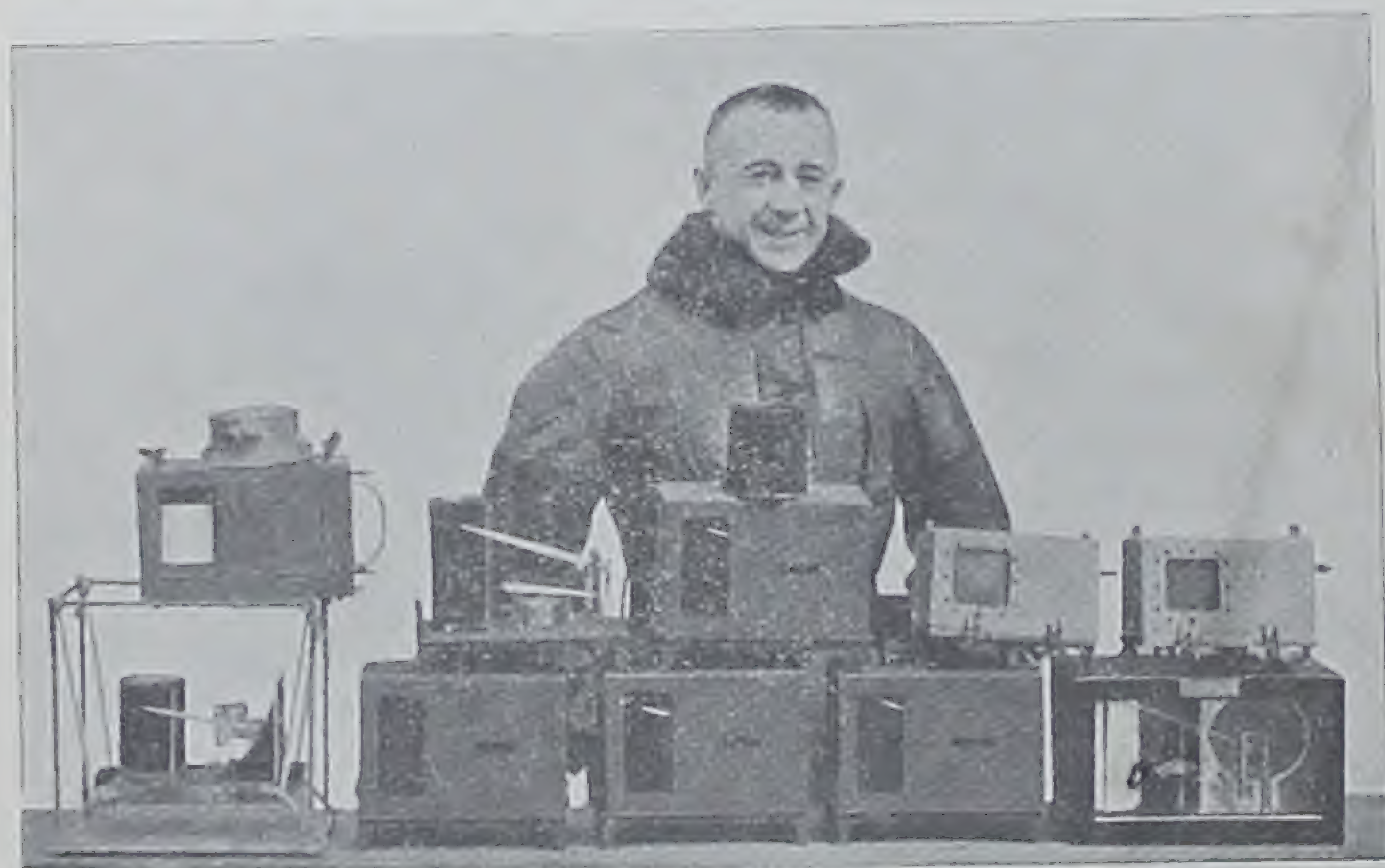
अब तक ऊर्ध्वाकाश के जो अभियान हुए हैं, उनके आधार पर कहा जाता है कि ऊर्ध्वाकाश का वायुस्तर नीरव और निश्चल है। वहाँ सर्वत्र गम्भीर शान्ति है और शब्द का नाम भी नहीं है। प्रकाश और आकाश के रंग के बारे में भी बहुत-सी नवीन बातें मालूम की गई हैं। अब तक जितनी यात्रायें हुई हैं, उन सबके यात्रियों ने विभिन्न ऊँचाइयों पर आकाश के विभिन्न रंग बतलाये हैं। इनके कथन के आधार पर अधिक-अधिक ऊपर उठने पर ऊर्ध्वाकाश निम्न रंगों का मालूम होता है:—

(क)—पाण्डुतायुक्त धूसर वर्ण (Pallid grey), (ख)—गहरा नीला, (ग)—नीललोहित, (घ)—श्याम नीललोहित पांशुवर्ण, (ङ)—धूम्रवर्ण एवं श्यामतायुक्त पांशुवर्ण।

ब्रह्माण्ड-रश्मियाँ

सोवियट रूस के १९३३ के अभियान से १३ मील की ऊँचाई पर अन्तिम रंग होने के प्रमाण मिले थे। इससे भी अधिक ऊँचे उठने पर क्या मिलेगा और कौन-सी नवीन बातें मालूम होंगी, यही सब जानने के लिए साहसी पिकार्ड बहुत उत्सुक हैं। परंतु इन सबसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात, जिसके लिए पिकार्ड तथा दूसरे वैज्ञानिक बहुत उत्सुक हैं, वह है ब्रह्माण्ड रश्मियों के बारे में समुचित ज्ञान प्राप्त करना। इन रश्मियों की तीक्ष्णता ऊँचाई के साथ-साथ बराबर बढ़ती जाती है और उनकी नाप-जोख करना और विधिवत् अध्ययन करना सरल हो जाता है।

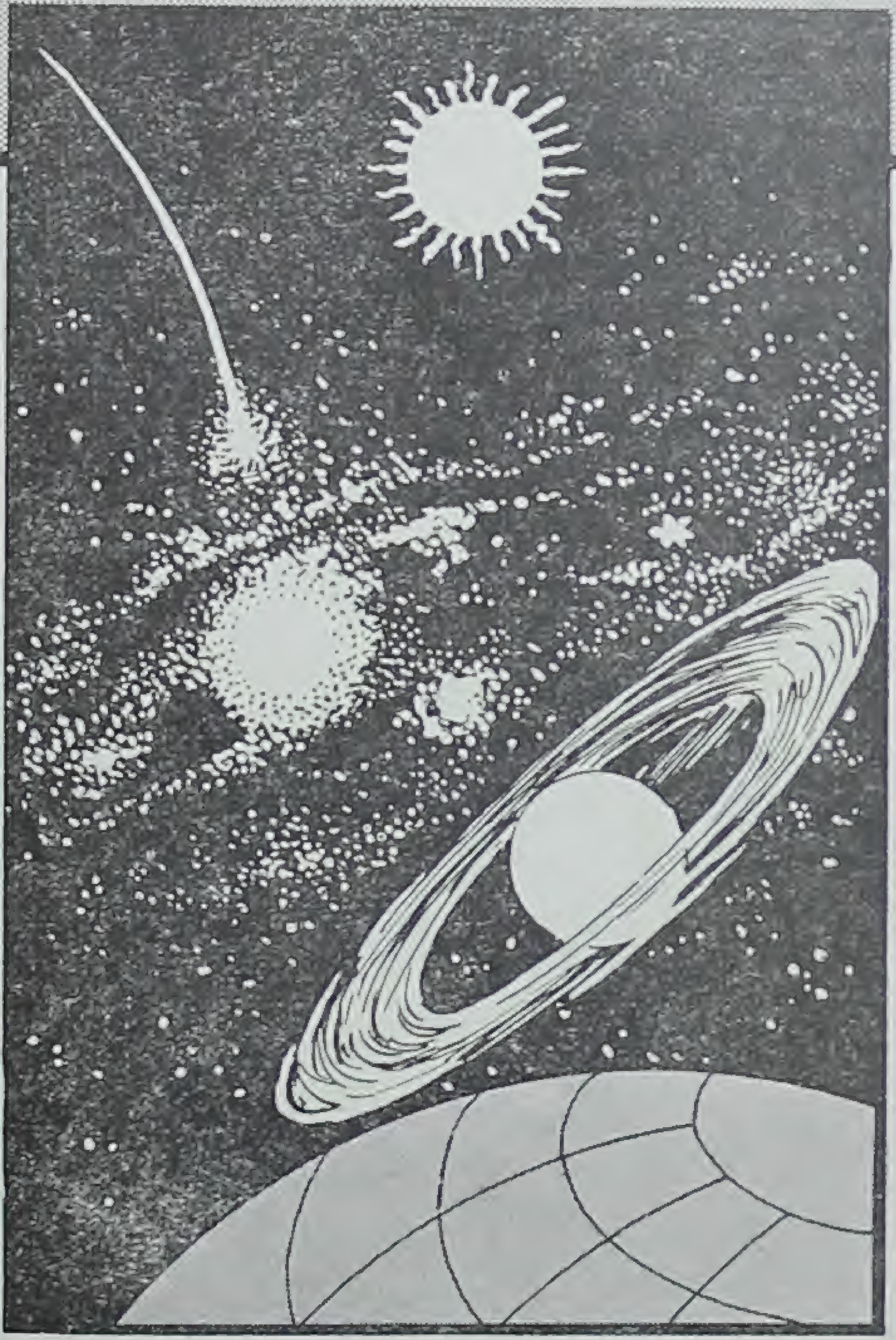
१९३५ का अमेरिकन अभियानकारी दल इन रहस्यमय रश्मियों के बारे में बहुत-सी रहस्यमय बातें मालूम करने में सफल हुआ। इस दल ने १४ मील की ऊँचाई पर स्थित वायुस्तर की रचना, तापक्रम और दबाव आदि तथा वहाँ के प्रकाश के बारे में भी बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें मालूम की थीं।



ऊर्ध्वाकाश-अभियान के लिए काम में लाये जानेवाले कुछ यंत्र

२० मील से भी ऊपर

भावी अभियान में प्रो० पिकार्ड इन ब्रह्माण्ड रश्मियों की रचना और आचरण आदि से सम्बन्ध रखनेवाले नाना प्रकार के प्रश्नों के उत्तर मालूम करने के प्रयत्न करेंगे। इन उत्तरों से अनेकों प्रचलित सिद्धान्तों के खण्डित होने तथा बहुत-से नवीन सिद्धान्तों के जन्म होने की पूरी सम्भावना है। वैज्ञानिकों ने उर्ध्वाकाश के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पनाएँ कर ली हैं। उनका कहना है कि ऊर्ध्वाकाश में वैसे तो पृथ्वीतल-सरीखा ही सूर्य का आलोक व्याप्त है, परन्तु उसका क्या रूप है, वह कितना तीव्र है, यह सर्वथा अज्ञेय है। वहाँ साधारण सूर्य-रश्मियों के अतिरिक्त परालाल (Infra-Red) तथा पराकासनी (Ultra-Violet) किरणों, विश्वब्रह्माण्ड-रश्मियों, सूर्य से आनेवाले अनन्त ऋणाणु तरंगों (Stream of Electrons) और बहुत से ऐसे परमाणुओं एवं वैद्युतिक कणों (Electric Particles) का बाहुल्य हो सकता है जिनके बारे में हम अब भी कुछ नहीं जानते। अनुसन्धान करने पर वैज्ञानिकों को मालूम हुआ है कि ३५ मील की ऊँचाई पर ओज़ोन नामक गैस का एक स्तर है। वहाँ की वायु पृथ्वी के वायुमण्डल ही के समान गरम है। ओज़ोन के इस स्तर में होकर आने ही के कारण सूर्य की किरणों की तीक्ष्णता दूर हो जाती है और वे हमारे लिए सह्य हो जाती हैं। इससे भी ऊँचा उठने पर ६५ मील की दूरी पर ऋणाणुओं (Electrons) का एक अदृश्य दर्पण है। इसी दर्पण से बेतार की तरंगें पृथ्वी के चारों ओर परावर्तित होती हैं। और अधिक ऊँचे पहुँचने पर ऐसे ही और कई स्तर मिलते हैं। कितनी ऊँचाई तक यह क्रम चला गया है, इसका अभी तक निर्णय नहीं हो सकता है। वास्तव में जैसे-जैसे मनुष्य की ज्ञान-परिधि का विस्तार होता जाता है, वह अपने ज्ञान के अधिक विस्तार के लिए उतने ही अधिक प्रयत्न करता है पर समुचित ज्ञान-प्रसार हो जाने पर भी इस अनन्त ब्रह्माण्ड के अनेक रहस्य उसके लिए सर्वथा अज्ञेय ही रहेंगे।



विश्व की कहानी



यदि हम बुध पर पहुँच पाते तो हमें क्या दिखाई देता ?

सूर्य से अति निकट होने के कारण बुध पर भीषण तापक्रम रहता होगा, साथ ही, वहाँ वायुमण्डल का सर्वथा अभाव होगा। वहाँ हमें दिखाई देंगे करकराती धारवाले ऊँचे पहाड़ और दरारें तथा निरभ्र नीलाकाश में प्रखर रूप से तपता हुआ विशाल आग के गोले जैसा सूर्य, जिसका कॉरोना भी स्पष्ट दिखाई पड़ता होगा। इस चित्र में, यही कल्पना की गई है।

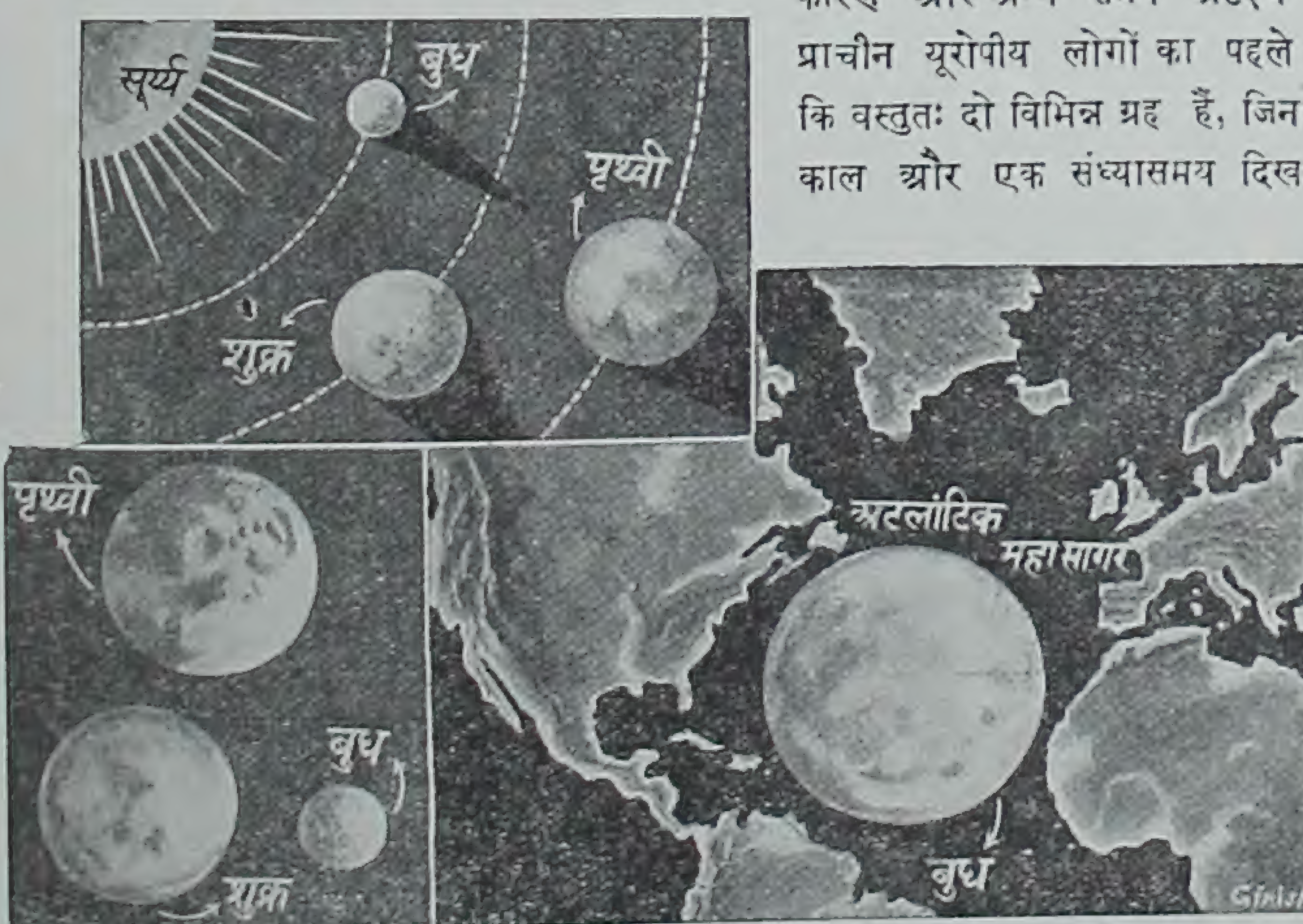


बुध और शुक्र

सौर परिवार के दो लघु सदस्य, जो सूर्य से सबसे कम दूरी पर हैं।

बुध और शुक्र ये दोनों ग्रह केवल संध्यासमय या प्रातःकाल दिखलाई पड़ते हैं। बात यह है कि पृथ्वी इन ग्रहों की कक्षाओं के बाहर है। इसलिए न तो बुध और न शुक्र उस दिशा में जा सकता है जो सूर्य से उल्टी ओर पड़ती है। बुध तो विशेष रूप से सूर्य के पास ही रहता है, क्योंकि इसकी कक्षा छोटी है। इसका परिणाम यह होता है कि बुध या तो पश्चिम की दिशा में सूर्यास्त के दो घंटे बाद तक या पूर्व दिशा में सूर्योदय के इतने ही समय पहले तक देखा जा सकता है; और इतना समय भी तब मिलता है जब बुध सूर्य से एक ओर या दूसरी ओर महत्तम कोणीय दूरी पर पहुँचता है। साधारणतः सूर्यास्त के बाद बुध शीघ्र ही डूब जाता है, या सूर्योदय के थोड़े ही समय पहले उदय होता है। फिर, सूर्यास्त के कुछ समय बाद तक पश्चिमीय आकाश और सूर्योदय के कुछ समय पहले तक पूर्वीय आकाश लाल रहता है। इन्हीं कारणों से बुध को बहुत कम लोग देख पाते हैं। शहरों के रहनेवालों में से तो इसे इने-गिने लोगों ने ही देखा होगा, क्योंकि शहर की हवा साफ़ नहीं रहती।

कभी प्रातःकाल, कभी संध्यासमय, दिखलाई पड़ने के कारण और अन्य समय अदृश्य रहने के कारण प्राचीन यूरोपीय लोगों का पहले यह विश्वास था कि वस्तुतः दो विभिन्न ग्रह हैं, जिनमें से एक प्रातःकाल और एक संध्यासमय दिखलाई पड़ता है। यहाँ तक कि इनके लिए अलग-अलग नाम भी रख लिये गये थे। प्रातःकाल दिखलाई पड़नेवाले ग्रह का नाम 'अपोलो' और संध्या समय दिखलाई पड़नेवाले ग्रह का नाम 'मरक्युरी' रक्खा गया था। परन्तु पीछे, जब ज्योतिष

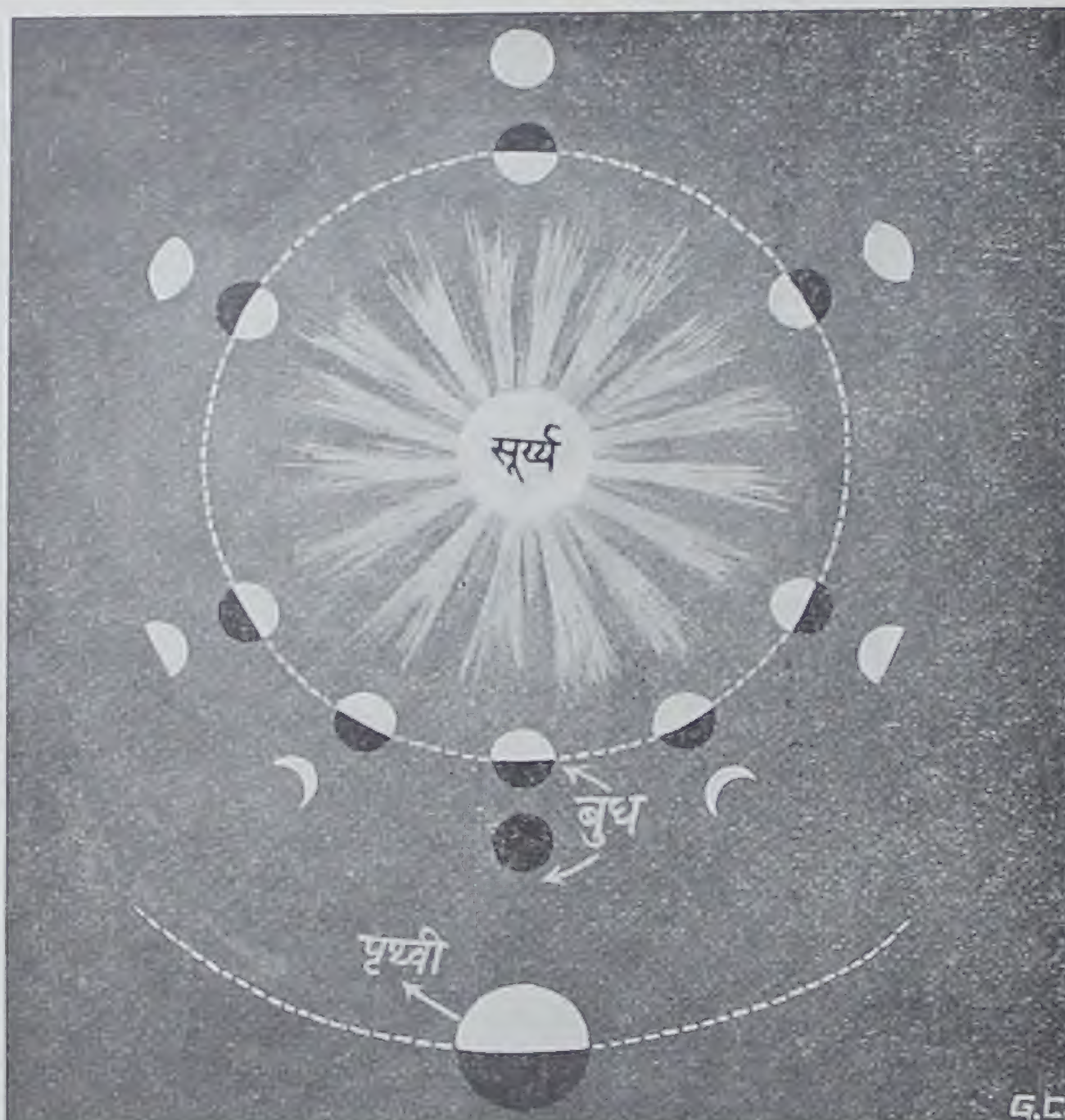


(ऊपर) बुध, शुक्र और पृथ्वी की कक्षाएँ। बुध और शुक्र की कक्षाएँ पृथ्वी की कक्षा के भीतर हैं, इसीलिए ये दोनों ग्रह सूर्योदय या सूर्यास्त के कुछ घंटे पूर्व या बाद ही दिखलाई पड़ते हैं। इसी कारण इनमें कलाएँ भी दिखाई देती हैं। (नीचे बाईं ओर) बुध, शुक्र और पृथ्वी के आकारों की तुलना। (नीचे दाहिनी ओर) बुध इतना छोटा है कि वह अटलांटिक महासागर के उत्तरी भाग में बिना स्थल-भाग को छुए गेंद की तरह समा सकता है।

का ज्ञान बढ़ा तब पता चल गया कि ये वस्तुतः दो ग्रह नहीं हैं, केवल एक ही ग्रह कभी प्रातःकाल, कभी संध्या के समय दिखलाई पड़ता है। अब बुध को बराबर 'मरक्युरी' नाम से ही सूचित किया जाता है।

आकृति

प्रात : काल और संध्या के समय क्षितिज के पास दिखलाई पड़ने के कारण बुध की सतह की अच्छी जाँच नहीं हो पाती । परंतु बुध काफ़ी चमकीला है, इसलिए दूरदर्शक से यह दिन में भी अच्छी तरह देखा जा सकता है। इस प्रकार बुध पर कुछ बहुत हल्की अतीक्ष्ण रेखाएँ और धब्बे देखे गये हैं। ये बड़ी मुश्किल से दिखलाई पड़ते हैं और सो भी तभी जब हमारा वायुमंडल विशेष रूप से स्वच्छ रहता है। इटली के प्रसिद्ध ज्योतिषी शायापरेली ने आज से लगभग पचास वर्ष पहले बुध का एक नक़शा भी तैयार किया था, जिसमें छः-सात रेखाओं की स्थितियाँ प्रदर्शित की गई थीं। परन्तु यह नक़शा सर्वमान्य नहीं हो सका। खेद की बात है कि संसार में बड़े दूरदर्शक काफ़ी संख्या में नहीं हैं, अन्यथा एक-दो दूरदर्शक से बुध आदि ग्रहों की जाँच बराबर रखी जा सकती और उनकी आकृतियों का अधिक सच्चा ज्ञान हमें प्राप्त हो सकता। परन्तु इन दिनों सभी बड़े-बड़े दूरदर्शक 'नवीन ज्योतिष' संबंधी अनुसंधानों में लगे हैं। उनसे नक्षत्रों की रासायनिक तथा भौतिक बनावट आदि जानने की चेष्टा की जा रही है। इसीलिए हमें इन ग्रहों के संबंध में अभी पचास वर्ष पुरानी खोजों से ही संतोष करना पड़ता है।

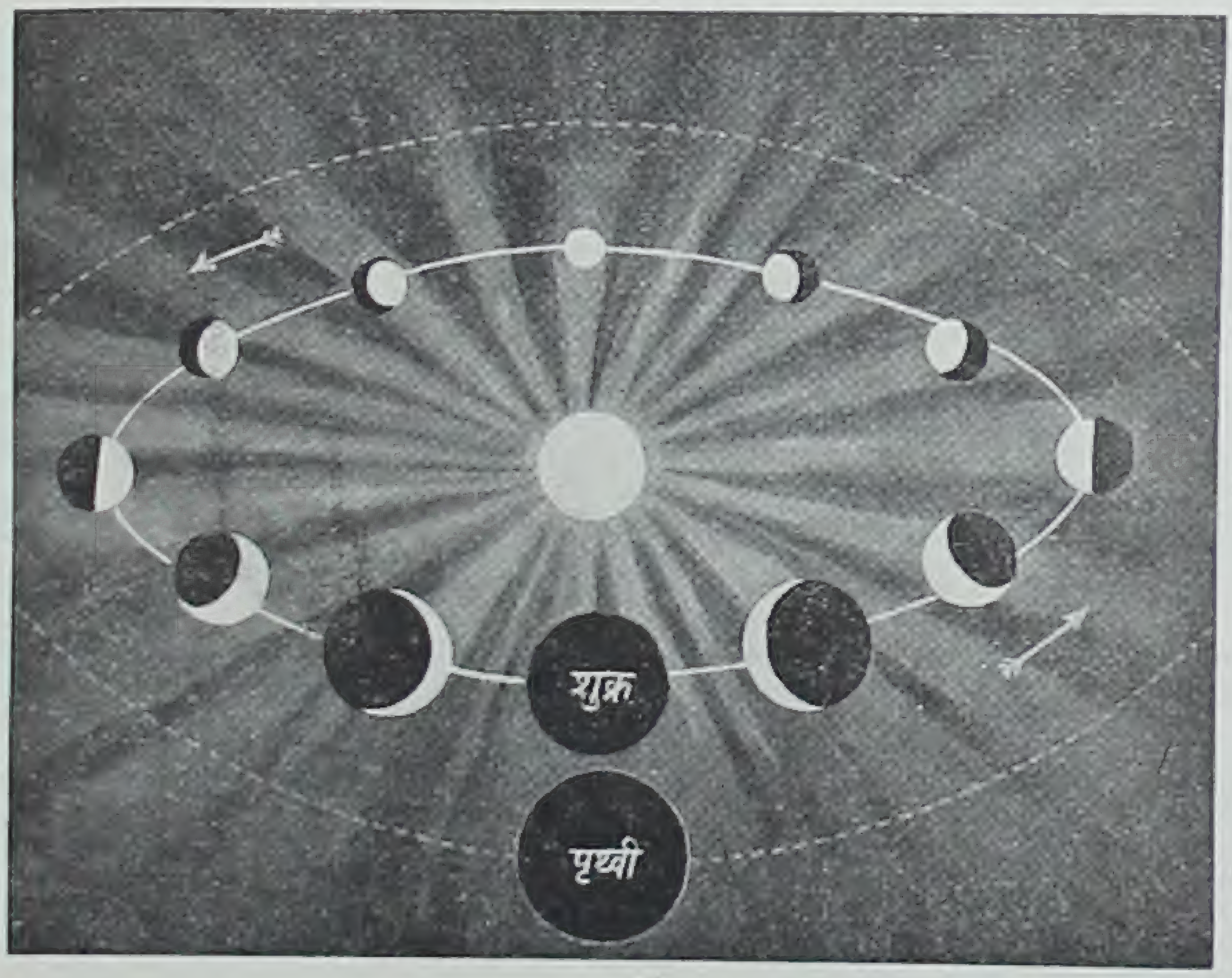




बुध में भी चंद्रमा की तरह कलाएँ दिखलाई पड़ती हैं

कारण स्पष्ट है। पृथ्वी की कक्षा बुध की कक्षा से बाहर है, अतएव परिभ्रमण के समय विभिन्न स्थितियों में हमें बुध के अर्द्ध-प्रकाशित भाग का एक विशेष कोण ही दिखलाई पड़ता है, जो घटता-बढ़ता रहता है। ऊपर के चित्र में विभिन्न स्थितियों में बुध के वास्तविक प्रकाशित भाग के साथ-साथ उसी का पृथ्वी से दिखाई देनेवाला कला-रूप दिया गया है। (नीचे) ज्योतिषी श्रेटर के अनुसार बुध के कुछ चित्र। इनमें कलाएँ स्पष्ट हैं।

ऊपर उल्लिखित रेखाओं और धब्बों को कुछ समय तक देखते रहने से पता चला कि सूर्य की परिक्रमा बुध इस प्रकार करता है कि सदा उसका एक ही भाग सूर्य की ओर रहता है, इसलिए बुध सूर्य के चारों ओर ठीक उसी प्रकार घूम रहा है जिस प्रकार चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। गति-सिद्धान्त से पता चलता है कि जब कोई तरल या अर्ध-तरल आकाशीय पिंड किसी दूसरे भारी पिंड की परिक्रमा करता है तो ऐसा ज्वार-भाटा और ऐसी शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं कि परिक्रमा करनेवाले पिंड का अक्षभ्रमण मंद पड़ता चला जाता है और अन्तिम अवस्था यही होती है कि सदा उसका एक ही मुख केन्द्रीय पिंड की ओर रहता है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि बुध का एक ही आधा भाग सदा सूर्य की ओर रहता हो और दूसरे आधे को कभी भी सूर्य का दर्शन न होता हो।



शुक्र की कलाएँ

बुध की तरह शुक्र में भी हमें कलाएँ दिखलाई पड़ती हैं। अपनी कक्षा में विभिन्न स्थितियों से शुक्र पृथ्वी से कैसा दिखाई देता है, यह ऊपर के चित्र में दिखाया गया है। यह ध्यान देने योग्य है कि जब शुक्र पृथ्वी से दूरतम स्थिति पर होता है, तभी वह पूर्ण दिखाई देता है। पर उस समय वह बहुत छोटा दिखाई देता है। सबसे निकट आने पर सूर्य की आड़ में आ जाने के कारण शुक्र अमावस्या के चाँद की तरह हमारी दृष्टि से लुप्त हो जाता है।

तापक्रम

यदि ऊपर की बात ठीक हुई — और संभावना यही है कि शायापरेली की बतलाई बातें ठीक हैं— तो बुध के उस आधे भाग में, जो सदा सूर्य की ओर रहता है, भयानक गरमी पड़ती होगी। एक तो बुध सूर्य के बहुत समीप है, दूसरे वहाँ वायुमंडल या बादल नहीं हैं, जिससे धूप से कोई रक्षा हो, और फिर एक आधे पर धूप बराबर पड़ा करती है, रात होती ही नहीं; इसलिए इस आधे भाग का तापक्रम इतना अधिक होगा कि वहाँ सीसा धातु भी पिघल जायगी !

बुध पर पहाड़, पहाड़ियाँ, दरार और गड्ढे अवश्य होंगे, क्योंकि आरंभ में यह ग्रह इतना गरम रहा होगा कि वह अर्धतरल-सा रहा होगा। ठंढा होने पर इसकी सतह ऊबड़-खाबड़ हो गई होगी, कई जगहों में यह फट भी गई होगी। परंतु वायुमंडल और वर्षा के अभाव में ये पहाड़, टीले और दरारें आज भी वैसी ही करकराती धार के होंगे जैसे वे पहले रहे होंगे। इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि यदि हम बुध पर पहुँचे तो क्या देखेंगे। ऊँचे-ऊँचे भयानक पहाड़, गहरी दरारें और पथरीले मैदान; ऐसा भयानक तापक्रम कि छूते ही हमारे हाथ-पैर जल जायँ; ऐसी तेज़ धूप जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते; साथ ही स्याही ऐसी काली परछाइयाँ; इतना स्वच्छ नीला आकाश कि सब तारे बराबर दिखलाई पड़ते होंगे; इतना ही नहीं, आकाश इतना निर्मल होगा कि सूर्य का कॉरोना भी बराबर दिखाई पड़ता होगा ! चंद्रमा के समान यहाँ भी जीव-रहित, शब्द-रहित सूना संसार होगा। दूसरे आधे में भी दृश्य ऐसा ही होगा, परन्तु वहाँ प्रकाश केवल तारों से ही मिलता होगा और सरदी भी बेहद पड़ती होगी।

उस आधे भाग में, जिधर बराबर धूप रहती है, सदा समान गरमी न पड़ती होगी। बुध की कक्षा गोल नहीं वरन् दीर्घवृत्ताकार है; और सूर्य केंद्र पर नहीं वरन् एक ओर है। इसलिए बुध कभी सूर्य के समीप, कभी इससे दूर हो जाता है। अन्तर बहुत तो नहीं है; तो भी महत्तम गरमी लघुतम की दुगुनी होती होगी।

वायुमंडल तथा अन्य विषय

बुध पर वायुमंडल नहीं है, इसे हम निश्चय रूप से जानते हैं। यदि इस पर वायुमंडल होता तो उस समय जब बुध सूर्य के सामने पड़ जाता है यह हमको दिखलाई पड़ता, ठीक उसी प्रकार जैसे शुक्र का वायुमंडल हमको दिखलाई पड़ता है। परन्तु यदि वायुमंडल इतना गहरा न होता कि वह हमको इस प्रकार दिखलाई पड़े, तो भी हमको इसका पता चल जाता, क्योंकि कला के रूप में बुध के दिखलाई पड़ने पर शृंग (नोक) वायुमंडल के कारण कुछ अधिक लंबे दिखलाई पड़ते। इससे स्पष्ट है कि बुध वायुमंडलरहित है। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं। चंद्रमा पर वायुमंडल नहीं है। इसी प्रकार बुध पर भी वायुमंडल नहीं होगा। बुध छोटा और हलका है—वह शनि और बृहस्पति के बड़े उपग्रहों से भी छोटा है। इसलिए उसकी आकर्षण-शक्ति कम है। वायु और सभी गैसों में प्रसरण का गुण होता है। गैसों के अणु एक दूसरे से टकराया करते हैं। इसलिए वायुमंडल की ऊपरी सतह में स्थित अणुओं में यही प्रगति होती है कि वे अंतरिक्ष में निकल जायँ। केवल ग्रह के आकर्षण के कारण वे ऐसा नहीं कर सकते। परन्तु यदि ग्रह का आकर्षण कम हो तो वे अंतरिक्ष में चले ही जायँगे। इसलिए यदि बुध पर आरंभ में वायुमंडल रहा भी होगा तो वह बहुत समय तक न टिक सका होगा।

हम बुध की सतह को अच्छी तरह देख नहीं पाये हैं, परन्तु हम इसकी गणना आसानी से कर सकते हैं कि सूर्य से उस पर कितना प्रकाश पड़ता है। फिर हम यह भी जानते हैं कि बुध हमको कितना चमकीला जान पड़ता है। इन दोनों प्रकाशों की तुलना से पता चलता है कि बुध का धरातल बहुत चमकीला नहीं है। इस पर पड़नेवाले प्रकाश का केवल ७ प्रतिशत भाग ही लौटता है। इसलिए वहाँ के पत्थर चंद्रमा के पत्थरों से भी गाढ़े रंग के—प्रायः काले—होंगे।

बुध सूर्य के चारों ओर घूमता है और हम प्रायः बुध-कक्षा में ही रहकर इस दृश्य को दूर से देख रहे हैं। इसलिए बुध स्वभावतः कभी-कभी सूर्य के सामने पड़ जाता है और तब यह हमें सूर्य-बिंब पर नन्हें-से कलंक के समान दिखलाई पड़ता है। पूर्णतया गोल और शीघ्रगामी होने के कारण इसमें और असली सूर्य-कलंक में भ्रम नहीं हो सकता। ये रवि-बुध-गमन के अवसर ज्योतिषियों के लिए विशेष महत्व के तो नहीं हैं, परन्तु साधारण व्यक्तियों को इन्हें देखने की इच्छा हो सकती है। इसलिए भविष्य में होनेवाले रवि-बुध-गमनों की तिथियाँ नीचे दी जाती हैं:—

१९४० नवंबर १२	१९७० मई ९
१९५३ नवंबर १३	१९७३ नवंबर ९
१९६० नवंबर ६	१९८६ नवंबर १२

गमन का ठीक समय जानने के लिए पंचांग देखना चाहिए। मार्के की बात यह है कि आगामी रवि-शुक्र-गमन सन् २००४ ई० में ८ जून को लगेगा और पिछला सन् १८८२ में लगा था।

शुक्र

बुध की तरह शुक्र भी केवल प्रातःकाल या संध्या-समय दिखलाई पड़ता है, परन्तु शुक्र की कक्षा बुध की कक्षा से बड़ी है। इसलिए सूर्यास्त के चार घंटे बाद तक और सूर्योदय के चार घंटे पहले से शुक्र हमें दिखलाई पड़ सकता है। फिर शुक्र अत्यन्त चमकीला है। वस्तुतः तारे के समान दिखलाई पड़नेवाले आकाशीय पिंडों में से शुक्र ही हमें सबसे अधिक चमकीला दिखाई देता है। यह बड़ा सुन्दर भी जान पड़ता है। इसलिए सभी ने कभी-न-कभी इस पर ध्यान दिया होगा। यह इतना चमकीला है कि अँधेरी रात में इसकी ज्योति के कारण स्पष्ट परछाइयाँ पड़ती हैं।

शुक्र की चमक घटा-बढ़ा करती है। इसके दो कारण हैं। एक तो शुक्र में चंद्रमा की तरह कलाएँ बनती हैं, जिससे दूरदर्शक से देखने पर इसका बिंब हमको कभी पूरा, कभी आधा, कभी क्षीण कला-सा दिखलाई पड़ता है और कभी-कभी यह अदृश्य भी हो जाता है। इसके अतिरिक्त सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने के कारण और पृथ्वी के शुक्र-कक्षा-धरातल में रहने के कारण पृथ्वी से शुक्र की दूरी बहुत घटा-बढ़ा करती है। इससे भी प्रकाश बहुत बढ़ा-घटा करता है। परन्तु बिंब पूरा तब दिखलाई पड़ता है जब शुक्र हमसे महत्तम दूरी पर रहता है; और जब वह हमारे बहुत पास रहता है; तब वह प्रायः अदृश्य रहता है। इस प्रकार प्रकाश के घटने-बढ़ने के उपरोक्त दोनों कारण एक दूसरे को कुछ हद तक काट देते हैं और परिणाम यह होता है कि शुक्र हमको सबसे अधिक चमकीला अदृश्य होने के लगभग ३६ दिन पहले या पीछे जान पड़ता है। उस समय यह पंचमी के चन्द्रमा के आकार का रहता है।

शुक्र प्रायः दिन में ही कोरी आँख से देखा जा सकता है, यह इतना अधिक चमकीला है। यदि इसे दिन में देखने की इच्छा हो तो उस समय चेष्टा करनी चाहिए जब

यह प्रातःकाल दिखलाई पड़ता हो। सूर्य को किसी मकान की ओट में डालकर शुक्र को थोड़े-थोड़े समय पर देखते रहना चाहिए, जिसमें पता रहे कि आकाश के किस भाग में यह है। इससे शुक्र दो-तीन घंटे दिन चढ़ने पर भी देखा जा सकेगा।

बुध की तरह शुक्र के भी दो नाम पड़ गए थे, 'अपोलो' और 'हेसपरस'। अब अंग्रेज़ी में इसे केवल 'वीनस' कहते हैं।

शुक्र की आकृति

शुक्र को दूरदर्शक से देखने पर बड़ी निराशा होती है। चमक के कारण यह सुन्दर अवश्य जान पड़ता है, और यदि कला पतली हुई तो यह और भी सुन्दर जान पड़ता है, परन्तु इसमें कुछ ब्योरा नहीं दिखलाई पड़ता। एक कारण यह भी है कि जब शुक्र हमारे पास आता है उस समय कला बहुत क्षीण होती है और जब बिंब का अधिकांश हमको दिखलाई पड़ता है उस समय शुक्र हमसे बहुत दूर रहता है, जिससे वह बहुत छोटा दिखलाई पड़ता है। परंतु मुख्य कारण यह है कि शुक्र में कोई देखने योग्य विशेष ब्योरा है ही नहीं।

शुक्र की असली सतह सदा बादलों के भीतर छिपी रहती है। हम केवल बादल ही देख पाते हैं। कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है जैसे कुछ धब्बे दिखलाई पड़ रहे हों, परन्तु ये शीघ्र अपना रूप बदलते हैं और मिटते हैं। इसलिए यही परिणाम निकलता है कि ये धब्बे केवल विविध रंग के बादलों के कारण दिखलाई पड़ते होंगे।

शुक्र पर घने वायुमंडल के होने का प्रमाण अन्य बातों से भी मिलता है। जब शुक्र हमें कला के रूप में दिखलाई पड़ता है उस समय इसकी भीतरी रूपरेखा तीक्ष्ण नहीं दिखलाई पड़ती, अर्थात् ऐसा नहीं होता कि धूप से चमकते और साये में पड़े भागों की संधि तीक्ष्ण हो। हमें एक धज्जी स्पष्ट दिखलाई पड़ती है, जिसमें प्रकाश उत्तरोत्तर

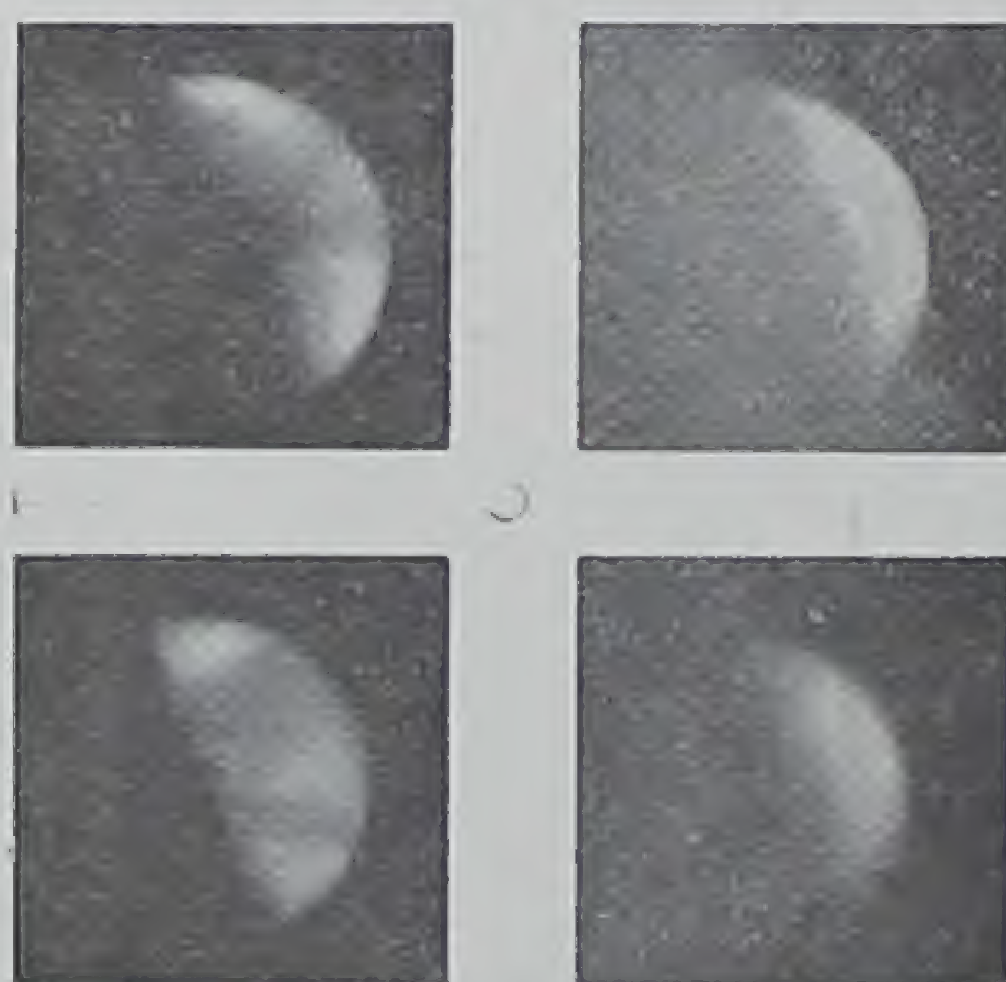


यदि हम शुक्र पर पहुँच सकें तो कैसा दृश्य हमें दिखाई देगा?

शुक्र पर घना वायुमण्डल होने के कारण दूरदर्शक द्वारा हम उसकी सतह नहीं देख पाते। केवल कल्पना के द्वारा हम अनुमान कर सकते हैं कि वहाँ आकाश में घनघोर बादल छाये रहते होंगे, जिनमें से सूर्य कभी-कभी झाँकता रहता होगा। यह भी अनुमान किया जाता है कि शुक्र पर जल होगा और संभवतः वहाँ वनस्पति और प्राणी भी होंगे।

घटता है। यह केवल वायुमंडल के कारण हो सकता है। यदि वहाँ वायुमंडल न होता तो चन्द्रमा पर पड़नेवाली परछाइयों की तरह शुक्र की प्रकाश और परछाईंवाली संधि-रेखा भी हमको अत्यन्त तीक्ष्ण दिखलाई पड़ती।

इसके अतिरिक्त, गणना के अनुसार हमको जितनी लंबी कला दिखलाई पड़नी चाहिए उससे वह कुछ अधिक लंबी दिखलाई पड़ती है। कला की दोनों नोकें कुछ बढ़ जाती हैं। यह तभी हो सकता है जब वायुमंडल के कारण प्रकाश कुछ आगे बढ़ आता हो। फिर, चलते-चलते शुक्र ने एक बार एक तारे को ढक लिया था। उस समय तारे का प्रकाश एकाएक नहीं मिटा था, जैसा चन्द्रमा के ओट में चले जाने पर होता है। तारे का प्रकाश पहले धीरे-धीरे कम हुआ था और तब मिटा था। इससे भी यही परिणाम निकलता है कि शुक्र पर वायुमंडल है।



विभिन्न प्रकाशों द्वारा लिये गये शुक्र के फ़ोटो
दाहिनी ओर के ऊपर-नीचे के दो फ़ोटो परा-लाल प्रकाश से और बाईं ओर के ऊपर-नीचे के दो फ़ोटो परा-कासनी प्रकाश से लिये गये हैं। इनमें अंतर अवश्य है, पर ब्योरा के अभाव में अभी इनसे कोई विशेष बातें ज्ञात नहीं हो पाई हैं [फ़ोटो—'लिक वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।]

एक प्रमाण और है। जब शुक्र कभी सूर्य के सामने आ जाता है तो शुक्र का वायुमंडल प्रकाशित हो उठता है। इसलिए उस समय सूर्यबिंब पर हमें चमकते वायुमंडल से घिरा हुआ काला वृत्त दिखलाई पड़ता है।

अंत में, इसकी गणना करने पर कि शुक्र पर कितना प्रकाश पड़ता है और वह हमको कितना चमकीला जान पड़ता है, पता चलता है कि शुक्र की सतह आये हुए प्रकाश का ७५ प्रतिशत लौटा देती है। इससे स्पष्ट है कि शुक्र श्वेत है या श्वेत बादलों से ढका है। हम देख चुके हैं कि बुध की सतह केवल ७ प्रतिशत प्रकाश लौटाती है।

अक्ष-भ्रमण

शुक्रबिंब पर स्पष्ट चिह्न न दिखलाई पड़ने के कारण ठीक पता नहीं चलता कि शुक्र अपने अक्ष पर एक बार कितने समय में घूम लेता है। जर्मन ज्योतिषी श्रेटर (१७४५-१८१६) का विश्वास था कि शुक्र अपनी धुरी पर २३ घंटे २१ मिनट में एक बार घूमता है। १८६० में इटैलियन ज्योतिषी शायापरेली अपने वेधों के अनुसार इस निश्चय पर पहुँचा कि बहुत संभव है कि शुक्र भी बुध की तरह इस प्रकार घूमता है, जिससे इसका एक आधा बराबर सूर्य की ओर रहता है और दूसरा आधा बराबर सूर्य से विमुख रहता है। रश्मि-विश्लेषक यंत्र से केवल इतना ही पता चल सका है कि शुक्र अवश्य २३ घंटे से कहीं अधिक समय में अपनी धुरी पर एक बार घूमता होगा। तापक्रम नापने से पता चला है कि शुक्र का अप्रकाशित भाग इतना ठंढा नहीं है, जिससे समझा जाय कि वह सदा सूर्य से विमुख रहता है। इस प्रकार न तो श्रेटर का समर्थन हुआ है और न शायापरेली का। सदा एक ही अर्द्धभाग के सूर्य की ओर रहने का अर्थ तो यह होता है कि शुक्र के अपने अक्ष पर घूमने में सवा सात महीने लगते होंगे। इसलिए अभी हम केवल इतना ही जानते हैं कि शुक्र के एक अक्ष-भ्रमण में साढ़े तेईस घंटे से अधिक और सवा सात महीने से कम समय लगता है।

क्या शुक्र पर प्राणी हैं?

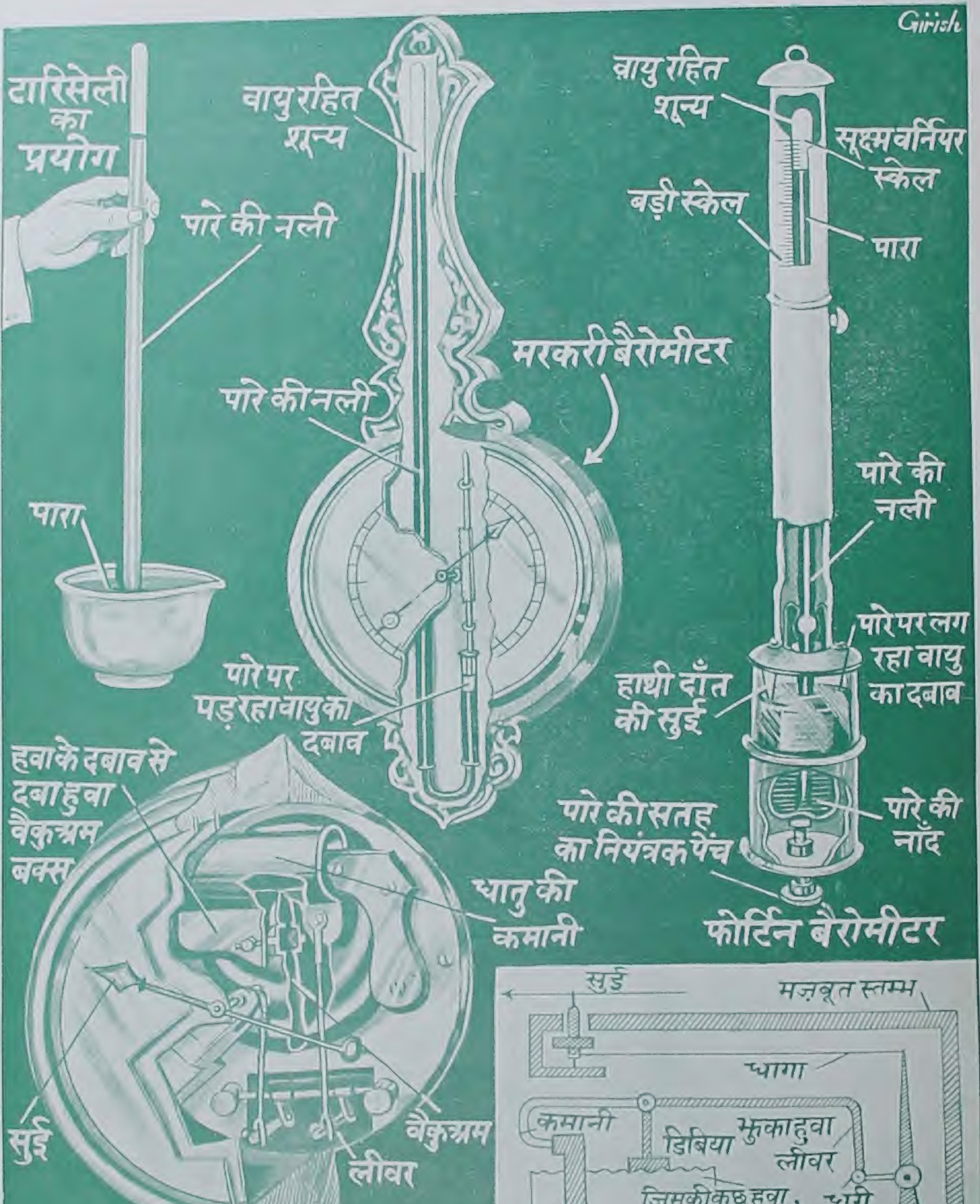
सूर्य के समीप होने के कारण शुक्र पर बड़ी गरमी पड़ती होगी, परंतु सदा बादलों से ढके रहने के कारण संभव है कि सतह इतनी गरम न हो कि वहाँ प्राणी न रह सकें। परंतु अभी अंदाज़ लगाने के सिवा और कुछ नहीं किया जा सकता। यदि कभी-कभी बादल हट जाया करते और हमें असली सतह की झलक मिल जाया करती तो संभवतः अब तक कुछ ऐसे चिन्ह हमें दिखलाई पड़ गये होते जिनसे कुछ निश्चित हो जाता। यद्यपि मंगल में प्राणी रहने और न रहने के बारे में अक्सर बहस होती है तो भी इसमें संदेह नहीं कि शुक्र पर प्राणियों के होने की संभावना अधिक है। हमारा ध्यान मंगल की ओर केवल इसीलिए अधिक जाता है कि मंगल पर बादल नहीं हैं और हम उसकी सतह पर कुछ ऐसे चिह्न देखते हैं, जिनसे वहाँ के निवासियों का शिल्प दिखलाई पड़ने का हमें संदेह होता है।

बुध और शुक्र के बाद जो ग्रह सूर्य के सबसे नज़दीक पड़ता है, वह स्वयं हमारी यह पृथ्वी है। पृथ्वी का सौर परिवार में क्या स्थान है, इस पर हम आगे के लेख में विचार करेंगे।

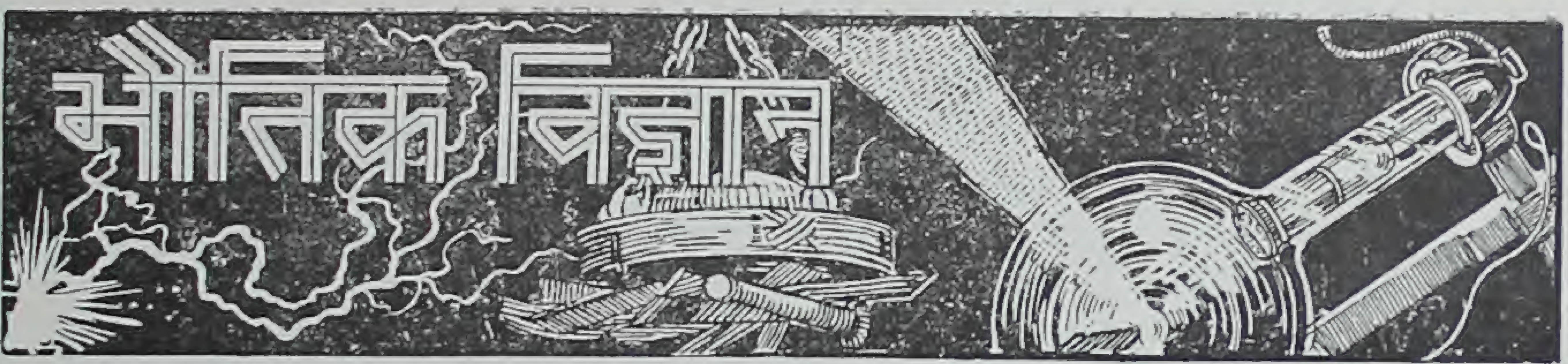


शुक्र के चालीस फ़ोटो

ये फ़ोटो अमेरिका की 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' के १०० इंची और ६० इंची दूरदर्शकों द्वारा एक के बाद एक उन तारीखों को लिये गये थे, जो प्रत्येक फ़ोटो के नीचे अंकित है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कुछ ही दिनों के अरसे में क्रमशः शुक्र किस तरह चंद्रमा की तरह क्षीण होता दिखाई दिया। (फ़ोटो— 'माउण्ट विल्सन वेधशाला' की कृपा से प्राप्त।)



बैरोमीटर का सिद्धान्त और विभिन्न जाति के बैरोमीटर



हवा का दबाव

पिछले अध्याय में हम द्रव पदार्थों के दबाव तथा उससे संबंधित विशेषताओं का अध्ययन कर चुके हैं, इस लेख में वायु के दबाव संबंधी नियमों पर प्रकाश डाला गया है।

हमारी पृथ्वी को हवा चारों ओर से घेरे हुए है। हमारे ऊपर बहुत दूर तक यह हवा फैली हुई है। ठीक-ठीक यह किसी को भी नहीं मालूम है कि हवा कितनी ऊँचाई तक फैली हुई है। हाँ, यह बात निश्चय रूप से साबित हो चुकी है कि ज्यों-ज्यों हम ऊपर चढ़ते हैं, त्यों-त्यों हवा तेज़ी के साथ हलकी होती जाती है। पृथ्वीतल पर हवा सबसे ज़्यादा घनी है।

आकाश के उर्ध्व भाग की हवा के बारे में हमें काफ़ी मात्रा में जानकारी गुब्बारों की मदद से हासिल हुई है। तरह-तरह के यंत्रों से सुसज्जित गुब्बारे आकाश में २२ मील की ऊँचाई तक पहुँच पाये हैं। इन यंत्रों के देखने से पता चलता है कि इस ऊँचाई पर भी हवा मौजूद है, किन्तु यहाँ की हवा की अपेक्षा वहाँ की हवा बहुत ही हलकी है। इससे और ऊपर हवा इतनी पतली हो जाती है कि वह गुब्बारे के बोझ को सँभाल नहीं सकती। अतः गुब्बारे इस ऊँचाई से और ऊपर नहीं चढ़ पाते।

इसलिए यह जानने के लिए कि इससे भी अधिक ऊँचाई पर हवा मौजूद है या नहीं, हमें अन्य उपायों की शरण लेनी पड़ती है। हम जानते हैं कि जब आकाश से उल्काएँ गिरती हैं तो पृथ्वी के वायुमण्डल में प्रवेश करते ही वे वायुकणों के घर्षण से उत्तप्त हो जाती हैं और उनके अन्दर से चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। यदि बनारस और लखनऊ से एक ही समय में किसी उल्का को हम दूरबीन से देखें तो इन दोनों स्थानों पर उस उल्का की कोणीय ऊँचाई हम नाप सकते हैं। बनारस और लखनऊ के बीच की दूरी हमें मालूम है, बस ज्यामिति के साधारण नियमों की सहायता से उस उल्का की तत्कालीन ऊँचाई निकाली जा सकती है।

अब तक सबसे ऊँची उल्काएँ पृथ्वीतल से २०० मील की ऊँचाई पर देखी गयी हैं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हवा पृथ्वी के चारों ओर कम-से-कम २०० मील की ऊँचाई तक अवश्य फैली हुई है। फिर उत्तरी प्रकाश या अरोरा बोरियालिस आकाश में लगभग ४०० मील की ऊँचाई पर देखा गया है। अतः हम पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते हैं कि ४०० मील की ऊँचाई पर भी हवा मौजूद है; क्योंकि बाह्य जगत् से आकर विद्युत्कण जब हवा के कणों से टकराते हैं, तभी अरोरा बोरियालिस का प्रकाश उत्पन्न होता है।

हम यह भी जानते हैं कि संसार के प्रत्येक पदार्थ को पृथ्वी अपनी ओर खींचती है। इसी आकर्षण-शक्ति के कारण हर एक पदार्थ के अन्दर हम वज़न या भार पाते हैं। हवा भी एक भौतिक पदार्थ है, अतएव इसमें भी वज़न अवश्य होगा।

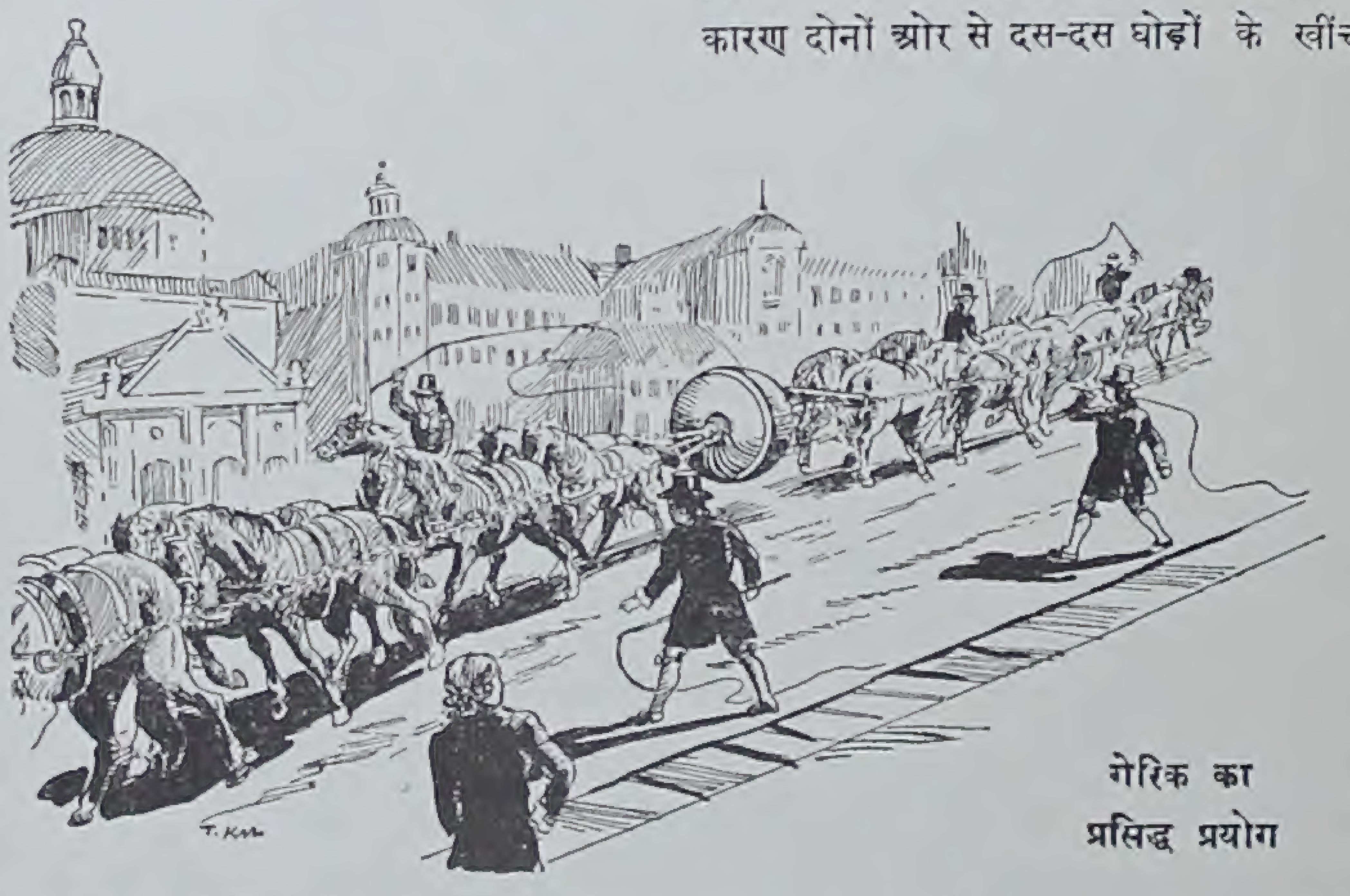
हवा में वज़न है, इस बात को साबित करने के लिए घर के अन्दर ही एक सुन्दर प्रयोग किया जा सकता है। काँच की एक मज़बूत बोतल में थोड़ा पानी उबालिए। जब पानी ख़ूब उबलने लगे और भाप ज़ोरों के साथ बाहर निकल रही हो तो बोतल पर कसकर कार्क लगा दीजिये, और उसे आँच पर से उतार लीजिए। बोतल के अन्दर अब हवा नहीं है, केवल थोड़ा पानी और उसकी भाप उसमें मौजूद है। ठण्डी होने पर भाप पानी बन जायगी और बोतल के अन्दर वैकुअम हो जायगा। इसी दशा में बोतल को तौल लीजिए। फिर कार्क खोल दीजिए तो हवा बोतल के अन्दर तेज़ी के साथ प्रवेश कर जायगी। अब बोतल को कार्क सहित फिर तौलिए। इस बार बोतल का वज़न पहले की अपेक्षा ज़्यादा निकलेगा। निस्सन्देह वज़न

बढ़ने का कारण बाहर से आई हुई हवा है, जिसमें निज का भी वज़न होता है।

फिर, धुएँ के कण हवा में ऊपर मँडराते रहते हैं। इसलिए अवश्य हवा का घनत्व धुएँ के घनत्व से ज़्यादा होगा। इस बात से भी हम यही नतीजा निकालते हैं कि हवा में वज़न होता है।

अतः पृथ्वी के ऊपर ४०० मील की ऊँचाई तक जो हवा फैली हुई है, उसका बोझ ज़मीन की सभी चीज़ों पर पड़ता होगा। पृथ्वीतल की प्रत्येक वस्तु हवा के भार से दबी हुई है और इस तमाम हवा का वज़न भी कुछ कम न होगा। एक साधारण कमरे के अन्दर, जिसकी ऊँचाई २० फ़ीट तथा लम्बाई और चौड़ाई भी २० फ़ीट हो, कुल हवा का वज़न ३०० सेर के लगभग होता है!

वायुमंडल के ऊपरी स्तरों में हवा बहुत ही पतली हो गई है। पर्वत-आरोहियों को इसी कारण पर्वत-शिखर पर साँस लेने में बड़ी कठिनाई होती है। वहाँ पर्याप्त मात्रा में ऑक्सिजन ग्रहण करने के लिए उन्हें अपेक्षाकृत ज़्यादा आयतन में हवा को फेफड़े के अन्दर ले जाना पड़ता है।



गेरिक का प्रसिद्ध प्रयोग

वास्तव में वज़न के लिहाज़ से हम कह सकते हैं कि पृथ्वीतल से साढ़े तीन मील की ऊँचाई तक की हवा में समूचे वायुमण्डल का आधा भाग आ जाता है। ६-८ मील की ऊँचाई तक पहुँचने पर हम वज़न के लिहाज़ से वायुमण्डल के तीन-चौथाई भाग को तय कर लेते हैं। उसके ऊपर ४०० मील तक हवा अवश्य फैली हुई है, किन्तु उस सारी हवा का वज़न समूचे वायुमण्डल के वज़न का केवल एक-चौथाई रह जाता है।

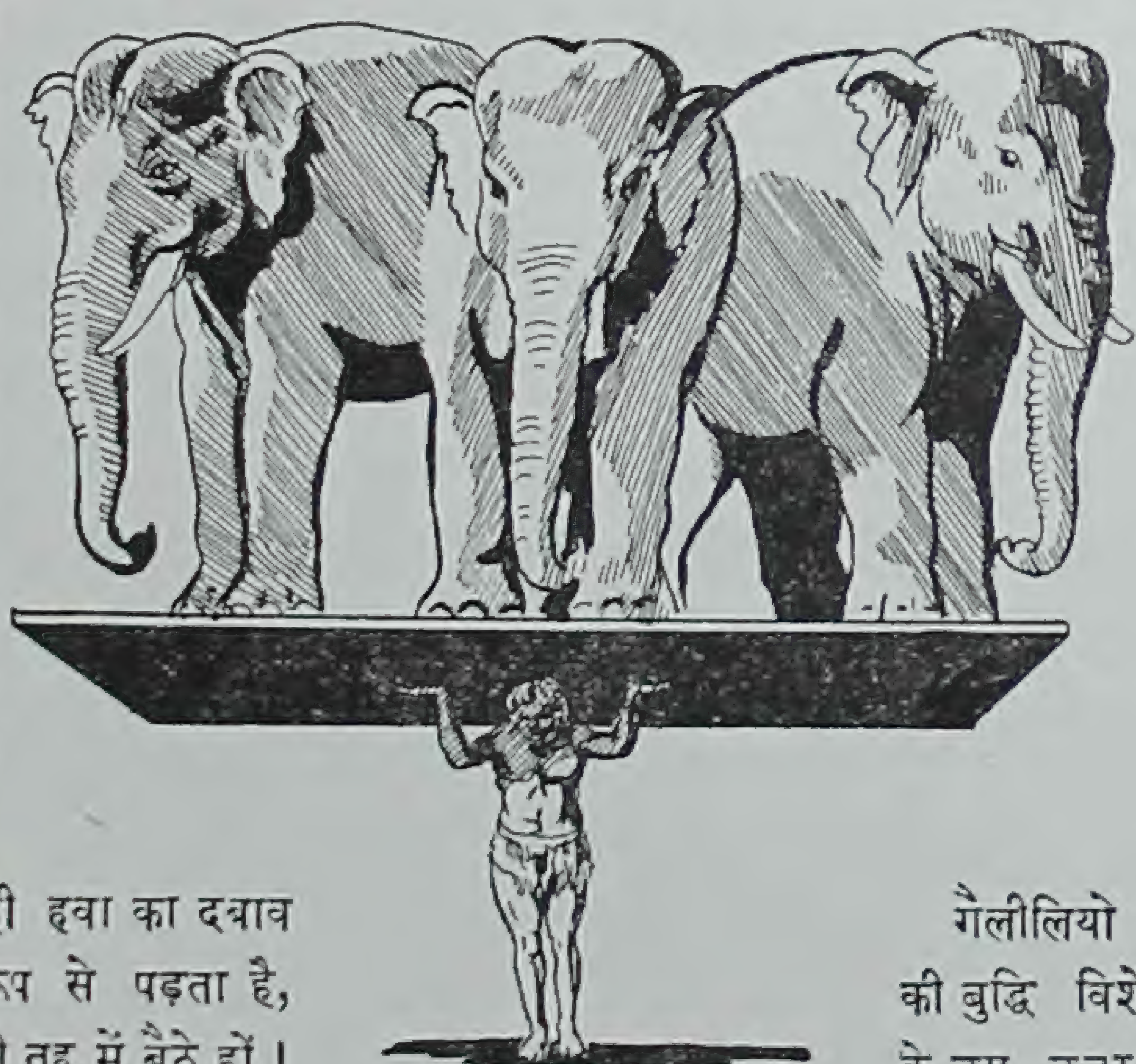
हवा में वज़न होने की बात हमें और आपको यथोचित ही जान पड़ती है, किन्तु आज से ३०० वर्ष पूर्व तत्कालीन बड़े-से-बड़े वैज्ञानिक भी इस बात की कल्पना नहीं कर पाये थे। एक जर्मन वैज्ञानिक आटो फॉन गेरिक ने १६५१ में पहली बार हवा के दबाव को प्रयोगों द्वारा स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया था।

उसने लोहे के दो अर्द्ध-गोले लिये और उन्हें एक दूसरे पर ऐसा फिट किया कि उनके अन्दर से साँस न निकल सके। जब तक उनके बीच हवा मौजूद थी, तब तक वह हवा बाहर की हवा के दबाव को रोकती थी, फलस्वरूप ये दोनों अर्द्ध-गोले आसानी के साथ अलग किये जा सकते थे। किन्तु गेरिक ने उन दोनों अर्द्ध-गोलों को एक दूसरे के ऊपर कसकर फिट करके उनके बीच की हवा निकाल ली। अब बाहर की हवा के दबाव का विरोध करने के लिए भीतर की हवा न रही। इस कारण दोनों ओर से दस-दस घोड़ों के खींचने पर भी ये अर्द्ध-गोले एक दूसरे से अलग न किये जा सके। चूँकि गोले के भीतर एकदम हवा न थी, इसलिए बाहर के वायुमण्डल का समूचा ज़ोर गोले के चारों ओर पड़ रहा था—मानों कोई दानव अपने दोनों हाथों से इस गोले को दबा रहा हो।

समुद्रजल की सतह के बराबर ऊँचाई की ज़मीन के प्रति वर्गइंच धरातल पर वायुमण्डल का भार ७॥ सेर के वज़न के बराबर पड़ता है। इस हिसाब से हमारे शरीर पर हवा का समूचा भार लगभग १२ टन के वज़न के बराबर होता है—मानो हम अपने कन्धों पर तीन विशालकाय हाथियों का बोझ उठाए हुए हों! तब तो इतने भारी बोझ के भार से दबकर हमारी हड्डियों को चूर-चूर हो जाना चाहिए। किन्तु वास्तव में हमें हवा का बोझ ज़रा भी महसूस नहीं होता। तो क्या हमारे शरीर पर हवा दबाव नहीं डालती? वास्तव में हमारे शरीर की रुधिर-नालियों में

रक्तप्रवाह का वेग इतना प्रबल होता है कि बाहर की हवा के दबाव को वह रोक लेता है, अतः स्वयं हमें बाहरी हवा के दबाव को महसूस करने का मौक़ा नहीं मिलता। हाँ, यदि हम एकाएक किसी ऊँचे पहाड़ पर चले जायँ, जहाँ हवा का दबाव पृथ्वीतल पर के दबाव का आधा या एक-तिहाई हो, तो ऐसी हालत में चूँकि हमारा रक्तप्रवाह पहले-जैसा प्रबल बना रहता है, किन्तु बाह्य हवा का दबाव पहले की अपेक्षा कम हो गया होता है, इस कारण रक्त-धारा नाक तथा कान की कोमल त्वचा को फाड़कर बाहर निकल आती है। इसी वजह से गुब्बारों पर सवार होकर आकाश में मीलों ऊँचे जाने के पहले उड़ाके एक विशेष ढंग की पोशाक पहन लेते हैं, जिसके अन्दर हवा का दबाव पृथ्वीतल के दबाव के बराबर ही हमेशा क़ायम रक्खा जाता है, अन्यथा ऊर्ध्वाकाश में पहुँचने पर उनके नाक-कान से भी रुधिर फूट-फूटकर निकलने लगता।

ठीक द्रवों की भाँति ही हवा का दबाव भी चारों ओर समान रूप से पड़ता है, मानो हम हवा के समुद्र की तह में बैठे हों।



हमारे शरीर पर हवा का समूचा भार १२ टन के बराबर पड़ता है मानो हम हर घड़ी तीन हाथियों का बोझ उठाये रहते हों !!

कदाचित् इस बात की ओर आपका ध्यान पहले कभी न गया होगा कि यदि हवा का दबाव काम न करता तो हमारे लिए साँस ले सकना भी सम्भव न होता। जब हम अपने फेफड़े को फुलाते हैं, तो उसके अन्दर अब पहले की अपेक्षा ज़्यादा जगह हो जाती है और इस ख़ाली जगह में वायुमण्डल के दबाव के कारण बाहर की हवा प्रवेश कर जाती है।

कुछ सदियों पहले तक लोग ठीक तौर पर इस बात को समझ नहीं पाये थे कि रिक्त स्थान (vacuum) में हवा या अन्य द्रव पदार्थ क्यों चले जाते हैं। तत्कालीन विद्वानों ने इसके लिए एक मनोरंजक कारण ढूँढ़ निकाला था। उनका कहना था कि प्रकृति किसी भी जगह को रिक्त या वैकुअम रहने देना गवारा नहीं कर सकती। कुएँ के अन्दर से पम्प द्वारा पानी खींचे जाने में भी यही सिद्धांत काम करता है, ऐसा उनका ख़याल था। उनका कहना था कि पम्प के अन्दर की हवा जब निकाल ली जाती है तो उक्त सिद्धान्त के अनुसार पम्प के भीतर के रिक्त स्थान या वैकुअम को भरने के लिए कुएँ का पानी फ़ौरन् ऊपर को दौड़ता है, और इस तरह पम्प की टोंटी के रास्ते बाहर आ गिरता है।

परन्तु कुछ दिनों उपरान्त पम्प लगानेवालों ने देखा कि यदि कुएँ की गहराई ३४ फ़ीट से अधिक होती है तो पम्प द्वारा ऊपर तक पानी हरगिज़ नहीं चढ़ाया जा सकता। यह बात १७ वीं सदी की है। उस समय के सबसे बड़े वैज्ञानिक गैलीलियो से जब लोगों ने इसका कारण पूछा तो उसने सिर खुजलाकर उत्तर दिया कि मालूम पड़ता है कि रिक्त स्थान को प्रकृति एक हद तक ही नापसन्द करती है। रिक्त स्थान को भरने के लिए पानी ३४ फ़ीट की ऊँचाई तक तो चढ़ सकता है, किन्तु उससे आगे नहीं।

गैलीलियो के शिष्यों में से टॉरिसेली की बुद्धि विशेष प्रखर थी। अपने गुरुवर के उस उत्तर से वह सन्तुष्ट न हुआ। उसने उस सम्बन्ध में स्वयं प्रयोग करने शुरू किये। उसने काँच की एक गज़ लंबी नली ली, जिसका एक सिरा बन्द था और दूसरा खुला। उस नली में उसने मुँहामुँह पारा भर दिया और खुले मुँह को उँगली से दबाकर, ताकि पारा बाहर गिरने न पाये, उसने नली पारे से भरे हुए एक प्याले के अन्दर उलटी खड़ी कर दी। यद्यपि नली का खुला हुआ मुँह नीचे पारे के अन्दर था, फिर भी नली के अन्दर का तमाम पारा नीचे प्याले में नहीं गिरा। उस लम्बी नली में लगभग ३० इंच लम्बा पारे का स्तम्भ खड़ा रह गया। नली में ऊपर ६ इंच लम्बी जगह अवश्य खाली हो गई—इस जगह में कुछ भी न था, यहाँ पूर्ण वैकुअम था; क्योंकि नली को टेढ़ी करने से पारा समूची नली को भर लेता था। यदि ऊपर की जगह में हवा होती तो पारा हरगिज़ नली के ऊपरी सिरे तक न पहुँच पाता।

अब प्रश्न उठा कि इस रिक्त स्थान को भरने के लिए पारा ऊपर क्यों नहीं चढ़ता ? टॉरिसेली ने पहली बार इस प्रयोग द्वारा दिखाया कि यह कहना कि प्रकृति किसी स्थान को रिक्त रहने देना गवारा नहीं कर सकती, ग़लत है। टॉरिसेली ने सही कारण को पहचाना कि काँच की नली के अन्दर पारे का स्तम्भ वास्तव में बाहरी हवा के दबाव के सहारे खड़ा है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हवा का दबाव नली के अन्दर खड़े हुए ३० इंच लम्बे पारे के स्तम्भ के भार के बराबर है। इस प्रयोग में यदि नली केवल २८ इंच लम्बी ली जाय, तो प्याले के अन्दर नली को उलटी खड़ी करने पर पारा नली में से नीचे तनिक भी न गिरेगा बल्कि पूरी नली में पारा ज्यों-का-त्यों खड़ा रहेगा।

और यदि नली ६० इंच लम्बी हुई तो उसके अन्दर भी पारा केवल ३० इंच ही चढ़ेगा तथा नली के ऊपरी ३० इंच लम्बे हिस्से में वैकुअम बना रहेगा। वास्तव में प्रकृति को रिक्त स्थान भरने की कोई फ़िक्र नहीं।

अब लोगों ने इस बात को भी समझा कि पम्प के भीतर पानी हवा के दबाव के कारण ही चढ़ता है। चूँकि पारे की अपेक्षा पानी १३.६ गुना हलका है, अतः ३० इंच लम्बे पारे के स्तम्भ के बराबर भार उत्पन्न करने के लिए पानी को पारे की अपेक्षा १३.६ गुना ज़्यादा ऊँचा चढ़ना होगा। ३०×१३.६ इंच लगभग ३४ फ़ीट के बराबर होता है। बस पम्प के अन्दर पानी ज़्यादा-से-ज़्यादा ३४ फ़ीट ऊँचा चढ़ सकता है।

किसी कारण यदि हवा का दबाव कम हो जाय तो वह ३० इंच ऊँचे पारे के स्तम्भ को सँभाल न सकेगा। अब शायद पारा उस नली के अन्दर २६ इंच ही ऊँचा खड़ा होगा। इस प्रकार नली के अन्दर पारे की ऊँचाई नापकर हवा के दबाव का अन्दाज़ लगाया जा सकता है। हवा के इस दबाव को नापनेवाले यंत्र को बैरोमीटर के नाम से पुकारते हैं। चूँकि इस यंत्र में पारा काम में आता है, इसलिए इसे पारे का बैरोमीटर कहते हैं। संसार के सर्व-प्रथम बैरोमीटर बनाने का श्रेय टॉरिसेली को प्राप्त है। आजकल के बैरोमीटर टॉरिसेली के बनाये हुए बैरोमीटर के ही परिष्कृत रूप हैं।

ऊँचे स्थानों पर बैरोमीटर के अन्दर पारा कम ऊँचा चढ़ता है, क्योंकि समुद्र की सतह की अपेक्षा वहाँ हवा का दबाव कम हो जाता है। समुद्र की सतह से ९०० फ़ीट की ऊँचाई पर जाने पर बैरोमीटर का पारा एक इंच नीचे गिरता है। ज्यों-ज्यों हम ऊपर जाते हैं, हवा का घनत्व भी कम होता जाता है। अतएव ९०० और १८०० फ़ीट के बीच की हवा का वज़न उतना न होगा जितना समुद्र की सतह और ९०० फ़ीट की ऊँचाई के बीच की हवा का वज़न। इसी कारण १८०० फ़ीट की ऊँचाई पर बैरोमीटर का पारा पूरे २ इंच नहीं गिरेगा, बल्कि कम गिरेगा। ऊँचाई के बढ़ने के साथ बैरोमीटर का पारा गणित के एक विशेष नियम के अनुसार गिरता है। हवाई जहाज़ तथा गुब्बारे में लगे हुए बैरोमीटर में हवा का दबाव देखकर इस नियम की सहायता से हम जान सकते हैं कि हवाई जहाज़ या गुब्बारा कितनी ऊँचाई पर उड़ रहा है। एवरेस्ट शिखर पर बैरोमीटर में पारा केवल ७॥ इंच ऊँचा चढ़ेगा।

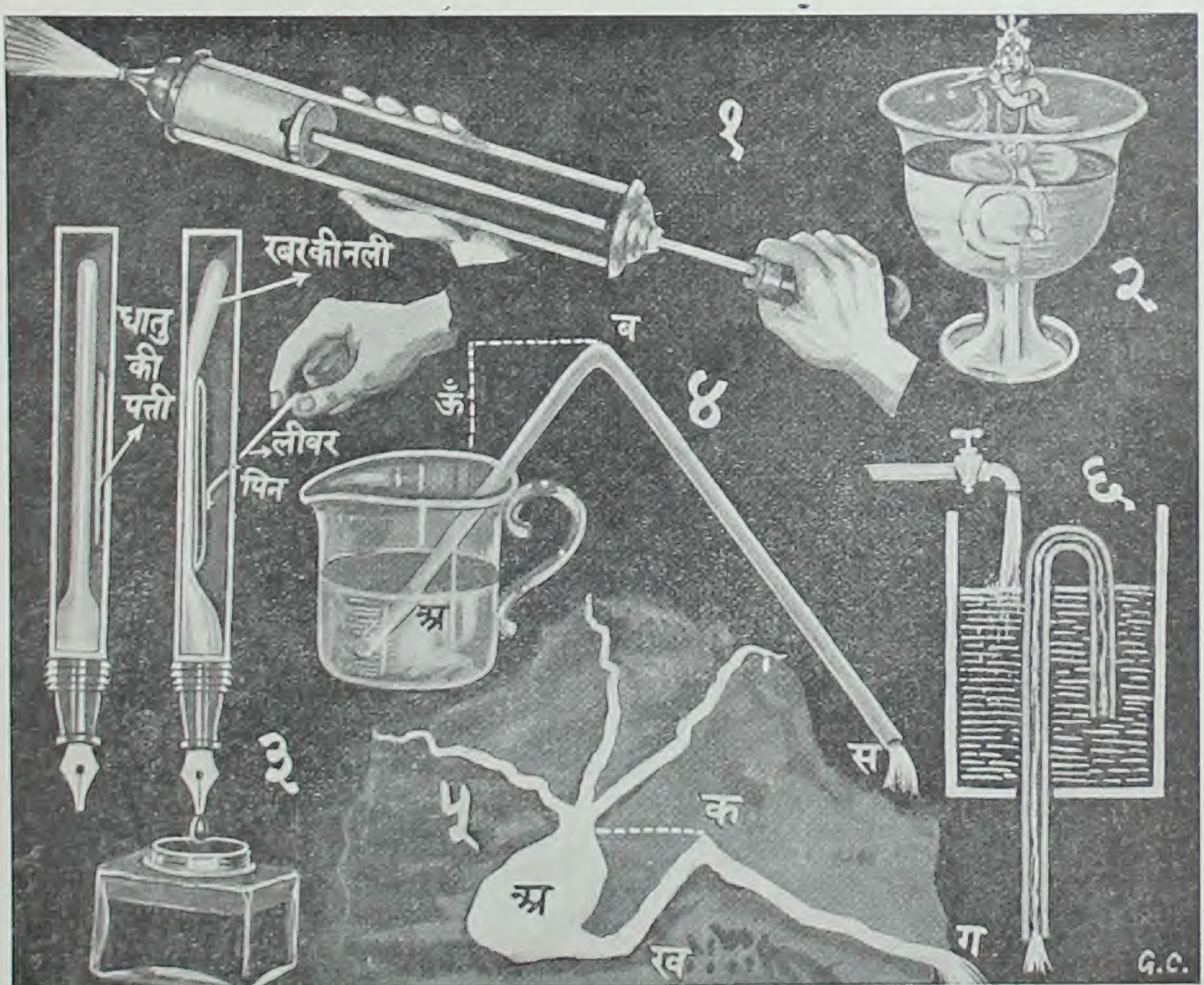
किन्तु एक ही स्थान पर भी हवा का दबाव प्रतिदिन एक-सा नहीं रहता। गर्मी और बरसात में हवा का दबाव प्रायः कम हुआ करता है, और जाड़े में ज़्यादा। जब हवा में पानी की भाप अधिक आ जाती है तो इस भाप को स्पंज की तरह हवा अपने में सोखती नहीं है, बल्कि पानी की भाप जितनी जगह घेरती है, उतनी जगह से हवा को वह भगा देती है। चूँकि भाप का घनत्व हवा के घनत्व से कम होता है, इसलिए नम हवा के भार का उसी तापक्रम की सूखी हवा के भार से कम होना लाज़िमी है। किन्तु भरपूर नम हवा और सूखी हवा के दबाव में अधिक-से-अधिक आधे इंच का अन्तर पड़ सकता है, जबकि वास्तव में बैरोमीटर के पारे की ऊँचाई में प्रायः एक या दो इंच तक की कमी हो जाया करती है। अतएव हवा के दबाव में अन्तर डालनेवाला कोई अन्य कारण भी अवश्य होगा।

सूर्य्य की प्रखर किरणों से उत्तप्त होने पर हवा गर्म होकर हलकी हो जाती है, इस कारण उसका भार कम हो जाता है। यदि नीचे से ऊपर को हवा की धारा बहती हुई हो तो बैरोमीटर में पारे की ऊँचाई और भी कम हो जायगी और ऐसी दशा में अन्य प्रदेशों से जहाँ पर हवा का दबाव ज़्यादा है, उस स्थान पर हवा दौड़कर आएगी और तब अपने साथ वह आँधी और पानी ला सकती है। इसके प्रतिकूल यदि हवा का दबाव अधिक हुआ तो हम अच्छे ऋतु की आशा कर सकते हैं, इस समय आँधी या पानी की आशंका न रहेगी।

इस प्रकार बैरोमीटर के अन्दर की ऊँचाई को देखकर ऋतु-सम्बन्धी भविष्यवाणी की जा सकती है। किन्तु ऋतु-परिवर्त्तन एकमात्र हवा के दबाव पर ही निर्भर नहीं है। अकेले बैरोमीटर के सहारे की गई भविष्यवाणी हमेशा

सही नहीं उतरती। इतना अवश्य है कि उष्ण कटिबन्ध के देशों में शीतोष्ण कटिबन्ध के देशों की अपेक्षा ऋतु-सम्बन्धी भविष्यवाणी के लिए बैरोमीटर पर ज़्यादा भरोसा किया जा सकता है।

पारेवाले बैरोमीटर को आसानी के साथ एक जगह से दूसरी जगह ले नहीं जा सकते। हवाई जहाज़ या गुब्बारे में पारेवाले बैरोमीटर का रखना बड़ी दिक़्क़त का काम होगा। ऐसे मौक़े पर इस्तेमाल करने के लिए एनीरायड बैरोमीटर बनाया गया है। पारा या अन्य कोई द्रव्य उसमें काम में नहीं आता। इस बैरोमीटर में धातु की पतली चद्दर की बनी एक डिबिया होती है। इस डिबिया के अन्दर की हवा निकाल ली गयी होती है, और इसके ढक्कन को मज़बूत कमानी सँभाले रहती है, ताकि बाहर की हवा के दबाव से डिबिया एकदम पिचक न जाय। इस ढक्कन का दो-तीन लीवरों के सहारे एक सुई से सम्बन्ध रहता है। ढक्कन पर हवा का दबाव कम या ज़्यादा होता है तो वह बाहर या भीतर की ओर लच जाता है, फलस्वरूप सुई एक डायल पर घूमती है। डायल के ऊपर इंच के निशान बने होते हैं, जिससे दबाव का पता फ़ौरन् लग जाता है। किन्तु डायल पर निशान लगाने के लिए पारे के बैरोमीटर के साथ एनीरायड बैरोमीटर का मिलान करना पड़ता है।



हवा के दबाव के बल पर काम करनेवाली हमारी रोज़मर्रे की ज़िन्दगी की कुछ चीज़ें

१. पिचकारी; २. वासुदेव का प्याला; ३. फाउन्टेनपेन, जिसमें स्याही हवा के दबाव से ही भर जाती है; ४. साधारण सायफ़न; ५. पहाड़ी झरना; ६. फ्लश करने की टंकी जिसमें सायफ़न के सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है। (विशेष विवरण के लिए दे० पृष्ठ ८०८ का मैटर)।

हमारी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में काम आनेवाली अनेक वस्तुएँ हवा के दबाव के बल पर ही काम करती हैं। कमानी दबाते ही फ़ाउन्टेनपेन के अन्दर स्याही हवा के दबाव के कारण भर जाती है। फाउन्टेनपेन के अन्दर एक रबर की नली होती है, जो कमानी का लीवर दबने पर दबती है और फलतः उसके अन्दर की हवा बाहर निकल जाती है। जब स्याही की दावात के अन्दर निब को डालकर लीवर को छोड़ देते हैं तो हवा के दबाव के कारण स्याही रबर की नली में चढ़ जाती है (दे० ८०७ पृ० के चित्र में नं० ३)।

पिचकारी के अन्दर भी पानी हवा के दबाव के बल पर चढ़ता है। पिचकारी का गट्टा जब ऊपर को खींचा जाता है तो खोखली नली के अन्दर जगह ख़ाली हो जाती है। वहाँ हवा का दबाव कम हो जाता है। अतः बाहर की हवा के दबाव से टोंटी के रास्ते पानी ऊपर चढ़ जाता है (दे० उक्त चित्र में नं० १)।

एक अनोखा किन्तु सीधा-सादा यंत्र साइफ़न भी है, जो हवा के दबाव के कारण ही काम करता है। एक शीशे की नली 'अ ब स' लीजिए जो 'ब' पर मुड़ी हो, और जिसकी भुजा 'ब स', 'अ ब' से लम्बी हो (देखो उक्त चित्र में नं० ४) । नली को उलटी करके पहले मुहाँ-मुँह पानी भर लीजिए। फिर नली सीधी करने पर आप देखेंगे कि नली का तमाम पानी भुजा 'ब स' के रास्ते नीचे गिर गया और भुजा 'अ ब' के रास्ते एक बूँद भी नहीं गिरा।

यदि पानी से भरी हुई यह नली इस तरह रक्खी जाय कि सिरा 'अ' एक गिलास में रक्खे हुए पानी के अन्दर दूर तक डूबा हो, तो आप देखेंगे कि 'ब स' के रास्ते से गिलास का पानी निरन्तर गिरने लगता है। पानी का गिरना उस वक़्त रुकता है, जब गिलास में पानी की सतह 'स' से नीचे चली जाती है। इस प्रयोग के सिलसिले में यह भी बात देखी गयी है कि 'अ ब' की लम्बवत् ऊँचाई 'ऊँ' ३४ फ़ीट से अधिक हुई तो फिर उस नली द्वारा गिलास का पानी नहीं उलीचा जा सकता। ऐसी दशा में 'ब अ' बाज़ू का पानी 'अ' के रास्ते गिर पड़ेगा और 'ब स' का पानी 'स' के रास्ते।

उक्त प्रयोग की नली का नाम साइफ़न है। साइफ़न नली द्वारा पानी उलीचे जाने के लिए निम्नलिखित तीन शर्तों का पूरा होना आवश्यक है :—

१. नली प्रारम्भ में भरी होनी चाहिये।

२. नली का सिरा 'स' गिलास में रक्खे हुए पानी की सतह से नीचे होना चाहिये।

३. 'अ ब' की लम्बवत् ऊँचाई ३४ फ़ीट से कम होनी चाहिये।

साइफ़न के प्रयोग में गिलास में रक्खे हुए पानी के धरातल पर हवा का दबाव पड़ता है, जो पानी को बाज़ू 'अ ब' में चढ़ा देता है और यह पानी बाज़ू 'ब स' में जाता है। किन्तु लम्बी भुजा में भुजा 'अ ब' की अपेक्षा पानी का भार ज़्यादा है। 'अ' और 'स' दोनों जगह बाहर की हवा का दबाव एक-सा है, अतएव जब तक तली की दोनों भुजाओं में पानी भरा रहेगा, पानी लम्बी भुजा के रास्ते ही नीचे गिरेगा। लम्बी भुजा का पानी जब नीचे सरकता है तो 'ब' पर ख़ाली जगह भरने के लिए 'अ ब' से पानी आता है, और इस तरह नली द्वारा पानी निरन्तर प्रवाहित होने लगता है।

गन्दी नालियों को ख़ाली करने के लिए अक्सर साइफ़न का प्रयोग होता है। बड़े-बड़े स्टेशन पर पेशाबघरों में ऊपर छत पर हौज़ बने रहते हैं, जिनमें से साइफ़न नली द्वारा पानी थोड़ी-थोड़ी देर पर नीचे को वेग के साथ गिरता रहता है (दे० उक्त चित्र में नं० ६)।

वासुदेव के प्याले का खिलौना भी इसी सिद्धान्त पर बना होता है। प्याले के अन्दर धीरे-धीरे पानी भरते हैं। जिस वक़्त पानी की सतह श्रीकृष्ण की मूर्त्ति के चरणों को छूती है, उस वक़्त पेंदे में लगे हुए साइफ़न ट्यूब के अन्दर पूर्ण रूप से पानी भर जाता है और यह चालू हो जाता है। फलस्वरूप कुछ ही क्षणों में साइफ़न के रास्ते प्याले का पानी बाहर गिर जाता है (दे० उक्त चित्र में नं० २)।

पहाड़ी मुल्कों में कुछ ऐसे भी झरने होते हैं जो कुछ काल तक सुषुप्त रहते हैं, फिर जग उठते हैं और पुनः बन्द हो जाते हैं। इस तरह थोड़े-थोड़े समय के उपरान्त ये सोते पानी दिया करते हैं। ये भी प्राकृतिक साइफ़न के बल पर काम करते हैं।

ऐसे सोतों में पानी धीरे-धीरे 'अ' में इकट्ठा होता है (देखो उक्त चित्र में नं० ५)। जब इसकी सतह 'क' के बराबर ऊँची हो जाती है तो साइफ़न 'ख क ग' जारी हो जाता है, और 'अ' का सारा पानी सोते के रास्ते बाहर निकल जाता है। अब सोता सूख जाता है। पानी धीरे-धीरे 'अ' में फिर इकट्ठा होने लगता है और 'क' के बराबर पानी की सतह के पहुँचते ही सोता एक बार और जारी हो जाता है।

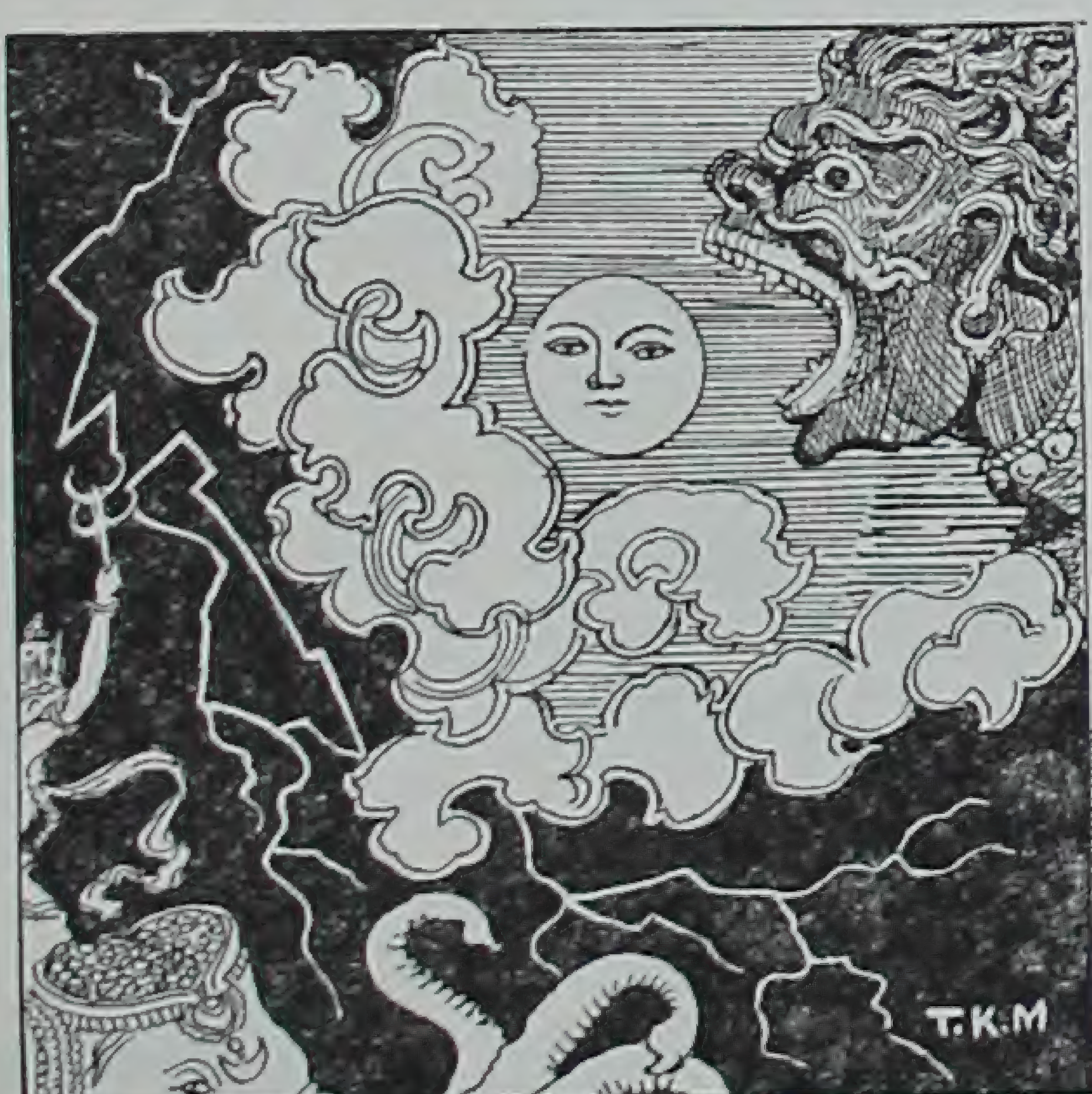


मूलतत्त्व

वे पाँच और ये नब्बे !

द्रव्य जगत् का निर्माण करनेवाले मूलतत्त्वों का विवेचन।

मानव ज्ञान का इतिहास तीन युगों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम युग अथवा ज्ञान की शैशवावस्था में मनुष्य का मस्तिष्क मूढ़ विश्वासों तथा मिथ्या विचारों से भरा पड़ा था। इस युग का मनुष्य वैज्ञानिक सत्य से बहुत दूर था। वह अपने चारों ओर होती हुई प्राकृतिक घटनाओं का निरीक्षण तो करता था, किन्तु उनके सच्चे कारणों को समझ लेने में वह सर्वथा असमर्थ था। जो बात मनुष्य की बुद्धि के परे होती है, उसे वह बहुधा अलौकिक अथवा ईश्वरीय समझने लगता है; अतएव उस काल के मनुष्य के लिए यह समझ लेना स्वाभाविक ही था कि प्राकृतिक घटनाएँ विभिन्न अलौकिक शक्तियों द्वारा ही प्रेरित होती हैं। आँधी और पानी, बिजली और बादल, बाढ़ और भूकम्प, ग्रहण और उल्कापात, आदि बड़ी-से-बड़ी प्राकृतिक घटनाओं से लेकर छोटी-से-छोटी भौतिक और रासायनिक घटनाओं को भी वह दैवी अथवा अलौकिक शक्तियों द्वारा प्रेरित समझता था। इन्हीं धारणाओं के आधार पर मनुष्य ने अज्ञानवश देवों और दैत्यों, भूतों और पिशाचों, चुड़ैलों और डाइनों, शकुनों और अपशकुनों,



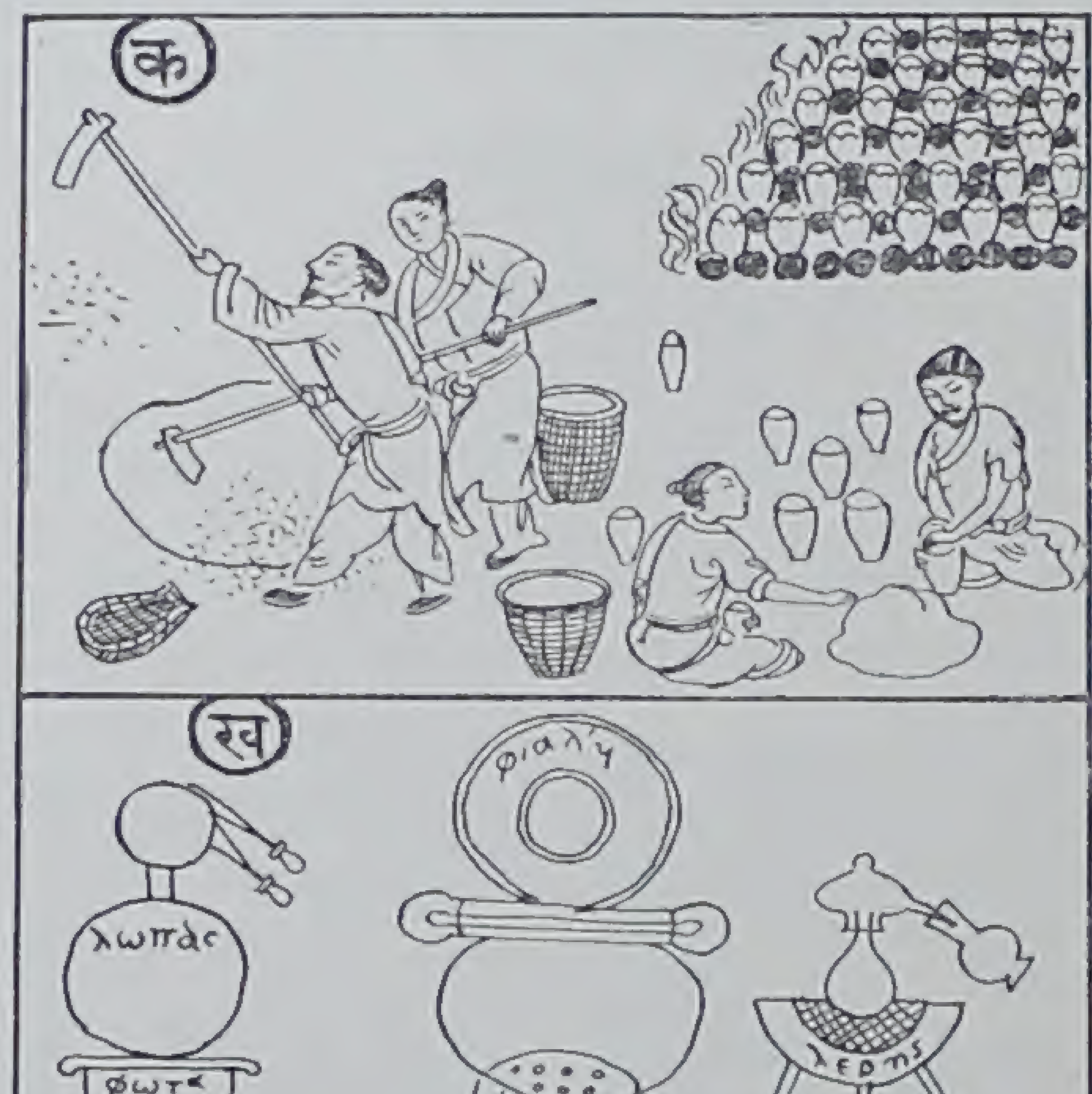


(ऊपर) यह माना जाता था कि ग्रहण के समय राहु नामक राक्षस चंद्रमा को डस लेता है और वर्षा तथा बिजली इन्द्र के वज्र-प्रहार के कारण होते हैं। (दाहिनी ओर) अम्लराज में घुलते हुए सोने का शेर द्वारा हड़पे जाते हुए सूर्य के प्रतीक द्वारा और रसपुष्प के रस-कर्पूर में परिवर्तन होने की क्रिया का अपनी पूँछ हड़पते हुए अजगर के प्रतीक द्वारा प्रतिदर्शन।

जादू और टोनों, मंत्रों और तंत्रों, इन्द्रजालों और अभिचारों, आदि की सैकड़ों मिथ्या कल्पनाएँ गढ़ डालीं। उदाहरणार्थ, चन्द्रग्रहण के सत्य को न समझ सकने के कारण उसने राहु की कल्पना की और जलवर्षा के रहस्यों को न सुलझा सकने के कारण उसने इन्द्र के अस्तित्व को माना। वेदों में, विशेषतः ऋग्वेद और अथर्ववेद में हमें इस युग के विचारों की बहुत कुछ झलक मिलती है। अथर्ववेद तो ऐंद्रजालिक तथा भूत-पिशाच सम्बन्धी विद्याओं से भरा पड़ा है।

इस युग का मनुष्य पदार्थों की रचना तथा उनमें होनेवाले परिवर्त्तनों की वास्तविकता से भी नितांत अनभिज्ञ था। पत्थर के युग को पार करके वह लोहा, ताँबा, सोना, चाँदी, सीसा, पारा आदि धातुओं, तथा शीशा, रंग आदि अनेक रासायनिक पदार्थों का निर्माण तथा उपयोग कर लेने लगा; लेकिन दुर्भाग्यवश तब भी वह उनकी वैज्ञानिकता से वंचित रहा। उसको यह सारा कार्य सिखानेवाला अनुभव था, तर्क नहीं— उसकी कारीगरी कलात्मक थी, वैज्ञानिक नहीं। नीचे दिए हुए उद्धरणों से उस समय के मानव मस्तिष्क की अवस्था का कुछ परिचय मिलेगा। अथर्ववेद के मुक्ता-सम्बन्धी एक मंत्र का कुछ अंश इस प्रकार है,—"देवताओं की अस्थि मोती में परिणत हो गई, जो सजीव होकर सागर में निवास करती है"। रसार्णव नामक तंत्र में हर गौरी से कहते हैं,—"अभ्रक तेरा बीज है और पारद मेरा। दोनों का संयोग, हे देवी, मृत्यु और दरिद्रता का संहार कर देता है"। रसपुष्प (पारा से बना हुआ 'पारदिक क्लोराइड' नामक एक विषालु यौगिक) जब पारा के साथ गर्म किया जाता है तो वह रसकर्पूर (पारदस क्लोराइड) में परिणत हो जाता है। इस रासायनिक घटना का वर्णन योरप का एक प्राचीन रासायनिक इस प्रकार करता है,—"भयानक अजगर वशीभूत होकर ऐसा अधीन हो जाता है कि वह स्वयं अपनी ही पूँछ को हड़प लेने के लिए बाध्य होता है।" एक अन्य प्राचीन पाश्चात्य पुस्तक में अम्लराज (अर्थात् हाइड्रोक्लोरिक और नाइट्रिक अम्लों के मिश्रण) में घुलते हुए सोने को शेर द्वारा हड़पे जाते हुए सूर्य से प्रतिदर्शित किया है। पाठकों ने देखा होगा कि ये सारे कथन वैज्ञानिक दृष्टि से उपहासास्पद अथवा अर्थहीन हैं।

कुछ ही हज़ार वर्ष पहले समस्त मानव जाति ज्ञान की इसी अवस्था में जीवन-यापन कर रही थी; किन्तु इस युग का अन्त अब भी हो गया है, यह कहना ठीक न होगा। दुर्भाग्यवश आज भी मानव जाति का एक बहुत बड़ा भाग इसी प्रथम युग का प्रतिनिधि

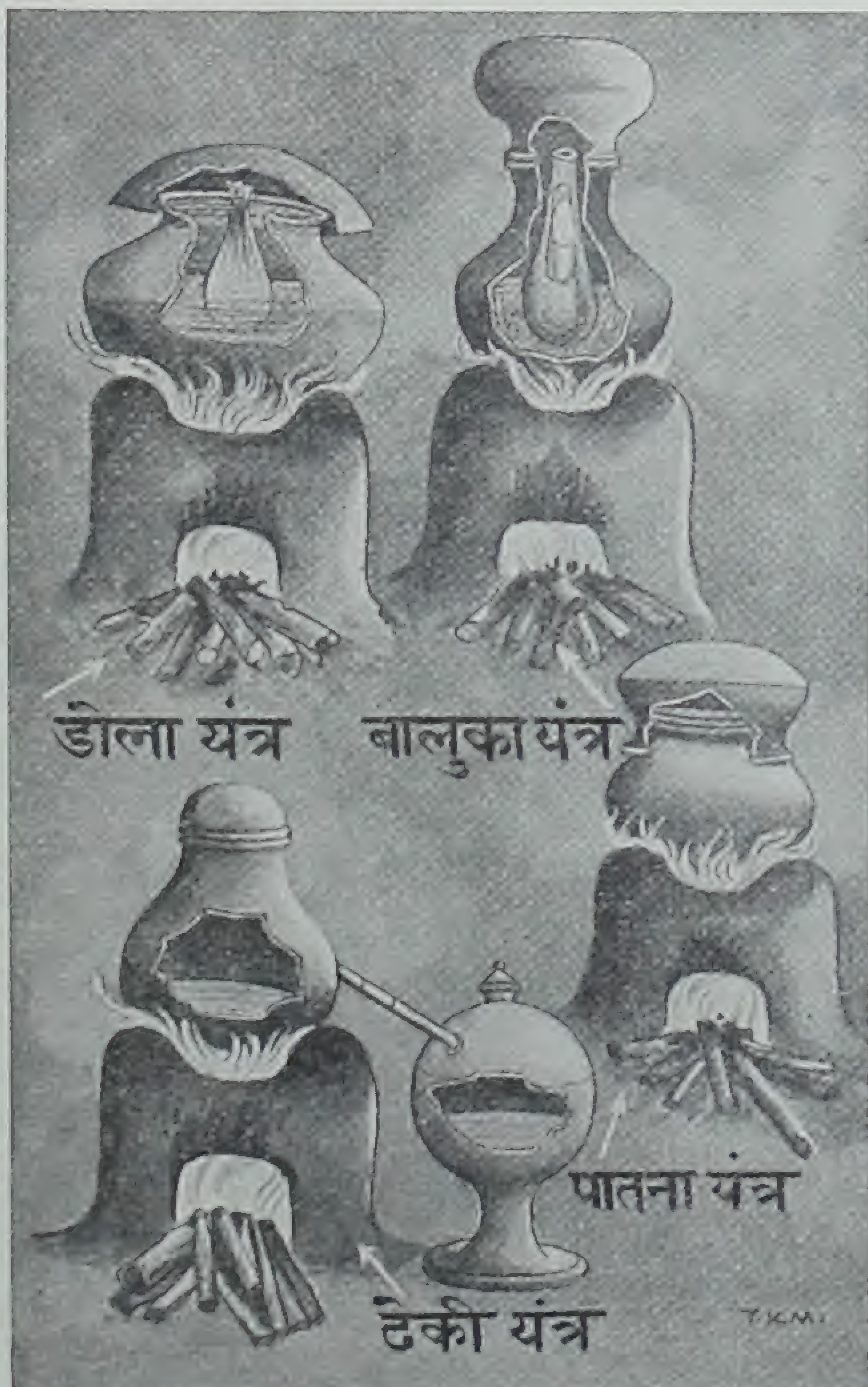


प्राचीन जातियों द्वारा अपने उद्योग-धंधों में रसायन का प्रयोग

(क) प्राचीन चीनी लोग जस्ता धातु निकाल रहे हैं; (ख) प्राचीन यूनानियों के जल-स्रवण आदि के यंत्र; (ग और घ) प्राचीन मिस्री स्वर्णकार सुवर्ण को गला, धो और तौल रहे हैं।

है। ज्ञान के तीनों युग, वास्तव में, एक दूसरे से पृथक् नहीं वरन् सम्मिश्रित हैं।

ज्ञान के दूसरे युग में अथवा यों कहिए कि ज्ञान की बाल्यावस्था में मनुष्य की मानसिक चेष्टा केवल मूढ़ विश्वासों तक ही सीमित न रह गई। उसे इनके औचित्य में कुछ-कुछ संदेह होने लगा और वह सत्य की खोज के लिए व्याकुल हो उठा, लेकिन दुर्भाग्यवश अब भी वह इस खोज के लिए वैज्ञानिक सामर्थ्य एवं साधन उपलब्ध न कर सका। अतएव वह तर्क-वितर्क द्वारा गहरे विचारों में लीन होकर सत्य तक पहुँचने की चेष्टा करने लगा। इस प्रकार इस युग में मनुष्य दार्शनिक में परिणत हो गया। इस युग को इसीलिए दार्शनिक युग कहते हैं। कपिल और कणाद, प्लैटो और अरिस्टॉटल, आदि महापुरुष इस युग के महान् प्रतिनिधि हैं। इस काल का प्रारम्भ लगभग तीन हज़ार वर्ष पहले हुआ था। जो कुछ वैज्ञानिक अथवा आधिभौतिक सत्य मनुष्य इस युग में उपलब्ध कर सका, वह सब अपने निरीक्षण तथा दार्शनिक तर्क-वितर्कों के बल पर ही, अन्य किसी वैज्ञानिक साधन के सहारे नहीं। इसके माने यह नहीं कि मनुष्य केवल दार्शनिक ही था। वह महान् कलाकार भी था, लेकिन उसकी कलाएँ अब भी अन्ध-विश्वासों से बुरी तरह मिश्रित थीं। वह यौगिकों से अनेक धातुएँ निकाल सकता था और इन धातुओं से न केवल आभूषण, अस्त्र, आदि वरन् अनेक उपयोगी रस, लवण आदि यौगिकों को भी तैयार कर सकता था। भारतवर्ष के चरक, सुश्रुत, नागार्जुन, वाग्भट्ट, तथा अरब के जबीर और फ़ारस के अलरज़ी इन रासायनिक कलाकारों के कुछ उदाहरण हैं।



प्राचीन भारतवासियों के कुछ रासायनिक यंत्र

प्राचीन भारतवासियों ने विशेषकर आयुर्वेद और चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में आश्चर्यजनक उन्नति की थी। इस सिलसिले में विभिन्न रासायनिक क्रियाओं से उन्होंने परिचय प्राप्त किया था और वे तरह-तरह के यंत्रों का प्रयोग किया करते थे।

इस दार्शनिक युग में जब मनुष्य के दार्शनिक चक्षु सबसे पहले सृष्टि के प्रति खुले तो उसे सृष्टि के द्रव्यों में भौतिक गुणों की विभिन्नता का अनुभव हुआ। इस अनुभव के फलस्वरूप उनके समक्ष पाँच विभिन्न वस्तुएँ अपने महान् अस्तित्व का विज्ञापन करने लगीं—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश। उसने देखा कि सारी सृष्टि का निर्माण इन्हीं पाँच प्रकार की वस्तुओं से हुआ है, अतएव ये पाँचों सृष्टि के मूलतत्त्व कहलाए। पृथ्वी ठोस वस्तुओं का मूलतत्त्व समझी गई, जल तरल पदार्थों का, वायु गैसीय वस्तुओं का, अग्नि शक्ति का और आकाश उस शून्य का मूलतत्त्व समझा गया जिसमें सारी सृष्टि विस्तृत है। सृष्टि के सारे द्रव्य का अस्तित्व तीन अवस्थाओं—ठोस, द्रव अथवा गैस,—में होता है; इसके अतिरिक्त उसमें जो कुछ है वह या तो शक्ति के रूप में है, अथवा 'ईथर' के रूप में शून्य में विस्तृत है। अतएव भौतिक दृष्टि से हमारे पुरातन पुरुषों का यह वर्गीकरण वैज्ञानिक एवं महत्वपूर्ण है। कपिल के सांख्य दर्शन में इन मूलतत्त्वों का वर्णन विस्तारपूर्वक मिलता है। ग्रीस के अरिस्टॉटल और उसके पहले के दार्शनिक केवल प्रथम चार मूलतत्त्वों को ही मानते थे और चीन के दार्शनिक पाँच मूलतत्त्वों--पृथ्वी, जल, अग्नि, काष्ठ और धातु—की व्याप्ति में ही विश्वास करते थे। अतः यह स्पष्ट है कि

भौतिक दृष्टि से भारतीयों का वर्गीकरण सबसे बढ़ा-चढ़ा था। किंतु रासायनिक दृष्टि से इन सारी मूलतत्त्व संबंधी कल्पनाओं का कोई आधार ही न था। ईसा के कई सौ वर्ष पहले से ही मूलतत्त्व संबंधी यही धारणाएँ ज्ञानियों में प्रचलित थीं; और यद्यपि आज विज्ञान-जगत् में ये मूलतत्त्व केवल ऐतिहासिक महत्व के रह गए हैं, तथापि कवियों और कलाविदों में अब भी उनके प्रति आदर है। तुलसी आदि पुराने कवियों से लेकर हिन्दी के आधुनिक कवियों की रचनाओं तक में पंचतत्त्व की कल्पना का उपयोग हुआ है। इसी प्रकार अंग्रेज़ी में भी 'the fury of the elements' आदि कथन अब भी प्रयुक्त होते हैं, यद्यपि इनका उपयोग विज्ञान के प्रचार के साथ-साथ कम होता जा रहा है।

अपनी विचार-शक्तियों द्वारा हमारे प्राचीन दार्शनिक केवल पंचतत्त्वों तक ही नहीं, अणुओं और परमाणुओं तक भी पहुँच गए थे। कणाद के हज़ारों वर्ष पहले के अणु और परमाणु संबंधी विचार हमें आज भी आश्चर्यान्वित करते हैं। योरप में तो परमाणुवाद का संदेश केवल लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले सन् १८०८ ई० में जॉन डाल्टन ने दिया था। हाँ, डाल्टन के परमाणु संबंधी सिद्धांत अधिक परिपक्व अवश्य थे।

यह सब कुछ होते हुए भी, केवल दार्शनिक शक्तियों के बल पर विज्ञान का क्रमबद्ध विकास भला कैसे संभव हो सकता था। यह असंभव था कि दर्शन सारी प्राकृतिक घटनाओं के रहस्यों का उद्‌घाटन कर सकता। अतएव सत्य के अन्वेषण के लिए इस बार मनुष्य की वैज्ञानिक वृत्तियाँ विचलित हो उठीं। इस प्रारंभिक वैज्ञानिक चेष्टा का श्रेय योरपवालों को ही प्राप्त है। इन चेष्टाओं के साथ-ही-साथ मनुष्य के ज्ञान की प्रौढ़ावस्था अर्थात् उसके वैज्ञानिक युग का परिवर्त्तन होता है। इस युग का प्रारंभ सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से होता है, अर्थात् इसको शुरू हुए तीन सौ वर्ष से अधिक नहीं हुए। इसके पहले योरप में लोग रासायनिक विधियों द्वारा पारस पत्थर (philosophers' stone), अथवा अमृत (elixir of life) अथवा औषधियों को ढूँढ निकालने के प्रयत्न में लगे हुए थे। राबर्ट ब्वॉयल ने पहले-पहल इन ध्येयों का तिरस्कार किया। उसने रसायन का अध्ययन केवल सत्य के अन्वेषण के लिए किया, और विज्ञान-जगत् को प्रयोगों के महत्त्व का संदेश दिया। राबर्ट ब्वॉयल ने ही सबसे पहले यह दिखलाया कि रासायनिक दृष्टि से पंचतत्त्व का सिद्धांत निराधार है। उसने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि सुवर्ण अन्य वस्तुओं से संयुक्त होकर विभिन्न यौगिकों में तो परिणत हो सकता है, लेकिन स्वयं उससे कोई अन्य पदार्थ नहीं निकल सकता; अर्थात् सुवर्ण एक ऐसा द्रव्य है जो दो या अधिक सरलतर पदार्थों में विच्छेदित नहीं हो सकता। किसी भी विधि द्वारा वह सुवर्ण से पंचतत्त्वों को न निकाल सका, अतएव उसने साहस के साथ पंचतत्त्वों के सिद्धांत को अस्वीकृत कर दिया और स्वयं सुवर्ण को ही एक मूलतत्त्व माना। इसी प्रकार अन्य सभी धातुएँ भी मूलतत्त्व सिद्ध हुईं। आज दिन भी, ब्वॉयल के अनुसार, मूलतत्त्व द्रव्य के किसी ऐसे प्रकार को कहते हैं जो दो या अधिक



राबर्ट ब्वॉयल (१६२७-१६९१)

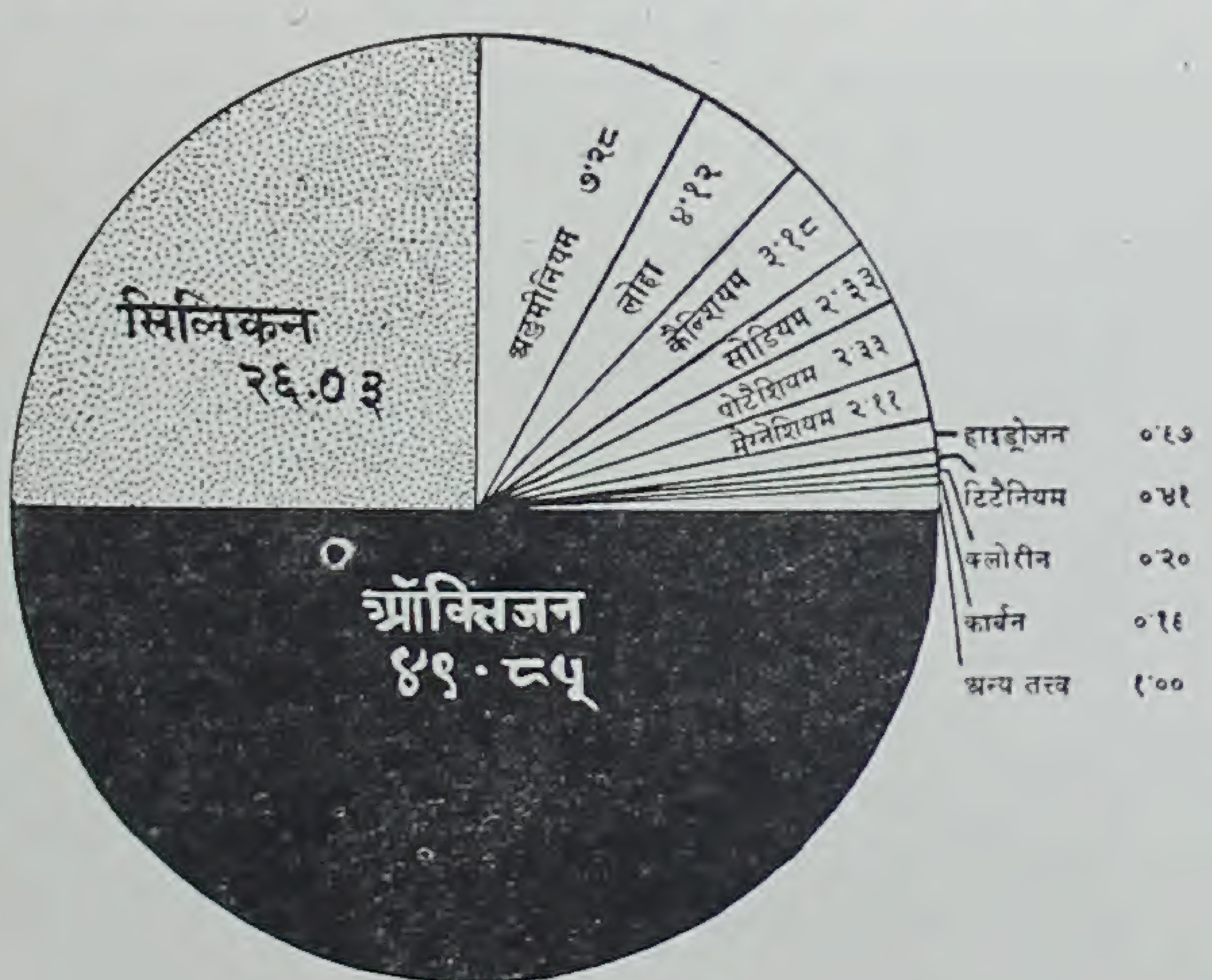
जिसने रसायन का अध्ययन केवल सत्य के अन्वेषण के लिए स्थापित कर आधुनिक रसायन विज्ञान की नींव डाली।

सरलतर पदार्थों में विच्छेदित न हो सकता हो, अर्थात् जिसमें एक ही प्रकार के पदार्थ का अस्तित्व हो। राबर्ट ब्वॉयल के समय में ही इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी में वैज्ञानिक सभाएँ खुलीं, और लगभग इसी समय में गैलीलियो, न्यूटन आदि महान् वैज्ञानिकों ने अपने आविष्कारों द्वारा भौतिक विज्ञान को भी आगे बढ़ाया। अतः वैज्ञानिक अनुसंधान का कार्य उत्साहपूर्वक होने लगा। किंतु इस समय में विज्ञान की उन्नति में एक बहुत बाधा 'फ़्लोजिस्टनवाद' के रूप में पड़ी, जिसका उल्लेख ऑक्सिजन के अध्याय में किया जा चुका है। इस फ़्लोजिस्टनवाद ने लगभग सवा सौ वर्ष तक रसायन की क्रमबद्ध उन्नति को रोके रक्खा। सन् १७७३ से १७७७ तक के समय में लवॉयसियर और प्रीस्टली ने इस फ़्लोजिस्टन का भंडाफोड़ कर डाला; और इन्हीं दोनों वैज्ञानिक वीरों के अनुसंधानों के बाद ही विज्ञान की क्रमबद्ध उन्नति हो चली।

ब्वॉयल के समय से आज तक संसार में बानवे मूलतत्त्वों का अस्तित्व सिद्ध हो चुका है, जिनमें से नब्बे मूलतत्त्व विभिन्न पदार्थों से निकाले जा चुके हैं और उनके भौतिक और रासायनिक गुणों तथा उनकी उपयोगिता की परीक्षा भी हो चुकी है। इनमें से कई मूलतत्त्वों से हमारे प्राचीन रासायनिक भी परिचित थे, लेकिन उन्हें इनका मूलतत्त्व होना ज्ञात न था। नवान्वेषित मूलतत्त्वों में हाइड्रोजन, पोटैशियम, मैग्नेशियम, फ़ॉस्फोरस ऐसे प्रज्वलनशील तथा मनोरंजक; हीलियम, नियन और आर्गन ऐसे निष्क्रिय; अलुमीनियम, क्रोमियम और प्लैटिनम ऐसे मोर्चा न लगनेवाले; टंग्सटन और टैंटलम ऐसे ऊँचे द्रवांकवाले धातु; ऑक्सिजन, क्लोरीन और ऑयडीन ऐसे औषधोपयोगी; रेडियम, थोरियम और यूरेनियम ऐसे नवकिरणोत्पादक तथा दूसरे मूलतत्त्वों में परिवर्तित होते रहनेवाले; और सीरियम, लैंथनम और स्कैंडियम ऐसे विरल मूलतत्त्वों का आविष्कार हुआ है।

हमारी पृथ्वी में कौन मूलतत्त्व कितने परिमाण में है, इसका अध्ययन मनोरंजक है। वायु और जलमंडलों को साथ लेकर चौबीस मील गहराई तक का पार्थिव चिप्पड़ मुख्यतः (९९ प्रतिशत) केवल बारह मूलतत्त्वों से बना है। उसके भार का लगभग आधा तो ऑक्सिजन ही है और लगभग एक चौथाई सिलिकन है। शेष चौथाई भाग में दस मूलतत्त्व हैं। इन बारह मूलतत्त्वों के नाम और इनके प्रतिशतांक इस प्रकार हैं:—

ऑक्सिजन	...	...	४९·८५
सिलिकन	...	...	२६·०३
अलुमीनियम	...	...	७·२८
लोहा	...	...	४·१२
कैल्शियम	...	...	३·१८

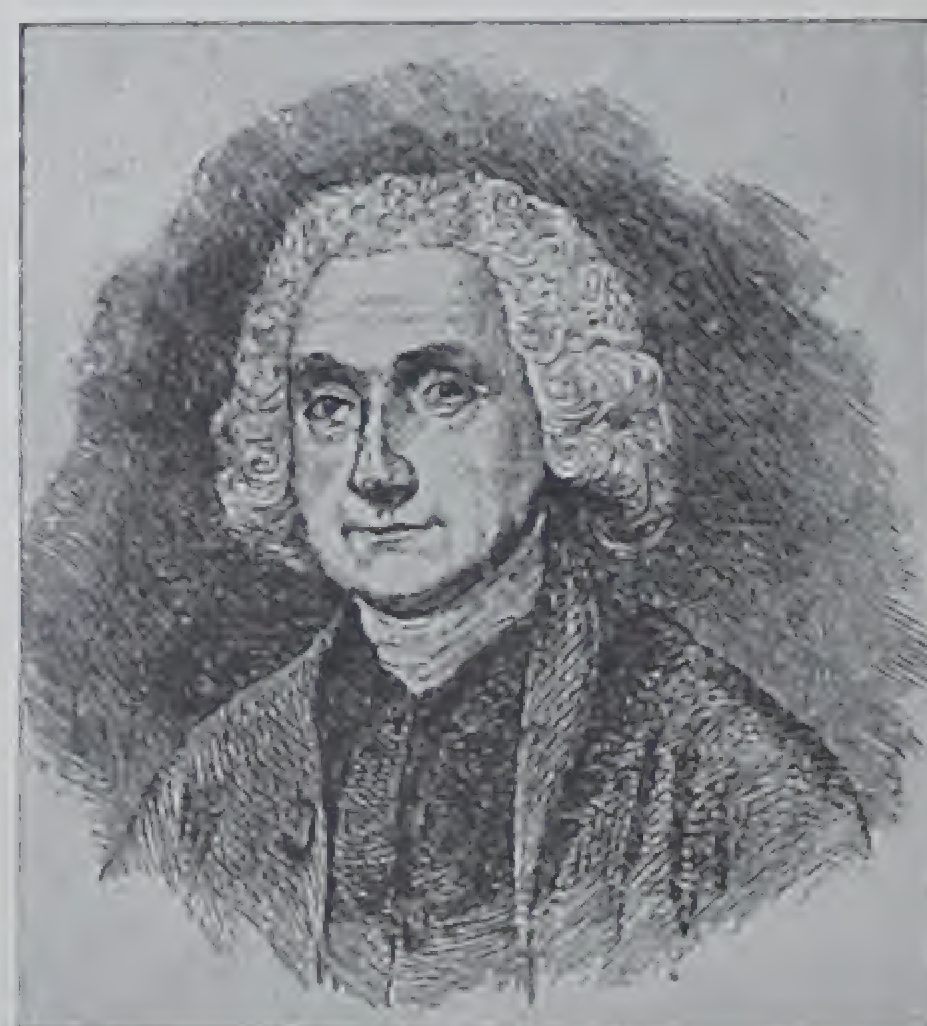


हमारी पृथ्वी में कौन तत्त्व कितने परिमाण में हैं ?

ऊपर के मानचित्र द्वारा आपको पृथ्वी और उसके वायुमण्डल की रचना करनेवाले विभिन्न मूलतत्त्वों के परिमाण का अंदाज़ लग सकता है। प्रतिशत प्रत्येक तत्त्व कितना है, यह ऊपर प्रदर्शित किया गया है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि पृथ्वी का निर्माण करनेवाले द्रव्य का लगभग आधा भाग ऑक्सिजन तत्त्व है और शेष में बाक़ी सब तत्त्व हैं।

सोडियम	...	...	२·३३
पोटैशियम	...	...	२·३३
मैग्नेशियम	...	...	२·११
हाइड्रोजन	...	...	०·६७
टिटैनियम	...	...	०·४१
क्लोरीन	...	...	०·२०
कार्बन	...	...	०·१६
			९९·००
शेष ८० मूलतत्त्व			१·००
			१००·००

एक मनोरंजक बात यह है कि यद्यपि कार्बन सारे जगत् में व्याप्त है, तथापि उसका अंश पृथ्वी की रचना में कितना कम है ! टिटैनियम नामक दुष्प्राप्य मूलतत्त्व का भी अंश कार्बन से अधिक है ! एक दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि पृथ्वी के चिप्पड़ में अलुमीनियम धातु का परिमाण लोहे से लगभग दुगुना है, यद्यपि, लोहे का उपयोग मनुष्य द्वारा अधिक होने के कारण, अलुमीनियम कम दिखाई देता है।

रसायन विज्ञान की उन्नति में योग देनेवाले दो वैज्ञानिक महापुरुष—लवॉयसियर और प्रीस्टली

जिन्होंने 'फ्लोजिस्टनवाद' के भूत का भंडाफोड़ कर आधुनिक रसायन को मज़बूत नींव पर स्थापित किया। ब्वॉयल की तरह इन दोनों वैज्ञानिकों का नाम भी रसायन विज्ञान के इतिहास में अमर रहेगा।

मूलतत्त्वों के गुणों के आधार पर वैज्ञानिकों ने उसका कई दृष्टियों से वर्गीकरण भी किया है। जो मूलतत्त्व प्रायः चमकदार, ठोस, आघातवर्धनीय, तांतव, भारी, गर्मी और बिजली के अच्छे संचालक, तथा ऑक्सिजन के संयोग से क्षारीय (जल से संयुक्त होकर क्षार में परिवर्त्तित होने वाले) ऑक्साइडों के उत्पादक होते हैं, और घोल में जिनके 'आयन' (विद्युन्मय अणुभाग) घन विद्युत् से आविष्ट होते हैं, उन्हें धातु कहते हैं। ताँबा, चाँदी, सोना, सोडियम, पोटैशियम, पारा, लोहा, प्लैटिनम, आदि मूलतत्त्व सभी धातु हैं। जिन मूलतत्त्वों में उपर्युक्त भौतिक गुण प्रायः नहीं होते, जो ऑक्सिजन से संयुक्त होकर आम्लिक (जल से संयुक्त होकर अम्ल में परिणत होनेवाले) आक्साइडों में बदल जाते हैं और जिनके 'आयन' ऋण विद्युत् से आविष्ट होते हैं, उन्हें अधातु कहते हैं। कुछ मूलतत्त्वों के गुण धातुओं और अधातुओं के गुणों के बीच के होते हैं, और वे कभी धातुओं के और कभी अधातुओं के गुण प्रदर्शित करते हैं। ऐसे मूलतत्त्वों को उपधातु (metalloid) कहते हैं। आर्सनिक और ऐंटिमनी मूलतत्त्व उपधातुओं के उदाहरण हैं। यह वर्गीकरण, वास्तव में, अस्पष्ट है ; कारण, यह आवश्यक नहीं कि किसी धातु अथवा अधातु में उसके उपर्युक्त सभी गुण मिलें। एक दूसरे वर्गीकरण में मूलतत्त्व भौतिक और रासायनिक गुणों के आधार पर कौटुंबिक वर्गों में विभक्त कर दिए गए हैं। इस विभाजन को आवर्त्त संविभाग (Periodic Classification) कहते हैं। यह इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसने सारे रसायन विज्ञान के रूप में उलटफेर कर दिया है, जिससे रसायन का अध्ययन भी बहुत सुगम हो गया है। इसका वर्णन हम आगे करेंगे।

मनुष्य ने वैज्ञानिक युग के प्रथम ढाई सौ वर्षों में ही सृष्टि के बानवे मूलतत्त्वों में नब्बे का आविष्कार कर डाला है। यही नहीं, इन मूलतत्त्वों तथा उनके यौगिकों के निर्माण की विधियों तथा उनके गुणों को ढूँढ़ निकालकर उन्हें मानव-जीवन के विभिन्न विभागों में सलाभ प्रयुक्त भी किया है। कहाँ वे तीन सौ वर्ष पहलेवाले दार्शनिक पंचतत्त्व और कहाँ ये आजकल के नब्बे वैज्ञानिक मूलतत्त्व ! कितना अंतर !! और मानव ज्ञान के प्रथम दो युगों की दीर्घता को देखते हुए कितने थोड़े समय में !!!



काल

सृष्टि-विषयक अनेक गूढ़ समस्याओं में काल की समस्या गूढ़ातिगूढ़ है। काल के रहस्य के आगे, क्या दार्शनिक और क्या वैज्ञानिक, सभी को हार मानना पड़ी है। इस अद्‌भुत काल की शक्ति अनंत है। काल ही की धुरी पर मानो यह जगत् अवलंबित है। छोटे-से-छोटे अणु-परमाणु से लेकर विराट् ब्रह्माण्ड तक सभी कुछ काल पर आश्रित है। इस काल की हम किस भाँति कल्पना करें? अमूर्त्त होकर भी यह चराचर जगत् में व्याप्त है। हम पग-पग पर इस अदम्य शक्ति के अस्तित्व का अनुभव करते हैं—काल से परे हम किसी भी वस्तु के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं कर पाते। फिर भी इसके रूप को पहचान पाने में हम असमर्थ हैं। हम सत्य की खोज में निकले हैं—एक अदम्य जिज्ञासा इस विश्व-प्रपंच का रहस्य जान लेने के लिए हमें विकल कर रही है। पर ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते हैं, सत्य नये-नये भेष धारणकर हमें भुलावे में डालने लगता है। यही काल की समस्या के बारे में भी लागू है। मुश्किल तो यह है कि जिस वस्तु की खोज हम करने जा रहे हैं, उससे हम स्वयं ओत-प्रोत हैं। यहीं हमें अपनी पराधीनता, अपनी सीमाओं का भान होता है। यह अद्‌भुत, अज्ञेय, अनंत शक्तिशाली वस्तु काल क्या है? दार्शनिक इसके संबंध में क्या कहते हैं और विज्ञान इसकी कहाँ तक थाह लगा पाया है? आइए, इस लेख में इन्हीं प्रश्नों का उत्तर खोजें।

महाभारत (वनपर्व) में एक कथा है, जिसमें किसी यक्ष ने सरोवर में पानी पीने के लिए गये हुए युधिष्ठिर से कुछ गूढ़ धर्म और अध्यात्म के प्रश्न पूछे हैं। उनमें से एक प्रश्न यह है—

'हे युधिष्ठिर, बताओ, क्या ख़बर है?'

हमारे चारों ओर सदा इसी प्रश्न का ताँता लगा रहता है। जिससे मिलिए, जितनी बार मिलिए, यही प्रश्न सामने आता है—कहिए, क्या समाचार है?

का वार्ता?

यह प्रश्न बहुत-से उत्तर पाकर भी कभी संतुष्ट नहीं होता। कहने को तो संसार के सभी प्रपञ्च इस प्रश्न के उत्तर हैं, परन्तु युधिष्ठिर ने विचारपूर्वक इसका जो उत्तर दिया है वही एक सनातन उत्तर जान पड़ता है। युधिष्ठिर ने कहा—हे यक्ष, संसार-रूपी मोह का कड़ाह है, उसमें सब प्राणी पड़े हुए हैं। रात-दिन का ईंधन जलाकर, नीचे सूर्य की आँच लगाकर, महीने और ऋतुओं की करछुल से घोटकर काल हर समय उन प्राणियों को पका रहा है, बस यही एक ख़बर यहाँ है*। जैसा अजर अमर प्रश्न है, वैसा ही उसका उत्तर है—

भूतानि कालः पचतीति वार्ता।

काल क्या है?

सब प्राणियों को काल का अनुभव है। काल की सत्ता सब चराचर भूतों पर हावी है। कोई ऐसा नहीं जो काल के अधीन न हो। काल जीवन का कठोर सत्य है। काल की कृपा का नाम आयु है, काल का कोप मृत्यु है। संसार का आदि काल में है, संसार का अन्त भी काल है। काल से आगे-पीछे और कुछ नहीं बचता। काल सब भूतों को रचता है, काल ही उन्हें मार देता है। सोचकर देखें तो सूर्य और चन्द्र, धरती और आकाश, महासागर और

* अस्मिन्महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रि दिवेन्धनेन।
मासर्तु दर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥
—वनपर्व ३१३।११८

महापर्वत, कौन-सी ऐसी वस्तु है जिस पर काल का अंकुश न हो! अग्नि और वायु जैसे देव और प्रकृति की दूसरी सब विराट् शक्तियाँ, एक-एक करके सभी काल-चक्र के अधीन हैं। काल की इस महिमा को देखकर भृगु ऋषि ने पूर्वयुग में कालपरक एक गीत गायाः—

काल अजर है। काल की शक्ति अनंत है। काल सबको देखता है, वह सहस्र आँखोंवाला है। सभी काल के रथ पर बैठे हैं। ज्ञानी इस अश्व पर सवार रहते हैं। मूर्खों पर यह स्वयं सवार रहता है। सब लोक इस अद्भुत रथ के पहियों के साथ घूमते हैं। इस रथ की धुरी में अमृत है, तभी तो वह कभी रुकने या छीजने का नाम नहीं लेता। काल लोकरूपी पहियों को औंगकर आगे ढकेलता है। काल पहला देव है। काल के सिर पर एक पूर्ण कुम्भ रक्खा है। यह घड़ा ज्योति से, आयु के जल से लबालब भरा हुआ है। यह घड़ा अनेक रूप धरता है। इस सूर्य-रूपी घट से ही चंचल बाल्यकाल, मनमोहक यौवन और शुष्क जरा के अनेक रूप देखने में आते हैं। वह काल सबसे ऊँचे लोक में है।

काल ने ही इन रीते भुवनों को जीवन से भर दिया है, काल ने ही रंग-बिरंगे जीवन को एक जगह इकट्ठा किया है। पिता-रूप में जो काल था, वही पुत्र-रूप में बन गया। काल से परे कुछ नहीं है। काल ने द्युलोक को बनाया, काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया। भूत और भविष्य की हलचल काल के आश्रित है। सबका होना काल के अधीन है। सूर्य का तपना काल के आधार पर है। काल सूर्य को छोड़ दे, तो सूर्य भी जीवन की सुध भूल जाता है। सब पदार्थ काल के बल पर टिके हैं। आँख जो रात-दिन देखती है, वह काल का ही पसारा है।

हमारा मन, प्राण और नाम सब काल के साथ टँका हुआ है। काल के वरदान को पास आया जानकर सब लोग आनन्द से नाच उठते हैं। तप और ब्रह्म-शक्ति काल में हैं। प्रजापति औरों के पिता हैं, प्रजापति का पिता काल है। काल सब पर ईश्वर है। काल ने ब्रह्माण्ड को प्रेरणा दी, काल से उसमें हलचल है और काल से ही उसे ठहराव मिलता है। काल ब्रह्म की शक्ति बनकर प्रजापति को सँभालता है। काल ने प्रजाओं को बनाया, और उनसे भी पहले प्रजापति को बनाया। स्वयम्भू कश्यप काल से बने और काल ने ही तप को पैदा किया।

जल, जो सबकी माता हैं, काल से उत्पन्न हुए। काल से दिशाएँ निकलीं। काल पाकर सूर्य आकाश में ऊँचे उठते हैं और काल की गति से फिर नीचे डूब जाते हैं। काल पाकर ही बड़ी-बड़ी आँधियाँ उठती हुई वायु-प्रदेश की सफ़ाई करती चली जाती हैं। काल के मंगल से पृथ्वी औषध-वनस्पतियों की बढ़ती को पाती है। काल की कृपा से द्युलोक मेघों को गर्भ में भरकर महान् बनाता है।

विधाता के मंत्र ने काल में पहले भूत और भविष्य को रचकर देख लिया। ऋक्, यजु और साम का त्रिविध चक्र काल से फैला। काल ने यज्ञ के सनातन ताने-बाने को फैलाया, उसी से सृष्टि के देवों को अक्षय भाग पहुँचता है। काल ने गन्धर्व और अप्सराओं के नाना भाँति के जोड़ों (चन्द्र-नक्षत्र, मन-इन्द्रिय आदि) को बनाया। काल पर ही सब लोक प्रतिष्ठित हुए। अथर्वा और अंगिरा (प्राण और मन) काल पर रुके हुए हैं। यह लोक और परलोक, सब पवित्र विधान, व्रत और मर्यादाएँ काल की कीली पर टिकी हुई हैं। काल सबको वश में रखता हुआ ब्रह्म की शक्ति से घूमता है। काल परम देव है।*

इन मंत्रों में काल से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का समावेश पाया जाता है। काल की प्रकट और गुप्त अचिन्त्य महिमा को इतने ओजस्वी शब्दों में वर्णन करनेवाले ये शब्द विश्व के साहित्य में बेजोड़ हैं। यहाँ कहा है स्थिति और गति दोनों काल के आश्रित हैं। सब प्राणियों की रचना में काल ने प्रमुख भाग लिया है। देश के साथ जब तक काल न मिले तब तक सृष्टि का पूरा चौखटा नहीं बनता। सापेक्ष्यतावादी दार्शनिक देश-काल के सम्मिलन (Four-dimensional Space) को बहुत सच्चे अर्थों में सृष्टि का कारण मानते हैं। देश स्थिति है, काल उसको धक्का या गति देता है। संसार शब्द का अर्थ ही है 'जो चले।' संसार का **संसारपना** काल के अधीन है। 'जगत्' का भी शब्दार्थ वही है। गच्छति इति जगत्; जो जाता है वह जगत् है। काल के बिना जाना हो नहीं सकता। एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर वस्तु का हट जाना, यह गमन क्रिया है। घड़ी की सुई एक अंक से हटकर दूसरे अंक पर चली जाती है। इसी का नाम काल है। सुई की प्रगति का कारण काल है। काल प्रगति का फल नहीं, उसका बीज कारण है। ऊपर से देखने से जान पड़ता है कि घड़ी की सुई एक जगह से दूसरी जगह हट गई, इसका फल क्षण, मुहूर्त और घंटे हैं। बात असल यह है कि काल है वही घड़ी की गति का बीज है। काल फल

* अथर्ववेद कांड १९। सूक्त ५३—५४।

नहीं है, स्वयं बीज है, निर्माता है, पिता है। घड़ी तो मनुष्य की कल्पना का कल-पुर्ज़ा है, उसे मनुष्य की चाभी चाहिए, तब सुइयों में प्रगति आती है। पर प्रकृति की घड़ी हमारे सामने है। उसकी चाभी में अमृत है। वहाँ न गति की बाधा है, न रोक है। सूर्य नक्षत्र और पृथ्वी, स्थिर कोई नहीं है। सब जगत् के अन्तर्गत हैं। सबमें 'गम्लृ गतौ' धातु के रूप समाये हुए हैं। इनको धक्का देनेवाली शक्ति कौन है? यह प्रेरक शक्ति (dynamic force) काल है। काल पृथ्वी को सूर्य के चारों ओर घुमाकर हमारे सामने रात-दिन, महीने, ऋतु और संवत्सर की कल्पना करता है। पृथ्वी का घूमना घड़ी की सुई की तरह स्थान बदलना है। इसके पीछे चाभी भरनेवाली अमर शक्ति काल है। सारे ब्रह्माण्ड में एक भी ऐसी वस्तु का ज्ञान हमें नहीं जो काल के सामने आकर पैर अड़ा सके। दूर-से-दूर तक के नक्षत्र और नीहारिकाएँ सभी काल की प्रेरणा से धीरे-धीरे अपनी कुंडली खोलते चले जा रहे हैं। छोटे-से-छोटे परमाणु भी प्रगति के शासन में हैं। अरबों बरस भले ही लगें, पर रेडियम के परमाणुओं का तेज छीनकर उन्हें सीसा बना देने की शक्ति काल ने अपने हाथ में रक्खी है। वैज्ञानिक बताते हैं कि दो अरब बरसों में हिरण्यमय पदार्थों (radio-active substances) के परमाणुओं का विशकलन होते-होते यह दशा हुई है। यह प्रक्रिया काल की नाप की एक प्राकृतिक घड़ी मात्र है। असल बात तो काल की अप्रतिहत शक्ति है। अणु और महत् दोनों में वह व्याप्त है।

मूर्त-अमूर्त काल

जो काल इतना बलवान् है, क्या वही सृष्टि का कारण नहीं है? इस प्रश्न पर भारतवर्ष ने अपनी निजी दृष्टि से विचार किया है। एक काल वह है जो लव-निमेष-युग के रूप में हमारे अनुभव में आता है। यह काल का मूर्त रूप है। घड़ी की सुई से बननेवाले मिनिट और घण्टों की तरह मूर्त काल प्रगति का फल है। इसके पीछे जो प्रेरक शक्ति है वह अमूर्त या अव्यक्त काल है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस बात की खोज करते हुए कि सृष्टि का कारण क्या है, काल को एक कारण कहा गया है। पर यह पूर्वपक्ष है। सृष्टि का असली कारण तो ब्रह्म की अचिंत्य शक्ति है। काल का जो मूर्त या व्यक्त रूप है वह सृष्टि की प्रेरणा करता हुआ भी उसका आदि मूल कारण नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः जो काल ब्रह्मशक्ति का ही दूसरा नाम है, जो सब देवों और सब भूतों से पीछे है, वही अव्यक्त अमूर्त शक्ति सृष्टि का बीज है। इसी काल को लक्ष्य करते हुए अथर्ववेद में काल को परम देव कहा गया है।

भारतीय दार्शनिक परिभाषा में काल और ब्रह्म पर्यायवाची हो जाते हैं। हमारे 'सहस्रनाम' ग्रन्थों में सब देवों के निरपेक्ष स्वरूप का एक नाम काल भी पाया जाता है।

अमूर्त काल के व्यक्त अवयव सूर्य के द्वारा जाने जाते हैं। अतएव लवनिमेश से युगपर्यन्त काल सूर्य से गृहीत है। यह काल का शुक्ल या प्रकट पक्ष है। काल का जो एकरस रूप है उसमें मास, ऋतु और संवत्सर के विराम-चिह्न कहीं देखने में नहीं आते। हमारी आँखों के सामने काल का जो प्रवाह है, उसमें कहीं पर कोई पक्का निशान पड़ा हुआ नहीं मालूम पड़ता। काल के हिसाब-किताब की कल्पना अमूर्त काल की दृष्टि से माया है। अव्यक्त काल को मूर्त काल की तुलना में कृष्ण कहा गया है। सूर्य का दूसरा नाम गरुत्मा सुपर्ण या गरुड़ है। सूर्य खगेन्द्र है। खे आकाशे गच्छति खगः; आकाश में जो विचरण करे वह खग है। नक्षत्र और ग्रह 'खग' हैं इनमें सूर्य खगेन्द्र या पक्षिराट् है। सूर्य मूर्त काल का प्रतीक है। उसका उलटा जो एकरस काल है वह कृष्ण रूप होने से कागभुशुंडि कहा गया है। गरुड़ कल्पान्त तक रहते हैं। जब तक विष्णु की सृष्टि है तभी तक गरुड़ हैं। कागभुशुंडि अमर हैं, मृत्यु उनका स्पर्श नहीं करती।

अहोरात्रवाद

काल के ऊपर कहे दो स्वरूपों की दार्शनिक छान-बीन का प्राचीन नाम अहोरात्रवाद है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सृष्टि से पहले की अप्रतर्क्य दशा का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि उस समय रात और दिन का बिलगाव नहीं था—

न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।

सृष्टि के होते ही प्रलय की कल्पना होती है। रात और दिन एक जोड़ा है। इसी के बहुत से नाम हैं। यह जगत् द्विधा-बद्ध है। दिन सृष्टि है, रात प्रलय है। दिन प्रकाश या ज्योति, रात अन्धकार या तम है। दिन शुक्लभाव है, रात कृष्ण-भाव। दिन स्थिति है, रात विघटन या चरभाव है। दिन का नाम सत्य और रात का नाम ऋत है। दिन द्युलोक है, दिन के साथ देवों का सम्बन्ध है। रात पृथ्वी है, उसके साथ आसुरी शक्ति का सम्बन्ध है। असुरों की सत्ता रात में बढ़ती है। दिन ज्ञान और रात अज्ञान है। ब्रह्माण्ड में जब तक सूर्य की तरह के संचित शक्ति-केन्द्र हैं, तब तक सृष्टि या काल है। जब शक्ति के अधःप्रवाह से संचित

केन्द्र विलीन हो जायँगे अर्थात् शक्ति एकरस होकर सर्वत्र समान रूप से फैल जायगी, तभी सृष्टि का अन्त होगा, वही कृष्ण काल या प्रलय है। विज्ञान की परिभाषा में शक्ति के इस बराबर बह जाने को, ऊँचे केन्द्र से नीचे की ओर बँट जाने को ताप-प्रगति का दूसरा नियम (Second Law of Thermo-dynamics) कहा जाता है।

कालं कालेन पीड़यन्

यहाँ एक दार्शनिक उलझन पैदा होती है। यदि शक्ति के ऊर्ध्व केन्द्र इसी तरह बिखरते रहेंगे तो प्रलय अवश्यम्भावी है। उस प्रलय के बाद फिर सृष्टि कैसे होगी? वैज्ञानिकों का कहना है कि अब तक का जो हमारा अनुभव है उससे यह तो मालूम होता है कि शक्ति बट रही है। पर कहीं भी उपरोक्त दूसरे नियम की उल्टी प्रक्रिया देखने में नहीं आती। अर्थात् ब्रह्मांड में बराबर फैली हुई शक्ति में नये संचित शक्ति-केन्द्र पैदा होते नहीं देखे जाते। जो जल एक समान धरातल पर फैल गया है, उसे फिर ऊँचा उठाने के लिए किसी बाह्य कारण की आवश्यकता होती है। कुछ वैज्ञानिक इस बाह्य कारण को ईश्वर के रूप में मान लेते हैं।

ऋषियों के अनुसार काल की प्रगति एक चक्र के समान है। चक्रगति का नाम ही Law of Periodicity है। मनु ने इसे यों कहा है कि काल ही काल पर दबाव डालकर प्रलय के बाद सृष्टि करता है। घड़ी की जो चाबी ख़त्म हो गई है, उसके कूकने का प्रबन्ध भी साथ-ही-साथ है। इसी का उदाहरण सोना और जागना है। सोने के बाद जागना उसी प्रक्रिया का फल है। प्रलय में पुनः शक्ति का संचय (evolution of energy-centres) यही तप है। किसी अचिन्त्य शक्ति के तप से ही भारतीय ऋषि सृष्टि का विकास स्वीकार करते हैं।

लोमश

अर्वाचीन भूगर्भशास्त्र और रेडियम के विज्ञान ने हमारी काल सम्बन्धी कल्पना को विस्तृत बना दिया है। वैज्ञानिकों की दृष्टि से पृथ्वी की आयु लगभग दो अरब वर्ष है। आर्यों के संकल्प में दिया हुआ सृष्टि-संवत्सर भी क़रीब इतना ही है। हमारा संकल्प देश और काल का सूत्र रूप से परिचय देता है। मनुष्य देश और काल की संधि के किसी बिन्दु पर खड़े होकर किसी कार्य को करने का संकल्प करता है। हमारे प्रचलित संकल्प-मंत्र में ये पाँच विषय रहते हैं—किस देश में, किस काल में, कौन व्यक्ति, किस काम को, किस उद्देश्य से करना चाहता है। यही संकल्प का पाठ है। काल की गणना को आर्यों ने एक शास्त्र का रूप दे दिया था। मानुष, पित्र्य, दैव और ब्राह्म चार प्रकार के दिन-रात की कल्पना की गई है। महर्षि वार्कलि ने काल की माप का यह पहाड़ा स्थिर किया था—

१५ स्वेदायन	=	१ लोमगर्त
१५ लोमगर्त	=	१ निमेष
१५ निमेष	=	१ अन
१५ अन	=	१ प्राण
१५ प्राण	=	१ इदम्
१५ इदम्	=	१ एतर्हि
१५ एतर्हि	=	१ क्षिप्र
१५ क्षिप्र	=	१ मुहूर्त
३० मुहूर्त	=	१ अहोरात्र

इसके आगे पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, कल्प के परिमाण हैं। काल के इन भेदों का अनन्त काल के साथ जो सम्बन्ध है उसे पुराणकारों ने लोमश ऋषि की कल्पना से प्रकट किया है।

एक सृष्टि ब्रह्मा का दिन और एक प्रलय ब्रह्मा की रात है। ऐसे रात-दिनों को जोड़कर जब सौ वर्ष पूरे होते हैं तब ब्रह्मा की आयु पूरी हो जाती है। लोमश ब्रह्मा के पुत्र हैं। ब्रह्मा की एक आयु लोमश की आयु का एक दिन समझा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि लोमश को प्रतिदिन अपने पिता का अन्त्य श्राद्ध करना पड़ता है। इसके लिए लोमश सारे सिर का क्षौर न कराकर अपना एक रोम उखाड़कर फेंक देते हैं। अर्थात् लोमश के एक-एक रोम में एक-एक ब्रह्मा की आयु के बराबर काल की सत्ता समाई हुई है। लोमश का नाम ही यह प्रकट करता है कि उनके रोम-रोम में काल का यह अनन्त परिमाण भरा हुआ है। लोमश की देह के रोएँ कौन गिन सकता है?

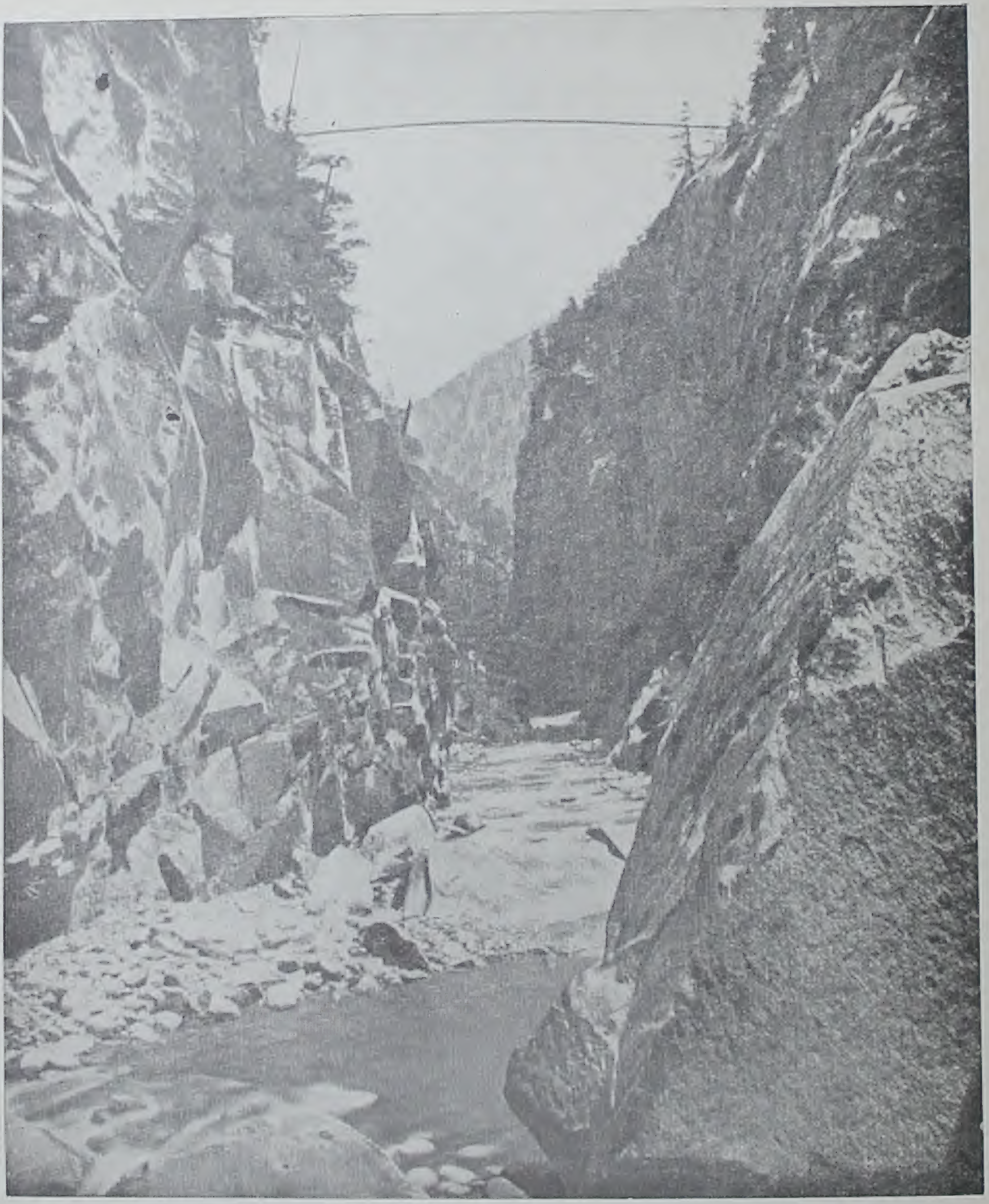
लोमश की आयु में कितने सर्ग और प्रलय पार उतर जाते हैं, इसकी कल्पना भी गणित के अंकों द्वारा हमारे मन को नहीं हो सकती। अनन्त काल की नाप करने में भी कौन समर्थ हो सका है? दोनों की कल्पना से बुद्धि चकराने लगती है। मेटरलिंक के शब्दों में काल और देश, जीवन और चैतन्य, अनन्तता और नित्यता—ये अगम्य और अचिन्त्य रहस्य हैं।

*'... ..unfathomable mysteries, such as life, being, infinity, eternity, time, space and, in general, if you look into the depths of things, nearly all that exists.'

—*The Supreme Law, p. 152*



पृथ्वी की कहानी



जलधारा द्वारा स्थल का क्षय

इस चित्र में हिमालय की चट्टानों को अपने प्रवाह-वेग से काटते, घिसते और चूर्ण-विचूर्ण करते हुए नीचे उतरती हुई गंगा नदी का दृश्य है। इससे हम जान सकते हैं कि किस प्रकार जलधारा अपने प्रवाह-वेग से मार्ग को गहरा और विस्तीर्ण बनाती जाती है और बड़े-बड़े शिलाखण्डों को आपस में रगड़कर क्रमशः कंकड़-पत्थर और बालू में परिणत कर बहा ले जाती है।



जलधारा द्वारा स्थल का क्षय

पृथ्वी के रूप-परिवर्त्तन में जल का प्रमुख हाथ है, यह हम पिछले एक लेख में बतला चुके हैं। आइए, इस लेख में देखें कि किस प्रकार बहता हुआ पानी पृथ्वी के स्थल-भाग का निरन्तर क्षय करता हुआ धरातल का परिवर्त्तन करता रहता है।

बहते हुए पानी की क्रिया मौसमी कार्यकर्त्ताओं की क्रिया के साथ-साथ निरन्तर होती रहती है। एक ओर तो बहता हुआ पानी विखण्डित और जीर्ण-शीर्ण चट्टानों को बहा ले जाकर, उन्हें धारा के वेग से आपस में टकराकर और रगड़कर तथा अपनी थपेड़ों की आघात-प्रतिघात की शक्ति से उन्हें चूर्ण-विचूर्ण करके, चट्टानों का क्षय करता है। साथ ही अपनी धारा की प्रबल प्रवाह-शक्ति से उन चट्टानों को भी घिसता और रगड़ता है, जिन पर होकर वह बहता है। घिसने और रगड़ने की क्रिया जल-धारा की तलहटी और कगारों दोनों में ही निरन्तर होती है। जलधारा के प्रवाह-वेग से मार्ग की चट्टानें और धरती क्षय होकर विलीन होती जाती है और जलधारा अपना मार्ग गहरा और विस्तीर्ण बनाती जाती है। इस प्रकार जल-प्रवाह की शक्ति से घाटियाँ और गर्त बनते हैं।

मौसमी कार्यकर्त्ताओं द्वारा क्षत-विक्षत चट्टानों के खण्ड वर्षा-जल के वेग से धारा के प्रवाह में पड़कर चकनाचूर हो जाते हैं। जल की नैसर्गिक शक्ति ही इतनी प्रबल होती है कि बड़े-बड़े ढोके उसमें पड़कर शीघ्र ही नष्ट और विलीन हो जाते हैं। चट्टानों का क्षय तीन प्रकार से होता है। प्रथम तो आपस की रगड़ और घर्षण के परिणामस्वरूप क्षय होता है। चक्की के दो पाटों के बीच में पड़कर जैसे दाना आटा बन जाता है, उसी प्रकार वेग से बहनेवाली जल की धारा में बहते हुए दो विशाल शिलाखण्ड आपस में टकराते और रगड़ते हुए, जल की थपेड़ों से उत्तेजित होकर एक-दूसरे को पीस डालते हैं और खण्ड-विखण्ड होकर जल में बह जाते हैं। छोटे-छोटे शिलाखण्ड विशाल चट्टानों के नीचे घिसकर बालू हो जाते हैं। तुरंत के टूटे हुए शिलाखण्डों के किनारे बड़े पैने और धारवाले होते हैं। इसलिए वे जब जलधारा के वेग से बहते हैं, तो किनारों और तलहटी की चट्टानों और धरती पर बढ़ई के रन्दे की भाँति खुरचने का काम करते हैं। पैनी और तीक्ष्ण धारवाले शिलाखण्ड आपस में टकराते, रगड़ते तथा तलहटी की चट्टानों को खुरचते हुए और कगारों को चोट पहुँचाते हुए जल की धारा के वेग से बराबर आगे बढ़ते रहते हैं। जैसे-जैसे ये आगे बढ़ते हैं, इनका आकार गोल-मटोल, चिकना और छोटा होता जाता है। अन्त में नष्ट-भ्रष्ट होते-होते ये बालुकणों में परिणत हो जाते हैं। रोड़े और बजरी इनका ही बालुकण बनने से पहले का रूप है।

चट्टानों के जल में घुलने की क्रिया का हाल हम पहले बता चुके हैं। जलधारा के प्रभाव से वे ही चट्टानें घुलती हैं, जिन पर होकर जल बहता है। चूना पत्थर की चट्टानें जलधारा के प्रभाव से शीघ्र ही घुलकर विलीन हो जाती हैं। जैसे-जैसे चट्टान घुलकर जलधारा में मिलती जाती है, नीचे के नये पर्त्त जलधारा के संसर्ग में आते हैं और वे भी कालान्तर में जल में घुलकर बह जाते हैं। हमें यह न भूलना चाहिए कि जल में घुलने की क्रिया के साथ घर्षण की क्रिया भी होती रहती है। इस प्रकार की चट्टानों पर दोहरी मार पड़ती है और वे शीघ्र ही रास्ता छोड़कर जल-धारा के मार्ग को गहरा कर देती हैं।

बहते पानी की धाराओं द्वारा चट्टानों को काटने, पीसने, घिसने और रगड़ने से जो छीलन आदि बनती है, उसको

जलधारा कभी स्थिर नहीं रहने देती। धारा की तरंगों की चपेट से वह निरन्तर जलमग्न होती रहती है और धारा-प्रवाह में पड़कर धारा के साथ-साथ आगे बढ़ती रहती है। यह धारा की 'स्थानान्तरित' करने की क्रिया कहलाती है। स्थानान्तरित छीलन मार्ग के उन स्थानों में रुकती है जहाँ धारा का वेग कम हो जाता है। ये या तो निचले मैदान होते हैं अथवा नदी के संगम। स्थानान्तरित पदार्थ कुछ तो जल के वेग से बहते हैं और कुछ जल में घुले होने के कारण। वर्षा ऋतु में नदियों में बहुधा अत्यधिक बालू, मिट्टी और कीचड़ बहकर आती है। इसीलिए पानी गंदा और मटमैला रहता है। जल का वेग कम हो जाने से ये पदार्थ तलहटी और किनारों पर महीन चिकनी तहों के रूप में बैठ जाते हैं और पानी स्वच्छ हो जाता है। इससे यह तो सिद्ध हो जाता है कि जलधारा के वेग के अनुसार उसमें छीलन आदि पदार्थ बहते हैं।

स्थानान्तरित करने की शक्ति प्रधानतः जलधारा के स्वभाव पर निर्भर करती है। धारा का बहाव सदैव समान और नियमित नहीं रहता है। मध्य भाग किनारों की अपेक्षा अधिक वेग से बहता है और ऊपर का भाग तलहटी के भाग से आगे रहता है। धारा के स्थान-स्थान पर मुड़ जाने और नीची-ऊँची भूमि पर बहने से धारा में 'भँवर' और लहरों का विकास होता है। धारा की उत्ताल तरंगों और भँवरों के कारण भी चट्टानों के जीर्ण-शीर्ण अंश पानी में उठकर नाचते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार के स्थानान्तरित अंश हल्के और छोटे होते हैं। भारी और बड़े टुकड़े नीचे तलहटी में ही लुढ़कते रह जाते हैं और धीरे-धीरे आगे बढ़ पाते हैं। पहाड़ी देशों की जलधारा में उद्गम के निकट विशाल शिलाखण्ड धारा की थोड़ी गहराई में भी बड़े वेग से आगे बहते हैं। धारा के संगम तक पहुँचते-पहुँचते ये विशाल शिलाखण्ड बालू और मिट्टी में परिणत हो जाते हैं।

बहते पानी की चट्टान काटने, छीलने और घिसने तथा बहाने की शक्ति धारा के आकार (आयतन) और उसके वेग पर निर्भर होती है। धारा का वेग चट्टानों अथवा भूमि के ढाल, पानी की मात्रा, धारा की चौड़ाई तथा उसमें बहनेवाले बोझ के अनुसार होता है। ढाल की गहराई के साथ धारा का वेग भी बढ़ता है। ढलवाँ पहाड़ियों में बहनेवाली जलधाराएँ बड़े वेग से बहती हैं और उनकी शक्ति भी महान् होती है। मैदानों में धाराएँ धीरे-धीरे बहती हैं और उनका भूतत्त्विक महत्त्व कम होता है।

धारा में जल की मात्रा धारा के उद्गम और आसपास के प्रवाहक्षेत्र में होनेवाली वर्षा के ऊपर निर्भर करती है। इसी कारण धारा का वेग और धारा की काटने-छाँटने की शक्ति सदैव बदलती रहती है। यद्यपि यह अन्तर प्रायः क्षुद्र-सा होता है तथापि कहीं-कहीं धारा किसी समय बिल्कुल सूख जाती है और किसी समय उसमें बाढ़ आ जाती है। गंगाजी का जल वर्षा ऋतु में ३२ फ़ीट तक अधिक ऊँचा हो जाता है। मिसीसिपी नदी के जल में प्रति वर्ष लगभग १२-२० फ़ीट बाढ़ आती है।

धारा का पाट यदि कम चौड़ा होता है तो जल की क्रियाशीलता अधिक होती है। चौड़े पाट की धारा में जल-शक्ति मन्द पड़ जाती है।

स्वच्छ जल में काटने-छाँटने आदि की शक्ति बिल्कुल नहीं होती, परन्तु इसमें चट्टानें आसानी से घुल जाती हैं।

जलधारा अपना मार्ग विविध रूप से बनाती है और फिर धीरे-धीरे काट-काटकर उसे गहरा कर देती है। धारा की शक्ति के अनुरूप ही उसका मार्ग और घाटी बनते हैं। निरन्तर एक ही वेग से प्रवाहित होनेवाली धारा की अपेक्षा उस धारा की मार्ग बनाने की शक्ति अधिक होती है जिसमें कभी हहराती बाढ़ आती है और कभी जल का अभाव हो जाता है। यद्यपि धाराएँ अपना मार्ग स्वयं खोज निकालती हैं, तथापि बने-बनाये मार्ग अथवा सुगम पथ की ओर वे पहले आकर्षित होती हैं। चट्टानों की दरारों अथवा फटी चट्टानों के गर्त में धाराएँ शीघ्र ही घुस जाती हैं और उन्हें चौड़ा कर डालती हैं।

तीव्र वेगवती धारा के जल और उसमें बहनेवाले बोझे की रगड़ से धारा की तलहटी बहुत शीघ्र घिस जाती है और धारा का मार्ग अधिक गहरा होता जाता है। धारा का वेग जितना ही अधिक होता है, तलहटी की भूमि उतनी ही तीव्रता से क्षीण होती है। तलहटी और कगारों के काटने, छाँटने और घिसने से धारा का मार्ग अधिक गहरा होता है और पहाड़ी प्रदेश में घाटी का रूप धारण कर लेता है। मैदान में धारा चादर की भाँति फैल जाती है, परन्तु पर्वतों के बीच में धारा घाटी को और अधिक गहरी करती हुई नीचे बढ़ती जाती है।

धारा के मार्ग में यदि धारा ऊँची भूमि से एकाएक किसी गर्त में गिरती है तो प्रपात बन जाता है। प्रपात धारा के उद्गम की ओर हटता रहता है। प्रपात के पीछे हटने से धारा जिस गर्त में गिरती है, उसकी लंबान बढ़ती है। कालान्तर में यह गर्त लम्बी और गहरी घाटी के रूप

में परिणत हो जाता है। प्रपात के ऊपर की चट्टानों अथवा नीचे की चट्टानों के नष्ट होने से ही प्रपात पीछे खिसकता है। यदि जिस चट्टान पर प्रपात का जल ऊपर से नीचे गिरता है, वह कड़ी होती है और ऊपर की चट्टान मुलायम अथवा भुरभुरी, तो धारा की तलहटी का मार्ग शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है तथा घिस जाता है। ठीक उस स्थान की चट्टानों के घिसने और क्षय होने से, जहाँ से जल गर्त में गिरता है, प्रपात के गिरने का स्थान भी पीछे हटता है। इस प्रकार पीछे हटता हुआ प्रपात अपने मार्ग में गहरा आखात छोड़ता जाता है, जिसमें बहती हुई धारा आसपास की चट्टानों से छिपी हुई गहरी घाटी में बहती ज्ञात होती है।

यदि प्रपात के ऊपर की चट्टानें कठोर होती हैं और नीचे की नरम, तो नीचे की चट्टानें चूर होकर, घुलकर, घिसकर अथवा जलवेग के आघात से नष्ट होकर विलीन हो जाती हैं और ऊपर की कड़ी चट्टान लटकी हुई रह जाती है। अधिक भारी होने से अथवा कोई झटका खाने से ये लटकी हुई चट्टानें गिर पड़ती हैं और प्रपात का जल थोड़ा पीछे हट जाता है।

पहली दशा में घाटी बनाता हुआ प्रपात धीरे-धीरे विलुप्त हो जाता है, परन्तु दूसरी अवस्था में प्रपात बना रहता है और धारा के आरपार आरी की भाँति काटता हुआ, घाटी बनाता धीरे-धीरे पीछे हटता है।

धारा के जल में चक्र और भँवर उत्पन्न होने से भी धारा की तलहटी गहरी होती है। भँवर में घूमनेवाले जल के वेग से तलहटी के पत्थर और रोड़े भी बड़ी तीव्रता से घूमते हैं। भँवर का वेग जितना ही तीव्र होता है, जलमग्न पत्थर और रोड़ों की शक्ति उतनी ही बढ़ती है। तेज़ी से नाचते हुए भँवर के कारण रोड़े और पत्थर बढ़ई के बर्मा की भाँति धारा की तलहटी में गहरे गोल गड्ढे करते हैं। इनको 'भँवर गर्त' कह सकते हैं, परन्तु इनका आकार बिल्कुल पेंदीदार बर्त्तन का-सा होने के कारण इन्हें अँगरेज़ी में 'पॉट होल' (Pot Hole) कहा जाता है। यदि बहुत से गर्त पास-पास हो जाते हैं तो उनकी सीमा मिल जाने से तलहटी की गहराई बढ़ जाती है और धारा नीचे उतरती जाती है। पीछे हटनेवाले प्रपात के नीचे इस प्रकार के भँवर-गर्त असंख्य उत्पन्न होते हैं और धारा को नीचा करने में सहायक होते हैं।

जलधारा बराबर अपनी तलहटी को घिसती और काटती जाती है। परन्तु इस गहराई की सीमा निश्चित है। अधिक-से-अधिक जिस गहराई तक धारा अपनी तलहटी को काट सकती है वह 'आधार-तल' कहलाता है। 'आधार-तल' और 'सागर-तल' सदैव समतल होते हैं; क्योंकि सागर-तल के समीप पहुँचकर धारा अपनी तलहटी को गहरा करना छोड़ देती है। इसलिए आरम्भ से लेकर संगम तक धारा अपने मार्ग की तलहटी को उस समय तक बराबर गहरा किए जायगी, जब तक धारा की तलहटी 'आधार-तल' के बराबर न हो जाय। आरम्भ में धारा समुद्र-तल से जितने ऊँचे प्रदेशों पर बहती है, कालान्तर में वह उतनी ही गहरी घाटी बनाती है। जब तलहटी और सागर-तल बराबर हो जाते हैं, तब घाटी का गहरा होना भी बन्द हो जाता है। यदि धारा का संगम सागर से न होकर किसी झील में होता है तो 'आधार-तल' झील के तल के समान होता है। परन्तु यह आधार-तल स्थानीय और अस्थाई होता है; क्योंकि झील का जल जब सागर-तल से अधिक ऊँचा होगा तो वह सागर की ओर बह निकलेगा और तब तक बहता रहेगा जब तक झील और सागर समतल न हो जाएँ।

स्थानान्तरित करना जलधारा का सबसे महत्वपूर्ण भूतत्त्विक कार्य है। जलधारा अपनी क्रियाओं तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं की क्रियाओं से उत्पन्न शिलाखण्डों की छीलन और चूरचार को बहा ले जाती है। स्थल की इस चूरचार को सागर तक पहुँचाने का इसके अतिरिक्त और कोई उत्तम साधन नहीं है। धारा के साथ कुछ पदार्थ तो जल में घुला रहता है और कुछ जल में बूड़ा हुआ। भारी-भारी खण्ड तलहटी में धारा के वेग से खिसकते हैं।

जलधारा के वेग और बोझा ढोने की शक्ति में छठे घात (Sixth Power) का अनुपात है। इसके अनुसार यदि किसी नदी का वेग दूना हो जाय तो उसकी बोझा ढोने की शक्ति २^{६} (२×२×२×२×२×२)=६४ गुना हो जावेगी। और वह पहले की अपेक्षा ६४ गुना भार सहन कर सकेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि धारा का वेग तनिक भी बढ़ जाने से वह अधिक भार बहा ले जावेगी। और तनिक भी कम हो जाने से अपने भार को तुरन्त पटक देगी। अमरीका की मिसीसिपी नदी का वेग निरंतर अस्थिर रहता है—कभी घटता है, कभी बढ़ता है। इसी कारण वह कभी अपने मार्ग को काटती, किनारों को नष्ट करती चलती है; कभी किनारों पर बोझा पटकते-पटकते उन्हें ऊँचा कर देती है। कभी तलहटी में द्वीप बनाती और कभी उन्हें बहाती चलती है।

जल की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उसमें पड़ी हुई

वस्तु उछलती है। जल की इस "उछलने की शक्ति" (buoyancy) का बहनेवाले पदार्थ पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जल में पड़ने से पदार्थ हल्का हो जाता है। शिलाखण्डों के आकार का भी प्रभाव पड़ता है। गोल-मटोल कंकड़-पत्थर तलहटी में बड़ी सुगमता से लुढ़कते चलते हैं। चिपटे और लम्बे पतले खण्ड धाराओं में शीघ्रता से बह जाते हैं।

जलधारा का वेग बढ़ने से उसकी जो शक्ति बढ़ती है उसी के परिणामस्वरूप नदियों में बाढ़ आने पर बाढ़वाले प्रदेश प्रायः नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। बाढ़ लगभग सभी नदियों में आती है। परन्तु जिनका वेग अधिक होता है उनकी बाढ़ प्रलयंकारी होती है। बाढ़ के समय में नदियों में इतनी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि साधारण बाँध आदि तो विलीन हो ही जाते हैं साथ ही इस्पात के दानवीय पुल भी ऐसे तोड़े-मरोड़े जाते हैं जैसे बच्चे तिनकों के मुट्ठों को मरोड़ डालते हैं। भारी रेल की पटरियाँ कभी-कभी ऐंठी हुई रस्सी की तरह मरोड़ दी जाती हैं। मकान और वृक्ष भुनगों की तरह पिस जाते हैं। हमारे पाठक ऐसी बाढ़ों से अपरिचित नहीं हैं। ब्रह्मपुत्र, गंगा आदि में प्रायः ऐसी प्रलयंकारी बाढ़ आती हैं।

साधारण नदी अपने प्रवाहक्षेत्र को प्रतिवर्ष एक फुट का चार हज़ारवाँ भाग घिसती है। इससे समस्त स्थल-मार्ग ४००० वर्ष में १ फुट नीचा हो रहा है। भूमण्डल के स्थल-प्रदेश की औसत ऊँचाई २५०० फुट है। इसलिए यदि नदियों के काम में बाधा न पड़े तो वे समस्त स्थलमण्डल को १ करोड़ वर्ष में पूरा घिसकर समुद्र में डुबा दें।

धारा के मार्ग के ढाल, प्रवाह-प्रदेश की वर्षा की मात्रा तथा नदी के वेग के अनुसार ही नदी बोझा ले जाती है। गंगा और ब्रह्मपुत्र नदियों द्वारा बहाया हुआ पदार्थ मिसीसिपी नदी द्वारा बहा लाये गए पदार्थ की अपेक्षा पाँच गुने से भी अधिक होता है। ब्रह्मपुत्र और गंगा प्रतिवर्ष लगभग ४०,०००,०००,००० घनफुट ठोस पदार्थ बहाकर लाती है। चीन की नदियाँ इतना अधिक ठोस पदार्थ प्रतिवर्ष बहाकर लाती हैं कि पीला सागर इस पदार्थ से बदरंग हो जाता है। अमेज़न नदी द्वारा जितना बोझा समुद्र में पहुँचता है वह भी आश्चर्यजनक है।

पर्वतीय प्रदेश पीछे छूट जाने पर नदी का वेग कम हो जाता है। बोझा ढोने की शक्ति तो कहीं और भी कम हो जाती है। इसलिए नदी के मध्यवर्ती मार्ग में केवल रेत या मिट्टी के कण ही पानी के साथ आगे बढ़ते हैं। वेग तो ढाल के अनुसार होता है। इसलिए ढाल न होने से पानी का तेज़ी से बहना भी बन्द हो जाता है। मध्यवर्ती मार्ग में ढाल कम होने से नदी टेढ़ी चाल से धीरे-धीरे बहती है, और जहाँ-तहाँ कछार छोड़ती जाती है। बाढ़ के दिनों में काँप और भी दूर तक फैल जाती है। समुद्र के पास पहुँचकर नदी का जल शान्त-सा हो जाता है। यदि समुद्र में ज्वार-भाटा न हुआ तो कछारी मिट्टी नीचे बैठ जाती है। लगातार नई मिट्टी के आने से नदी के मुहाने पर मिट्टी का ढेर ऊँचा हो जाता है, जिससे नदी के मार्ग में बाधा पड़ती है और नदी दो धाराओं में बँट जाती है। इन दोनों धाराओं के बीच में त्रिभुजाकार भूमि निकल आती है। इसको डेल्टा कहते हैं। प्रतिवर्ष यह डेल्टा बढ़ता ही रहता है।

जिन नदियों के मुहाने पर प्रबल ज्वार-भाटा आता है अथवा समुद्री धारा चला करती है वहाँ नदियों की लाई हुई मिट्टी दूर जाकर समुद्र के भीतर पहुँचती रहती है। इसलिए नदियों का मुहाना खुला रहता है, अर्थात् वे 'इस्चुऐरी' बनाती हैं। कभी-कभी निर्बल भाटा अथवा अधूरी धाराओं के कारण मुहाने के एक सिरे पर बालू या मिट्टी की निमग्न या निकली हुई राशि इकट्ठा हो जाती है। इसे बाधा या 'बार' (Bar) कहते हैं।

इस प्रकार जलधारा भी निरन्तर धरातल के घिसने में लगी रहती है और वायुमण्डल के क्षयात्मक कार्य में सहायक होती है। जलधारा के प्रभाव से धरातल धीरे-धीरे घिसता है। भिन्न-भिन्न जलवायु और स्थलों में जलधारा का प्रभाव विभिन्न होता है। किसी प्रदेश का ढाल और उसमें होनेवाली वर्षा का विशेष महत्त्व है। गंगा नदी जिस प्रदेश में होकर बहती है वहाँ वर्षा प्रचुर होती है। इसलिए मिसीसिपी नदी की अपेक्षा वह दूना पदार्थ समुद्र में बहा ले जाती है और अपने प्रवाहक्षेत्र को दूने वेग से घिसती है।

धरातल की आजकल की दशा में प्रति वर्गमील भूमि से ११४०० घनफुट पदार्थ कटकर प्रति वर्ष समुद्र में पहुँचता है। पिछले दिनों की अपेक्षा यह पदार्थ बढ़ता जाता है। स्थल-भाग के इस तरह निरंतर कट-कटकर समुद्र को पाटते रहने के कारण समुद्र छिछला होता जाता है और इस प्रकार कहीं-कहीं भू-भाग विस्तार में बढ़ता जाता है। छीलन की मात्रा किसी भी प्रदेश की नदियों की अवस्था के अनुसार होती है। नई नदियाँ प्रायः पुरानी नदियों की अपेक्षा अधिक वेगवती और अधिक हानि पहुँचानेवाली होती हैं। अगले लेख में आप नदियों की कहानी पढ़ेंगे।



वायुमण्डल

वायुमण्डल पृथ्वी के जल और स्थलमण्डल की भाँति धरातल का एक अंग है। वायव्यावस्था में होने के कारण यह जल और स्थल दोनों से हलका है और ऊपर उठा हुआ है। वायुमण्डल का वेष्टन पृथ्वी को चारों ओर से उसी प्रकार घेरे है जिस प्रकार नारंगी को उसका छिलका ढके रहता है। वायुमण्डल का आकार भी धरातल के आकार की भाँति है, और इसकी ऊँचाई तीन सौ मील से भी अधिक समझी जाती है। ऋतु-परिवर्त्तन आदि वायुमण्डल, जलमण्डल और धरातल के साथ उनके सम्बन्ध से होते हैं। अतएव धरातल के अध्ययन के लिए वायुमण्डल का अध्ययन ज़रूरी है।

वायुमण्डल के महासागर में हम उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार जल के महासागरों में मछलियाँ तथा अन्य जीव रहते हैं। अभी तक इसका पता नहीं लगा है कि वायुमण्डल की गहराई ठीक-ठीक कितनी है, परन्तु यह बात विदित हो चुकी है कि वायुमण्डल पृथ्वी के समीप अधिक घना है और जैसे-जैसे हम ऊपर चढ़ते हैं, वायु हल्की और पतली होती जाती है। अन्त में इसका पता नहीं लगता कि कहाँ पर वायु बिल्कुल विलीन हो जाती है।

वायुमण्डल का भार

धरातल के समीप वायुमण्डल के घने होने का कारण उसके ऊपर की वायु का दबाव है। ज्यों-ज्यों हम ऊपर चढ़ते जाते हैं, वायु का परिमाण कम होता जाता है, और दबाव भी कम हो जाता है। प्रति ३॥ मील की ऊँचाई पर ऊपरी वायुमण्डल भार में प्रायः आधा रह जाता है। समुद्र-तट की अपेक्षा ३॥ मील ऊँचे स्थानों में वायु का भार आधा होता है। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों हम अधिक ऊँचे पर्वतों पर चढ़ते हैं, हवा का भार कम होता जाता है। हवा का भार नापने के लिए हम जिन यन्त्रों का प्रयोग करते हैं, उनका वर्णन इसी अंक में 'भौतिक विज्ञान' स्तंभ में किया गया है। इन यन्त्रों को बैरोमीटर कहते हैं। पर्वतारोहण करनेवाले जानते हैं कि ऊँचे पर्वतों पर चढ़ते समय किस प्रकार साँस लेने में कठिनाई होती है और यह कठिनाई ऊँचाई के साथ बढ़ती ही जाती है। हिमालय के दुर्गम और अजेय शिखरों पर पहुँचने में असफलता मिलने का यह भी एक प्रधान कारण है कि उस ऊँचाई पर वायु इतनी पतली है कि उसमें मनुष्य जीवित नहीं रह सकता।

वायुमण्डल के अवयव

वायुमण्डल का निर्माण कई वायव्यों से मिलकर हुआ है। इनमें प्रमुख नाइट्रोजन, ऑक्सिजन, आर्गन, कार्बन-डाइऑक्साइड और हाइड्रोजन हैं। इनके अतिरिक्त वायु में जल-वाष्प और धूलिकण (त्रसरेणु) भी रहते हैं। यद्यपि जल-वाष्प और त्रसरेणु वायुमण्डल के अंश नहीं हैं और धरातल तथा जलमण्डल से आकर इसमें सम्मिलित हो गये हैं तथापि इनका महत्त्व धरातल के ऋतु-परिवर्त्तन, ताप, प्रकाश और वर्षा आदि के लिए बहुत अधिक है।

वायुमण्डल के निचले भाग में भारी वायव्य और त्रसरेणु पाये जाते हैं। ऊपरी भाग में सम्भवतः ओज़ोन और हीलियम आदि हल्के वायव्य हैं। विभिन्न अवयव वायुमण्डल में किस अनुपात में हैं, यह निम्न तालिका से ज्ञात होता है:—

नाइट्रोजन ७८·०३%	आर्गन ०·९४%
ऑक्सिजन २०·९९%	कार्बन डाइऑक्साइड ०·०३%
हाइड्रोजन ०·०१%	

यद्यपि वायुमण्डल के सभी अवयव मनुष्य के लिए परम उपयोगी हैं तथापि ऑक्सिजन और कार्बन डाइऑक्साइड का विशेष महत्त्व है। ऑक्सिजन के विषय में आप पढ़ चुके हैं और कार्बन डाइऑक्साइड के विषय में आगे पढ़ेंगे। दोनों ही वायव्य जीवनप्रदायक हैं। ऑक्सिजन जीवमात्र को जीवनप्रदायिनी है, कार्बन डाइऑक्साइड

वनस्पति जगत् को। दोनों का सम्बन्ध इस प्रकार से है कि एक के क्षय से दूसरे वायव्य की उत्पत्ति और दूसरे के क्षय से पहले की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि वायुमण्डल में इन दोनों वायव्यों का कभी अभाव नहीं हो सकता।

नाइट्रोजन वायुमण्डल में ऑक्सिजन को घुलाये रखती है। यह गैस ऑक्सिजन की अपेक्षा हल्की होती है। वायुमण्डल में ६८ मील की ऊँचाई तक ही ऑक्सिजन पाई जाती है। नाइट्रोजन के पाये जाने की सम्भावना ८० मील की ऊँचाई तक समझी जाती है।

वायुमण्डल की जाँच

अभी तक मनुष्य वायुमण्डल की बहुत थोड़ी गहराई की थाह लगा पाया है। गुब्बारों में बैठकर प्रो० पिकार्ड ने वायुमण्डल में दस मील की ऊँची यात्रा की है। अधिक-से-अधिक मनुष्य साढ़े चौदह मील ऊपर तक पहुँच पाया है। इससे ऊँचा पहुँचना अभी सम्भव नहीं हो सका है। तब फिर इससे भी ऊँचे वातावरण की जाँच कैसे की गई?

वायुमण्डल के ऊपरी भाग को जाँचने के लिए ख़ास तौर के गुब्बारे काम में लाये जाते हैं। इन गुब्बारों में स्वयंलेखक यंत्र लगा दिये जाते हैं, जो एक विशेष ऊँचाई पर पहुँचकर स्वयमेव कार्य करने लगते हैं और वहाँ की अवस्था को अंकित कर लेते हैं। जब गुब्बारे नष्ट हो जाते हैं तो स्वयंलेखक ऋतुमापक यन्त्र नीचे गिर पड़ते हैं। इन यन्त्रों में अंकित बातों से वायुमण्डल की ऊपरी अवस्था का परिचय मिलता है।

वायुमण्डल का ताप

गुब्बारों द्वारा अंकित बातों से पता लगता है कि वायुमण्डल के ऊपरी भाग के चाप और भार में तो अंतर है ही, साथ ही ताप में भी महान् परिवर्त्तन होता है। वायुमंडल के ऊँचे भागों में निचले भागों की अपेक्षा गरमी कम है और ज्यों-ज्यों हम अधिक ऊँचाई की ओर उठते जायँ त्यों-त्यों हमें अधिक ठण्ढा वायुमण्डल मिलता जाता है। अनुमान लगाया गया है कि प्रत्येक १०० गज़ की ऊँचाई के पश्चात् १ अंश फ़ारनहाइट तापक्रम कम हो जाता है। यदि वायु में भाप और धूलि के कण न हों तो प्रति ६० गज़ की चढ़ाई के बाद तापक्रम १ अंश कम हो जाता है। आठ-दस मील की ऊँचाई तक हवा का तापक्रम इसी क्रम से घटता रहता है। इसी ऊँचाई तक की हवा में तापक्रम अक्षांश के अनुसार भिन्न-भिन्न रहता है। इसी ऊँचाई तक दिन और रात्रि तथा ग्रीष्म और शीत के तापक्रम में भी अन्तर पाया जाता है। आँधी, तूफ़ान और बादल आदि सबकी सीमा इसी ऊँचाई तक है। इसलिए इसे वायुमण्डल का 'चंचल' या 'परिवर्त्तन-मण्डल' (Troposphere) कहते हैं।

इससे ऊपरी वायुमण्डल की जाँच से पता चला है कि १० मील से अधिक ऊँचाई पर वायुमण्डल का तापक्रम सभी अक्षांशों, सभी ऋतुओं, तथा दिन-रात के सभी घंटों में लगभग १०० अंश फ़ारनहाइट रहता है। ठण्ढक स्थाई रहती है, न घटती है न बढ़ती है। यहाँ वायुमण्डल शान्त और क्षीण है। इसीलिए इस भाग को 'स्थिर' अथवा 'अचल' मण्डल (Stratosphere) कहते हैं।

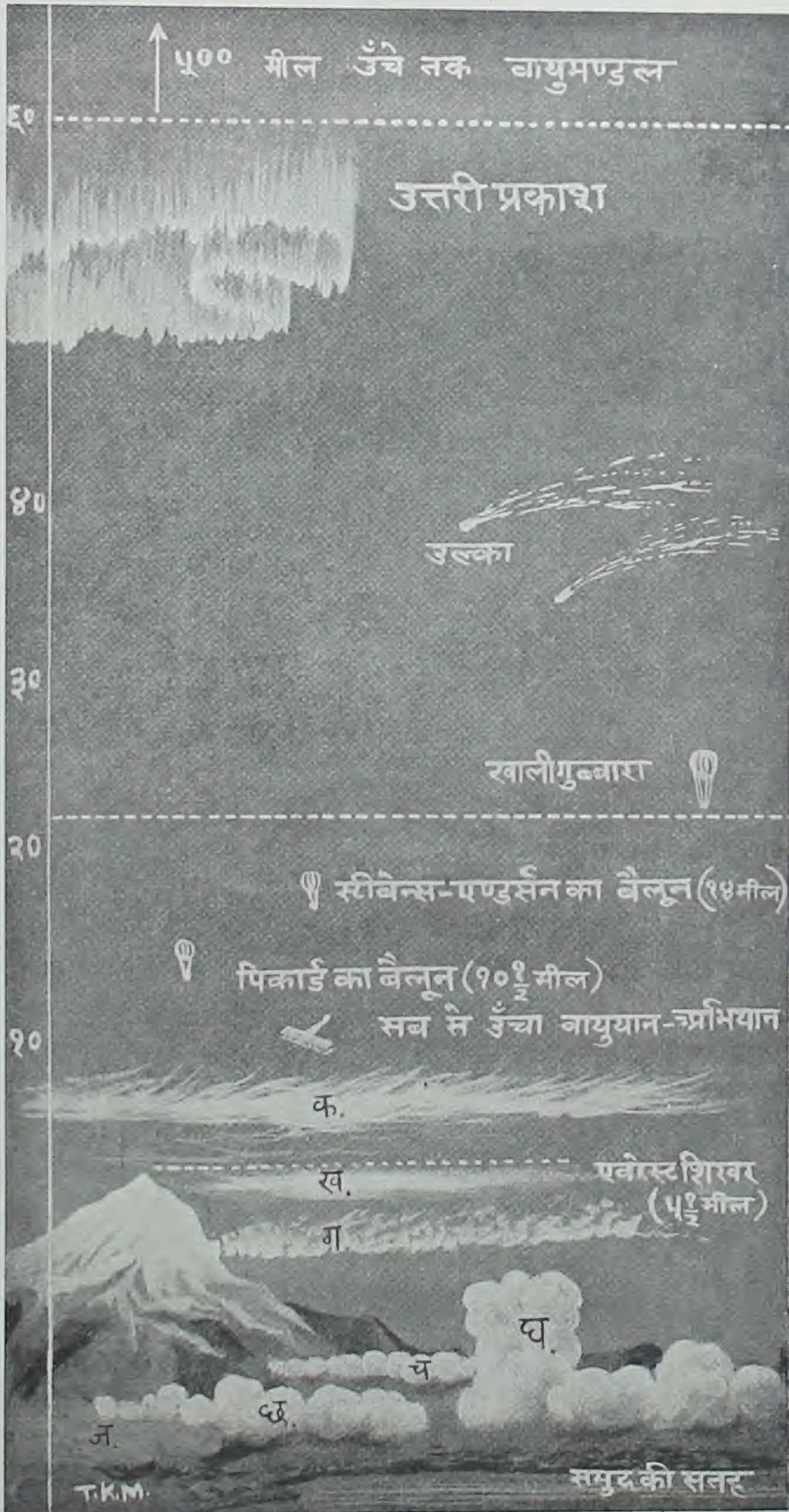
वायुमण्डल के त्रसरेणु

वायुमण्डल सब स्थानों पर रजकण से लदा हुआ है। इन्हें 'त्रसरेणु' के नाम से पुकारा जाता है। 'त्रसरेणु' मिट्टी, धुएँ, रेत, सामुद्रिक सीकर, नमक, ज्वालामुखी की राख, उल्कापात की धूल, फूलों के पराग आदि के नन्हें-नन्हें कणों की अनन्त राशि है, जो वायुमण्डल में सर्वत्र व्यापक है। सूर्य का प्रकाश और धूप हमारे घरों में इन त्रसरेणुओं द्वारा छन-छनकर आ पाता है। धरातल के चारों ओर इनका एक परदा-सा पड़ा हुआ है। आकाश की नीलिमा इन्हीं की बदौलत दिखाई पड़ती है, नहीं तो आकाश घोर काला और भयानक लगता। सूर्य से आने-वाले प्रकाश की किरणों का पता हमको तभी लगता है जब कोई वस्तु उनके मार्ग में आ जाती है और इससे टकराने के कारण उन्हें लौटना या मार्ग बदलना पड़ता है। प्रकाश जब धरातल की ओर आता है तब इस रजकण-राशि पर पड़ता है और उससे टकराकर लौट जाता है। इसी से हमें वायुमण्डल प्रकाशित लगता है। यदि त्रसरेणु न होते तो प्रकाश के धरातल पर आने पर केवल वही वस्तु हमें दिखाई पड़ती जिनसे उसकी किरणें टकरातीं। शेष सब स्थान अंधकारपूर्ण होता। आकाश भी काला दिखाई देता और दिन में भी तारे दिखाई पड़ते।

भिन्न-भिन्न स्थानों और समयों में त्रसरेणुओं की संख्या न्यूनाधिक होती रही है। खुले प्रदेशों की अपेक्षा नगरों में इनकी संख्या कई गुना अधिक होती है। नगरों के वायुमण्डल में धूलि के कण अधिक बड़े होते हैं। इसीलिए नगरों में आकाश धुँधला या भूरा दिखाई पड़ता है। जहाँ ये त्रसरेणु महीन और कम होते हैं, वहाँ आकाश नीला और स्वच्छ दिखाई पड़ता है। आर्द्र वायु में त्रसरेणु भारी होकर धरातल की ओर गिरने लगते हैं। यही कारण है कि बरसात में वायुमण्डल शुद्ध और स्वच्छ प्रतीत होता है।

उषा और गोधूलि-वेला की मनोहारिणी अरुणिमा एवं अन्य मनोहर रंग इन्हीं कणों के प्रभाव से दीखते हैं और वास्तविक बात तो यह है कि यदि धूल और धुएँ के कण न हों तो न वर्षा हो और न ओस गिरे। न बादलों के बनने की ही नौबत आये। जलसीकर और हिमसीकर इन्हीं त्रसरेणुओं के कारण बन पाते हैं।

नन्हें-नन्हें जलसीकर की राशि पर जब सूर्य की किरणें पड़ती हैं और यह राशि सारे नभमण्डल में एक ही धरातल में होती है तो प्रत्येक सीकर एक त्रि-पार्श्व काँच (triangular prism) का काम करता है और किरणों का प्रतिफलन तथा त्रोटन दोनों होने से



वायुमण्डल का विस्तार
इस चित्र में वायुमण्डल के केवल निचले स्तरों का एक मानचित्र दिया गया है। बाईं ओर के अंकों द्वारा (मीलों में) ऊँचाई दी गई है। क, ख, ग, घ, च और छ क्रमशः कुंतल (Cirrus), **परतीले-कुंतल** (Cirro-Stratus), **कुंज-कुंतल** (Cirro-Cumulus), **जलदकुंज या उनीले**(Cumulus-nimbus), **उच्च कुंज** (Alto-Cumullus) **और कुंज या उनीले** (Cumulus) **मेघ हैं।**

नभमण्डल में इन्द्रधनुष की छवि देखने में आती है।

सूर्यताप और वायुमण्डल

धरातल पर होनेवाली विभिन्न ऋतुओं (गरमी और सरदी आदि) का कारण पृथ्वी का 'आवर्त्तन' और 'परिभ्रमण' तो है ही, साथ ही वायुमण्डल के ताप और चाप का निरन्तर होते रहनेवाला परिवर्त्तन भी है। एक तो धरती में भीतरी गरमी है, दूसरे सूर्य का तेज उसे बाहर से गरम किये रहता है। धरातल की बनावट भी भिन्न-भिन्न है। कहीं मिट्टी है, कहीं रेत; कहीं पत्थर है, कहीं जल; कहीं हरियाली है, कहीं ऊजड़ बंजर भूमि। इसका फल यह होता है कि सूर्य का तेज कहीं तो धरती में सोख लिया जाता है और कहीं से लौटा दिया जाता है। कहीं-कहीं दोनों ही बातें होती हैं। जल पर पड़नेवाली धूप उसे गरमा देती है। ऊपरी तह भाप बनकर उड़ जाती है और वायुमण्डल में मिल जाती है। सूखी धरती जल की अपेक्षा जल्दी गरम होती है और तपती है। इसी कारण समुद्रतट से दूर के प्रदेश ग्रीष्म-ऋतु में अधिक गरम और तप्त होते हैं। जाड़ों में भी समुद्र-तट के प्रदेश अधिक ठण्डे नहीं हो पाते; क्योंकि जल से गरमी निकलती भी देर में है। धरती से गरमी जल्दी निकल जाती है, इसीलिए शीतकाल की रात्रि में समुद्रतट से दूर के स्थान अधिक ठण्डे होते हैं।

गरमी से वायु चारों ओर फैलती है और उसका आयतन बढ़ जाता है। आयतन बढ़ने से वायु ठण्ढी पड़ जाती है और तापांश घट जाता है। ठण्ढक से संकोच होता है। दबाव से आयतन घटता है और गरमी बढ़ जाती है। दबाव घटा देने से आयतन बढ़ जाता है और साथ ही ठण्ढक भी बढ़ जाती है। वायुमण्डल में भी जब एक ओर दबाव बढ़ जाता है तो आयतन घट जाता है और उस ओर से हवा बह आती है। इस तरह से वायु में बहाव पैदा होता है। अधिक दबाववाले प्रदेश से कम दबाववाले प्रदेश की ओर हवा बहती है। इसी प्रकार हवा की धारा बनती है।

सूर्य की गरमी से धरातल के पास की वायु गरम होकर ऊपर उठ जाती है और उसका स्थान और वायु ले लेती है। कारण यह है कि गरम होने से हवा अधिक फैल जाती है और इससे उसके ऊपर की हवा बहुत दब जाती है। इस स्थान की हवा में इसके चारों ओर की हवा की अपेक्षा अधिक दबाव होने के कारण, जहाँ दबाव कम है उस ओर हवा की धारा बहने लगती है। परन्तु इस धारा के बहने से आगे की तथा नीचे की तहों की हवा दबती जाती है। इसका फल यह होता है कि जिस स्थान पर हवा में अधिक तपन उत्पन्न हुई थी, उसके चारों ओर की हवा में अधिक दबाव उत्पन्न हो जाता है और चारों ओर से उमड़कर गरम हवा की ओर धारा बहने लगती है। इस प्रकार वायु के प्रवाह का एक चक्र-सा बन जाता है। इस प्रकार वायु का प्रवाह प्रत्येक जगह होता है, परन्तु वह केवल स्थानीय ही होता है, संसार-व्यापक नहीं।

धरातल के विभिन्न स्थलों के वायुमण्डल में किस प्रकार वायु की धारायें बनती हैं और बहती हैं, इसका विवरण हम आगे देंगे। यहाँ वायुमण्डल की एक और महत्वपूर्ण घटना का परिचय दे देना आवश्यक है। वायुमण्डल में कभी-कभी भीषण बवण्डर और तूफान आदि आते हैं। इनको चक्रवात (cyclones) और प्रतिचक्रवात (anti-cyclones) कहते हैं। ये असाधारण कारणों से वायुमण्डल में एकाएक उत्पन्न होते हैं। परन्तु इनकी सीमा मर्यादित होती है और इनका प्रलयंकारी परिणाम इसी सीमा तक रहता है। भारत में भी आँधी और बवण्डर आते हैं, परन्तु ये इतने भयंकर नहीं होते। आसाम तथा पूर्वीय बंगाल में इनकी अधिकता होती है। इन आँधियों के साथ-साथ कभी-कभी जल और हिम की वर्षा भी होती है और तब इनका वीभत्स रूप बढ़ जाता है। नगर के नगर उजड़ जाते हैं और सभ्यता के चिह्न मिट जाते हैं।

चक्रवातों और प्रतिचक्रवातों के कारण की खोज बहुत की गई है और वैज्ञानिक इसमें निरन्तर लगे हुए हैं। वायुमण्डल की जाँच से अनुमान लगाया गया है कि इनका कारण अस्थिर नीची वायु में ही नहीं है। इनका कारण स्थिर वायुमण्डल में अथवा अन्तरिक्ष में होगा, जहाँ की असाधारण स्थिरता से अस्थिर वायुमण्डल में भयानक परिणाम पैदा होते होंगे।

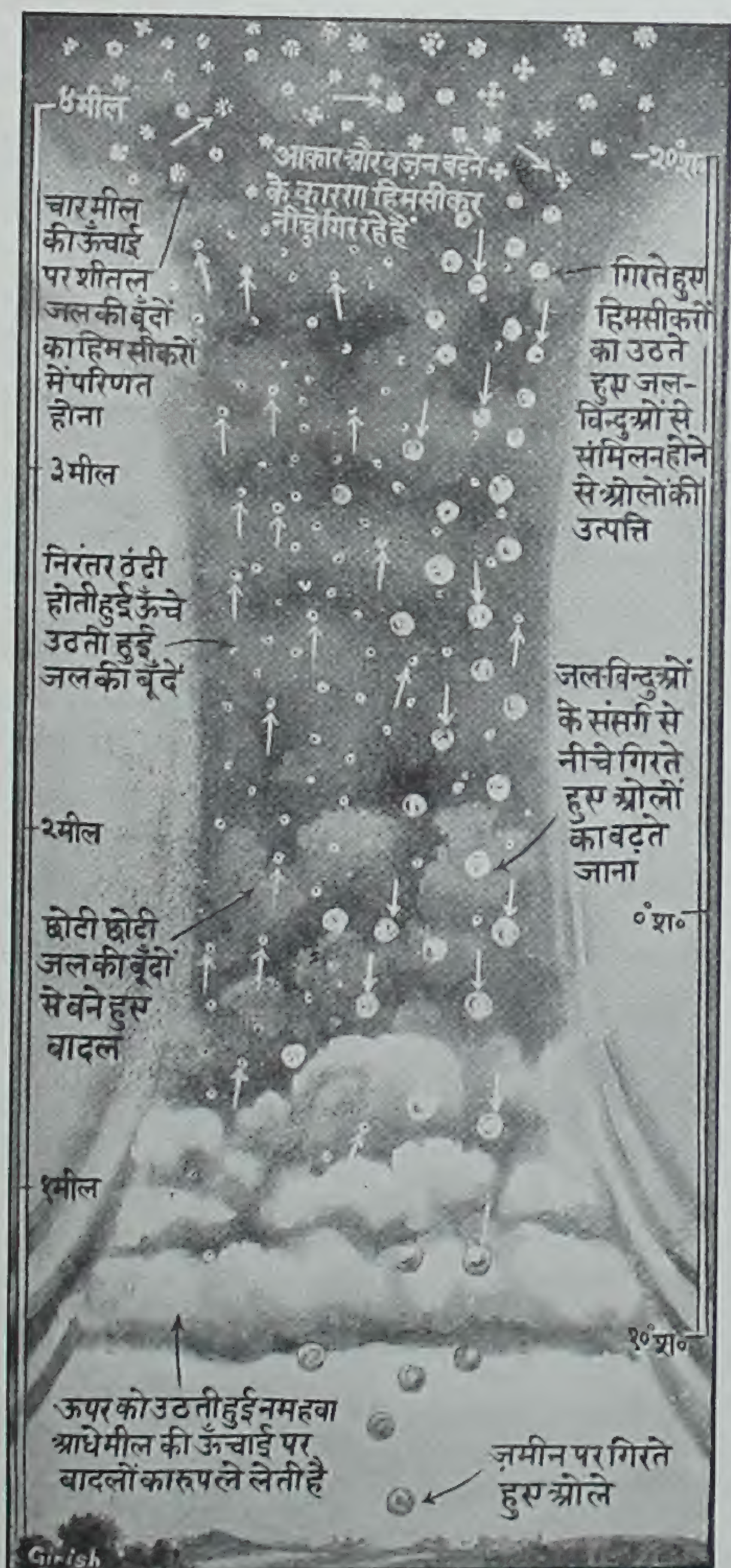
वायुमण्डल में भाप

धरातल पर सूर्य की गरमी के कारण निरन्तर भाप बना करती है। समुद्र, झील, ताल, नद, नदी, तालाब, कुएँ आदि सभी जलाशयों से जल भाप के रूप में परिणत होकर वायुमण्डल में मिलता रहता है। यह भाप वायु में मिलकर उसे आर्द्र बनाती रहती है। गरम हवा भाप को वायव्य रूप में अपने में मिलाये रहती है, परन्तु जब वह ठण्ढी होती है तो भाप जम जाती है। वायु में भाप उस समय तक वायव्य दशा में रहती है, जब तक वायु सम्पृक्त नहीं हो जाती है (यदि किसी तापक्रमवाली हवा में इतनी भाप है कि बिना तापक्रम बढ़ाये उससे अधिक भाप उसमें नहीं समा सकती, तो वह वायु 'सम्पृक्त' वायु कह-

लाती है) । जब वायु सम्पृक्त हो जाती है और उसमें अधिक भाप समाने की गुंजायश नहीं रहती, तब भाप सघन होकर प्रकट हो जाती है और बादल, कुहरा, वर्षा, हिम अथवा ओस का रूप धारण कर लेती है।

घन या मेघ

ठंढी वायु बिल्कुल अनार्द्र तो नहीं हो जाती, परन्तु वह गरम होकर जिस मात्रा में आर्द्रता को धारण करती थी, ठंढी होकर उतनी आर्द्रता धारण नहीं कर सकती। अन्तरिक्ष देश में अत्यन्त सूक्ष्म जलसीकर या हिमसीकर, जो वायु की शीतलता के कारण अलग-अलग जम जाते हैं, वायु में भाप की ही तरह अवलम्बित रहकर कुहरे या कुहासे का रूप धारण करते हैं। इनके समूह का विस्तार और गहराई दोनों अत्यधिक होने के कारण ये बहुत घने होकर हमें जिस रूप में दिखाई देते हैं, उसे हम 'घन', 'मेघ' या 'बादल' कहते हैं। धरातल से ये अनेक रूप में दिखाई देते हैं। ऊँचाई - निचाई, प्रकाश के सीधे या आड़े-तिरछे पड़ने या न पड़ने, तथा धूप-छाँह के तारतम्य से इनमें तरह-तरह के रूप देख पड़ते हैं और इस कारण इनके नाम भी तरह-तरह के रक्खे गये हैं।



ओले कैसे बनते हैं ?

सबसे ऊँचे बहुत पतले परों के समूह की भाँति जो घुँघराले बादल दिखाई पड़ते हैं, उन्हें 'कुन्तल मेघ' (Cirrus Clouds) कहते हैं। ये लगभग पाँच मील की ऊँचाई तक होते हैं और नन्हें हिमकणों से बने होते हैं। इन पर प्रकाश पड़ने से बड़े विचित्र दृश्य देखने में आते हैं।

इनसे कुछ ही नीचे उतरकर ऊँचे कुंज और उनीले मेघ (Cumulus Clouds) होते हैं। ये सबसे सुन्दर मेघ होते हैं। ये बड़े विचित्र क्रम से तहों अथवा धारियों में फ़ौज के सिपाहियों की भाँति छा जाते हैं। ये बर्फ़ की भाँति शुभ्र, व्यापक और सीधे समानान्तर रुई के गाल जैसे छोटे-छोटे लहरीले बादलों की अनन्त राशि के रूप में देख पड़ते हैं। कभी-कभी जब आकाश थोड़ी देर को खुला रहता है, इन्हीं बादलों की राशि से सूर्य और चन्द्रमा के चारों ओर छोटा रंगीन मण्डल दीखता है। इनकी ही जगह कभी-कभी ऊँचे परतीले मेघ (Stratus Clouds) भी दिखाई पड़ते हैं। धरती से ये एक या दो मील से अधिक ऊँचाई पर नहीं होते, पर बहुधा ये आकाश का बड़ा भाग घेरे रहते हैं।

धरती से लगभग एक मील की ऊँचाई पर काले मेघों की बहुत भारी राशि देख पड़ती है, जिसके किनारे चाँदी की भाँति चमकते हैं और सफ़ेद होते हैं। ये 'कुंज मेघ' कहलाते हैं। ऊपर चढ़ती हुई, धरती के स्पर्श से गरमाई हुई वायु की धाराओं से जो भाप ऊपर को चढ़ती जाती

है, उसी के ठंढे पड़ जाने से यह कुंजमेघमाला बन जाती है। इसी के साथ प्रायः इन्हीं मेघों के ऊपर 'घन' या 'जलद' (Nimbus Clouds) मेघ की भारी ख़ाकी या काली चीथड़ों से बनी हुई चाँदनी दिखाई पड़ती है। कभी-कभी मिलकर बढ़ते-बढ़ते ये कुंज बादल डेढ़-डेढ़ कोस तक की गहराई की मेघराशि या कादम्बिनी बन जाते हैं। ये कुंज रूप के घने जलद शीघ्र बरसते हैं, अधिक देर तक छाये नहीं रह सकते। अति घने होने के कारण सूर्य की किरणें इनमें प्रवेश कर नहीं पाती हैं। इसलिए ये हमें काले वर्ण के दिखाई पड़ते हैं। दूसरे बादलों में सूर्य की किरणें घुसकर फैल जाती हैं, इसलिए उनका रंग सफ़ेद हो जाता है। वायुमण्डल की भाप और रेणु पर सूर्य किरणों के बिखरने से सूर्यास्त के बादल लाल, पीले तथा विचित्र रंग के बन जाते हैं। सूर्य की किरणों में इन्द्रधनुष के सभी रंग विद्यमान हैं और जब वे मेघकणों में विशेष कोण बनाती हुई प्रवेश करती हैं तो प्रकाशकिरणों के वर्ण पृथक् हो जाते हैं। इसलिए हम सूर्यास्त के सुन्दर रंग देखा करते हैं। इसी प्रकार जब कभी चन्द्रकिरणें उनीले बादलों के हिमकणों पर विशेष कोण बनाती हुई प्रवेश करती हैं तो चन्द्रमा के चारों ओर 'प्रभामण्डल' दिखाई पड़ता है।

कुहरा या कुहासा

कोहरा भी बादल का ही एक रूप है। वस्तुतः कोहरा या कुहासा वह बादल है जो धरती को छूता हुआ रहता है। यह जलसीकरों का समूह है जो अत्यन्त दूर से देखने पर बादलों-सा ही दीखता है। जब यह बहुत घना होकर पहाड़ों पर जलदवाले कुहासे के रूप में रहता है तो इसके भीतर चलने-फिरनेवाले, चाहे वे छाता लगाये हों, बिना वर्षा के ही पानी से भीग जाते हैं।

रात में जब धरती बहुत जल्दी ठंढी हो जाती है तब वायु की आर्द्रता उसके सम्पर्क में आकर जलसीकर बनकर ठंढी चीज़ों पर ओस के रूप में जम जाती है। शीत काल में जहाँ सर्दी अधिक पड़ती है, कुहासे के जलसीकर जमकर हिमसीकर बन जाते हैं और हिमसीकर ही इकट्ठे होकर रुई के गाले की भाँति छतों, पेड़ों आदि पर जम जाते हैं। यही 'पाला' कहलाता है। टपकता हुआ जल भी जमकर पाला बन जाता है। इनके भाँति-भाँति के अद्भुत रूप और आकार बन जाते हैं।

ओला और बिजली

वायुमण्डल में जितना जल व्यापक है; उसके उपरोक्त रूपों के अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण रूप हमें देखने को मिलता है। यह 'ओला' है। बड़े-बड़े ओलों की परीक्षा करने से पता लगा है कि ओले बरफ़ के पतले-पतले परतों से मिलकर प्याज़ की भाँति बने होते हैं। ओला कैसे बनते हैं, इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता; परन्तु यह अनुमान किया जाता है कि बिजली की कड़क और ओले के बनने में कुछ सम्बन्ध अवश्य है। क्योंकि ऐसा देखा गया है कि बिजली चमकने के साथ-साथ ओलों की भी वर्षा होती है। ओलों के बनने और धरती तक आने के विषय में यह विश्वास किया जाता है कि जहाँ हिमसीकर बन जाते हैं, वहाँ बड़ी वेगवती वायु की धारायें ऊपर-नीचे की दिशा में बहती हैं और ये धारायें हिमसीकरों को भी ऊपर-नीचे नचाती हैं। इस यात्रा के चक्कर में हिमसीकर एक दूसरे से टकराकर बढ़ते जाते हैं। जब ये इतने बड़े हो जाते हैं कि वहाँ के झोकों में अधिक नहीं ठहर सकते तो धरती के अधिक समीप आ जाने के कारण उससे आकृष्ट होकर वेग के साथ गिर पड़ते हैं।

ओले मेघराशि या कादम्बिनी अर्थात् घने जलदों में उत्पन्न होते हैं। यहीं से आकाश में बिजली चमकती है। बादल के भीतर जलसीकरों पर बिजली इकट्ठी हो जाती है। जब बादल बड़े वेग से एकत्रित होते हैं, तब बहुत-से छोटे-छोटे बूँद संयुक्त होकर बड़े हो जाते हैं। इसलिए इनकी विद्युत् शक्ति भी इतनी बढ़ जाती है कि उनके बीच की हवा अलग हो जाती है और बिजली चिनगारी के रूप में बादल के एक सिरे पर टूटती है। बार-बार यह क्रिया होती है और इसी क्रिया में कड़क होती है। जब बिजली लम्बी धारी के आकार में चमकती है, तब उसके बाद निनाद या गरजना सुनाई नहीं देता है। पर मुद्राकार और सर्पाकार बिजली अचानक बारबार चमककर अपने आगे की हवा को हटा देती है। तब दूसरी हवाएँ उसका ख़ाली स्थान भरने दौड़ती हैं। इसलिए विशाल शब्द उत्पन्न होता है। इसकी प्रतिध्वनि बादलों में पीछे भी होती रहती है। बिजली की चमक और कड़क में सदैव अन्तर रहता है। इसका कारण यह है कि प्रकाश का वेग शब्द के वेग की अपेक्षा दस लाख गुना अधिक है। इसलिए हमें पहले बिजली की चमक दिखाई देती है और गरज कुछ देर बाद सुनाई देती है।

वायुमण्डल के परिवर्त्तन ही से धरातल पर ऋतुएँ होती हैं, जिनसे धरातल की भौगोलिक परिस्थितियों में अन्तर पड़ता है। हम आगे बतायेंगे कि जलवायु क्या है।



अनोखी जड़ें

जैसा कि पहले ही वर्णन किया जा चुका है, जड़ के दो मुख्य काम हैं—पौधे को रोपना और उसके लिए पृथ्वी के जल और खाद से ख़ूराक इकट्ठा करना। कभी-कभी जड़ें इनके अतिरिक्त अन्य काम भी करती हैं। ऐसी जड़ें साधारण जड़ों से कुछ भिन्न होती हैं; इसलिए इन्हें हम अनोखी या निराली जड़ें कह सकते हैं। कर्त्तव्य-भेद तथा रूपान्तर के अनुसार इनके कई भेद हैं। इनमें से कुछ का हम यहाँ वर्णन करेंगे।

गोदाम का काम देनेवाली जड़ें

अन्य जीवों की भाँति पौधों को भी ख़ूराक की आवश्यकता रहती है। यह उन्हें वायु और पृथ्वी से बराबर मिलती रहती है और इस प्रकार जब तक अवस्था अनुकूल रहती है पौधों में खाद्य पदार्थ बराबर बनते रहते हैं। इसलिए निशास्ता, प्रोटीन, शक्कर अथवा दूसरी वस्तुएँ न्यूनाधिक मात्रा में बराबर जमा होती रहती हैं। इन उपार्जित वस्तुओं में से कुछ तो पौधों की बाद-वृद्धि आदि में ख़र्च हो जाती हैं, परन्तु फिर भी कुछ-न-कुछ बची रह जाती हैं। इन बचे पदार्थों के लिए गोदाम की ज़रूरत पड़ती है। विशेषकर पेड़-पौधों में तने ही कोठार का काम देते हैं; परन्तु किसी-किसी पौधे में जड़ें इस काम को करती हैं। इस प्रकार की कितनी ही जड़ों से आप परिचित भी होंगे। गाजर, मूली, शल्जम, शकरकंद, जिन्हें हम तरकारियों में काम लाते हैं, इन्हीं में से हैं।

गोदाम का काम देनेवाली जड़ें साधारण जड़ों से मोटी होती हैं। इनमें जल और भाँति-भाँति के खाद्य-रस संचित रहते हैं। चुकन्दर की जड़ में शक्कर जमा रहती है। इसी प्रकार किसी पौधे की जड़ में निशास्ता और किसी में कोई अन्य पदार्थ इकट्ठा रहता है।



चित्र १—शतावर

यह लहसुन और प्याज की जाति का पौधा है। इसकी जड़ें औषधियों के काम आती हैं। (फ़ोटो—श्री० वि० सा० शर्मा)

जड़ों में संचित वस्तुओं में से पानी सबसे उपयोगी है। रेगिस्तानी भागों में उगनेवाले पेड़-पौधों में प्रायः यही वस्तु संचित रहती है। इन स्थानों में उगनेवाली वनस्पतियों की वायुवर्त्ती शाखें और तने छोटे और मुलायम होते हैं; परन्तु जड़ें लम्बी और मोटी होती हैं। इन जड़ों का अधिकांश भाग पानी होता है।

तने के बनिस्बत जड़ों में खाद्य पदार्थों का संचित रहना पेड़-पौधों के लिए अधिकतर लाभकर प्रतीत होता है; क्योंकि जड़ें ज़मीन के अन्दर रहने के कारण, तने और शाखों की अपेक्षा, हवा, सर्दी-गर्मी तथा जानवरों के आक्रमण से अधिक सुरक्षित रहती हैं। मांसल जड़ें रेगिस्तानी भागों में उगने वाले पेड़-पौधों में अधिक पाई जाती हैं।

बनावट के अनुसार गोदाम का काम देनेवाली जड़ों के कई भेद हैं। गाजर में ये जड़ें गौपुच्छाकार (conical), शल्जम में शल्जमाकार (napiform) और मूली में मूलिकाकार (fusiform) होती हैं। इनके और भी अनेक भेद हैं।

मांसल जड़ें भिन्न-भिन्न भाँति की जड़ों के रूपांतर से उत्पन्न होती हैं। गाजर और चुकन्दर में ऐसी जड़ें मुख्य जड़ का रूपांतर हैं; डायसकोरिया बटाटाज़ (यह एक प्रकार का रतालू

है) में ये गौण मूल हैं; शकरकन्द में ये अनियमित जड़ों से उत्पन्न होती हैं, और शतावर की मोटी जड़ें (चि० १), जो आयुर्वेदीय तथा यूनानी दवाइयों के काम आती हैं, झकड़ा जड़ों में परिवर्त्तन से उत्पन्न होती हैं। मांसल जड़ों द्वारा प्रायः पौधों की उत्पत्ति का काम भी होता है।

वायवीक जड़ें

वैसे तो जड़ें पृथ्वी के अन्दर ही रहती हैं और साधारण पौधों में ये ज़मीन के नीचे ही फैली रहती हैं; परन्तु आपने ऐसे पेड़ भी देखे होंगे जिनमें ज़मीन के ऊपर भी जड़ें होती हैं। इस प्रकार की वायु में वर्त्तमान जड़ों को हम 'वायवीक जड़ें' कहते हैं। कर्त्तव्य तथा बनावट के अनुसार इनके कई भेद हैं।

वायु से जलशोषण करनेवाली वायवीक जड़ें

बरगद, पीपल, तथा पकरिया जैसे वृक्षों की शाखों से लटकती बरोही वायवीक जड़ें हैं। इस समूह के पौधे प्रारम्भ में प्रायः दूसरे पेड़ों पर उगते हैं (चि० २), लेकिन फिर भी ये परोपजीवी नहीं होते। ये अपरिजात पौधे (Epiphytes) हैं। जिन पेड़ों पर ये उगते हैं, उनसे केवल इन्हें आधार ही मिलता है; जल और खाद्य पदार्थ इन्हें स्वयं प्राप्त करने पड़ते हैं। अपरिजात पौधों में अनेक प्रकार के पर्णाङ्ग, मॉस, लिवरवर्ट, तथा लाइकेन आदि हैं। पोथोस और कितने ही आरकिड (चि० ३) भी इसी समूह के पौधे हैं। इस वृन्द के पौधों को विशेषकर जलाभाव का भय रहता है, इसलिए ये प्रायः ऐसे स्थानों पर ही उगते हैं जहाँ जल की कमी नहीं रहती। कोई-कोई लिवरवर्ट और मॉस तथा लाइकेन तो सूख जाने पर भी बहुत समय तक सजीव बने रहते हैं। ऐसे पौधे उन स्थानों पर भी उगते हैं जहाँ साल में कई महीने जल का अभाव रहता है। मंसूरी तथा नैनीताल जैसे स्थानों में आपने पेड़ों के तनों और शाखों पर अनेक प्रकार के मॉस और लिवरवर्ट देखे होंगे। वर्षा का अन्त होने पर ये सूख जाते हैं परन्तु फिर भी सजीव रहते हैं और दूसरे साल मेह की बौछार पड़ते ही ये हरे हो जाते हैं। फूलवाले अपरिजात पौधे और अपरिजात पर्णाङ्ग विशेषकर भूमध्य-रेखा के निकटवर्त्ती जंगलों तथा पर्वतों की चोटियों पर, जहाँ अधिक बरसात होती है, उगते हैं। हमारे देश में अपरिजात पौधे लंका या सीलोन, दक्षिण के नीलगिरि पर्वत, पश्चिमी घाटों के जंगलों और हिमालय पर्वत, मंसूरी, नैनीताल, दारजिलिंग, शिलांग और सिकिम जैसे अनेक स्थानों में अधिकता से उगते हैं।



चित्र २—खजूर पर उगा पकरिये का वृक्ष

इसके बीज संभवतः चिड़ियों द्वारा यहाँ आये थे। अभी यह छोटा है और इसकी जड़ें पृथ्वी तक नहीं पहुँच पाई हैं। पर समय बीत जाने पर इसकी बरोही भूमि तक पहुँच जायेंगी। तब आश्रयदाता खजूर के लिए कठिन समस्या उपस्थित हो जायगी।

(फ़ोटो—श्री० वि० सा० शर्मा)

अपरिजात पौधों को जल की कठिनाई रहती है, इसलिए इनमें से बहुतों की वायवीक जड़ों में बाहर की ओर एक विशेष प्रकार का तन्तु होता है, जिसे 'विलामेन' (Velamen) कहते हैं। इस तन्तु के कोशों की भित्तिकायें पतली परन्तु छल्लेदार, पेंचदार या गर्तमय होती हैं जिसके कारण वे दृढ़ बनी रहती हैं। इन भित्तिकाओं में छेद भी होते हैं। इस तन्तु की विशेष प्रधानता यह है कि वह पानी को सुगमता से ग्रहण कर लेता है। विलामेन के कोश वायुमंडल की तरी से, चाहे वह भाप के रूप में हो या जल के रूप में, जल को सोख लेते हैं। इसलिए जिन पौधों की जड़ों में विलामेन होता है उन्हें जल प्राप्त करने में कठिनाई नहीं रहती।

किसी-किसी आरकिड (चि० ३) और ऐरोफाइट की वायवीक जड़ों में विलामेन के अन्दर के वल्क के कुछ कोशों में पर्णहरित होता है। इसके महत्त्व को हम आगे चलकर बतायेंगे।

यद्यपि अपरिजात पौधे परोपजीवी प्रकृति के नहीं होते फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि कभी-कभी इनसे उन पेड़ों को, जिन पर ये उगते हैं, बड़ी हानि पहुँचती है। बरगद, पीपल अथवा इसी समूह के अन्य कई पेड़ों के फन्दे में जो वृक्ष आ जाता है उसका छुटकारा होना कठिन है। इन वृक्षों के पके फलों को चिड़ियाँ बड़े चाव से खाती हैं। इसलिए जिन दिनों इनके फल पकते हैं, चिड़ियों के झुण्ड-के-झुण्ड उन पर आते हैं और फलों को ले-लेकर दूसरे वृक्षों पर जाते हैं। इस प्रकार चिड़ियों के द्वारा इनके बीज दूसरे पेड़ों पर पहुँच जाते हैं। समय आने पर इन्हीं बीजों से पेड़ उगते हैं। क्रमशः इन नवीन पौधों की पत्तियाँ और शाखें ऊपर को बढ़ती हैं और जड़ें नीचे की ओर को चल पड़ती हैं! प्रारम्भ में ये जड़ें कोमल और पतली होती हैं; परन्तु ज्यों-ज्यों वृक्ष पुराना होता है उससे अनेक जड़ें फूट निकलती हैं, जो धीरे-धीरे आधार के चारों ओर लिपट जाती हैं (चि० २)। जैसे-जैसे पत्तियों को प्रकाश मिलता है, पेड़ और भी तेज़ी से बढ़ने लगता है। अन्त में उसकी जड़ें ज़मीन तक जा पहुँचती हैं। अब वे साधारण जड़ों की भाँति पृथ्वी से जल और खाद्य रस खींचने लगती हैं और इस प्रकार पेड़ के लिए और भी सुभीता हो जाता है, जिससे वह तेज़ी से बढ़ने लगता है। वे वायवीक जड़ें, जो अब तक कोमल थीं, कड़ी



चित्र ३—आरकिड

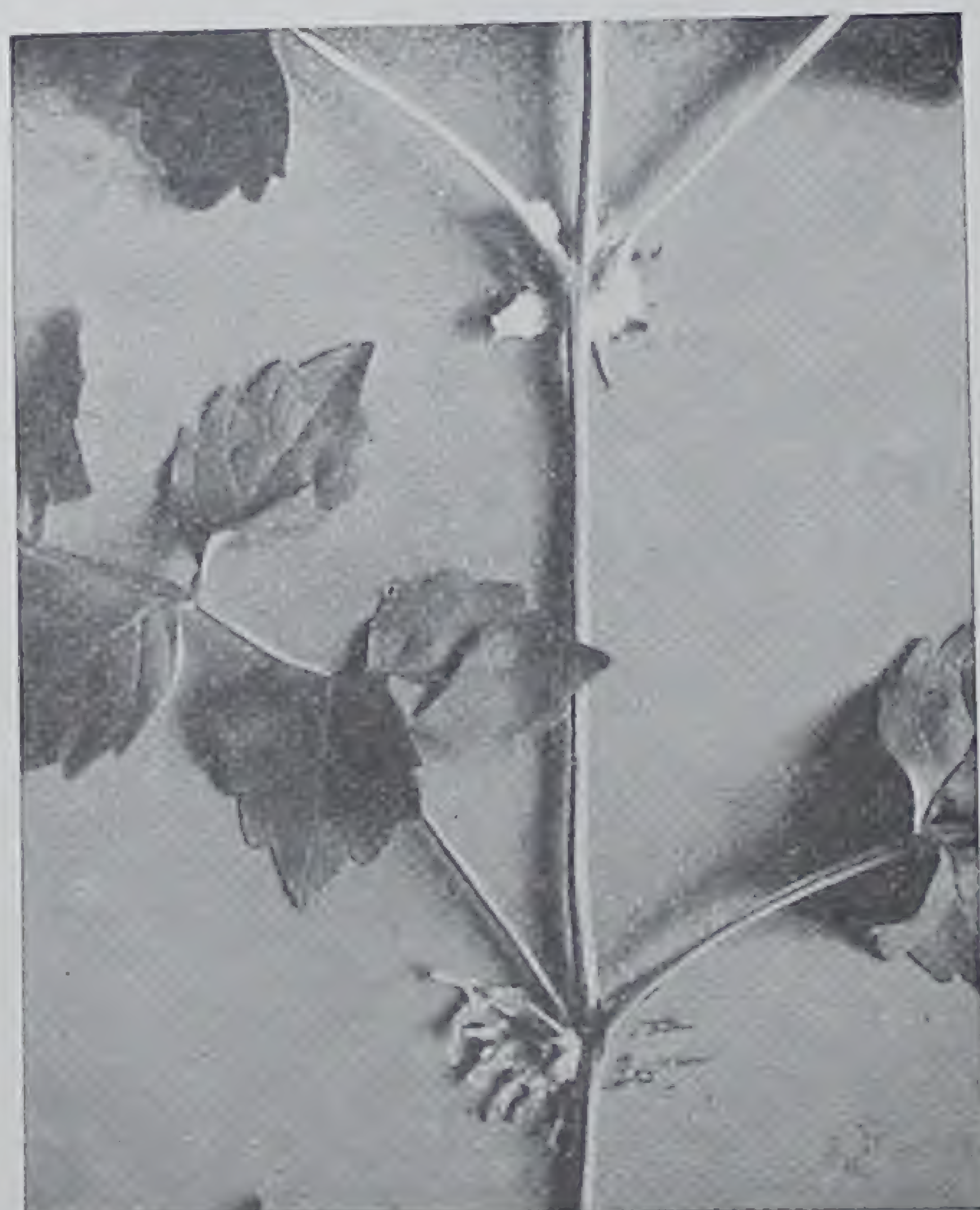
यह पहाड़ी देशों में, जहाँ वर्षा अधिक होती है, होनेवाला पौधा है। इस जाति के पौधों को जल की विशेष आवश्यकता रहती है। हमारे बगीचों में ये कठिनता से जीवित रहते हैं। इस जाति के पौधे प्रायः और वृक्षों पर उगते हैं। (यह चित्र रा० ब० डा० रघुनन्दनलालजी के बग़ीचे से लिया गया है)। (फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा।)



चित्र ४—बरगद की बरोही

किसी समय ये तने-जैसी बरोहियाँ सूत-जैसी जटाओं के रूप में उत्पन्न हुई थीं। आज वे बढ़कर पृथ्वी के अन्दर पहुँच गई हैं। मोटान में ये तनों के समान हैं। इनको मुख्य तनों से पहचानना कठिन है। (फ़ोटो—श्री राजेन्द्र वर्मा सिढौले।)

होने लगती हैं और उनसे कितनी ही शाखा-प्रशाखाएँ फूट निकलती हैं, जो चारों ओर फैलकर आश्रयदाता पेड़ को बुरी तरह से जकड़ लेती हैं। ज्यों-ज्यों आश्रयदाता वृक्ष पुराना हो अन्दर से गौण वृद्धि के कारण फैलना चाहता है, इन ज़ंजीर की तरह जकड़ी हुई बरोहियों के कारण उसका बढ़ना कठिन हो जाता है। धीरे-धीरे फंदे और भी अधिक होते जाते हैं और यद्यपि इनमें जकड़ा वृक्ष अन्दर से ज़ोर मारकर इन्हें तोड़कर अलग होना चाहता है परन्तु इसमें वह सफल नहीं हो पाता है। अब धीरे-धीरे आश्रयदाता पेड़ कमज़ोर होने लगता है। उसकी पत्तियाँ और शाखाएँ मुरझाने लगती हैं और अन्त में इस संग्राम में पराजित हो उसे उस अपरिजात पेड़ को, जिसको उसने आज से कई वर्ष पूर्व आश्रय दे पाला था, स्थान देना पड़ता है। फिर भी हम अपरिजात पौधों को परोपजीवी नहीं कह सकते। वे केवल आश्रय के लिए ही दूसरे पेड़ों पर उगते हैं और यद्यपि आश्रयदाता पेड़ इन्हीं के कारण अक्सर सूखकर मर भी जाते हैं, फिर भी जिन पेड़ों पर इस जाति के वृक्ष उगते हैं उनसे वे खाद्य पदार्थ ग्रहण नहीं करते।



चित्र ५—टिकोमा स्प्लैन्डेन्स

यह एक फुलवाड़ियों की लता है। इसमें नारंगी रंग के मनोहर पुष्प होते हैं। जड़ों द्वारा यह लता दीवालों और वृक्षों पर चढ़ जाती है।

जैसा ऊपर कह चुके हैं, बरगद जैसे पेड़ों की बरोहियाँ जिस समय बढ़कर ज़मीन तक पहुँच जाती हैं, वे साधारण जड़ों का काम करने लगती हैं। साथ-ही-साथ ज्यों-ज्यों पुरानी होती जाती हैं, वे मोटी और मज़बूत होती जाती हैं। तने की भाँति वे शाखों और पत्तियों के बोझ को धारण करने का भी काम देती हैं। इस प्रकार ऐसे पेड़ ज्यों-ज्यों पुराने होते हैं उनमें इस प्रकार के अनेक तने उत्पन्न हो जाते हैं। बहुत पुराने बरगद के पेड़ में मुख्य तने को इन तनों से पहिचानना कठिन होता है (चि० ४)।

हमारे देश में कलकत्ते के बोटैनिकल गारडन्स में एक पुराना बरगद का पेड़ है, जिसमें २५० से अधिक ऐसी बरोहियाँ हैं, जिनकी मोटाई २-३ गज़ तक है। पतली बरोहियों की संख्या ३००० से भी अधिक है। इस प्रकार इस वृक्ष में सब मिलाकर ३२५० से भी अधिक तने हैं। इसे हम वृक्ष नहीं बल्कि अच्छा ख़ासा बरगद का बग़ीचा कह सकते हैं। हज़ारों आदमी इसके साये में आराम कर सकते हैं। इसकी शाखों में करोड़ों पक्षियों के घोंसले हैं।

पत्तियों का काम करनेवाली जड़ें।

साधारण पेड़-पौधों की पत्तियों में पर्णहरित होता है, जिसके द्वारा वे हवा की कार्बोनिक ऐसिड गैस से कार्बन ग्रहण करती हैं। जैसा कि वायु से जल ग्रहण करनेवाली जड़ों का वर्णन करते समय कहा गया है, कोई-कोई अपरिजात आरकिड (चि० ३) तथा कुछ दूसरे अपरिजात पौधों की वायवीक जड़ों में पर्णहरित होता है, जिसके सबब से वे वायु की कार्बन का उपभोग करते हैं। इन पौधों की जड़ें रोपण के अतिरिक्त जल-शोषण और कार्बन-संश्लेषण का भी काम करती हैं। यथार्थ में ऐसी जड़ें इन दोनों ही क्रियाओं का बड़ी कुशलता से पालन करती हैं। जिस समय ऐसी जड़ों का दूसरे वृक्ष की छाल या डाल से लगाव होता है, उससे अनेक नलिकाकार या अन्य भाँति के कोश बनते रहते हैं, जो इन्हें आधार से चिपटने का काम देते हैं और इसलिए ये जड़ें आधार को मज़बूती से जकड़ लेती हैं। यह पकड़ इतनी मज़बूत होती है कि अगर आप किसी वृक्ष की डाल पर लगे आरकिड को वहाँ से हटाकर कहीं और लगाना चाहें तो जड़ों के साथ-साथ अक्सर पेड़ की छाल भी उखड़ आती है। इन्हीं वायवीक जड़ों में, जिस समय उनका वृक्ष की

शाखों से लगाव नहीं रहता, ऐसे कोशों का बनना बंद हो जाता है।

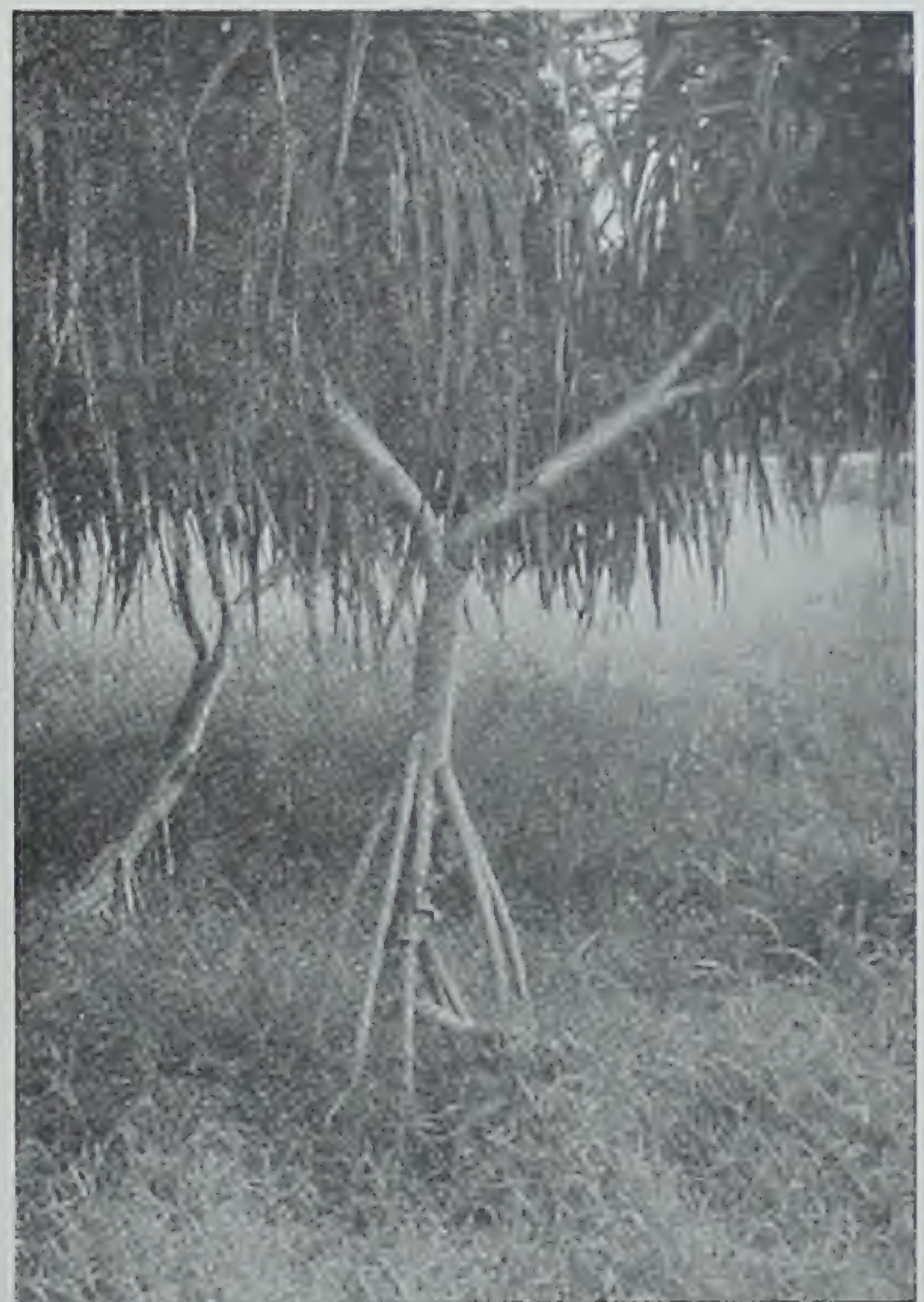
जैसा पहले कह चुके हैं, इन जड़ों में सबसे बाहर की ओर एक रंगहीन कोशों का आवरण या विलामेन होता है, जो वायुमंडल की तरी और भाप से जलशोषण करता रहता है। विलामेन के अन्दर के पर्त में पर्णहरित होता है, जिसका हरापन जिस समय तरी रहती है दिखाई देता रहता है। विलामेन के कोशों में जलशोषण की प्रधानता किसी पौधे में कम और किसी में अधिक रहती है। एक जाति के आरकिड को, जिसे आनसिडियम स्फैसीलेटम (*Oncidium Sphacelatum*) कहते हैं, अगर शुष्क वायुमंडल से तर वायुमंडल में ले जाया जाय तो इसकी वायवीक जड़ें २४ घंटे के अन्दर अपने वज़न का ८ फ़ी सदी जल सोख लेती हैं। एक दूसरी जाति के आरकिड इपीडेंड्रन इलोंगेटम (*Epidendron Elongatum*) की वायवीक जड़ें ऐसी दशा में अपने वज़न का ११ फ़ी सदी वज़न जल सोख लेती हैं।

जब वायुमंडल में तरी नहीं होती तो विलामेन के कोश सूख जाते हैं और इस प्रकार वे अन्दर के कोशों को वाष्प-त्याग से बचाते हैं। इसलिए विलामेन से पौधों को बड़ा लाभ होता है।

जिन पौधों में ऐसी वायवीक जड़ें होती हैं, जिनमें कि विलामेन और पर्णहरित होता है, ये पौधे वायु से जल और कार्बन दोनों ही ग्रहण करते हैं और इस प्रकार इनमें स्टार्च-संश्लेषण होता रहता है।

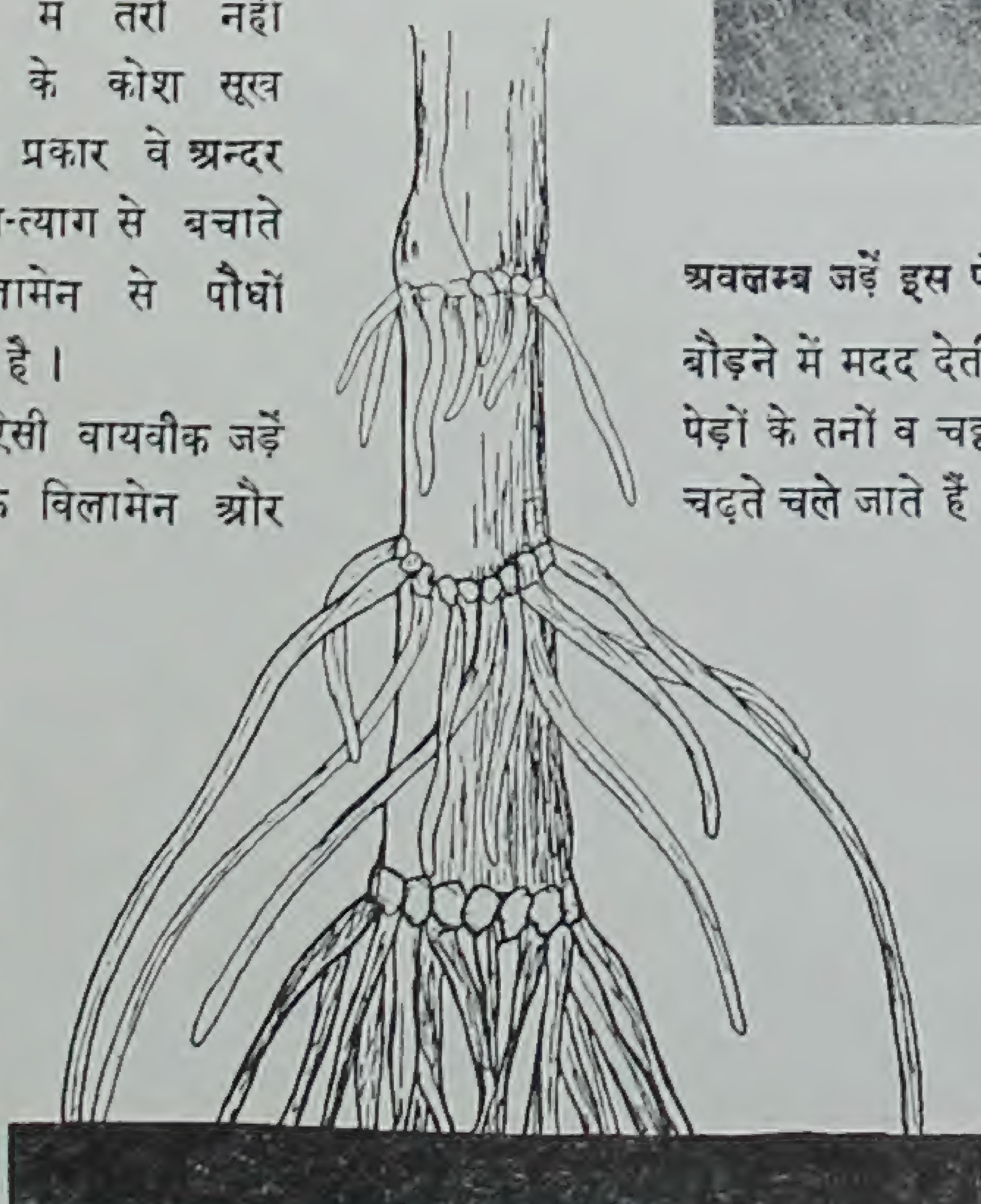
पौधों को चट्टानों तथा दूसरे पेड़-पौधों पर चढ़ने में मदद देने-वाली जड़ें

अनेक पौधों की वायवीक जड़ें उन्हें बौड़ने में मदद देती हैं। ऐसी जड़ों के सहारे ये पौधे दूसरे पेड़ों के तनों व चट्टानों तथा दीवालों पर बड़ी कुशलता से चढ़ते चले जाते हैं। इस प्रकार की जड़ें अनेक पौधों में होती हैं। टिकोमा स्प्लैन्डेन्स (*Tecoma splandens*) (चि० ५) और फाइकस स्टीपुलेटा (*Ficus stipulata*) में ऐसी जड़ें होती हैं।



चित्र ६—केवड़ा

अवलम्ब जड़ें इस पौधे में छतरी के भार को रोके रहती हैं।



चित्र ७—जुआर के निचले भाग का चित्र

इसकी निचली गाँठों से अब तक जड़ें ज़मीन में जा धँसती हैं। इनसे पौधों को खड़ा रहने में सहारा मिलता है।

(चित्र—श्री० वि० सा० शर्मा द्वारा)

अवलम्ब जड़ें

समुद्रतट के दलदलों की मिट्टी सदा गीली बनी रहती है, इसलिए ऐसे स्थानों पर उगनेवाले पेड़ों को धरती के अन्दर के अवलम्ब का सदा पूरा भरोसा नहीं रहता। इन पेड़ों में प्रायः वायवीक जड़ें बैसाखी की तरह सहारा दे उन्हें सँभाले रहती हैं। केवड़े में भी ऐसी जड़ें होती हैं। इसके तने के निचले भाग से निकली जड़ें उसके भार को रोके रहती हैं (चि० ६)।

जुआर (चि० ७) और गन्ने की भाँति के पौधों की साधारण जड़ें कमज़ोर होती हैं, इसलिए इन जड़ों के सहारे पौधे के बोझ का सँभालना कठिन रहता है। अतएव इन पौधों की निचली दो-तीन गाँठों से वायवीक जड़ें निकलकर चारों ओर ज़मीन में धँस जाती हैं (चि० ७)। ये पौधे के भार को रोके रहती हैं और इस तरह वे आसानी से सीधे खड़े रहते हैं। जिस प्रकार मैदान में झंडा चारों ओर से रस्सियों के बाँध देने से खड़ा रहता है, उसी भाँति जिन पौधों में जड़कुलें होती हैं वे भी आसानी से ज़मीन में स्थापित रहते हैं और वायु के झोकों का उन पर प्रायः असर नहीं पड़ता। कोई-कोई ताड़ की जातिवाले पेड़ों में भी ऐसी जड़ें होती हैं।

पुश्तवान जड़ें (Plank Buttresses)

कुछ ऐसे वृक्ष होते हैं, जिनकी मुख्य जड़ें ज़मीन के नीचे अधिक दूर तक नहीं जातीं। इसलिए उनमें तने और शाखों के भार को रोकने के लिए बाहर से सहारा देने की आवश्यकता होती है। इन पेड़ों के निचले भाग तख्तों की भाँति बाहर उभरे रहते हैं, जिनसे वृक्ष को सहारा मिलता है। कभी-कभी ये पुश्तवान बड़े लम्बे-चौड़े होते हैं। ऐसे एक ही तख्ते से अच्छी ख़ासी मेज़ बन सकती है। ये जड़ें प्रायः ज़मीन के ऊपर इतनी ऊँची निकली रहती हैं कि इनके एक ओर खड़ा आदमी दूसरी तरफ़ के आदमी को आसानी से देख नहीं सकता (चि० ८)। सीलोन या लंका के पेराडिनिया बग़ीचे में एक जाति के पेड़ हैं, जिनकी पुश्तवान जड़ें कई गज़ के फेर में फैली हुई हैं (चि० ८)। सेमल और फाइकस इलैस्टिका में भी ऐसी जड़ें होती हैं। ऐसी जड़ोंवाले पेड़ भूमध्य-रेखा के निकट-वर्त्ती जंगलों में अधिक होते हैं।

साँस लेनेवाली जड़ें

वैसे तो प्रायः सभी पेड़ों की जड़ें किसी-न-किसी अंश तक साँस लेती हैं; परन्तु इस समय हम उन जड़ों पर विचार करेंगे जो विशेषकर इसी काम के लिए साधारण जड़ों में परिवर्त्तन से उत्पन्न होती हैं। साधारण भूमि में मिट्टी के कणों के बीच-बीच स्थान होते हैं जिनमें वायु भरी रहती है। इस वायु से जड़ों को ऑक्सिजन मिलती है। नदी के मुहानों और समुद्र-तट



चित्र ८—पुश्तवान जड़ें

यह सीलोन (लंका) के पैराडिनिया बोटैनिकल गार्डेन्स में विद्यमान एक वृक्ष के निचले भाग का चित्र है। (फ़ोटो—श्री गिरिलाल साह)।

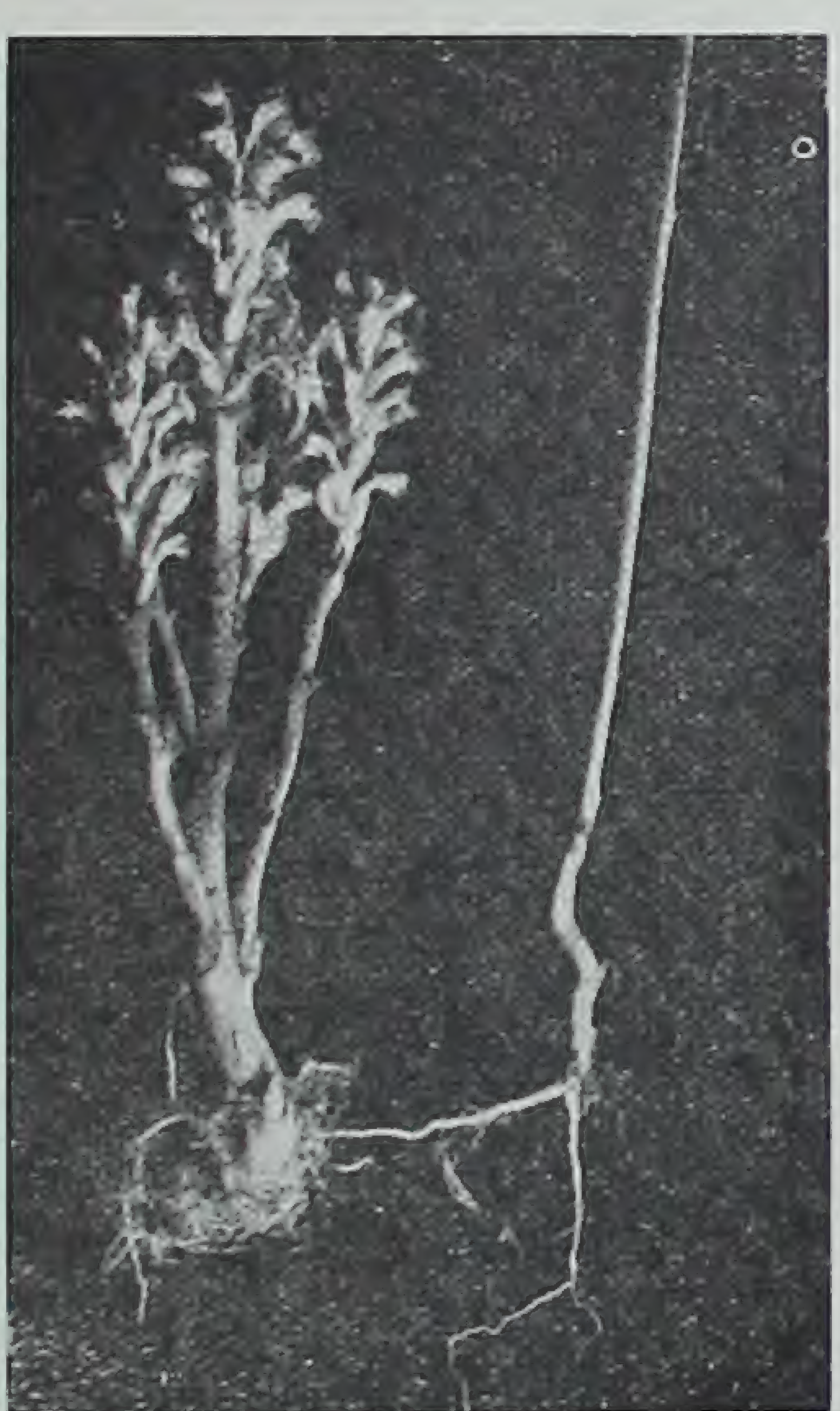


चि० ६

गँठवा और उसका प्रतिपालक नागकेसर

इस चित्र में बीच में दिखाई दे रहे मनोहर बैंगनी पुष्प-व्यूहवाले पौधे—गँठवा—को देखकर भला कौन अनुमान कर सकता है कि यह छिपे-छिपे अपने पड़ौसी लाल फूलवाले पौधे—नागकेसर—का सर्वनाश करने में तत्पर है। इसका वास्तविक भेद जानने के लिए इनकी जड़ों को खोदकर देखना पड़ेगा। (चित्रकार—श्री राजेन्द्र वर्मा सिठौले)।

की कोई-कोई जगहों पर तथा दल-दलों में अकसर जल भरा रहता है, जिसके कारण ऐसी भूमि में वायु नहीं रहती। जो पेड़ ऐसे स्थानों में उगते हैं, उनकी जड़ों को साँस लेने में कठिनाई होती है। ऐसे पेड़ों में वायु



चित्र १०—गँठवा और उसका प्रतिपालक सरसों

जड़ों को खोदकर देखने से पता लगता है कि छिपे-छिपे गँठवा की जड़ें अपने पड़ोसी की जड़ों से किस प्रकार जा मिली हैं। वे इन्हीं से खाद्य रस चूसती हैं। (फ़ोटो—श्री वि० सा० शर्मा)

प्राप्त करने के लिए एक विशेष भाँति की जड़ें होती हैं। ऐसी जड़ें साधारण जड़ों की प्रकृति के विपरीत पृथ्वी के अन्दर नीचे की ओर न जाकर उल्टे धरती फोड़कर बाहर निकल आती हैं। इन जड़ों में एक विशेष प्रकार का तन्तु होता है, जिसमें वायु भरी रहती है। यही वायु समय पर साँस लेने के काम आती है।

परोपजीवी जड़ें

अमरबेल, गँठवा (चि० ६, १०) और बाँदा (चि० ११) जैसे अनेक पौधे हैं जो अन्य पौधों से खाद्य रस प्राप्त करते हैं। इस समूह के पौधों में पालक या प्रतिपालक (Host) से खाद्यरस ग्रहण करने के लिए विशेष प्रकार की जड़ें होती हैं, जिन्हें हम परोपजीवी जड़ें कहते हैं। ये जड़ें पालक से जा मिलती हैं (चि० १०)। इन दोनों के प्रवाहन-तन्तु आपस में मिल जाते हैं (चि० १२) और इस प्रकार परोपजीवी पौधे पालक से रस ग्रहण करते रहते हैं। अमरबेल में पर्णहरित नहीं होता, इसलिए इसमें सारे खाद्य रस उसी पेड़ से आते हैं, जिस पर वह उगी होती है। बाँदा की जाति के पौधे, जिन्हें आपने अक्सर आम, शीशम तथा अन्य पेड़ों पर लगे देखा होगा, पालक से जल तथा खनिज लवण ही ग्रहण करते हैं और अपनी हरी पत्तियों द्वारा, अन्य साधारण पौधों की भाँति, वायु से कार्बन प्राप्त करते हैं।



चित्र ११—आम की डाल पर लगा बाँदा

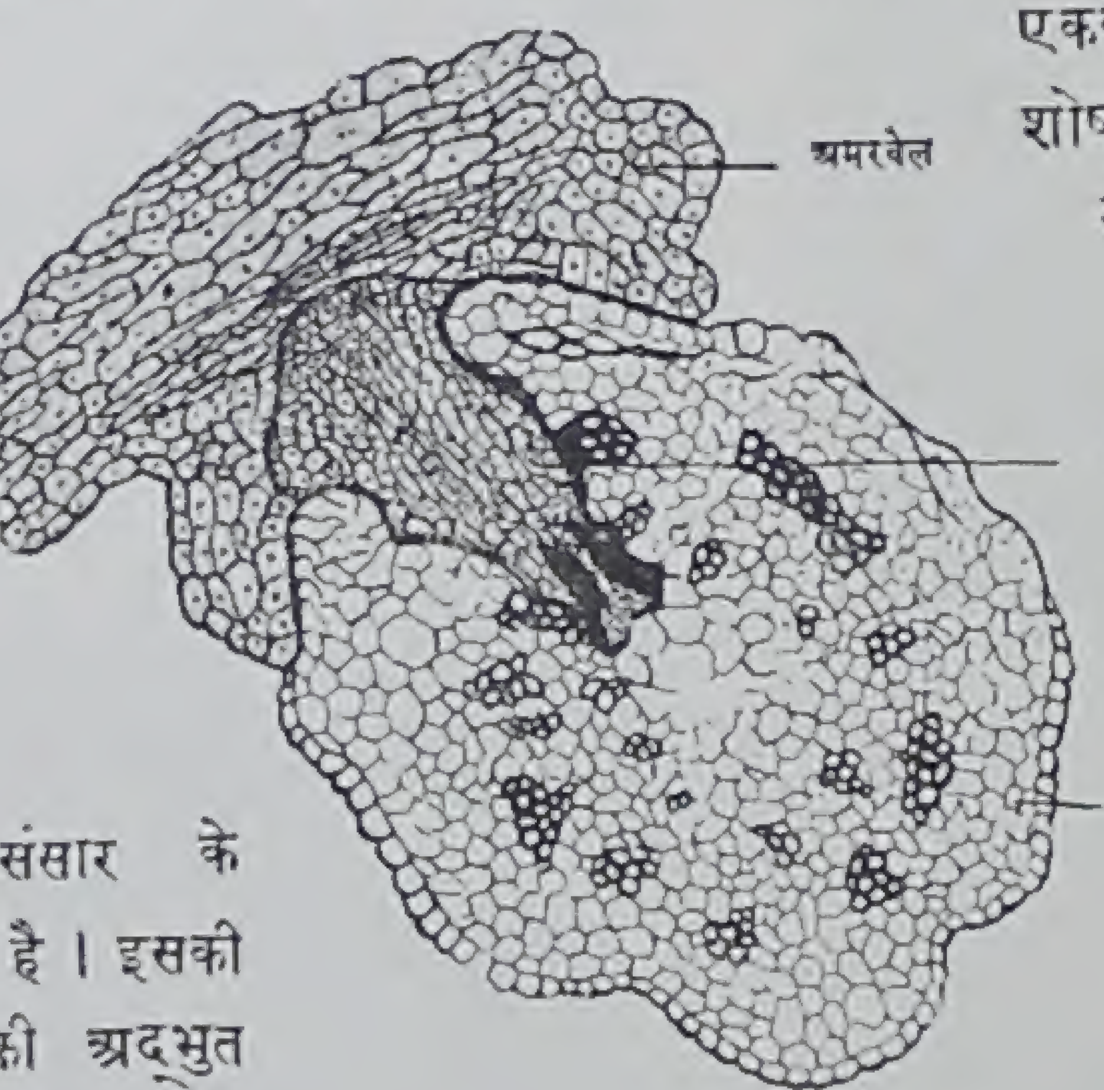
गाँठों के स्थान पर बाँदा की जड़ें आम की शाखा के अन्दर प्रवेश करती हैं। (फ़ोटो—श्री ठाकुर बहादुरसिंहजी)।

संयुक्त प्रान्त में बाँदा आम की एक अति भयानक व्याधि है। अक्सर वह आम के पेड़ों पर बड़ा ज़ोर पकड़ता है। बाँदा के बीजों में एक प्रकार का लसदार पदार्थ होता है, जिसके कारण वे शाखों पर आसानी से चिपक जाते हैं। ये बीज समय आने पर वहीं पर अंकुरित होते हैं। इसकी जड़ से एक प्रकार का रस निकलता है, जो पालक के तन्तु को गला देता है और इस प्रकार बाँदा की जड़ें पालक के तन्तुओं के अन्दर प्रवेश करती हैं। धीरे-धीरे फैलकर बाँदा तमाम पेड़ में पहुँच जाता है और इससे पेड़ को बड़ी हानि पहुँचती है।

गँठवा (इसे सरसों का बाँदा भी कहते हैं) की जड़ें ज़मीन के अन्दर ही पालक की जड़ों से मिली रहती हैं (चि० १०)। बाहर देखने में कुछ पता नहीं चलता (चि० ६)। यह पौधा अक्सर बैंगन, तम्बाकू,

सरसों, आलू, पिटूनिया और नागकेसर की जड़ों पर उगता है। धरती के बाहर मनोहर फूलों से लदी डाली को देखकर भला कौन अनुमान कर सकता है कि यह पौधा छिपे-छिपे पड़ोस के पौधे के साथ विश्वासघात कर उसका सर्वनाश करने में तत्पर है (चि० ६) ! गँठवे में पत्ते नहीं होते, इसलिए वह पालक के ही सहारे खाद्यरस प्राप्त करता है। बाँदा और अमरबेल की भाँति इसकी जड़ों से भी एक प्रकार का रस निकलता है, जिसके प्रभाव से पालक के तन्तु गल जाते हैं और इसलिए गँठवे की जड़ें अन्दर प्रवेश कर खाद्य रस चूस सकती हैं।

गँठवा की भाँति का एक और पौधा है, जिसे रैफ्लीजिया (*Rafflesia*) कहते हैं। इस पौधे में सूत-जैसी जड़ों और फूल के अतिरिक्त और कोई भी अंग नहीं होता। पृथ्वी के बाहर केवल फूल ही दिखाई देता है, जड़ें अन्दर-अन्दर पालकके तन्तुओं में फैली रहती हैं। वहीं से वे खाद्यरस खींचती रहती हैं। रैफ्लीजिया आरनेल्डाई का फूल संसार के फूलों में सबसे बड़ा होता है। इसकी गणना वनस्पति-संसार की अद्भुत वस्तुओं में है। फूल की प्रत्येक पंखुड़ी लंबान में एक फुट से अधिक होती है और कुल फूल का वज़न ७-८ सेर के क़रीब होता है।



चित्र—अमरबेल और उसका पालक
अमरबेल से अनेक परोपजीवी जड़ें निकलकर उस पेड़ के अंग में, जिस पर अमरबेल फैली रहती है, जा घुसती है।

बिना जड़वाले साधारण (नलिकायुक्त) पौधे

साधारण पौधों में एक प्रकार की तालाबों में उत्पन्न होनेवाली काई (यह फूलवाले पौधों में सबसे छोटी होती है) में जड़ नहीं होती। ब्लैडरवर्ट नामक कीटाशी पौधे में जड़ नहीं होती। यह पौधा हमारे पास-पड़ोस के तालाबों और पोखरों में होता है। इसमें जड़ों का काम रोम द्वारा होता है। एक प्रकार का जल-पर्णांग सैलवीनिया (*Salvinia*) में भी जड़ों का कर्त्तव्य विशेष प्रकार के रोमों द्वारा होता है। यह रोम पत्तियों के रूपान्तर से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जड़ों के अभाव में शोषण-क्रिया रोमवत् पत्तियों द्वारा होती है।

राइज़्वाइड्स (Rhizoids)

अभी तक हमने नलिकायुक्त पौधों की जड़ों पर विचार किया है। नलिकारहित पौधों में यथार्थ में जड़ें नहीं होतीं, परन्तु फिर भी रोपण और शोषण दोनों क्रियायें इनमें भी होती हैं। इन पौधों में प्रायः जड़ों का काम रोमों द्वारा होता है। ये रोम बनावट में अत्यन्त सरल होते हैं।

शैवालादि जाति के पौधे प्रायः पानी के अन्दर ही रहते हैं, इसलिए इनमें शोषण करनेवाले विशेष अंग की आवश्यकता नहीं रहती। प्रायः यह क्रिया सारे पौधे द्वारा होती है। रोपण करने के लिए किसी-किसी में रोम (Rhizoids) और किसी-किसी में होल्डफास्ट (Hold-fast) होते हैं। होल्डफास्ट एक विशेष प्रकार का जड़-जैसा अंग है, जो इन पौधों को चट्टानों से जकड़े रहता है। लिवरवर्टस में जड़ों का काम राइज़्वाइड्स द्वारा होता है। ये एककोशीय होते हैं। सम्भवतः ये रोपण और शोषण दोनों ही का काम करते हैं।

मॉसेज़ में राइज़्वाइड्स बहुकोशीय होते हैं। फिर भी इनकी रचना अत्यन्त सरल होती है। ये नलिका या डोरे सरीखे होते हैं। इनकी मोटाई एक कोश से अधिक नहीं होती। पौधों में भी लिवरवर्टस की भाँति रोपण और शोषण दोनों ही क्रियायें राइज़्वाइड्स द्वारा होती हैं। लाइकेन (इनमें छैलछबीला जैसे पौधे हैं) में भी जड़ के स्थान पर राइज़्वाइड्स होते हैं, परन्तु ये विशेषकर रोपण का ही कार्य करते हैं। सम्भव है, किसी-किसी लाइकेन में राइज़्वाइड्स शोषण का भी काम करते हों।

यदि हम नीची कोटि से ऊँची कोटि तक के पौधों की जड़ों पर विचार करें तो देखेंगे कि पेड़-पौधों में क्रमशः श्रम-विभाग की ओर विवर्तन हुआ है। न्यूनकोटीय शैवालादि में समस्त पौधा शोषण का काम करता है। किसी-किसी शैवाल में रोपण के लिए होल्डफास्ट या हैप्टीरा भी होता है। इनसे ऊँची श्रेणी के पौधों यानी ब्रायोफाइटा में राइज़्वाइड्स होते हैं, जो रोपण और शोषण का काम करते हैं। नलिकायुक्त पौधों में जड़ें रोपण का काम देती हैं, और नवल जड़ें और उन पर वर्तमान रोम शोषण का काम करते हैं।



मनुष्य से सबसे अधिक मिलते-जुलते जानवर

वानर-वंश और उसका रहन-सहन

पिछले लेख में हमने जंतु-जगत् पर एक सरसरी नज़र दौड़ाई थी। आइए, अब जीवधारियों की विभिन्न श्रेणियों के मुख्य-मुख्य प्रतिनिधियों से परिचय प्राप्त करें। इस सिलसिले में यह उचित ही है कि हम उन्हीं जीवधारियों को सबसे प्रथम लें जो हमारे सबसे निकट हैं।

जन्तु-जगत् की प्रधानभागीय कक्षा में मनुष्य के बाद सबसे ऊँचे जीवों में कई प्रकार के दुमदार तथा बिना दुमवाले कपि, वन-मानुष, बैबून और अर्द्ध-वानर सम्मिलित हैं। इन सबका वर्णन एक लेख में न हो सकने के कारण कुछ मुख्य का ही उल्लेख हम यहाँ करना चाहते हैं। अधिकतर लोग दुमदार या बेदुमवाले, बड़े और छोटे सभी प्रकार के वन-मानुष, बैबून, मैनड्रिल, लंगूर तथा नाना प्रकार के साधारण बन्दरों के लिए 'वानर', 'बन्दर', 'कपि' शब्दों को बिना किसी भेद के प्रयोग करते हैं; परन्तु वर्त्तमान प्रकृतिवादी चारों प्रकार के बड़े बेदुमवाले वन-मानुषों तथा कुत्तों जैसी सूरतवाले बैबून और मैनड्रिल को शेष सब बन्दरों से अलग गिनते हैं। अतः हमारे लिए भी यही उचित जान पड़ता है कि हम भी इनके लिए अपनी भाषा में भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक शब्द निर्धारित कर लें। अंग्रेज़ी के 'एप' शब्द के स्थान पर 'कपि' और 'मन्की' की जगह 'बन्दर' या 'वानर' शब्द रक्खा जाय। इसी प्रकार 'वन-मानुष' बेदुमवाले बड़े मानवसम कपियों ही के लिए—बैबून, मैनड्रिल को छोड़कर—नियुक्त किया जाय। इस लेख और आगे के लेखों में इन शब्दों का प्रयोग इन्हीं अर्थों के रूप में किया जायगा।

वन-मानुष

वर्त्तमान काल में वन-मानुष पृथ्वी के दो ही भागों में देखे जाते हैं। इनकी दो जातियाँ—गोरिल्ला और चिम्पान्ज़ी—अफ़्रीका के महाद्वीपमें मिलती हैं और गिब्बन तथा ओरेंग उटांग दक्षिणी-पूर्वी एशिया तथा उसके निकटवर्त्ती द्वीपों में पाये जाते हैं। इन चारों जातियों के वन-मानुषों की शारीरिक रचना और मनुष्य से उनकी समता का वर्णन हम 'विश्व-भारती' के दूसरे अंक में कर चुके हैं। यहाँ उन बातों को दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। केवल इतना ही कहना उचित प्रतीत होता है कि कपि और बन्दरों के भी मस्तिष्क होते हैं; परन्तु उनके मस्तिष्क उसी अपूर्ण अवस्था में होते हैं, जिसमें कि मानव-शिशु का मस्तिष्क होता है। कपि भी हमारी ही तरह सोचनेवाला ज्ञात होता है लेकिन उसके विचार हमारे विचारों के समान स्पष्ट नहीं बल्कि धुँधले से विदित होते हैं। उसकी गति और क्रियायें भी मस्तिष्क के उसी स्थान से सँभाली जाती हैं जहाँ से हमारी।

सबसे बड़ा वन-मानुष—गोरिल्ला—और उसकी आकृति तथा चाल-ढाल

गोरिल्ला अपने वंश में सबसे बड़ा समझा जाता है और बहुत-सी बातों में मनुष्य से सादृश्य रखता है। बड़े क़द का नर गोरिल्ला ५' ५"—६' ६" तक होता है। उसकी मोटाई—विशेषकर सीने की मोटाई—लम्बाई की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। मादा लगभग ४' २" लम्बी होती है। वे मनुष्य से कहीं भारी होते हैं, किन्तु इनका मस्तिष्क साधारण मनुष्य से भी ५ छटाँक हल्का होता है।

देखने में गोरिल्ला अपने वंश के सभी प्राणियों से भयानक और कुरूप होता है। उसका रंग गहरा काला या काला भूरा मिला होता है। उसका सिर बड़ा होता है और मुँह बहुत फट जाता है, जिसमें बड़े-बड़े दाँत दिखाई देते हैं। उसका माथा लम्बा और आँखें गड्ढे में घुसी हुई छोटी-छोटी होती हैं। उसकी ठोढ़ी पर लम्बे-लम्बे बाल होते हैं। उसकी भुजायें और जबड़े भारी और मज़बूत होते

हैं। उसकी बाँहें टाँगों से बहुत लम्बी होती हैं। यद्यपि वह सीधे खड़ा तो हो जाता है किन्तु वह मनुष्य की तरह नहीं चलता। उसे अपने चारों पैरों से ही चलना पसन्द है। चलते समय वह अपने पैरों के तलवों को तो हमारे ही समान काम में लाता है, किन्तु उसकी हथेलियाँ ज़मीन से नहीं छूतीं। हाथों की उँगलियाँ वह मोड़ लेता है तथा उनके जोड़ों पर ज़ोर देकर चलता है। वृक्षों पर चढ़ने में वह अपने पैरों से भी हाथ की तरह काम लेता है। उसकी लम्बी भुजायें धरती पर चलते समय लाठी या बैसाखी का काम देती हैं। वास्तव में यह राक्षसों का एक नमूना है। साथ में दिये चित्र में आप देख सकते हैं कि इसकी आकृति कैसी भयानक होती है।

गोरिल्ला की शक्ति

गोरिल्ला अफ्रीका के विषुवत् रेखा के पश्चिमी प्रदेश के अज्ञात जंगलों और कैमरून की पहाड़ियों में ही पाये जाते हैं। अफ्रीका-वासियों ने उनका नाम पौंगो रक्खा है। भीम-काय शरीर होते हुए भी वे पेड़ों पर बड़ी ही सुगमता से गिलहरी की भाँति चल-फिर सकते हैं। अपने वनरूपी मकान के पत्तों से ढँकी हुई छतों पर आनन्द-विभोर होकर ये विचरते रहते हैं और आसानी से इस डाली से उस डाली पर कूद जाते हैं। बहुतेरे यात्रियों ने इनका बड़ा ही रोचक वर्णन किया है तथा इन भयंकर पशुओं से अपने युद्ध की बड़ी-बड़ी डींगें मारी हैं। एक फ़्रांसीसी शिकारी ने सन् १८६१ ई० में लिखा था कि एक दिन उसने स्वयं देखा कि एक गोरिल्ला ने एक अभागे नीग्रो को एक हाथ से पकड़कर दूसरे हाथ से उसकी गर्दन इतनी सरलता से मरोड़ डाली जितनी आसानी से हम किसी मुर्ग़ी के बच्चे की गर्दन मरोड़ सकते हैं! उसी का यह भी कहना है कि गोरिल्ला शिकारियों से बन्दूक़ छीन लेता है और उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। उसके दाँत इतने मज़बूत होते हैं कि उनसे वह बन्दूक़ की नाल भी कुचल देता है। ये बातें तो कहानी-सी ही प्रतीत होती हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि गोरिल्ला बड़ा ही शक्तिशाली जीवधारी है। इतना बलवान् होने पर भी वह मनुष्य को देखकर बहुधा भागकर छिप जाता है; परन्तु जब उसके बच्चों पर कोई आक्रमण करता है, या किसी अन्य कारणवश जब उसे क्रोध आ जाता है, तब वह बेधड़क होकर अपने शिकारी पर आक्रमण करता है, चाहे वह कितने ही अच्छे-से-अच्छे हथियारों से सुसज्जित क्यों न हो। गहरी नींद में मग्न गोरिल्ला के भी निकट मनुष्य बेखटके नहीं पहुँच सकते, फिर उनका शिकार करना तो बहुत साहस का काम है!

बेट साहब एक अंग्रेज़ यात्री हैं और गोरिल्ला के निवास-प्रदेश में कई वर्षों तक उन्होंने भ्रमण किया है। उनको इन जीवधारियों की रहन-सहन के अध्ययन करने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ है। उनका कथन है कि गोरिल्ला घने जंगलों के बाहर बहुत कम आते हैं, लेकिन कभी-कभी वे हिम्मत करके गाँवों के बाहरी पेड़ों पर फलों के लिए हमला करते हैं। उनके झुंड बाग़ों की बड़ी दुर्दशा कर डालते हैं। गाँव-निवासी इस डर के मारे रोक-टोक नहीं करते कि कहीं फलों की रक्षा के पीछे अपनी जान पर ही न आ बीते। फल, गन्ना, शहद और चिड़ियों के अंडे इन्हें अत्यन्त स्वादिष्ट लगते हैं।

गोरिल्ला का सुखी पारिवारिक जीवन

गोरिल्ला का पारिवारिक जीवन बड़ा ही सुखी और आनन्द-मय प्रतीत होता है। वे जोड़ा मिलाकर रहते हैं और जब तक उनके बच्चे अपना अलग घर बसाने योग्य नहीं हो जाते, तब तक हमारी ही तरह वे अपने बच्चों की रक्षा करते हैं। वे पेड़ों की डालियों को झुका और मोड़कर एक चबूतरा-सा बना लेते हैं, जिस पर छोटी-छोटी डालियाँ और पत्ते बिछा लेते हैं। इस प्रकार पेड़ पर बनाये हुए बिस्तर पर माता अपने छोटे बच्चों के साथ विश्राम करती है। पिता पेड़ के नीचे भूमि पर झाड़-झंखाड़ बिछाकर लेट रहता है या गृह-वृक्ष के नीचे कोई उपयुक्त स्थान ढूँढ़कर बैठा रहता है। रात के समय पिता अपने परिवार की चौकीदारी करता है। जब उसकी बीबी और बच्चे पेड़ पर सोते रहते हैं तब वह नीचे खड़ा हुआ पहरा दिया करता है और ज़रा भी खटका होने पर आक्रमण के लिए प्रस्तुत हो जाता है। वह दृश्य कितना मनोहर होता होगा जब बड़े तड़के माता-पिता और बच्चे अपने भोजन की खोज में डालियों पर कूदते-फाँदते, लटकते और झूलते हुए मीलों दूर निकल जाते होंगे! ये पूर्ण रूप से शाकाहारी होते हैं तथा बाँस की नई और कोमल कोपलें ही इनके भोजन का प्रधान भाग हैं।

स्वीडेन के एक शिकारी का कहना है कि इनमें सन्तान-प्रेम के अतिरिक्त और भी ऐसी बातें हैं कि जिनमें वे बहुत-कुछ हमारे ही समान हैं। एक समय यह शिकारी अपने साथियों के साथ गोरिल्लों के एक परिवार के सामने आ पड़ा। इन्हें देखकर एक बूढ़े सफ़ेद बालवाले नर गोरिल्ला को छोड़कर बाक़ी सब प्राणी भाग पड़े। गोरिल्लों का यह वृद्ध सर्दार भागने-वालों को बचाने की इच्छा से शिकारियों का विरोध करने











(सबसे ऊपर की पंक्ति में) एशिया के **दो मानवसम कपि या वन-मानुष**—बाईं ओर, भारी भरकम ओरेंज जो सुमात्रा और बोर्नियो के टापुओं में वृक्षों पर रहता है। दाहिनी ओर, हल्के शरीरवाला गिब्बन, जो पृथ्वी पर चलते समय अपनी लंबी भुजाओं को ऊपर उठा लेता, पर पेड़ों पर कूदते समय ३०-४० फीट तक लंबी छलाँग मार लेता है।

(नीचे की पंक्ति में) बाईं ओर, **गिलहरी बंदर या मार्मोसेट**; बीच में, **चिल्लानेवाला बंदर**; दाहिनी ओर, **मकड़ी बंदर**।





(बाईं ओर) **एक मादा चिम्पेञ्ज़ी और उसका बच्चा** । जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है, यह जंतु अनेक बातों में मनुष्य जैसा ही आचरण करता पाया गया है । विश्व-भारती के दूसरे अंक के चित्रों में आप चिम्पेञ्ज़ी को पहुँच से बाहर के केलों को लेने की तदबीर करते हुए और छुरी-काँटे से खाना खाते और चाय पीते हुए देख ही चुके हैं, जिससे इस जंतु के बुद्धि-विकास का कुछ परिचय आपको हो सकता है । (ऊपर) **वानर-वंश का सबसे चित्र-विचित्र प्राणी मैनड्रिल** ।

को आगे बढ़ा और वीरता से तब तक सामना करता रहा जब तक कि वह उनकी बन्दूक की गोली का निशाना न बन गया। मनुष्यता के सर्वोच्च गुण या विशेषताओं—प्रेम, कर्त्तव्य, लगन और साहस—का इससे बढ़कर और कौन-सा उदाहरण हो सकता है!

एक और विचित्र बात इन कपियों के विषय में यह है कि वे अन्य वानर-वंशों की ही भाँति न तो बात करते मालूम होते हैं और न उनकी तरह चें-चें ही करते हैं। पिता गुस्से में ज़ोर से भूँकता है और आक्रमण करते समय गुर्रा सकता है; माता जोखिम को निकट आते देखकर चीख़ पड़ती है। इन आवाज़ों के तथा खोये हुए बच्चों के करुण आर्त्तनाद के अतिरिक्त इन जीवधारियों में किसी और आवाज़ का होना नहीं मालूम पड़ता।



लन्दन की पशुशाला का जौनी नामक बालक गोरिल्ला

यह जब जंगल से पकड़ा गया था तब केवल एक या दो दिन का हो था। यह छोटे बच्चे की तरह इधर-उधर कूदता-फिरता था और बिल्ली के बच्चे के साथ खेलता था। उसके पास यदि कोई पत्ता खड़खड़ाता तो चौकन्ना होकर उछल पड़ता और फिर हिम्मत करके दूर से उसको उठाकर सूँघता था। गुलगुलाने पर यह ज़ोर से हँस पड़ता और प्रसन्न होने पर ताली बजाता था। दिन भर में उसे जो कुछ फल मिलते थे उनके अतिरिक्त वह ३-४ बोतल दूध और पानी पी लेता था।

आजकल बहुत-से बड़े अजायबघरों में भुस से भरे गोरिल्लों के शव देखे जा सकते हैं, किन्तु जीवित गोरिल्ला देखना सम्भव नहीं है, क्योंकि जंगलों में रहने के ये इतने आदी हो गये हैं कि पकड़कर अजायबघर में बन्द करने से उनका जीवित रहना बहुत ही कठिन हो जाता है। वे वहाँ शीघ्र ही मर जाते हैं। जर्मनी के ब्रैसलो नगर की जन्तुशाला में एक गोरिल्ला पकड़कर लाया गया था। पकड़ने के समय वह २ वर्ष का था और उस जन्तुशाला में ७ वर्ष से अधिक जीवित न रह सका। अभी तक कोई भी पकड़ा हुआ गोरिल्ला इससे अधिक जीवित नहीं रहा है। लन्दन की पशुशाला में कई छोटे-छोटे गोरिल्ले पकड़कर लाये गये, किन्तु उनमें से एक ही २ वर्ष जीवित रहा और अपने खेल-तमाशों से लन्दन-वासियों को प्रसन्न करता रहा।

सबसे बुद्धिमान् वन-मानुष—चिम्पाञ्ज़ी

दूसरा वन-मानुष अफ़्रीका में पाया जानेवाला चिम्पाञ्ज़ी है। इनकी 'चाय-पार्टी' का एक चित्र हम आपको 'विश्व-भारती' के दूसरे अंक में दिखला चुके हैं। अपने वंश में निस्सन्देह मनुष्य के अतिरिक्त सबसे बुद्धिमान् यही प्राणी है। उसकी आकृति और आकार भी मनुष्य से अधिक मिलते-जुलते हैं।

चिम्पाञ्ज़ी गोरिल्ला से बहुत छोटे होते हैं। इनमें नर-मादा में भी उतना भेद नहीं होता। इनकी ऊँचाई ४'-५" तक होती है। इनके शरीर भारी, भुजायें विशाल और हाथ-पैर बलिष्ठ होते हैं। इनके दाँत अन्य बन-मानुषों के-से मज़बूत और लम्बे नहीं होते, परन्तु कान बड़े होते हैं और भृकुटियाँ उतनी निकली हुई नहीं होतीं जितनी कि गोरिल्ला की। इनके बाल लम्बे, काले या बादामी रंग के होते हैं तथा चेहरा काला और कुछ-कुछ मांस-जैसे गुलाबी रंग का होता है। चिम्पाञ्ज़ी अपना अधिकांश समय वृक्षों पर ही व्यतीत करते हैं और जब भूमि पर उतरते हैं तो गोरिल्ला के समान आसानी से सीधे नहीं खड़े हो पाते। वे खड़े होकर थोड़ी दूर भाग भी लेते हैं लेकिन यह कहना ठीक नहीं है कि गोरिल्ला और चिम्पाञ्ज़ी आसानी से सीधे खड़े होकर चल-फिर सकते हैं। यह अवश्य है कि वे चौपायों के समान अपनी हथेलियाँ पृथ्वी पर रखकर नहीं चलते, बल्कि हाथों की मुट्ठी बाँधकर उन्हें ज़मीन पर उल्टी रख कर आगे के शरीर का सहारा उन पर देते हुए भली भाँति दौड़ते-भागते हैं।

चिम्पाञ्ज़ी का घर और जंगलों में रहन-सहन

इन कपियों का भी निवास-स्थान अफ़्रीका के विषुवत्-रेखा के निकटवर्ती जंगल ही हैं; किन्तु ये गेम्बिया, सिरालियोना से लेकर टैंगानिका झील तक फैले हुए हैं। इनकी बहुत-सी जातियाँ हैं, जिनमें दो मुख्य हैं—एक

असली चिम्पाञ्ज़ी और दूसरे गंजे चिम्पाञ्ज़ी, जिनके लगभग सारे मुँह पर बाल नहीं होते। गोरिल्ला की तरह चिम्पाञ्ज़ी भी वृक्षों पर अपनी शय्या बनाता है, जिस पर उसकी बीबी और बाल-बच्चे सोते हैं। वह उनके निकट उनकी रक्षा के लिए उपस्थित रहता है।

चिम्पाञ्ज़ी का भी भोजन फल और पत्ते ही हैं। ये मांस नहीं खाते, परन्तु अभ्यास कराने से वे मांस भी स्वाद से खाने लगते हैं। उनके मस्तिष्क की रचना अन्य वानरों से उच्च प्रकार की होती है। इसीलिए वे सबसे अधिक बुद्धिमान् भी होते हैं। शरीर के किसी स्थान से अचानक रक्त बहने लगने पर वे उस स्थान को अपने हाथों से दबाकर उसको बन्द करने की चेष्टा करते हैं। यदि ख़ून बन्द न हो तो घाव पर घास तोड़ कर लगा देते हैं।

उनकी चतुराई

चिम्पाञ्ज़ी बड़े सीधे होते हैं और आसानी से पालतू बना लिये जाते हैं। उनमें सीखने और अनुकरण करने की बड़ी योग्यता होती है। जिन्होंने सीखे हुए चिम्पाञ्ज़ी देखे हैं वे क़रीब-क़रीब मनुष्य की-सी उनकी समझ देखकर दंग रह जाते हैं। हमारे देश में जिस प्रकार मदारी बन्दर का नाच दिखाते हैं उसी प्रकार योरप में चिम्पाञ्ज़ी का तमाशा दिखाया जाता है। उनकी चतुराई का इन बातों से आपको अन्दाज़ हो सकता है कि वे दरवाज़ा खोलना, अपने पिंजड़ों को बुहारना, चम्मच या प्याले द्वारा दूध, चाय आदि पीना ही नहीं सीख जाते, बल्कि साइकिल चलाने और कपड़े पहिनने का भी अभ्यास उन्हें कराया जा सकता है। बच्चोंवाली गाड़ी में एक चिम्पाञ्ज़ी बैठ जाता है और दूसरा उस गाड़ी को घसीटकर चलाता है। कहा जाता है कि उन्हें थोड़ा-बहुत गिनती का भी ज्ञान हो जाता है। वे स्त्री-पुरुष में भी भेद कर लेते हैं और पुरुष की अपेक्षा स्त्री से अधिक नम्रता का बर्त्ताव करते हैं।

एशिया का सबसे बड़ा वन-मानुष—औरैंग उटाँग

एशिया के वन-मानुषों में औरैंग उटाँग ही सबसे बड़ा है, किन्तु अफ़्रीका महाद्वीप में पाये जानेवाले गोरिल्ला से यह छोटा होता है। यह एक मनोरंजक बात है कि काले हब्शियों के देश के निवासी गोरिल्ला का रंग भी काला होता है और औरैंग उटाँग का रंग एशिया के मनुष्यों की तरह मटमैला भूरा होता है। यह विशालकाय वन-मानुष सुमात्रा तथा बोर्नियो द्वीप में ही निवास करता है। 'औरैंग उटाँग' मलाया प्रदेश की भाषा का शब्द है और इसका अर्थ होता है 'वन का मनुष्य'।

इसकी दो नस्लें पाई जाती हैं। साधारण नस्ल के नर ४'-४" ऊँचे होते हैं तथा मादा इनसे भी कुछ छोटी होती हैं। दूसरी बड़ी नस्ल, जो उत्तरी बोर्नियो में मिलती है, ६' लम्बी होती है, परन्तु अब यह जाति प्रायः लुप्त-सी हो गई है। गर्नसी के अजायबघर में इस बड़ी नस्ल के औरैंग का एक नमूना रक्खा हुआ है। यह प्राणी ५'-८" लम्बा है। उसके सीने की चौड़ाई ५४", कमर की ४८" और गर्दन की २८" है। कहा जाता है कि जब वह हाथ फैलाकर खड़ा होता था तो एक हाथ की उँगली से दूसरे हाथ की उँगली तक का फैलाव ८'—६" होता था। औरैंग की गर्दन मोटी होने का कारण यह है कि गर्दन की खाल और मांस-पेशियों के बीच आवाज़ की थैली लटकती रहती है। यह थैली आवाज़ को गुँजाने में सहायता देती है।

ये प्राणी आलसी और भारी डील के होते हैं। इनकी भुजाएँ लम्बी और बलिष्ठ होती हैं तथा खड़े होने पर टख़ने के निकट तक पहुँच जाती हैं; किन्तु इनकी टाँगें छोटी ही होती हैं और झुकी रहती हैं। औरैंग का चेहरा भद्दा और बेडौल होता है तथा मुँह का आकार भी बड़ा होता है। भौं और पलकों के दो-चार बालों के अतिरिक्त चेहरे पर बिल्कुल बाल नहीं होते। इनकी नाक चपटी होती है और आँखें व कान छोटे तथा मनुष्यों के-से ही होते हैं। सीने पर कुछ लाल रंग के बाल बिखरे हुए उगते हैं। पीठ, कंधे और जाँघों पर लाल रंग के मोटे-मोटे घने बाल लटकते रहते हैं। ये बाल १०"-१२" लम्बे होते हैं। औरैंग के मस्तिष्क के ऐंठन या बल चटख़ और बहुत-कुछ हमारी ही तरह के होते हैं।

इसके हाथ-पैरों से स्पष्ट है कि औरैंग अपना अधिक समय पेड़ पर ही बिताता है। उनकी शाखाओं पर वह झूलता-कूदता हुआ वैसी ही तेज़ी और चंचलता से चलता-फिरता है जैसे कि हम लोग ज़मीन पर स्वेच्छापूर्वक विचरण करते हैं। जब वह धरती पर उतरता है तब गोरिल्ला और चिम्पाञ्ज़ी के ही समान मचक-मचककर चलता है। वह फल-मूल और पत्तों के अतिरिक्त कुछ नहीं खाता। औरैंग नम्र, सीधा-सादा और निर्दोष प्राणी है तथा सहज ही में पालतू बन जाता है। वह मनुष्य पर जल्दी आक्रमण नहीं करता। जगत्प्रसिद्ध जन्तु-भूगोल-वेत्ता वालेस साहब तथा उनके साथियों ने एक बार बोर्नियों के वनों में एक मादा औरैंग को पेड़ पर बैठे देख उसके निकट पहुँचने का

विचार किया। उन्हें समीप आते देखकर वह वृक्ष की डालियों तथा नारियल के आकार के काँटेदार फलों की १० मिनट तक वर्षा करती रही। बीच-बीच में गुस्से में वह ज़ोर से गुर्राती भी जाती थी। संभवतः उस ओरैंग स्त्री से वालेस साहब के परिचय का अन्त ख़राब न हुआ होगा, क्योंकि उन्होंने इसके बाद का कुछ भी हाल लिखा नहीं है।

बुद्धि और बल के द्वारा अपने पिंजड़े से छुटकारा पाना

ओरैंग बड़ा बलशाली होता है और कहा जाता है कि मगर तक को वह युद्ध में मार डालता है। अजायबघर में पला हुआ ओरैंग कभी-कभी रखवाले का हाथ इतनी मज़बूती से पकड़ लेता है कि हाथ छुड़ाना बहुत ही मुश्किल हो जाता है। एक ओरैंग में दो मनुष्यों का बल होता है। एक बार एक अजायबघर के ओरैंग ने अपने पिंजड़े के तारों को हाथों से मरोड़ डाला और उन्हें तोड़कर लम्बी-सी छेनी बना ली, जिसे उसने अपने बग़ल के पिंजड़े में फेंक दी। इस दूसरे पिंजड़े का ओरैंग और भी होशियार था। उसने उसी छेनी से अपने पिंजड़े के बहुत-से तार काट डाले और उसके बीच से निकल भागा तथा अजायबघर की छत पर चढ़ गया। जब चौकीदार ने देखा तो सीढ़ी लगाकर वह उस पर चढ़ने लगा। इस पर उस ओरैंग ने ऐसी ज़ोर से पकड़कर सीढ़ी हिलाई कि चौकीदार साहब पृथ्वी पर लुढ़कते दिखाई दिये! थोड़ी देर बाद छत पर से उतरकर वह पेड़ पर पत्तों और डालियों का अपना बिस्तर बनाकर आनन्द की नींद सोया! सुबह बड़ी मुश्किल से फिर से वह पकड़ा जा सका।



लन्दन की जन्तु वाटिका का सबसे अधिक बुद्धिमान चिम्पन्ज़ी—आर्थर

यह अपना कोट और टोप पहिन सकता था और मनुष्य को देखकर बाल भी काढ़ लेता था। कहा जाता है कि यह बड़ी सुगमता से काँटे, छुरी और चम्मच से अपना भोजन करना सीख गया था तथा आदमी की ही तरह ताश के पत्ते हाथ में लेकर बड़ी गम्भीरता से फेंकता था।

सबसे छोटा वन-मानुष—गिब्बन—जो छलाँग मारकर वृक्षों पर कूदता फिरता है

अब चौथे प्रकार के सबसे छोटे मानवसम कपि का हाल भी सुन लीजिये। इन्हें हम साधारणतया गिब्बन के नाम से पुकारते हैं। वास्तव में ये दो प्रकार के हैं—एक असली गिब्बन, दूसरे सियामंग (Siamangs)। गिब्बन सियामंग से छोटे तथा उनकी अपेक्षा सुकुमार होते हैं। ये खड़े होने पर लगभग ३०'' ऊँचे होते हैं, परन्तु सियामंग ३' या इससे भी कुछ अधिक लम्बे होते हैं। इनकी लगभग एक दर्जन या अधिक उपजातियाँ हिमालय के पूर्वी हिस्से से लेकर ब्रह्मा, मलाया प्रायद्वीप और उसके निकटवर्ती द्वीपों में होते हुए चीन के दक्षिणी प्रान्तों तथा इन्डोचीन तक पाई जाती हैं। कपियों में केवल यही ऐसे हैं जो ज़मीन पर सीधे खड़े होकर चलते हैं।

इनका सिर छोटा और गोल होता है। शरीर पर कोमल ऊन के-से बाल होते हैं। इनमें से कोई तो बिल्कुल काले रंग के होते हैं, किन्तु किसी का मुख सफ़ेद होता है और किसी का वर्ण भूरा या हल्का बादामी होता है। इनकी भुजायें इतनी लम्बी होती हैं कि खड़े होने पर हाथ की उँगलियाँ धरती से छू जाती हैं। बाँहों का अगला हिस्सा पिछले भाग से बड़ा होता है तथा पैरों से भी लम्बा होता है। सब वन-मानुषों में से गिब्बन और सियामंग ही उपयुक्त वृक्षवासी हैं। एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर और दूसरे से तीसरे पर बड़ी फुर्ती और चपलता से कूदते और छलाँगें मारते हुए ये दूर तक निकल जाते हैं। बीस, तीस या चालीस फ़ीट तक ये कूद जाते हैं। एक हाथ से डाल पकड़कर ज़ोर का झोंका लेते हुए ये ऐसी छलाँग मारते हैं मानो हवा में उड़े जा रहे हों, साथ ही दूसरे हाथ से दूर के दूसरे पेड़ पर जा लगते हैं। इसी प्रकार ये जंगल में वृक्षों पर मनमानी क्रीडायें करते फिरते हैं। ये पहाड़ों तथा छोटे-छोटे टीलों पर भी रहते हैं और बैठे-बैठे ही सोते हैं। स्थल पर जब ये मनुष्य की तरह सीधे खड़े होकर चलते हैं तो अपनी लम्बी भुजाओं को ऊपर उठा लेते हैं अथवा गर्दन के ऊपर उन्हें पीछे मोड़ लेते हैं, मानो तेज़ी से चलने के लिए इन्हें अपने शरीर को साधना पड़ता हो।

इनकी आवाज़ बड़ी ही तेज़ होती है। जब कभी दो-चार गिब्बन एकत्र हो जाते हैं तो बड़ा शोर मचाते हैं। इनका भोजन कीड़े-मकोड़े होते हुए भी मांस से ये घृणा करते हैं। जल या अन्य द्रव पदार्थों का सेवन ये बड़ी अनोखी रीति से करते हैं। ये उस पदार्थ में अपने हाथों की उँगलियाँ डुबाकर चाटते हैं। इनका स्वभाव साधारणतया दीन होता है और मनुष्य से इन्हें बड़ा डर लगता है। उसको देखकर ये शीघ्र ही पेड़ पर चढ़ जाते हैं। प्रतीत होता है कि इनका मस्तिष्क अच्छी तरह वृद्धिप्राप्त है। नीचे लिखी हुई कथा से स्पष्ट हो जायगा कि गिब्बन में केवल स्वाभाविक बुद्धि ही नहीं बल्कि विचार तथा विवेक-शक्ति का भी समावेश है। गिब्बनों का अन्य बन्दरों की भाँति यह स्वभाव होता है कि ठिकाने से रक्खी हुई वस्तुओं को तितर-बितर कर दें। वस्तुओं को बिगाड़ने तथा भाँति-भाँति के उपद्रव करने में उन्हें बड़ा आनन्द आता है।

बेनेट साहब का पालतू गिब्बन और उसकी विवेक-शक्ति

बेनेट साहब के पास एक पालतू गिब्बन था, जिसको साबुन की टिकियों से विशेष रुचि थी। मौक़ा पाने पर वह साबुन ज़रूर उठा ले जाता। एक-दो बार साबुन की टिकिया उठा ले जाने पर बेनेट साहब ने उसे बहुत डाँटा। एक दिन उसी कमरे में, जहाँ वह गिब्बन रहा करता था, वह मेज़-कुर्सी लगाकर बैठ गये। जब गिब्बन ने उन्हें लिखने में अत्यन्त तल्लीन समझा तो उसने बेनेट साहब की ओर छिपकर देखते हुए साबुन की ओर हाथ बढ़ाया। बेनेट साहब उसका मतलब समझकर भी नीचे को देखते हुए अपने काम में लगे रहे। गिब्बन ने उन्हें काम में लगा समझकर टिकिया उठा ली और अपनी जगह पर जाने लगा। जब आधी दूर तक पहुँच गया तो उसके स्वामी ने धीमी आवाज़ से प्रश्न करना आरम्भ किया। गिब्बन के जी में यह शंका हुई कि उसकी चोरी प्रकट हो गई और वह तुरन्त ही लौट पड़ा और टिकिया को पहले की ही जगह पर रख अपने स्थान पर जा बैठा। इससे क्या यह नहीं प्रकट होता कि इनमें भी मनुष्य-जैसी थोड़ी बहुत बुद्धि अवश्य ही है?

बैबून और मैनड्रिल

अब हम कुछ अन्य मानवसम कपियों का उल्लेख करना चाहते हैं। इन कपियों को हम साधारणतया बैबून या मैनड्रिल कहते हैं, परन्तु इनमें और भी कई नस्लें हैं। इनका मुँह बहुत कुछ कुत्ते-जैसा होता है, इसलिए ये 'साइनोकिफ़ैला (Cynocephala) (कुत्ते की-सी खोपड़ीवाले जीव) के नाम से पुकारे जाते हैं। ये अधिकतर ज़मीन, चट्टानों या टीलों पर ही वास करते हैं और कभी-कभी भोजन की खोज में पेड़ों पर चढ़ते हैं। इकट्ठे होकर समूहों में रहना इन्हें पसन्द है और ये बड़े ही नटखट होते हैं। रात ही भर में ये खेत का खेत साफ़ कर डालते हैं। जब ये किसी खेत पर हमला करते हैं तो इनमें से एक, जो अनुभवी और बड़ा समझा जाता है, पहरे पर खड़ा रहता है। उसके भूँकने से शेष सब समझ जाते हैं कि कोई खटका है और सब उलटे पाँव भाग पड़ते हैं।

बैबून सहारा के दक्षिण में अफ़्रीका के सभी स्थानों में तथा अरब में मिलते हैं। किसी समय भारतवर्ष में भी वे पाये जाते थे। प्राचीन मिस्रवासी उन्हें बड़ा पवित्र समझते थे और उनकी पूजा करते थे। उनकी भुजायें और टाँगें बराबर होती हैं और भुजायें भी टाँगों की तरह काम में आती हैं, मानो वे चौपाये हों। उनकी दुम न बहुत लम्बी ही होती है और न बहुत छोटी ही। किसी-किसी की दुम के छोर पर बालों का गुच्छा होता है। बैबून जब सीधा खड़ा होता है तो उसकी लम्बाई ढाई-तीन फ़ीट होती है। उसकी भृकुटियों की हड्डियाँ उठी होती हैं और आँखें मनुष्य के समान सामने की ही ओर देखनेवाली होती हैं। उसके स्तनों की स्थिति, कंधों की आकृति और भुजायें बिल्कुल हमारे ही जैसी होती है। अतः सुदान के लोग उसे 'निस-निस' कहते हैं, जिसका अर्थ है 'छोटा आदमी'।

ये जीवधारी शरीर में छोटे होते हुए भी बड़े बलवान् होते हैं। जे० सीनेल साहब ने लिखा है कि उनके पुत्र के बँगले में एक मादा बैबून रहती थी। वह पालतू थी और सारे बँगले में स्वतन्त्रतापूर्वक घूमा करती थी। एक दिन उसे यह सूझा कि मकान की सफ़ाई होनी चाहिए। बस फिर क्या था! मालिक भी घर पर न थे। उसने कमरों की सब वस्तुएँ—कुर्सी, मेज़, पलँग, किताबें आदि—उठा-उठाकर बाहर फेंक दीं। इसके लिए उसको सज़ा दी गई और वह पिंजड़े में बन्द कर दी गई।

मैनड्रिल पश्चिमी अफ़्रीका, विशेषतया गिनी तट, का निवासी है। यह बैबून से बहुत बड़ा होता है। खड़ा होने पर यह ५′ लम्बा होता है। इसकी दुम २′ से अधिक लम्बी नहीं होती और नीचे लटकने के बजाय ऊपर की ओर सीधी खड़ी रहती है। इसकी भौं के ऊपर की हड्डियाँ उठी हुई होती हैं। इसका चेहरा भारी, भौंहें ऊँची और आँखें गड्ढे में बैठी हुई होती हैं। इसके शरीर का रंग

बैबून से गहरा होता है। ऊपरी भागों में बाल नरम और जैतूनी खैरे रंग के होते हैं तथा नीचे के भागों में उससे कुछ हल्के रंग के होते हैं। चेहरे, हाथ तथा पैरों पर बाल नहीं होते, पर कनपटी के बाल ऊपर को चोटी की भाँति उठे रहते हैं। इनकी दाढ़ी पीली होती है।

मैनड्रिल नरों का चित्र-विचित्र शृंगार मादाओं को मोहित कर लेता है

मैनड्रिल की वेश-भूषा में सबसे अनूठी बात नर-मैनड्रिल का चटकीला रंग है। उसकी दाढ़ी पीली और चोटी काली होती है। चेहरा ऊपर से लेकर नाक तक गहरा नीला और बैंजनी होता है। बीच-बीच में नहें-सी होती हैं जिनसे धारियाँ-सी पड़ जाती हैं। चेहरे के बीचोबीच में माथे के बीच से लेकर नाक की कोर तक गहरे लाल रंग की रेखा होती है, जिससे चेहरे की शान और भी बढ़ जाती है। जबड़े पर गुलाबी और बैंजनी रंग के धब्बे होते हैं। इनके चेहरे पर ही ऐसे रंग नहीं होते बल्कि पीछे की ओर चूतड़ों पर तथा जाँघ में भी भीतरी ओर चटख सिंदूरी रंग का चर्म होता है। इसके विचित्र रंगों के कारण किसी ने कहा है कि इसके चेहरे पर सूर्योदय का तथा पीछे की ओर सूर्यास्त का दृश्य दिखलाई पड़ता है। पूर्ण वृद्धि को प्राप्त नरों में ही इस प्रकार का चित्र-विचित्र शृंगारमय रूप होता है। स्त्रियों और बच्चों को ये आकर्षक रंग प्राप्य नहीं हैं। वृद्ध होने पर पुरुषों में ये रंग फीके पड़ जाते हैं। इससे डार्विन साहब का यह विचार है कि इनका यह रंगीन शृंगार स्त्रियों को मोहित करने में उपयोगी होता है, अर्थात् प्रकृति ने उसे बिल्कुल व्यर्थ ही नहीं बनाया है।



मैडागास्कर-निवासी अर्द्ध-वानर (लीमर)

नई और पुरानी दुनिया के बन्दरों में क्या भेद है?

मैकाके और जिब्राल्टरवाले कपि आदि को छोड़ अब हम आपको असली बन्दरों का हाल बतलायेंगे जो नई और पुरानी दोनों ही दुनिया के देश-देशान्तरों में फैले हुए हैं। आप सभी ने मामूली बन्दर और लंगूर अवश्य ही देखे होंगे। शायद आप उनकी शैतानियों और मसख़रेपन से भी अनभिज्ञ न होंगे। जब वे अपने छोटे-छोटे हाथों में केला या आम पकड़कर खाते और मदारियों के सिखाने से नाचते, कपड़ा पहनते और ठाठ से मोढ़े पर बैठकर सलाम करते या दौड़कर दर्शकों के पैर छूते हैं तो वे कैसे मानुषिक जान पड़ते हैं! वे अपने पिछले पैरों को हमारी तरह चलने के काम में नहीं ला सकते, किन्तु वे अपने पैरों से हाथों के समान चीज़ों या डालियों को पकड़ सकते हैं। हमारे पैरों में यह शक्ति नहीं होती। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि उनके दो पैर और दो हाथों के बजाय चार हाथ होते हैं।

कदाचित् आप यह सोचते हों कि बन्दर तो सब एक-से ही हैं चाहे वे नई दुनिया के हों चाहे पुरानी दुनिया के; किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। उनमें बड़ा भेद है। पुरानी दुनिया के बन्दरों के नथुने पास-पास होते हैं; उनके गालों में खाद्य पदार्थों को भरने के लिए थैलियाँ होती हैं; उनके हाथों में ठीक अँगूठे होते हैं और वे अपनी दुमों का शरीर साधने के अतिरिक्त किसी भी प्रकार प्रयोग नहीं कर सकते। नई दुनिया के बन्दरों के नथुने एक दूसरे से दूर होते हैं; उनके गालों में खाना भरने की थैलियाँ नहीं होतीं और न उनके हाथों में ठीक अँगूठे ही होते हैं। उनमें से बहुतेरे अपनी दुम को हाथ के समान डालियों को पकड़ने के काम में ला सकते हैं, मानो वह उनका पाँचवाँ हाथ हो। इन भेदों के अतिरिक्त नई दुनियावाले वानरों में पिछला धड़ कभी लोम-हीन या गहरे रंग का नहीं होता। बन्दरों की बहुतेरी जातियाँ हैं जिनका वर्णन करने के लिए एक पूरे ग्रन्थ की आवश्यकता है। यहाँ हम पुरानी तथा नई दुनिया के दो एक बन्दरों का बहुत ही संक्षिप्त वर्णन करके अपना लेख समाप्त करना चाहते हैं।

पुरानी दुनिया की सात जातियों में सर्वश्रेष्ठ—लंगूर

पुरानी दुनिया के बन्दरों में सर्वश्रेष्ठ लंगूर है, जिससे सभी भारतीय परिचित हैं। हिंदू तो इन्हें पवित्र मानते हैं और इनकी एक उपजाति को हनुमान कहते हैं। सब स्वतन्त्र बन्दरों में ये सबसे जल्दी पालतू बन जाते हैं और वन में भी मनुष्य को अपना मित्र समझते हैं। हनुमान लंगूरों के

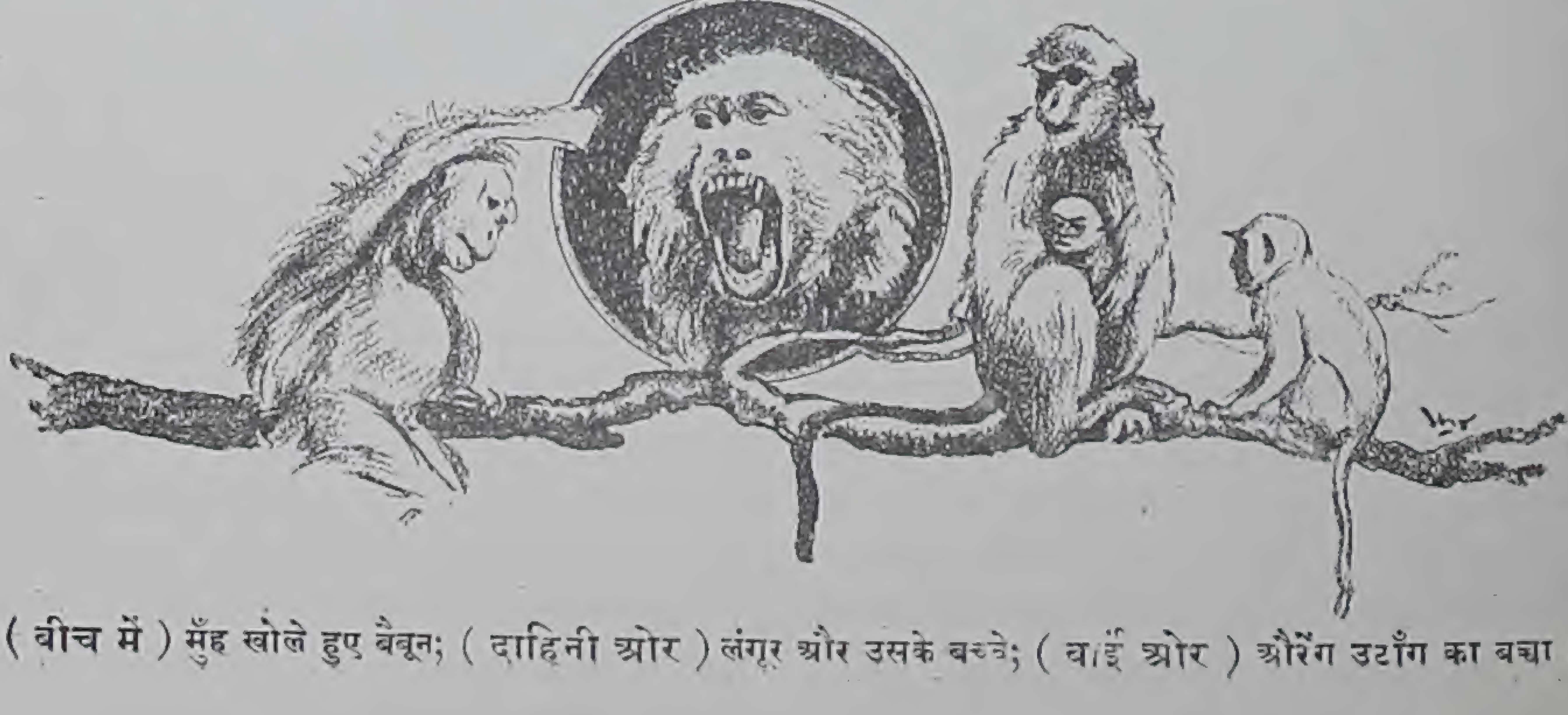
विषय में यह विख्यात है कि कई मादाओं के बीच में एक ही नर होता है। कहा जाता है कि पूर्ण नर छोटे नरों से घृणा करते हैं और अवसर पाने पर उन्हें मार डालते हैं, किन्तु मातायें अपने छोटे बच्चों को जंगल में ले जाकर रखती हैं और वहीं छिपाकर उनका पालन-पोषण करती हैं। जब वे बड़े और सुदृढ़ हो जाते हैं तो वापस आकर अपने जीवन तथा नेतृत्व के लिए अन्य पुरुषों से लड़ते हैं। इससे बढ़कर इन मन्द बुद्धिवाले बन्दरों में मातृ-प्रेम का और क्या दृष्टान्त हो सकता है कि मातायें अपने बच्चों की रक्षा के ख़ातिर अपने स्वामी और साथियों को छोड़ निर्जन वन में भयंकर पशुओं के बीच जोखिम में रहती हैं!

नई दुनिया के वानरों में से तीन विचित्र प्राणी

नई दुनिया के वानरों की १० बड़ी जातियाँ हैं। उनमें से एक अत्यन्त मनोहर बन्दर मार्मोसेट है, जो केवल गिलहरी के बराबर बड़ा होता है और जिसे लोग बच्चों के खेलने के लिए पालते हैं। इसका स्वभाव बड़ा सीधा होता है। यह जब प्रसन्न होता है तब तो हँसता है और उदास होने पर आँसू बहाता है। मानव बालकों के समान ही वह नटखट होता है। उसके ३२ दाँत होते हैं तथा शेष वानरों के ३६ होते हैं। उसके काले चेहरे के बीच सफ़ेद नाक बड़ी ही खिलती है। कानों में भी सफ़ेद बालों के गुच्छे होते हैं। नई दुनिया का एक और विचित्र बन्दर है, जिसका नाम 'मकड़ी बन्दर' है। वह काला तथा दुर्बल शरीर का होता है। उसके हाथ पैर भी लम्बे पतले होते हैं। वह अपनी दुम से वृक्षों को पकड़कर उसी के सहारे लटकता और कूदता फिरता है। तीसरी प्रकार का मनोरंजक बन्दर इन दोनों से बहुत बड़ा होता है और दक्षिणी अमेरिका में मिलता है। इसको 'गुर्रानेवाला बंदर' कहते हैं; क्योंकि इसकी गुर्राहट इतनी तेज़ होती है कि मीलों तक सुनाई पड़ती है। ये बंदर इतने दिनों से इतनी ज़ोर से चिल्लाते रहे हैं कि उनके गले उनकी सहायता करने के लिए बहुत बड़े हो गये हैं। इस अपूर्व बात के अलावा उनकी आकृति बड़ी भोंड़ी होती है। इनकी मादायें छोटी होती हैं और उनमें चिल्लाने की शक्ति नरों के समान तेज़ नहीं होती।

अर्द्ध-वानर, प्रधानभागीय कक्षा का सर्वप्रथम प्राणी

लीमर या अर्द्ध-वानर (जिसका चित्र पिछले पृष्ठ पर दिया है) का विकास भी उसी उद्गमस्थल से हुआ है कि जिससे सारे बन्दर और कपियों ने जन्म लिया है। आजकल इनके रहने का स्थान मैडागास्कर द्वीप है, किन्तु उनकी दो एक जातियाँ अफ़्रीका की भूमि पर भी पाई जाती हैं। भूगर्भ-वेत्ताओं तथा वैज्ञानिकों का मत है कि मैडागास्कर और अफ़्रीका की भूमि पहले मिली हुई थी। उसी समय ये अर्द्ध-वानर वहाँ फैल गये। बीच की भूमि जल-मग्न हो जाने से मैडागास्कर अफ़्रीका से अलग हो गया और ये जीव विकास के उस चक्र से बचे रहे, जिसमें फँसकर अफ़्रीका के अन्य जीवों ने उन्नति की। यही कारण है कि वे अब तक वहाँ इतनी बड़ी संख्या में बचे रह गये हैं। लीमर कई रंग और आकार के होते हैं। कुछ छोटी लोमड़ियाँ-जैसे और कुछ नेवले, चुहियों और गिलहरी-जैसे होते हैं। परन्तु इनमें सबसे अद्भुत एक जीव है जो 'एई-एई' कहलाता है। उसके दाँत ख़रगोश-से होते हैं। उसकी बीच की उँगली भी बड़ी अनोखी होती है, जिसके सिरे पर एक टेढ़ा नख होता है। इसकी सहायता से वह पेड़ों की छाल में चिपटे हुए कीड़ों को निकालकर खा जाता है।



(बीच में) मुँह खोले हुए बैबून; (दाहिनी ओर) लंगूर और उसके बच्चे; (बाईं ओर) औरँग उटाँग का बच्चा।



मनुष्य की कहानी

ऑस्ट्रेलिया का जंगली काला मनुष्य और उसका लम्बा भाला तथा टेढ़ा बूमैरैंग

यही उसके अचूक अस्त्र हैं। बूमैरैंग एक विचित्र झुका हुआ नोकीला लकड़ी का शस्त्र होता है, जो प्राय: २०-३० इंच लम्बा, २-३ इंच चौड़ा और आधे इंच मोटा होता है। वह इस प्रकार फेंका जा सकता है कि हवा में अद्भुत रूप से चक्कर लगाते हुए उसी जगह लौट आता है, जहाँ से कि वह फेंका जाता है। चित्र में आप देख सकते हैं कि ये लोग क्या पहनते हैं और अपने शरीरों को रंग से किस प्रकार पोते रहते हैं। नीचे के चित्र में इनके अस्थाई भद्दे गृह भी दिखलाई दे रहे हैं।







ईमू का एक जोड़ा

ये शुतर्मुर्ग को छोड़कर सबसे बड़ी चिड़िया हैं। परों के बहुत छोटे होने के कारण ये उड़ नहीं सकते, किन्तु तेज़ दौड़ने और लात मारने की शक्ति पर अपने बचने का भरोसा रखते हैं। ऑस्ट्रेलिया के आदि-मनुष्य कैसे छल करके सहज में इनका शिकार कर लेते हैं, इसका हाल आप अगले पृष्ठ के लेख में पढ़ेंगे।



कुछ वर्त्तमान मनुष्य-जातियाँ जो अब भी प्रस्तर-युग की ही सभ्यता में रह रही हैं

हमारी दुनिया बड़ी ही रमणीक है। इस पर बहुत-सी मनुष्य-जातियाँ बसी हुई हैं। इनके स्वभाव, रहन-सहन और वस्त्रादि भिन्न-भिन्न हैं। कोई बहुत ही गोरे, सुंदर और सुडौल शरीरधारी हैं; कोई काले, कुरूप और भद्दे डीलवाले हैं। कोई विशाल, आलीशान २०-२५ मंज़िल ऊँचे सुन्दर मकानों में सुखपूर्वक रहते हैं, कोई निर्जन वन में अपने हाथ से बनाई हुई झोपड़ी में ही जीवन व्यतीत करते हैं। आज-कल भी, जब हम सभ्य होने का दावा करते हैं, प्रत्येक महाद्वीप में ऐसी जंगली जातियाँ हैं, जो सभ्यता के मार्ग पर उतनी ही पिछड़ी हुई हैं जितने की ३०-४० हज़ार वर्ष पूर्व के हमारे पूर्वज थे। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि इनके लिए अब भी पृथ्वी पर पाषाण-काल ही है। इस लेख में इन्हीं जातियों से सरसरी तौर से हम आपका परिचय करायेंगे।

ऑस्ट्रेलिया के आदि निवासी—जो सबसे जंगली समझे जाते हैं

जब अंग्रेज़ों ने ऑस्ट्रेलिया पर पहले-पहल अधिकार जमाया और वहाँ अपनी बस्तियाँ क़ायम कीं, तब उन्होंने वहाँ के असली निवासियों को उसी प्रकार जीवन बिताते पाया जैसे कि पाषाण-काल में मनुष्य जीवन व्यतीत करते थे। ऑस्ट्रेलिया के ये आदिम निवासी संख्या में घटते जा रहे हैं, किन्तु मध्य और उत्तर के बीहड़ प्रदेशों में अभी अधिकता से—लगभग ६०००० की संख्या में—पाए जाते हैं। इनकी खोपड़ी लम्बी और नीची, और शक्ल-सूरत अफ़्रीका के हब्शियों से मिलती-जुलती होती है। इनका क़द मध्यम या ऊँचा होता है तथा सिर के बाल मोटे, घने और घुँघराले होते हैं। ये गहरे कत्थई या काले वर्ण के होते हैं तथा इनकी बुद्धि बहुत ही मन्द होती है। इन्हें खेती-बारी का काम बिलकुल नहीं आता, न धातुओं का ही इन्हें कुछ ज्ञान है। पहले ये बिल्कुल ही नंगे रहते थे, केवल शीतकाल में खाल के टुकड़ों से अपने शरीर को ढकते थे, परन्तु अब कुछ कपड़े भी पहनने लगे हैं।

मन्द बुद्धिवाले होते हुए भी ये लोग ज़बरदस्त शिकारी हैं; क्योंकि शिकार पर ही उनका जीवन निर्भर है। ये धनुष-बाण का भी प्रयोग नहीं कर पाते हैं। इनक हथियार केवल भाले और डण्डे ही हैं। इसके अतिरिक्त ये लोग एक झुकी हुई नोकदार लकड़ी के हथियार का भी प्रयोग करते हैं, जिसको बूमैरैंग (Boomarang) कहते हैं। शिकार पर ही निर्भर रहने के कारण इनकी शिकारी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण है। जिन जानवरों का ये शिकार करते हैं, उनके स्वभाव से ये भलीभाँति परिचित हैं। जानवरों की बोलियों की ये इतनी अच्छी तरह नक़ल करते हैं कि स्वयं जानवरों को धोखा हो जाता है। ऑस्ट्रेलिया के प्रसिद्ध ईमू नामक पक्षी का शिकार ये बड़ी ही बुद्धिमानी से करते हैं। सदियों पहले से ही इन लोगों ने यह जान लिया था कि ईमू एक बड़ी ही अनुवीक्षणशील चिड़िया है, इसलिए दो आदमी मिलकर विशेष रीति से उसका शिकार करते हैं। एक आदमी तो गड्ढा खोदकर कमर तक उसमें घुस जाता है और अपने शरीर के ऊपरी हिस्से पर ईमू की खाल ओढ़ लेता है; दूसरा पास की झाड़ी में छिप जाता है और वहाँ से ईमू की बोली बोलता है। इधर गड्ढेवाला आदमी अपने शरीर को विचित्र ढंग से चारों ओर हिलाता रहता है। यदि निकट ही ईमू होते हैं तो इन शिकारियों की बोली को सुनकर दौड़ आते हैं और हिलते हुए मनुष्य को अपना ही

साथी पक्षी समझते हैं। यह समझकर कि वह किसी दुःख या कष्ट के कारण हिल रहा है, उससे दुःख का कारण जानने की इच्छा से वे उसके निकट जाते हैं। ज्योंही वे उसके निकट पहुँचते हैं, वह आदमी अपना भाला फेंककर उन्हें मार डालता है। इनकी समझदारी का एक और उदाहरण सुनिये। जब कभी इन्हें कोई शहद की मक्खी दिखलाई पड़ती है तो उसके छत्ते का पता लगाने के लिए ये उसमें कोई रेशा या धागे की-सी चीज़ चिपका देते हैं और फिर देखते रहते हैं कि वह किस ओर जाती है।

जब इन लोगों को कोई अच्छा शिकार नहीं मिलता है तब ये जड़, कीड़े, मकोड़े, चींटी आदि सब कुछ खा लेते हैं। इनका सारा समय शिकार में ही व्यतीत होता है, फिर भी अपने मन-बहलाव के लिए नाचते हैं। इनके नाच में दो प्रकार के भावों का प्रदर्शन होता है—शिकार-संबंधी और युद्ध-संबंधी। कपड़े तो ये लोग पहनते नहीं हैं, परन्तु अपने शरीरों को भिन्न-भिन्न रंगों से रँग लेते हैं। शिकारी नृत्य में शिकार के ही ढंगों को प्रकट करते हैं, तथा युद्ध-नृत्य में दो दलों में युद्ध दिखलाते हैं।



ऑस्ट्रेलिया के प्राचीन देश-वासियों का युद्ध-नृत्य में मस्त एक समूह
बीच में विचित्र भेष धारण किये हुए तथा निराले वस्त्र पहने हुए सबका अगुआ है।

कुछ द्वीपों की असभ्य जातियाँ

प्रशान्त सागर के प्रसिद्ध द्वीप हवाई की स्त्रियाँ पहले घास के लहँगे ही पहना करती थीं। अब भी हर समय नहीं तो 'हूला' नृत्य नाचने के समय तो ये घास के ही लहँगे पहनती हैं। फ़िलिपाइन्स द्वीप-समूह के आदिम निवासी भी अपना जीवन पशुओं का शिकार करके ही बिताते हैं। कपड़े वे भी बहुत कम या नहीं के बराबर ही पहनते हैं।

अंडमन द्वीप के निवासी जल-जन्तुओं और शहद को खाकर ही अपनी गुज़र करते हैं। वे न जानवर पालते हैं और न आग जलाना ही जानते हैं। पुरुष कुछ भी कपड़ा नहीं पहनते और स्त्रियाँ नाममात्र के लिए कमर से छोटा-सा घास का लहँगा लटका लेती हैं।

लंका में अब भी एक प्राचीन जाति के मनुष्य रहते हैं, जिन्हें 'वेद्दा' कहते हैं। लंका की ५३ लाख की जन-संख्या में अब ये केवल ३५०० ही रह गये हैं और वहाँ के दक्षिणी-पूर्वी भाग में ही मिलते हैं। इनके शस्त्रों में केवल लम्बा धनुष और बाण हैं। ये मछली, शहद और शकरकंद के अतिरिक्त अपने शिकार किये हुए जानवरों पर भी जीवन-निर्वाह करते हैं।

अफ़्रीका के काले बौने

एक और आदिम जाति अफ़्रीका के जंगली बौनों की है, जो ऑस्ट्रेलिया के काले आदमियों की भाँति लकड़ी-से-लकड़ी रगड़कर आग बनाते हैं। ये भद्दी-सी झोपड़ियों में या पृथ्वी में गड्ढे खोदकर रहते हैं। ये अधिकतर विषुवत् रेखा के निकट कौंगो के घने जंगलों में रहते हैं। क़द में ये अधिक-से-अधिक ४ फ़ीट ६ इंच होते हैं। इनके सिर के बाल छोटे, घुँघराले और काले होते हैं। इनका रंग बहुत काला होता है। शरीर के मुक़ाबले में इनके सिर

अधिक बड़े होते हैं। ये लोग अधिकतर कपड़े नहीं पहनते, परन्तु अपरिचितों के सम्मुख अपना शरीर भोजपत्र, पत्ते या खाल से ढक लेते हैं।

ये बौने शिकार पर ही निर्भर रहते हैं और अपना शिकार कमान और विषैले तीरों से करते हैं। अफ़्रीका के बड़े-से-बड़े जानवर इनके तीरों से घायल होकर कुछ ही घंटों में मर जाते हैं। जब कभी ये किसी बड़े जीव को मार लेते हैं तो बड़ी ख़ुशी और दावत मनाते हैं। ये लोग छोटे होते हुए भी खाने में बहुत तेज़ होते हैं। एक पूरे ज़ेबरे को छः आदमी ख़त्म कर डालते हैं। मछली और शहद भी इनके खाद्य पदार्थों में सम्मिलित हैं। शहद इनको अत्यंत प्रिय है। उसे प्राप्त करने के लिए ये ऊँचे-से-ऊँचे पेड़ों पर चढ़ जाते हैं। ये खेती-बारी बिल्कुल ही नहीं जानते, किन्तु जड़ों को खोदकर खाते हैं। इन्हें यह भी मालूम हो गया है कि किस फल का खाना इनके लिए लाभदायक है और किसका हानिकारक।



'हूला' नृत्य नाचनेवाली हवाई द्वीप की नारी
जो लम्बी-लम्बी घास के डंठलों का लहँगा पहने हुए है। एक समय था कि ये इन लहँगों के अतिरिक्त कुछ नहीं पहनती थीं, किन्तु सभ्यता के प्रभुत्व में आकर इन घास के लहँगों को अब ये छोड़ती जा रही हैं। अब वे इन्हें केवल नाच या अन्य उत्सवों के समय ही पहनती हैं।

शिकार, कन्द-मूल और फलों की ही खोज में मस्त रहने के कारण इनको प्रकृति के विषय में अच्छा अनुभव है। शुतर्मुर्ग़ के अंडे ही इनके बर्त्तन हैं। उन्हीं में वे पानी भरकर रखते हैं और उन्हीं में खाना खाते हैं।

एक बात में ये लोग ऑस्ट्रेलिया के आदिनिवासियों से बढ़े-चढ़े हैं। ये चित्रकारी भी जानते हैं। ये लोग गुफाओं की दीवारों पर स्त्री-पुरुष और जीव-जन्तुओं के काले, पीले, लाल, और सफ़ेद रंगों में चित्र बनाते हैं। चित्रकला तथा विषैले तीर बनाने तक ही इनकी कारीगरी सीमित है, यद्यपि कहीं-कहीं अपने पड़ोसी पहाड़ी हब्शियों

के हस्त-कौशल की ये कुछ-कुछ नक़ल करने लगे हैं। लोहे की जो कुछ चीज़ें वे काम में लाते हैं वे अन्य जातियों से शहद, मांस, रस्सी इत्यादि के बदले में लेते हैं। कहा जाता है कि ये लोग व्यवहार में बहुत ही सच्चे और ईमानदार होते हैं। जब कभी उन्हें केलों की आवश्यकता होती है तो किसी हब्शी की बाड़ी में जाकर केले खा लेते हैं और उनके मूल्यस्वरूप पेड़ में उतना ही गोश्त बाँध आते हैं। इनके घर स्थिर नहीं होते। ये अपनी विचित्र गोल झोपड़ियाँ केवल ३ फ़ीट ऊँची बनाते हैं। इसके लिए पेड़ की डाल काटकर उसका मोटा सिरा पृथ्वी में गाड़कर दूसरे सिरे को भी झुकाकर गाड़ देते हैं और इस अर्द्ध-वृत्ताकार लकड़ी को घास-फूस से ढक देते हैं। ये पृथ्वी में एक गड्ढा बना लेते हैं। इसी में वर्षा और धूप से रक्षा पाने के लिए घुस जाते हैं। इनकी झोपड़ियाँ इतनी छोटी होती हैं कि ये उनमें सीधे खड़े नहीं हो सकते। झुककर हाथ-पैरों से चलकर ये भीतर पहुँच जाते हैं। जब कोई बहुत बड़ा जानवर मार लेते हैं तो उसको अपने घर में लाने के बजाय अपना घर ही उसके पास ले जाते हैं।

ये लोग बहुत शर्मीले और सीधे स्वभाववाले होते हैं, परन्तु साथ ही बहुत समझदार भी होते हैं। संगीत के ये बड़े प्रेमी हैं। कद्दू को सुखाकर उसमें कुछ डोरी या ताँत लगाकर ये एक सीधा-सादा बाजा बनाते हैं। नृत्य में इनकी बड़ी रुचि है। इनके नाच कभी-कभी घण्टों तक चलते रहते हैं और बड़ी धुन से मस्त होकर ये नाचते हैं।



लंका के असभ्य मनुष्य जो 'वेद्दा' कहलाते हैं

ये जंगलों की गुफाओं या चट्टानों की शरण में रहते हैं, परन्तु कभी-कभी पत्तों के झोपड़े भी बना लेते हैं। तीर-कमान के अतिरिक्त इनके पास और कोई शस्त्र नहीं होते। शिकार, मछली, शहद और शकरकंद ही इनके मुख्य खाद्य पदार्थ हैं।

लैपलैंड के मूल निवासी और उनका रहन-सहन

योरप के उत्तरी-पश्चिमी मैदानों में भी बौनों की एक जाति पाई जाती है, जिसको लैप्स (Laps) कहते हैं। इस जाति के लम्बे-से-लम्बे पुरुष ५ फ़ीट के होते हैं। ये स्वीडन के उत्तरी भाग लैपलैंड के वासी हैं। इनके चेहरे छोटे और गोल होते हैं, परन्तु नेत्र और केश काले रंग के होते हैं। इनकी टाँगें थोड़ी टेढ़ी होती हैं, क्योंकि इनके जीवन का अधिकतर समय बर्फ़ की गाड़ियों में दबे-दबाए हुए या धरती पर झुककर बैठे हुए ही व्यतीत होता है। यही कारण है कि वे चलने-फिरने में तेज़ नहीं होते।

इनमें से वे जो समुद्र-तट के निकट रहते हैं मछली का शिकार करते हैं, परन्तु अधिकतर लोग बारहसिंघों (Reindeers) के ही चरवाहे हैं। बारहसिंघा ही उनका सर्वस्व है। जब तक वह जीता है, उन्हें उससे दूध मिलता है। इस दूध को या तो वे ताज़ा ही पी लेते हैं या जाड़े के लिए पनीर बनाकर रख छोड़ते हैं। जब वह मर जाता है तो ये उसका मांस खा लेते हैं और उसकी खाल

कपड़े या डेरे बना लेते हैं। इनको गाँठने के लिए बारहसिंघों की ही हड्डियों की सुइयाँ तथा उसी की नाड़ियों या पुट्ठों के डोरे काम में लाते हैं। उसी के खुर जलाकर वे सरेस बना लेते हैं। उनकी अमीरी और ग़रीबी का निर्णय बारहसिंघों की ही संख्या पर निर्भर है। एक बड़े घराने के भली-भाँति निर्वाह के लिए २००-३०० जानवर काफ़ी होते हैं। यदि किसी के पास ५०० बारहसिंघे होते हैं तो वह बड़ा धनी समझा जाता है। इनमें ग़रीब-से-ग़रीब मनुष्य के पास भी आधे दर्जन बारहसिंघे होते हैं।

एक स्थान में बारहसिंघों के खाने की घास या हरी वनस्पति जब ख़त्म हो जाती है, तब ये लोग दूसरी जगह चले जाते हैं। डेरे ही इनके घर हैं। ये डेरे त्रिकोण की शक्ल के होते हैं। कई पतले लम्बे बाँसों को झुकाकर गाड़ देते हैं और ऊपर से बारहसिंघे की खाल या सनौवर की छाल डाल देते हैं। ऊपरी भाग में बीच में एक सूराख़ छोड़ देते हैं। डेरे के बीच में ये लोग धरती पर जो आग जलाते हैं उसका धुआँ इसी सूराख़ से बाहर निकलता है। इसी आग के ऊपर बरतन लटकाकर वे अपना खाना पका लेते हैं। जब ये लोग अपना स्थान बदलते हैं तो स्त्रियाँ डेरे को उखाड़कर और उसे लपेटकर बर्फ़ पर चलनेवाली गाड़ी पर लाद देती हैं। इन गाड़ियों में बारहसिंघे ही जोते जाते हैं। बर्फ़ पर चलनेवाली छोटी-छोटी गाड़ियों में ये लोग स्वयं बैठकर जाते हैं।



अफ़्रीका के नाटे जंगली पिगमी

बारहसिंघों की देख-भाल के अतिरिक्त पुरुष ग्रीष्म ऋतु में नदी से मछलियाँ पकड़ते हैं और चिड़ियाँ फँसाते हैं तथा स्त्रियाँ बारहसिंघों का दूध दुहती हैं, उनकी देख-भाल करती हैं तथा कपड़े सीतीं और घर-गृहस्थी के अन्य कार्य करती हैं। बालक इधर-उधर फल बटोरने के लिए घूमते फिरते हैं। उनके प्रतिदिन के दूध और मांस का स्थान कभी-कभी यही फल ले लेते हैं।

शीत कटिबन्ध के निवासी—एस्किमो

एक अत्यन्त प्राचीन जाति आज भी मानव इतिहास की उसी आदिम अवस्था में रहती है जिसमें कि इतिहास के उदय के समय मनुष्य रहते थे। यह जाति है एस्किमो, जो ग्रीनलैंड तथा कनाडा के उत्तरी समुद्र-तट में बसी हुई है। एस्किमो अत्यन्त ठंडे अथवा बर्फ़ीले देशों के निवासी होते हुए भी छोटे क़दवाले होते हैं। इसका कारण उनके नीच ढंग से जीवन व्यतीत करना भी हो सकता है। वे अपनी शक्ल-सूरत में चीनियों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते हैं। सम्भव है कि दोनों एक ही पूर्वज के वंशज हों। उनके चेहरे गोल, बाल सीधे और काले होते हैं। बहुधा उनके नेत्रों के भीतरी कोने में चीनियों के समान एक निराली खाल की झिल्ली होती है। स्त्री और पुरुष दोनों ही लम्बे बाल रखते हैं तथा दोनों के कपड़ों में भी बहुत सादृश्य होता है। अतः यह पहचानना अक्सर कठिन हो जाता है कि हम स्त्री से बात कर रहे हैं अथवा पुरुष से।

सुदूर उत्तर के इन निवासियों के पास भेड़ें नहीं हैं, जिनके ऊन के कपड़ों को पहनकर वे वहाँ की भयंकर शीत से अपने शरीर की रक्षा कर सकें। बर्फ़ से ढकी हुई धरती पर वे अनाज भी पैदा नहीं कर सकते, जिससे कि वे अपने लिए रोटियाँ बना लें। अपना खाना पकाने के लिए तथा शरीर को गर्म रखने के लिए उन्हें कोयले की आग भी प्राप्त नहीं है। फिर भी उन्हें अपने शरीर को स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट रखने तथा अपने जीवन को आनन्द से व्यतीत करने के लिए वहाँ के हिमाच्छादित मैदानों में सभी वस्तुएँ मिल जाती हैं। क्या आप सोच सकते हैं कैसे? वे अपनी क़रीब-क़रीब सभी चीज़ों के लिए सागर पर ही निर्भर हैं और इसीलिए वे समुद्र-तट पर ही रहते हैं। जिनको खा-पीकर ये अपनी गुज़र करते हैं उन पशुओं में मुख्य सील, वालरस और ह्वेल हैं। ये तीनों स्तनपोषी जीव हैं। इनके अतिरिक्त ये लोग सामन और हेलीबट मछलियाँ भी पकड़ते हैं। ग्रीष्म ऋतु में जो पक्षी वहाँ आते हैं उनको फँसाने की युक्ति भी ये लोग करते हैं।

शिकार करने के लिए इन्हें हथियारों की आवश्यकता होती है और उनके बनाने में ये बहुत बुद्धिमानी से काम लेते हैं। ह्वेल की पसली की ये लोग कमान बना लेते हैं और हड्डियों ही के तीर और भाले भी तैयार कर लेते

हैं। परन्तु इनका मुख्य हथियार एक प्रकार का बल्लम अथवा "हार्पून" (Harpoon) है। इस बल्लम का बेंट उन लकड़ियों का होता है जो बहकर उनके देश के तटों पर आ लगती हैं, और नोक वालरस की कड़ी हड्डियों की होती है। ये बल्लम ऐसी चतुराई से बने होते हैं कि जब किसी जानवर पर ये मारे जाते हैं तो हड्डी की नोक लकड़ी से अलग हो जाती है, अर्थात् हड्डी तो जानवर के शरीर में रह जाती है और लकड़ी शिकारी के हाथ में। हड्डी में ताँत के द्वारा सील की एक खाल, जिसमें हवा भरी होती है, बँधी रहती है। इस हवा भरी हुई खाल के कारण शिकार पानी में डूब नहीं पाता तथा शिकारी को यह पता रहता है कि उसका शिकार किस जगह पर है। इन्हीं प्राचीन शस्त्रों से ये लोग ह्वेल, वालरस, सील और बारहसिंघे का शिकार अत्यन्त साहसपूर्वक करते हैं। ध्रुव प्रदेश के भालू का शिकार करने में भी ये लोग इन्हीं शस्त्रों का प्रयोग करते हैं।

इन्हें अपना भोजन और वस्त्र प्राप्त करने के लिए सागर पर जाना पड़ता है, इसलिए नावों की भी इन्हें ज़रूरत पड़ती है। यह तो कहा ही जा चुका है कि इनके प्रदेश में वृक्ष तो होते ही नहीं हैं, फिर ये नाव किसकी बनाते हैं? इसके लिए उन्हें सागर की लहरों द्वारा तट पर एकत्रित की हुई लकड़ियों अथवा ह्वेल की बड़ी-बड़ी हड्डियों का ही सहारा लेना पड़ता है। लकड़ी या हड्डी का छोटा-सा ढाँचा बनाकर ये उसे सील की खाल से मढ़ देते हैं। सीने के लिए सुइयाँ भी हड्डी की बनती हैं तथा डोरे का काम जानवरों की ताँत से लिया जाता है। खाल की ये छोटी-छोटी नावें क्यक (Kyak) कहलाती हैं। इनमें बीच में एक इतना बड़ा सूराख़ होता है जिसमें से एक एस्किमों की टाँगें भीतर चली जायँ। एक नाव में एक ही आदमी बैठ सकता है। इन्हीं सुकुमार नावों में ये वीर भीषण तूफ़ानों में भी शिकार के लिए जाते हैं और सुरक्षित रूप से वापस आ जाते हैं। विशेषकर बर्फ़ीले प्रदेश के बारहसिंघे और सील ही उनके जीवन निर्वाह के मुख्य आधार हैं। यदि ये न हों तो वहाँ इन लोगों का जीवन असम्भव हो जाय। ये पशु मांस के अतिरिक्त अपनी खालें भी एस्किमों को प्रदान करते हैं। इन्हीं खालों से वे अपने वस्त्र और डेरे तैयार करते हैं। सील और ह्वेल की चर्बी खाकर ये लोग अपने शरीर को वहाँ की भीषण शीत से बचाने के लिए गर्म रखते हैं। यह चर्बी उन्हें इतनी स्वादिष्ट लगती है कि वे उसे बहुधा कच्ची ही खा जाते हैं। चर्बी





एक लैप, उसका डेरा और बारहसिंघा

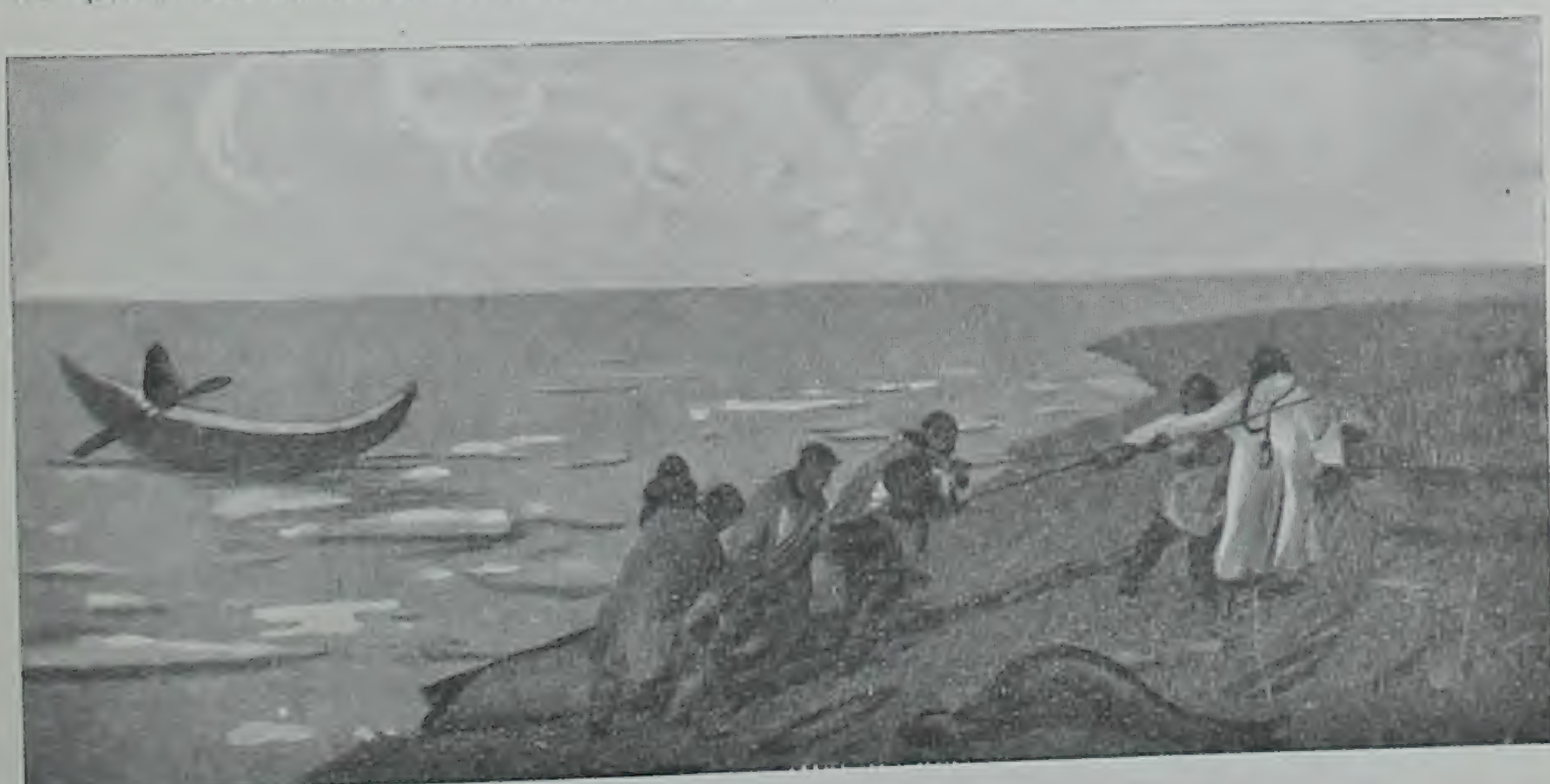
लैप ही योरप के सर्व प्राचीन लोग हैं। ये अपना जीवन इधर-उधर घूमकर बिताते हैं। ये डेरों में रहते तथा बारहसिंघों का शिकार करते या उन्हें पालते हैं। बारहसिंघे का गोश्त और दूध ये लोग खाते हैं, उसकी खाल को डेरे और कपड़े के काम में लाते हैं।

ही को जलाकर वे उससे दीपक का काम चलाते हैं तथा उसी पर अपना खाना पकाते हैं।

गर्मी के दिनों में इनके देश में कभी सूर्यास्त होता ही नहीं। रात के समय भी वहाँ दिन ही रहता है। इस समय इनका जीवन सरल रहता है। पानी में शिकार भी आसानी से मिल जाते हैं। तट से दूर मैदानों में इन्हें बारहसिंघों का शिकार करने में भी अधिक कठिनाई नहीं होती। लकड़ी और हड्डी के ढाँचे पर जानवरों की खाल चढ़ाकर ये अपने लिए छोटे-छोटे डेरे बना लेते हैं। वही उनके घर होते हैं। किन्तु जाड़े के दिनों में, जब उन्हें दिन में भी सूर्य का दर्शन नहीं होता, इतनी प्रचण्ड सर्दी होती है कि सब पानी जमकर बर्फ़ हो जाता है और शरीर को कँपानेवाली ठण्ढी हवा चलती रहती है। ऐसे समय में इनका जीवन बड़ा ही कठिन हो जाता है। पानी के जम जाने के कारण नावें बेकार हो जाती हैं, इसलिए इन्हें अपना आहार प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है।

इनके सौभाग्य से सील को भी मनुष्य की तरह हवा में साँस लेने की ज़रूरत पड़ती है। अतः पानी के ऊपर जमी हुई बर्फ़ को वह अपनी साँस से गलाकर उसमें सूराख़ बना लेती है। इसी सूराख़ से वह अपना सिर हवा में साँस लेने के लिए पानी के ऊपर निकालती है। इन्हीं सूराख़ों के पास एस्किमों घण्टों तक ताक लगाए पड़े रहते हैं। ज्योंही कोई सील साँस लेने के लिए ऊपर आती है, ये बर्छी या बल्लम फेंककर उसे मार डालते हैं।

सर्दी और हवा से रक्षा करने के लिए वे डेरे, जिन्हें ये लोग गर्मी में बनाते हैं, काफ़ी नहीं होते। अतः इस ऋतु में ये अपने रहने का दूसरा प्रबन्ध करते हैं। ये लोग धरती में गड्ढे खोद लेते हैं और ऊपर से पत्थर के टुकड़े एक पर एक रखकर गुम्बज़-सा बना लेते हैं। यदि लकड़ी और हड्डी उपलब्ध होती हैं तो इन्हीं का त्रिकोण ढाँचा बनाकर खाल से मढ़ लेते हैं। यदि यह सब कुछ भी न मिला तो वे बर्फ़ की सिलें काटते हैं और गड्ढे के ऊपर बर्फ़ के टुकड़े रखकर गुम्बज़-सा बना लेते हैं। ये मकान इतने नीचे होते हैं कि इनमें घुसने के लिए दूर से नीची सुरंगें बनाई जाती हैं, जिनके सिरे पर खाल से ढके हुए द्वार होते हैं। एस्किमो लोग रात को अपने कुत्तों को इन्हीं सुरंगों में सुला देते हैं जिससे कि वे इस प्रदेश के श्वेत भालुओं से बचे रहें। सुरंगों में ये लोग घुटने के बल सरककर चलते हैं, क्योंकि वे बहुत नीची होती हैं। झोपड़ी के अन्दर ये चबूतरे बना लेते हैं और उन्हीं पर बैठते और सोते हैं। इन बर्फ़ की झोपड़ियों में धुँआ या हवा निकलने के लिए कोई चिमनी नहीं होती, इसलिए ये लोग भीतर आग नहीं जला पाते, किन्तु ये लोग नर्म साबुनी पत्थर का दिया बनाते हैं और सूखी हुई काई की बत्ती बनाकर उस दिये



अमरीका के आर्कटिक प्रदेश के सील मारनेवाले एस्किमों और उनके देशी बयक

एस्किमों बहुत ज़बरदस्त खानेवाले हैं। ये अपनी सुकुमार नावों में मछली मारने और सील का शिकार करने जाते हैं। सील उनको केवल मांस और चर्बी ही नहीं देतीं, बल्कि वस्त्र के लिए खाल, और दीपकों तथा आग जलाने के लिए तेल भी देती हैं।

में चर्बी डालकर जलाते हैं। इससे उन्हें प्रकाश और गर्मी मिलती है। इसी पर वे खाना भी पकाते हैं। ठंढे-से-ठंढे मौसम में भी इन बर्फ़ के मकानों के भीतर इतनी गर्मी होती है कि इन लोगों को अपने रोयेंदार गर्म कपड़े पहिनने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।



स्त्री और पुरुष एक-से ही कपड़े पहनते हैं। स्त्रियों की जाकटों की पीठ पर झोलियाँ होती हैं जिसमें वे अपने हँसमुख, तन्दुरुस्त बच्चों को बिठा लेती हैं। स्त्रियाँ घर की देखभाल करती हैं तथा अपने वस्त्रों और नौकाओं के लिए खालों को तैयार करती और सीती हैं। पुरुष शिकार करते हैं और जाड़े की लम्बी ऋतु में अपना फ़ालतू समय नये हथियारों को बनाने या पुरानों की मरम्मत करने अथवा हाथीदाँत पर नक़्क़ाशी करने में बिताते हैं। ये लोग हम लोगों की तरह अक्षर नहीं लिखते, किन्तु अपने भावों को चित्रों के द्वारा प्रकट करते हैं जैसा कि किसी समय प्राचीन मिस्रवाले किया करते थे। ये लोग शायद ही कभी नहाते हों। मातायें अपने बच्चों को कभी-कभी चाटती हैं। इनके जीवन भर में यही नहाना और सफ़ाई है। जब से इन लोगों का योरप-निवासियों से मेल हुआ है तब से इनकी जनसंख्या घटती जा रही है। एस्किमो अपनी तैयार की हुई खालें योरपवालों के हाथ बेच देते हैं और उनके बदले में कपड़े ले लेते हैं। परन्तु वे उनकी खालों के बराबर गर्म नहीं



एस्किमो के गर्मी और जाड़े के मकान

(ऊपर) गर्मी का मकान, जो लकड़ी और हड्डियों का ढाँचा है और खाल से ढक दिया गया है। (नीचे) जाड़े के लिए बर्फ़ का मकान अथवा इगलू। यह केवल बर्फ़ के टुकड़ों का ही बनता है। पृथ्वी में एक छिछला गड्ढा खोदकर उसके किनारे बर्फ़ के टुकड़े एक पर एक रखकर गुम्बज बना लिया जाता है। अत्यन्त ठंडक के कारण बर्फ़ की सिलें पिघल नहीं पातीं, फिर भी मकान के अन्दर बहुत गर्मी रहती है।

होते। इसके अतिरिक्त योरपवासियों की कई बीमारियाँ भी इन लोगों में फैल गई हैं। बहुत-से प्राणी तो इन्हीं रोगों के शिकार बन जाते हैं।

अमरीका के असली निवासी—रेड इंडियन

अब उत्तरी अमरीका की एक और आदिम जाति लाल भारतीय (रेड इंडियन) का हाल भी सुन लीजिये। यह जाति भी सभ्यता के चक्र में फँसकर दिन-दिन लुप्त होती जा रही है। किन्तु एक समय था जब इस जाति के लोग







लाल भारतीय, उनका विगवैम नामक डेरा और बिसन

इन डेरों को बनाने के लिए बाँस गोले में खड़े करके ऊपर एक साथ बाँध दिये जाते हैं और ऊपर से बिसन की खाल ढक दी जाती है।

समस्त अमरीका में फैले हुए थे। शिकार खेलना, मछली मारना और युद्ध करना ही इनका मुख्य काम था। वे अपने देश के घने जंगलों और विस्तृत मैदानों में रहते थे, परन्तु उनके देश में योरप के गोरे निवासियों का पदार्पण होते ही उनकी स्वतंत्रता छिन गई। अब ये लोग केवल कुछ नियुक्त स्थानों में रहने और सभ्यता को अपनाने के लिए विवश होने के कारण घटते चले जा रहे हैं।

ये लोग न तो लाल ही हैं और न हिन्दोस्तानी ही। प्रसिद्ध नाविक कोलम्बस १५वीं शताब्दी के अंतिम चरण में जब भारतवर्ष के लिए समुद्री मार्ग खोजने के लिए निकला और पहुँच गया अमरीका में, तो उसे यही ख्याल हुआ कि वह भारत ही पहुँचा है। वहाँ के निवासियों का रंग हलका कत्थई था, इसलिए उसने उनका नाम रेड इन्डियन रख दिया था। यही नाम अब तक प्रचलित है।

गोरी खालवालों के बसने से पहले ये लोग धातु का प्रयोग बिल्कुल ही न जानते थे। उनके शस्त्र धनुष, बाण, पत्थर की कुल्हाड़ियाँ और सीप के चाकू ही थे। उनके देश के हरे-भरे मैदानों में आजकल की भाँति घोड़े, भेड़, गाय आदि न मिलते थे। ये सब तो योरपवालों ने वहाँ १६ वीं शताब्दी में पहुँचाये। उस समय वहाँ हिरन और

गाय से मिलता-जुलता बड़े सिर और कन्धेवाला बिसन नाम का जंतु पाया जाता था। इन लाल भारतीयों के लिए बिसन बहुत लाभदायक था। उसकी खाल से वे अपने वस्त्रों, डेरों और बिस्तरों का काम निकालते थे। उसका मांस ये लोग बहुधा पकाकर परन्तु कभी-कभी कच्चा भी खाते थे। उसके खुरों से वे सरेस निकालते और सींग से पानी पीने के पात्र का काम लेते थे। बिसन का शिकार ये लोग पैदल ही धनुष-बाण से किया करते थे, किन्तु बिसनों के झुंड जब एक स्थान की घास समाप्त हो जाने पर दूसरी जगह चल देते थे तब उन पर निर्भर इन आदिम मनुष्यों को भी उनका पीछा करना पड़ता था।

अपनी जगह समय-समय पर बदलते रहने के कारण ये आदिम अमरीका-वासी साधारण-से डेरों में ही अपनी गुज़र करते हैं। ये डेरे गोलाकार होते हैं और लकड़ी के डंडों के ढाँचे पर चमड़ा मढ़कर तैयार किये जाते हैं। पिछले पृष्ठ के चित्र में ऊपर की ओर जहाँ लकड़ियाँ निकली हुई दिखलाई दे रही हैं उस जगह एक झरोखा रहता है, जिससे भीतर डेरे में जलनेवाली आग का धुँआ बाहर निकलता रहे। तेज़ हवा चलने पर यह झरोखा भी किसी खाल के टुकड़े से बन्द किया जा सकता है। एक ओर डेरा खुला होता है, जहाँ दर्वाज़े के बजाय खाल का पर्दा पड़ा रहता है। ये डेरे इतने मामूली होते हैं कि स्त्रियाँ उन्हें उखाड़कर सरलता-पूर्वक एक से दूसरे स्थान को ले जाती हैं। पुरुष सिर पर एक विशेष प्रकार की टोपी-सी पहनते हैं, जिसमें से ऊपर को पर निकले रहते हैं। ये पर बड़े ही सुन्दर होते हैं। इनके बाल सीधे, लम्बे और काले होते हैं। कभी तो ये उन्हें यों ही खुले लटकने देते हैं और कभी चोटी बाँध लेते हैं। ये लोग अपने शरीरों पर या तो रंग पोत लेते हैं या गुदना गोदते हैं। इनकी देखने और सुनने की शक्तियाँ बड़ी तेज़ होती हैं।

जिन जातियों का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं इनके अतिरिक्त संसार के भिन्न-भिन्न भागों में और भी ऐसी जातियाँ विद्यमान हैं जो पाषाण-काल की सभ्यता के समीप ही हैं। उदाहरणार्थ—प्रशान्त महासागर के द्वीपों के वासी, अरब के बालुकामय प्रदेश के असली निवासी, साइबीरिया के मैदानों में बसनेवाले चरवाहे और भारतवर्ष के प्राचीन निवासी कोल और भील, जो सतपुरा के पहाड़ी जंगलों में अब भी दिखलाई देते हैं। स्थान की कमी के कारण यहाँ इनका वर्णन करना हम उचित नहीं समझते।



प्रशान्त महासागर के न्यू गिनी द्वीप में बसनेवाले जंगली पापुआन, जो विकास की बिलकुल निम्न श्रेणी पर हैं।



प्रतिक्रिया और आचरणवादी मनोविज्ञान—(२)

संसर्गजात प्रतिक्रिया के संबंध में रूसी वैज्ञानिक पोफ़ोलोफ़ की खोज

पिछले लेख में यह कहा जा चुका है कि पोफ़ोलोफ़ के प्रयोगों का क्षेत्र वास्तव में प्राणि-विज्ञान था। फिर भी उसके प्रयोगों और खोज ने आचरणवादी मनोविज्ञान पर काफ़ी प्रभाव डाला है। पोफ़ोलोफ़ हाजमे के संबंध में कुछ खोज कर रहा था और इसी सिलसिले में वह संसर्गजात प्रतिक्रियाओं तक पहुँच गया था। वह उस समय एक कुत्ते पर प्रयोग कर रहा था। अन्य पशुओं की अपेक्षा कुत्ते पर प्रयोग करने से जो फल निकलेगा वह मनुष्य पर अधिक लागू होगा। इसका कारण यह है कि मनुष्य का मस्तिष्क बहुत-कुछ कुत्ते-जैसा ही बना है। पोफ़ोलोफ़ ने अस्त्रचिकित्सा द्वारा लार के निकलने का स्थान कुत्ते के गाल में कर लिया था। अब लार मुँह की राह न आकर सीधे अपने केन्द्र से टपक पड़ती। यह उसने इसलिए किया था कि वह देख सके कि बाहरी प्रभाव से किस प्रकार लार गिर या रुक सकती है। अपने भोजन की तश्तरी सामने देख या भोजन लानेवाले को देखकर अथवा उसकी पद-चाप ही सुनकर कुत्ते की लार गिरने लगती। पोफ़ोलोफ़ अपने पहले प्रयोगों में देख चुका था कि लार का आना या रुकना बहुत-कुछ भोजन के ऊपर निर्भर था। भोजन रूखा होता तो लार अधिक निकलती या भोजन गीला होता तो लार कम निकलती इससे यह मालूम हुआ कि शरीरयंत्र परिस्थिति के अनुसार परिचालित होता है। परंतु अभी तक शारीरिक क्रियाओं का मस्तिष्क से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था। मुँह में जब भोजन गया तब उससे स्वाद-इंद्रियों में प्रतिक्रिया हुई और इस तरह लार बनी। परंतु जब कुत्ते ने केवल भोजन से सम्बन्धित वस्तुओं को देखकर लार गिराना आरंभ कर दिया, तब कहना चाहिए कि शारीरिक प्रतिक्रियाओं में मस्तिष्क का भी कोई स्थान है। शारीरिक प्रतिक्रिया—जैसे लार बहना—के लिए स्वाभाविक यह है कि प्रतिक्रिया उत्पन्न करनेवाली वस्तु का शरीर से स्थूल सम्बन्ध हो; परंतु जब वह बिना इस स्थूल सम्बन्ध के केवल उन वस्तुओं के देखने या सुनने-मात्र से, जिनका प्रतिक्रिया-जनक वस्तु से संसर्ग है, उत्पन्न हो जाती है तो हम उस प्रतिक्रिया को संसर्गजात कहेंगे। पोफ़ोलोफ़ अब खोज करने लगा कि इन मनोविकारों का शारीरिक क्रियाओं से ठीक-ठीक क्या सम्बन्ध है; केवल मनोविकार शारीरिक क्रियाओं को कैसे जन्म दे सकते हैं। क्या मनुष्य भी अपने आपको इसी प्रकार परिस्थिति के अनुकूल बनाता है और परिस्थिति उसके भीतर विशेष प्रकार की क्रियाएँ उत्पन्न करती है? पोफ़ोलोफ़ मनोवैज्ञानिक तो था नहीं, अतएव उसने अपने जीव-विज्ञान की प्रणाली पर ही प्रयोग करने आरंभ किये।

प्रतिक्रियाजनक वस्तु के बदले उसके संसर्ग में आई अन्य वस्तुएँ कहाँ तक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकती हैं, पहले वह इसी की जाँच करने लगा। तश्तरी और भोजन लानेवाले व्यक्ति का भोजन से निकट का सम्बन्ध है। पोफ़ोलोफ़ ने कमरे में एक प्रकार का वाद्ययंत्र रखा, जो भोजन देने के पहले एक मिनट तक शब्द करता था। कुछ बार ऐसा करने का फल यह हुआ कि वाद्ययंत्र एक मिनट तक बज भी न पाता कि भोजन की आशा से कुत्ते की लार गिरने लगती। इसके बाद यह किया गया कि नियत समय तक वाद्ययंत्र को बजाकर भोजन न दिया गया। इससे पहले तो लार बही, परंतु कुछ प्रयोगों के पश्चात् कुत्ता समझ गया कि अब भोजन नहीं मिलने का और उसकी लार आना भी कम हो गई। धीरे-धीरे लार बिलकुल बन्द हो गई। भोजन के संसर्ग से वाद्ययंत्र के शब्द में कुत्ते के लिए जो गुण उत्पन्न हुआ था, वह नष्ट हो गया। पोफ़ोलोफ़ ने यह भी देखा कि यदि पहले दिन वाद्ययंत्र का शब्द सुनकर संसर्गजात प्रतिक्रिया निश्चित् हो गई, तो दूसरे दिन तक उसका वैसा ही प्रभाव न बना रहा। वरन्

दूसरे दिन जब वाद्ययंत्र बजा तो कुत्ते के भीतर कोई भी प्रतिक्रिया न उत्पन्न हुई। परंतु यदि प्रत्येक बार वाद्ययंत्र का शब्द करने पर उसे भोजन दिया गया, तो उससे फिर वही संसर्ग स्थापित हो गया। विशेष बात यह हुई कि संसर्ग स्थापित करने के लिए अब की पहले की अपेक्षा कम समय लगा। इस प्रयोग के लगातार दोहराने का परिणाम यह हुआ कि संसर्ग उत्पन्न करने के लिए कुछ भी समय न लगता। इसी भाँति एक बार संसर्ग स्थापित हो जाने पर जब निषेधात्मक प्रयोग किया जाता अर्थात् वाद्ययंत्र बजाकर भोजन न दिया जाता तो पहले के संसर्ग को मिटाने में काफ़ी समय लगता। एक दिन संसर्ग के मिट जाने पर वह फिर दूसरे दिन प्रकट हो जाता। परन्तु बराबर कई दिन तक यदि यह निषेधात्मक प्रयोग किया जाता, तो संसर्गजात प्रतिक्रिया बिल्कुल ही बन्द हो जाती और कुत्ते की लार वाद्ययंत्र के बजने पर भी न निकलती।

संसर्गजात प्रतिक्रिया का स्थापन और निषेध—दोनों एक दूसरे से इतने मिलते-जुलते थे कि पोफ़ोलोफ़ ने निश्चित् किया कि शारीरिक क्रियाएँ दोनों बार एक ही होती हैं। अंतर केवल इतना होता है कि पहली बार "संसर्ग" स्थापित किया जाता है, दूसरी बार उसका "निषेध"। पोफ़ोलोफ़ ने अपने प्रयोगों को और विस्तार देते हुए देखा कि प्रतिक्रियाजनक वस्तु से मिलती-जुलती अन्य वस्तु के होते हुए कुत्ता दोनों के भेद को भी पहचान सकता है। मान लीजिए वाद्ययंत्र से षड्ज पर एक शब्द किया गया और कुत्ते को भोजन दिया गया। दूसरी बार पंचम पर शब्द किया गया; कुत्ते ने इस बार भी लार गिराई, परंतु उसे भोजन नहीं दिया गया। ऐसा अनेक बार करने पर पोफ़ोलोफ़ ने देखा कि षड्ज पर शब्द करने पर ही कुत्ता लार गिराता है; पंचम पर शब्द करने से उसके भीतर वैसी कोई संसर्गजात प्रतिक्रिया नहीं होती। इसके बाद स्वर को पंचम से उतारते हुए षड्ज की तरफ़ आए। देखना यह था कि कुत्ता कितना सूक्ष्म भेद जान सकता है। पंचम से पहले तीव्र मध्यम तक आए, फिर मध्यम तक। और षड्ज के अत्यंत निकट के स्वर, कोमल ऋषभ, तक आने में कई महीने लग गये, परंतु प्रयोग करनेवालों का कहना था कि कुछ कुत्ते इस भेद को ग्रहण कर सकते हैं।

अपने प्रयोगों से पोफ़ोलोफ़ इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि मस्तिष्क में ऐसे विश्लेषक स्नायु रहते हैं जो शरीर के चारों ओर होनेवाली हलचल से अपने काम की विशेष प्रतिक्रियाएँ ही ग्रहण करते हैं। जहाँ तक मनुष्य के आचरण की बात है, वह उसकी एकत्र संसर्गजात प्रतिक्रियाओं का परिणाम है। इस संसर्ग का नियमन उस तत्त्व से होता है जिससे कि मस्तिष्क बना हुआ है। प्रमाण यह है कि पशु-मस्तिष्क के इस तत्त्व पर आघात होने से फिर वह पशु संसर्गजात प्रतिक्रियाएँ ग्रहण नहीं करता। निद्रा में भी ऐसा संसर्ग नहीं स्थापित हो सकता, जिससे सिद्ध होता है कि मस्तिष्क के इस भाग की क्रिया उक्त प्रतिक्रियाओं के लिए अनिवार्य है। पोफ़ोलोफ़ मनोवैज्ञानिक नहीं था परंतु उसने मनोवैज्ञानिकों से पूछा कि वे उसकी खोजों को किन पारिभाषिक शब्दों में व्यक्त करेंगे। पुराने मनोवैज्ञानिकों के पास पुरानी शब्दावली ही थी जिसे पोफ़ोलोफ़ ने अपनी नवीन प्रयोग-सिद्ध खोजों के लिए अपर्याप्त समझा। अतएव उसने घोषणा की कि आचरण को समझने के लिए प्राणि-विज्ञान जानना आवश्यक है। जब उसे अमेरिका के डाक्टर थार्नडाइक के प्रयोगों का पता चला तो उसने थार्नडाइक की खोजों का स्वागत किया, क्योंकि इससे उसके पक्ष की पुष्टि होती थी। परन्तु अमेरिका में पोफ़ोलोफ़ का स्वागत धीरे-धीरे हुआ। वाटसन ने पहले उसके प्रयोगों का उल्लेख करते हुए कहा कि उनसे मनोविज्ञान की छानबीन में सहायता मिल सकती है परंतु मनोवैज्ञानिक खोज की अन्य प्रणालियों की तुलना में वे तुच्छ ठहरते हैं। क्रमशः उसने कहा कि पुरानी प्रणालियों को छोड़कर पोफ़ोलोफ़ की प्रयोगशैली को ही ग्रहण करना चाहिए। उसने स्वयं उसे अपनाया और कहा कि अँधेरे में कब्रिस्तान में या ऐसी जगहों में जो भय की भावना उत्पन्न होती है वह एक संसर्गजात प्रतिक्रिया है। स्मिथ, गुथरी आदि अन्य आचरणवादियों ने भी स्वीकार किया कि मनुष्य का सभी आचरण संसर्गजात प्रतिक्रियाओं पर निर्भर है।

आचरणवाद के संबंध में अब भी बहुत-सा वादविवाद प्रचलित है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि पुराने मनोविज्ञान में अब आगे बढ़ने की सामर्थ्य न थी और उसे गति देने के लिए एक नये वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता थी। संभव है, आचरणवादी अपने प्रयोगों से जिन परिणामों पर पहुँचे हैं, वे सभी ठीक न हों, परंतु उनकी महत्ता इसमें है कि उन्होंने मनोविज्ञान को तर्क-वितर्क की भूमि से हटा कर उसे पुष्ट वैज्ञानिक प्रयोग की भित्ति पर स्थापित किया है। ये प्रयोग आगे चलकर अन्य गुत्थियों को सुलझाने में सफल होंगे, इसकी पूर्ण आशा की जा सकती है।



राष्ट्र का निर्माण

राष्ट्र और समाज का महत्त्वपूर्ण और घनिष्ठ संबंध है। अतः इस स्तम्भ में इस महत्त्वपूर्ण संस्था के विकास पर प्रकाश डालना अनुपयुक्त न होगा।

राष्ट्र मानव समाज की उस राजनीतिक संस्था को कहते हैं जिसका निर्माण किसी निश्चित भूभाग के निवासियों की रक्षा तथा पालन के हेतु किया गया हो। राष्ट्र और राज्य अथवा शासन में कुछ थोड़ा अन्तर है। राष्ट्र अपने आदेश को राज्य अथवा शासन द्वारा सूचित करता है। यों भी कहा जा सकता है कि राष्ट्र अपने प्रभुत्व को राज्य द्वारा स्थापित करता है। राष्ट्र राज्य से कहीं बड़ा है, क्योंकि राष्ट्र में भूभाग के रहनेवाले सब व्यक्ति सम्मिलित हैं। परन्तु राज्य में केवल वे ही मनुष्य गिने जा सकते हैं जो किसी विशेष संस्था के सदस्य हों। राष्ट्र में केवल निश्चित भूभाग और जनसंख्या ही नहीं वरन् एकत्व और निर्माण का भाव भी सम्मिलित है। राष्ट्र राजनीतिक रचना और उसके नियम, अधिकारीगण, तथा राजतंत्र का बोधक है। इसमें व्यक्तियों का परस्पर सहयोग भी सूचित है।

राष्ट्र का निर्माण मनुष्य के इतिहासकाल से बहुत पूर्व हुआ था। राष्ट्र-रचना के निश्चित स्रोत तथा धाराओं का ठीक-ठीक पता नहीं है। उसके प्रारम्भ-काल के विषय में बहुतांश में केवल अनुमान ही किया जाता है। कुछ ऐतिहासिक घटनाओं और सभ्यता की आदिम अवस्था में रहनेवाली कुछ जातियों की आजकल की दशा तथा रहन-सहन के ढर्रे में आदिम राष्ट्र के कुछ विशेष लक्षणों तथा चिह्नों का प्रमाण मिलता है। इन्हीं सूत्रों द्वारा आदिम राष्ट्र के सम्बन्ध में कुछ निश्चित सी धारणाएँ बन गई हैं। इस लेख में इस विषय-संबंधी प्रमुख मतों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

राष्ट्र के सम्बन्ध में 'ईश्वर-दत्त अधिकार मत' (Divine Right Theory) बहुत काल तक प्रमुख रहा। इस मत के अनुसार मनुष्यों का राजा ईश्वर द्वारा चुना जाता है। यह विश्वास था कि ईश्वर कुछ विशेष व्यक्तियों को सर्वसाधारण से चुन लेता है और इसलिए ईश्वर द्वारा चुने हुए ऐसे विशेष व्यक्ति का आज्ञापालन करना सर्वसाधारण का धर्म है। योरप के निर्बल राजाओं ने इस मत से बहुत लाभ उठाया और शक्ति न होते हुए भी बहुत काल तक राज्य किया। ऐसे राजाओं विशेष की श्रेणी में 'स्टूअर्टस' और 'बोर्बोन' राजघरानों की गिनती है। अपने स्वार्थपूर्ण लक्ष्य की पूर्ति के लिए हाल के समय में 'होहनज़ालर्न' राजवंशवालों ने इस मत का आसरा लिया। किसी समय में इस मत से बहुमूल्य समाज-सेवा हुई है। राष्ट्र के प्रति आदर तथा आज्ञापालन के भाव का जन्म इस मत के ही द्वारा हुआ, जिसके फलस्वरूप सभ्यता और सुदृढ़ समाज की वृद्धि हुई। यद्यपि पुराने ज़माने में इस मत के प्रचार तथा समर्थन में अनेकानेक पुस्तकें लिखी गईं, परन्तु आज दिन इस मत को कोई विचारवान् पुरुष ठीक नहीं समझता। राजाओं के ईश्वरदत्त या दैवी अधिकार के मत का खण्डन पृथ्वी के हर भाग में हो चुका है और जहाँ कहीं अब भी पुरानी सभ्यता के अनुसार राजा माना जाता है, वहाँ भी यह पद्धति केवल नाममात्र के लिए अब जीवित है, अथवा यों कहिये कि वहाँ राजा एक पुरानी सभ्यता का चिह्न-स्वरूप रह गया है। वहाँ राजा तो है परन्तु राज्याधिकार से वह अधिकांश में वंचित है।

इससे अधिक पुष्ट मत वह है जिसे "समाज-समझौता" या "सामाजिक निर्णय" (Social Contract) का मत कहते हैं। इस मत का समर्थन हॉब्स, लॉक और रूसो जैसे महापुरुषों ने किया। इसके अनुसार राष्ट्र राज्य के व्यक्तियों के स्वेच्छापूर्ण समझौते का फल है। सब व्यक्ति एकत्रित होकर सर्वमत से एक विधान को निश्चय करते हैं और स्वेच्छानुसार उस विधान के अनुकूल कार्य करते हैं। ऐसे विधान अथवा नियमात्मक

संस्था का निर्माण इसलिए आवश्यक हुआ कि सर्व-साधारण ने किसी संयम की घोर आवश्यकता का अनुभव किया। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार हो सकता है। यदि किसी जन-समूह का प्रत्येक व्यक्ति निजी इच्छा तथा रुचि के अनुसार कार्य करे तो ऐसा भी हो सकता है कि किन्हीं दो या दो से अधिक व्यक्तियों की रुचि का प्रभाव एक दूसरे पर विपरीत हो अथवा अन्य मनुष्यों को उससे हानि हो। इसी अवस्था को बचाने के लिए कुछ ऐसे नियम बनाने पड़े, जिनके विरुद्ध कोई व्यक्ति कार्य न कर सके। ये नियम सर्वसम्मति से बनना अनिवार्य थे। फिर इन नियमों का पालन कराने के लिए, अथवा कोई व्यक्ति उनका उल्लंघन न करे इसकी देख-रेख के लिए, कुछ व्यक्तियों की एक टोली या एक समिति को नियुक्त करना पड़ा। तब उस समिति के सदस्य, अधिकारीगण और कर्मचारी भी नियुक्त हुए। इस प्रकार क्रमशः पूरा विधान बनाया गया, जिसको राष्ट्र के नाम से पुकारा गया। स्विट्ज़रलैण्ड के छोटे-छोटे राज्य और अमेरिका के उपनिवेशों का एक संगठित राष्ट्र बन जाना इस प्रकार के नियमित विधान और स्वेच्छापूर्ण समझौते का महान् प्रमाण है। यद्यपि इतिहास में वर्णित इस प्रकार के राष्ट्र-निर्माण "सामाजिक निर्णय" अथवा "समाज-समझौते" के मत की पुष्टि करते हैं फिर भी यह मत मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि पूर्वकालीन राष्ट्र-निर्माण के समय तत्कालीन मनुष्य सभ्यता की इतनी उच्च श्रेणी को नहीं पहुँच पाये थे कि वे संगठन की आवश्यकता को जान सकते और उसके आधार पर कोई निश्चित विधान अथवा संघ बनाने की चेष्टा करते। सारांश यह है कि राष्ट्र-निर्माण उस समय में प्रारम्भ हुआ था जब ऐसे भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकते थे और इसलिए इन भावों का राष्ट्र-निर्माण का कारण होना सर्वथा असम्भव था। आजकल के राष्ट्रों में, अथवा उन राष्ट्रों में जो मनुष्य के अधिक सभ्य होने के बाद बने हैं, समझौते के भाव ने कुछ प्रभाव अवश्य डाला है; परन्तु फिर भी समझौते का विचार राष्ट्र-निर्माण के अनेक कारणों में केवल एक कारण है। इस मत की किसी अंश तक सराहना की जा सकती है, परन्तु राष्ट्र-निर्माण का पूरा-पूरा ब्यौरा जानने के लिए इस मत का त्याग करना पड़ेगा और उन अन्य कारणों को ढूँढ़ना पड़ेगा, जिन्होंने मिलकर राष्ट्र-निर्माण के कार्य को पूर्णतया सफलीभूत किया। एक मत यह भी है कि राष्ट्र-निर्माण जाति-संघर्ष का फल है। शक्तिशाली जातियों ने निर्बल जातियों को परास्त किया और सबल तथा निर्बल जातियों के मेल से राष्ट्र का निर्माण हुआ। इस मत के सबसे बड़े प्रचारक प्रो॰ वार्ड थे। उन्होंने इस मत को निम्नलिखित श्रेणियों अथवा अवस्थाओं द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा की है:—

(क) भ्रमण करनेवाले मनुष्यों का एक झुण्ड किसी नदी-तट, समुद्र-तट अथवा घाटी में घूमते हुए किसी दूसरे मनुष्य-दल को देखता। पारस्परिक संपर्क स्थापित करने की निष्फल चेष्टा के बाद वे एक दूसरे को शत्रु दल समझ लेते और उसके नाश करने की चेष्टा करते। इस प्रकार पारस्परिक युद्ध होने लगता और उस समय तक युद्ध होता जब तक कि दो दलों में से एक दल नष्ट नहीं हो जाता अथवा युद्धस्थल छोड़कर भाग नहीं जाता। विजेता कभी-कभी पराजित दल के मृतक शरीरों को खा भी जाते थे। इस प्रकार मनुष्य-मांस-भक्षण करने की प्रथा (Cannibalism) का जन्म हुआ। परन्तु थोड़े समय में उन्होंने अनुभव किया कि शत्रु को मारकर उसका मांस भक्षण करने से कहीं अधिक अच्छा यह होगा कि उसको दास बनाकर रक्खा जाय। पहले स्त्रियाँ दासी बनाई गईं और वे पत्नी तथा रखेलियों के रूप में रक्खी गईं। फिर क्रमशः पुरुष भी दास बनाये गये। दासत्व की प्रथा उस समय तक प्रचलित रही जब तक कि विजयी दल ने अपने हित में यह लाभदायक समझा कि पराजित शत्रु दासों को फिर स्वतंत्रता प्रदान की जाय, उन्हें अपने निवासस्थानों में रहने की अनुमति दी जाय और यह भी अधिकार दिया जाय कि वे अपने शासन के नियम स्वय ही बनायें। इन सुविधाओं के देने के बाद भी पराजित दल विजयी दल के अधीन तथा उससे नीच समझा जाता था। इस अवस्था से दूसरी श्रेणी प्रारम्भ हुई।

(ख) जब दासत्व की प्रथा बहुत भारजनक प्रतीत हुई तब दासत्व के स्थान पर कर (Tribute) लेने की प्रथा का जन्म हुआ। कर पाने के प्रलोभन से योद्धाओं के समूह, जो उत्तम शस्त्र और संगठन द्वारा दूसरे दलों से प्रबल थे, निरन्तर लूट-मार करने की चेष्टा में घूमने लगे। विजय किया हुआ भूभाग मूलस्थान से अच्छा होने पर कभी-कभी विजयी दल ने वहाँ रहना भी निश्चय किया और उसी स्थान में रहते हुए वहाँ के पुराने निवासियों से, जिनको उसने परास्त किया था, कर वसूल करना शुरू किया। कुछ दिनों तक विजयी और पराजित दल एक दूसरे को द्वेष के भाव से देखते रहे और एक

दूसरे से घृणा करते रहे। विजयी दल पराजित दल को कोई अधिकार न देकर निर्बल कर देता और असामान्यता का पद देता। इस प्रकार जाति-भेद उत्पन्न हुआ जो कि आज तक कहीं-कहीं पाया जाता है। भारतवर्ष इस जाति-संस्था का सबसे बड़ा उदाहरण है। क्रमशः मध्यम श्रेणी के वर्ग का निर्माण हुआ, जिसका मुख्य कार्य व्यापार था और जो दोनों जातियों के बीच का वर्ग था। यहीं से घनिष्ठ सम्पर्क द्वारा तीसरी अवस्था उत्पन्न हुई।

(ग) बहुत समय तक साथ-साथ रहने से द्वेष-भाव का ह्रास हुआ और भिन्न-भिन्न दल पारस्परिक प्रेम से रहने लगे। विजेता दलित वर्ग के गुणों को पहचानने लगे और पराजित वर्ग में विजयी दल के प्रति घृणा-भाव घटने लगा। एक-दूसरे वर्ग में मिलकर रहने के लिए विवश होने पर दोनों वर्गों में जाति-घृणा का ह्रास होना स्वाभाविक ही था। इसके बाद दोनों वर्गों में विवाह-सम्बन्ध स्थापित हुए। विजयी वर्ग के लोग पराजित जातियों की सुन्दर कन्याओं से विवाह कर लेते। इसमें पराजित जातियों को भी सदैव विशेष विरोध न होता था। इस प्रकार शासकवर्ग शासित गण तथा दासों को अपने जैसे मनुष्य समझने लगे और शक्तिशाली का स्वार्थपूर्ण तथा मनमाना शासन शिथिल पड़ गया। इस अवस्था में यद्यपि व्यक्तिगत, सामाजिक तथा राजनीतिक असमानता अवश्य विद्यमान थी फिर भी स्थिति पहले से कहीं ज़्यादा अच्छी थी। यहाँ से उन्नति की चौथी श्रेणी प्रारम्भ होती है।

(घ) न्याययुक्त अधिकार के भाव उत्पन्न होने के पहले अपराधी को विजेता की इच्छानुसार दण्ड दिया जाता था और उसके शासन में किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं थे। जब यह माना जाने लगा कि नीची जातियों का वर्ग भी मनुष्यों का ही समूह है और उन पर भी भाव, व्यवहार तथा कर्म का ठीक वैसा ही प्रभाव होता है जैसा विजयी जातियों पर, तब यह मत स्वीकार किया गया कि नीची जातियों के भी समान अधिकार होने चाहिएँ। इस विचार को दृढ़ करने में परस्पर विवाह की प्रथा ने बड़ी सहायता की; क्योंकि अपनी स्त्री तथा अपनी स्त्री के भाई-बन्धु नीची जाति के भले ही क्यों न हों, फिर भी अपने सम्बन्धी का पद रखते हैं। घनिष्ठ सम्बन्ध द्वारा उनके प्रति सहानुभूति तथा प्रेमभाव का उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इसका परिणाम यह हुआ कि पहले कुछ नियम बनाये गये और फिर न्याय-ग्रन्थ की रचना हुई, जिसके अनुसार नीची जातियाँ व्यावहारिक कर्म कर सकती थीं। नीची और ऊँची जातियों के बीच भी व्यवहार तथा अधिकार के नियम निश्चित कर दिये गये। इसी प्रकार धन-सम्पत्ति के प्रभुत्व सम्बन्धी नियम भी बने। पहले विजेता सम्पूर्ण सम्पत्ति के स्वामी हुए, फिर क्रमशः नीची जातियों को भी सम्पत्ति रखने का अधिकार प्राप्त हुआ।

(ङ) जब संगठन इस श्रेणी को पहुँचा कि उसे 'राष्ट्र' कहा जाने लगा तब प्रत्येक वर्ग के अधिकार और धर्म निश्चित हो गये। जब नियम न्याय-निश्चित होने लगे तब यह आवश्यकता हुई कि कोई संस्था ऐसी हो जो मनुष्यों को केवल न्यायसंगत कार्य करने पर बाध्य कर सके अथवा जो सर्वसाधारण को केवल नियमानुकूल ही कार्य करने दे। इस प्रकार शासन-पद्धति का जन्म हुआ, जिसका ठीक रूप बाहरी परिस्थिति तथा मनुष्यों के विचार के अनुकूल होता था। साधारणतया शासन-पद्धति ने "एक व्यक्ति के निरंकुश शासन" का रूप धारण किया, जिसमें राज्याधिकार किसी चुने हुए विशेष व्यक्ति अथवा नायक को दिया जाता था। ये नायक कभी-कभी स्वयं ही अधिकारी बन जाते थे और कभी जनसम्मति द्वारा चुने जाते थे। यह अधिकार पैतृक सम्पत्ति की तरह उनके पुत्र-पौत्रादि को मिलते जाते थे। जनसंख्या की वृद्धि होने के कारण अन्य पुरुषों से शासन में सहायता लेना आवश्यक हुआ और इस प्रकार धीरे-धीरे शासन के अनेक रूप बन गये।

(च) जाति-द्वेष के ह्रास, ऊँची जाति के मनमाने शासन की शिथिलता एवं पारस्परिक सहायता की आवश्यकता के फलस्वरूप भिन्न-भिन्न जातियाँ आपस में मिलकर रहने लगीं और जाति-भेद की मात्रा बहुत कम हो गई। ऊँची जातियों को अपनी सेना के लिए सैनिक नीची जातियों से लेने पड़े; व्यापारीगण के ग्राहक अधिकांश में नीची जातिवाले थे; और कलाकौशल के लिए श्रमजीवी भी इन्हीं नीची जातियों ही से मिलते थे। नीची जातियों की रक्षा का भार, नेतृत्व और आदेश ऊँची जातियों पर था। इस प्रकार हर जाति को अपने विशेष गुण बनाये रखने का अवसर मिला। उच्च विचार, सद्व्यवहार और सद्धर्म की स्थापना हुई। इस प्रकार सब जातीय मूल तत्त्वों को मिलाकर नई प्रथाएँ व संस्थाएँ स्थापित की गईं, जो दोनों वर्गों के मिश्रण के पूर्व की जातियों की पृथक्-पृथक् प्रथाओं तथा संस्थाओं से कहीं श्रेष्ठ थीं।

(छ) जब कोई भारी संकट, जैसे शत्रु का आक्रमण,

आता तब सब जातियों में एक विशेष भाव समा जाता था, जिसे देशभक्ति कहते हैं। इस शक्ति-संचालन की भावना से भूमि अथवा देश के प्रति प्रेम उत्पन्न होता था, भिन्न-भिन्न जातियों को सामान्य ख़तरे का ज्ञान होता था और सब मिलकर संकट-निवारण में संलग्न हो जाते थे। इससे अधिक महत्व की बात यह होती थी कि इस प्रकार संकट के समय में भिन्न-भिन्न जातियाँ आपस में मिलकर राष्ट्र का रूप धारण कर लेती थीं।

यद्यपि जाति-संघर्ष के इस मत का एक अंश शान्तिमय जाति-मिलन भी कहा जा सकता है, परन्तु राष्ट्र-निर्माण अन्य संस्थाओं की तरह विशेषकर संघर्ष (Struggle) अथवा स्पर्धा (Competition) द्वारा ही हुआ करता है और हमें भी इसी प्रणाली का अध्ययन करना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि कितने ही राष्ट्र संघर्ष द्वारा बने, परन्तु जाति-संघर्ष मत इतना संकीर्ण है कि उसके आधार पर प्रत्येक राष्ट्र-संगठन की व्याख्या नहीं की जा सकती। बहुत-से राष्ट्र भिन्न-भिन्न कार्यक्रम द्वारा बने हैं। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि कोई भी राष्ट्र बिना किसी प्रकार की स्पर्धा अथवा संघर्ष के नहीं बन सका। इसमें सन्देह नहीं कि और कारणों की तुलना में संघर्ष राष्ट्र-निर्माण का सबसे महत्वपूर्ण और बली कारण रहा है। आजकल के समय में संघर्ष की तीव्रता बहुत कुछ हीन हो गई है और पिछले समय की बहुत-सी श्रेणियाँ अब अनिवार्य नहीं रही हैं।

भिन्न-भिन्न मतों में जाति-संघर्ष मत सबसे अधिक पुष्ट मत है परन्तु केवल इसी के आधार पर राष्ट्र-निर्माण की पूर्ण तथा सन्तोषजनक व्याख्या नहीं की जा सकती। इतिहास के आधार पर एक और मत राष्ट्र-निर्माण के सम्बन्ध में प्रचलित है। कहा यह जाता है कि राष्ट्र की जन्म-दाता मनुष्य की सबसे छोटी सामाजिक संस्था है, जिसे वंश अथवा मनुष्य-परिवार कहते हैं। इस सम्बन्ध में पितृसत्ता वंश (जिसमें जीवन पर्यन्त पिता वंश का स्वामी होता है) को ही राष्ट्र की नींव बताया जाता है। ऐसे वंश में पिता केवल परिवार का मुखिया ही नहीं वरन् पुरोहित, न्यायप्रवर्त्तक तथा न्यायाध्यक्ष भी होता है। वह अपने परिवार का ही मुखिया नहीं होता वरन् उसके समस्त सम्बन्धी व बन्धुगण उसके अधीनस्थ रहते हैं। ज्यों-ज्यों परिवार-वृद्धि होती जाती है, मुखिया के कुछ अधिकार उसके ज्येष्ठ पुत्र को मिल जाते हैं और इस क्रम से परिवार-शासकों की एक श्रेणी-सी बन जाती है। ज्यों-ज्यों परिवार की जटिल समस्याएँ बढ़ती जाती हैं और नवीन परिस्थिति का सामना करना पड़ता है त्यों-त्यों परिवार का मुखिया परिवार-संचालन के कार्य में परिवार के अन्य सदस्यों से सहायता लेता है, और एक-एक कार्य अलग-अलग व्यक्तियों को बाँट देता है। प्रसिद्ध विद्वान् मार्गन ने परिवार मत के आधार पर राष्ट्र-निर्माण की व्याख्या की है। उसका कथन है कि पहले परिवार संस्था बनी। फिर कई सम्बन्धी परिवार आपस में मिलकर साथ-साथ रहने लगे और उनका एक सम्बन्धी परिवार-समूह (Gens) बना। इसके बाद कई बड़े-बड़े सम्बन्धी परिवार-समूहों में सम्पर्क स्थापित हुआ और कई सम्बन्धी परिवार-समूहों के मिलने से कुनबे (phratry) की स्थापना हुई; कई कुनबे मिलकर जन (Tribe) की रचना हुई और कई जन मिलकर जाति व राष्ट्र बन गये। मॉर्गन ने इस प्रकार के राष्ट्र-रचना के उदाहरण अमरीका के इराक़ीस और अज़टी जाति के आदिम निवासियों और पूर्वकाल के ग्रीस और रोम के निवासियों के इतिहास से दी है। प्रारम्भकाल की संस्थाएँ वास्तव में परिवार का एक विराट् रूप थीं और कुछ स्थानों में राष्ट्र-रचना एकदम परिवार-विकास द्वारा हुई भी हैं; परन्तु यदि इतने ही प्रमाण पर यह कह दें कि राष्ट्र-संगठन केवल विकास का फल है तो इस मत में भी वही त्रुटि रह जाती है जो पहले वर्णन किए हुए मतों में है, अर्थात् इस मत में भी संकीर्णता आ जाती है। बहुत-से अन्य कारण, जिनका परिवार-विकास से कोई सम्बन्ध नहीं है, राष्ट्र-संगठन के प्रेरक रहे हैं। एक प्रकार से परिवार-विकास राष्ट्र-निर्माण के अनेक कारणों में एक प्रमुख कारण कहा जा सकता है, परन्तु राष्ट्र-निर्माण का केवल यही एक कारण नहीं हो सकता।

राष्ट्र-निर्माण के विषय में राजनीतिज्ञों का साधारणतया स्वीकृत मत ऐतिहासिक अथवा विकासवादी मत (Evolutionary Theory) है। विकासवादी मत का आधार यह है कि हम किसी विशेष या निश्चित स्रोत से राष्ट्र-निर्माण का दृढ़ सम्बन्ध नहीं लगा सकते। राष्ट्र-संस्था किसी अन्वेषण का फल नहीं और न वह दैवयोग से अकस्मात् प्राप्त हुई है। यह क्रमशः बनती रही है और इसलिए इसका जो पूर्ण रूप हम आजकल देखते हैं, वह विस्तारक्रम द्वारा प्राप्त हुआ है। इस रूप के पूर्ण होने में बहुत-सी शक्तियों ने मिलकर कार्य किया है और वे शक्तियाँ भी देश तथा काल के अनुसार भिन्न-भिन्न मात्राओं में मिली हैं। केवल जाति-संघर्ष, रक्त-सम्बन्ध, या संरक्षण की आवश्यकता ही ने इसे बलिष्ठ नहीं बनाया वरन् धर्म, जलवायु, भौगोलिक स्थिति,

तथा कला-कौशल की उन्नति इत्यादि ने भी अपने-अपने ढंग से राष्ट्र-निर्माण पर अपना प्रभाव डाला है। सारांश यह है कि राष्ट्र का जन्म समाज द्वारा हुआ और समाज की उन्नति के साथ-ही-साथ राष्ट्र की भी वृद्धि हुई। कुछ स्थानों पर राष्ट्र-वृद्धि अधिक तीव्रता से हुई, क्योंकि वहाँ पर स्थिति अनुकूल थी। और ऐसे ही स्थानों पर मनुष्य ने भी अन्य स्थानों की अपेक्षा अच्छी उन्नति की। इसी कारण से योरप तथा अमेरिका के महाद्वीपों में एशिया तथा अफ्रीका की अपेक्षा राष्ट्र-निर्माण अधिक सुदृढ़ हुआ है। एक ही जैसा वातावरण विविध संस्थाओं के निर्माण तथा वृद्धि में सहायक न हो सका। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि जो वातावरण राष्ट्र-निर्माण के लिए सहायक हो, सम्भव है कि धर्म-वृद्धि के लिए वही अनुकूल न हो। अथवा जो वस्तुएँ उद्योग की उन्नति का कारण हों, वे कला-कौशल की वृद्धि न कर सकें। परन्तु राष्ट्र पर भी अन्य संस्थाओं की नाईं परिस्थिति का प्रभाव पड़ा और अनुकूल वातावरण में राष्ट्र की उन्नति अधिक हुई और इसके विपरीत प्रतिकूल परिस्थिति में राष्ट्र-निर्माण का कार्य शिथिलतापूर्ण रहा। राष्ट्र-निर्माण को पूर्ण रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन शक्तियों का अध्ययन करें जो राष्ट्र-निर्माण में सहायक होती हैं। राष्ट्र-निर्माण में संलग्न सम्पूर्ण शक्तियों का अध्ययन एक विस्तारपूर्ण कार्य है, जिसमें समाज-निर्माण की लगभग प्रत्येक शक्ति का अध्ययन अनिवार्य होगा। इसलिए इस समय केवल मुख्य-मुख्य प्रेरक शक्तियों का ही अध्ययन किया गया है।

लेख के पूर्व भाग में सम्बन्धी तत्त्वों के प्रभाव पर विचार किया जा चुका है। उनका महत्त्व तो यहाँ तक है कि किन्हीं राजनीतिज्ञों ने उन्हें राष्ट्र-निर्माण का एकमात्र आधार तक कह दिया है। भौगोलिक प्रभाव के सम्बन्ध में यह बतलाया जा चुका है कि समाज पर स्थान का प्रभाव एक विशेष महत्त्व रखता है। स्थान ही अधिकांश में राज्य का रूप, आकार, महत्त्व तथा राष्ट्र की दशा निर्धारित करता है। यदि राष्ट्र सभ्य देशों में स्थापित है, तो उसकी उन्नति तेज़ी से होती है, परन्तु यदि राष्ट्र-निर्माण असभ्य देश में हुआ तो उसकी उन्नति उतने शीघ्र और उतनी अधिक नहीं होती। यदि देश के सीमान्त प्रकृति से सुरक्षित हों तो बहुत बलिष्ठ राष्ट्र की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत अरक्षित सीमान्तवाले राष्ट्रों को रक्षा-प्रबन्ध की विशेष आवश्यकता होती है।

राष्ट्र के पड़ोसियों की स्थिति का भी राष्ट्र की वृद्धि पर भारी प्रभाव पड़ता है। यदि पड़ोसी योद्धा हैं तो राज्य का प्रभुत्व बहुत सुदृढ़ होगा और ऐसे राजतंत्र का जन्म होगा जिसमें चुने हुए थोड़े-से केन्द्रीय व्यक्तियों के हाथ में शक्ति होगी। ऐसे राष्ट्र में जल-स्थल दोनों ओर से रक्षा का प्रबन्ध अनिवार्य है। राष्ट्र के पड़ोसियों की दशा से यह भी ज्ञात होता है कि राष्ट्र स्वयं पराजित होगा अथवा दूसरे राष्ट्रों को पराजित करेगा। किसी भी राष्ट्र की प्राकृतिक सम्पत्ति शत्रु को आकर्षित करती है, इसलिए राष्ट्र को शत्रुओं की ओर से सचेत रहना पड़ता है। इस तरह पड़ोसियों का प्रभाव राष्ट्र को आक्रमण से सुरक्षित रखता है। इसके विपक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि एकान्त राष्ट्र में शिथिलता आ जाती है और उन्नति करने की चेष्टा हीन हो जाती है। अतः भौगोलिक परिस्थिति तथा वातावरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ हैं और इनको राष्ट्र-निर्माण के विचार में भूला नहीं जा सकता। इनकी उपेक्षा ही के कारण "समझौते" तथा "बल" पर निर्धारित राष्ट्र-निर्माण के मतों का खण्डन होता है।

धन-सम्पत्ति तथा उद्योग भी राष्ट्र-निर्माण के कार्य में महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ हैं। जैसे ही व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार स्वीकृत हुआ वैसे ही सम्पत्ति-अधिकार के संरक्षण के साधन, स्वामित्व के नियम, और इन नियमों का पालन करानेवाले अधिपति की आवश्यकता प्रतीत हुई। ये कुछ ऐसे लक्ष्य थे जिन्होंने मनुष्य को राज्य-संगठन के लिए प्रेरित किया, जिसके द्वारा कुछ आवश्यकताएँ पूर्ण हुईं। जब सम्पत्ति और बढ़ी और नाना प्रकार के उद्योग प्रारम्भ हुए तब संरक्षण की आवश्यकता भी बढ़ी और सुरक्षा के लिए नये-नये कार्य-विधान बनाये गए। इस आवश्यकता ने उन लोगों को, जिनके पास सम्पत्ति अधिक थी, विवश किया कि वे राज्य-निर्माण में प्रमुख भाग लें और राज्य के ऊपर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न करें। जहाँ उद्योग की सब से अधिक वृद्धि हुई है, वहाँ धनीवर्ग राज्य पर सबसे प्रगाढ़ प्रभाव रखते हैं; विशेषकर ऐसी परिस्थिति में जबकि उद्योग केवल चुने हुए कुछ व्यक्तियों के हाथ में ही सीमित हो। इसके विपरीत यदि धन-सम्पत्ति बराबर-बराबर बँटी होती है तो राज्य का रूप प्रजावादी होता है। इस संबंध में विचार करते समय उद्योग का विशेष रूप भी स्मरण रखना चाहिये। चरवाहों के जीवन ने पितृसत्तावाद की स्थापना की। उसके फलस्वरूप दासता ने जन्म लिया और शासक की आज्ञा का अबाध्य पालन होने लगा। कृषि के समय में चौहद्दी तथा जल-

स्रोतों के लिए झगड़े होते थे और इसलिए उनके निबटाने के नियम बनाये गये। शिकार और मछली पकड़ने के उद्यम में मारे हुए पशु को बाँटने के नियम बनाये गये। सम्पत्ति-संग्रह ही समाज-श्रेणियों का जन्मदाता है और इसी के कारण स्वामी और दास, प्रभु और सेवक, नौकर रखनेवाले और नौकरी करनेवाले तथा पूँजीपति और मज़दूर के दल बन गये। इसी प्रकार राज्य करनेवाले दलों का निर्माण हुआ, जिनकी जड़ सम्पत्ति का स्वामित्व है।

धर्म एक ऐसी शक्ति है, जिसको कहीं तो पूरा-पूरा श्रेय मिला ही नहीं और कहीं आवश्यकता से अधिक स्थान दिया गया। धर्म ने सामाजिक अनुशासन स्थापित किया; क्योंकि धर्म वह शक्ति है जो मनुष्य को एक संयम में बाँध देती है और निर्धारित पथ से अलग नहीं चलने देती। धर्म ने शक्तिशाली के प्रति आदर-भाव स्थापित करने में बहुत सहायता की, क्योंकि प्रारम्भ काल में धार्मिक तथा राजनीतिक नेता एक ही होते थे और उसके बाद भी धार्मिक और राजनीतिक नेताओं में परस्पर प्रगाढ़ प्रेम और मैत्री रही। इस प्रकार धर्म ने राजनीतिक विधान को सुदृढ़ बनाया, जो धर्म की सहायता के बिना सम्भवतः इतना अच्छा न हो पाता। पहले धर्म जाति को वस्तु थी और उसमें किसी एक व्यक्ति को कुछ कहने का अधिकार न था। धार्मिक गुरु ईश्वर का अंश माना जाता था। इस प्रकार उसकी शक्ति महान् थी। बाद में राष्ट्रों ने धर्म को शासन में मिला दिया। इसका उदाहरण यहूदियों के धर्म में और कुछ अंश में रोम, स्पेन, फ्रान्स, इँगलैंड और रूस के धर्मतंत्रों में पाया जाता था। दूसरी ओर धर्म ने राष्ट्र को अपने आदेश मनवाने और अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए भी प्रेरित किया।

रोमन कैथोलिक धर्म, इस्लाम, इंगलैंड की धार्मिक संस्था और प्योरिटिन धर्म उपर्युक्त कथन के उदाहरण हैं। धर्म ने राष्ट्र को उसके अनुकूल नियम बनाने के लिए बाध्य किया, जिसमें पवित्रता-भंग, विश्रांति का दिन तथा धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध प्रचार रोकने आदि संबंधी नियम विशेष महत्त्व रखते हैं। कुछ समय से धर्म और राष्ट्र के पारस्परिक सम्बन्ध के नियम से हम हट गये हैं और यह निश्चय हुआ है कि धर्म और राष्ट्र भिन्न-भिन्न रहें। परन्तु एक समय था जबकि अधिकांश नहीं तो बहुत से राज्यों में धर्म और राष्ट्र को पर्यायवाची समझा जाता था और धर्म और राष्ट्र साथ-साथ चलते थे।

यद्यपि आजकल का इतिहास वीर योद्धाओं और राजाओं के महान् कर्मों को पहले जैसा महत्त्व नहीं देता तथापि व्यक्तियों की शक्ति के योग को राष्ट्र-निर्माण के कार्य में भूला नहीं जा सकता। देश-विजय अधिकांश में मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा तथा सेना-बल का फल है। इसके उदाहरण बेबीलान, असीरिया और फ़ारस से मिलते हैं। सिकन्दर के अधीन ग्रीक तथा रोम की अद्‌भुत विजय, मध्यकाल के योरप के अनेक राजाओं का राज्य-विस्तार, नेपोलियन की विजयाकांक्षा, तथा १६१४ में जर्मनी की संसार-विजय करने की चेष्टा इत्यादि इसी के उदाहरण हैं। राज्य बढ़ाने के लिए विजय की गई। छोटे और शक्तिहीन राष्ट्र मिटा दिये गये। इसमें कहीं-कहीं शान्तिपूर्ण उपायों का भी प्रयोग किया गया, परन्तु साधारणतया युद्ध ही एक विशेष यन्त्र रहा। पोलैंड, हंगेरी, फ़िनलैंड और भारतवर्ष का पराभव इसी तथ्य के उदाहरण हैं।

कभी-कभी बड़े-बड़े राष्ट्र अपने निर्माणकर्त्ता की मृत्यु के बाद छिन्न-भिन्न हो गये, जैसे सिकन्दर की मृत्यु के बाद उसके राष्ट्र के टुकड़े-टुकड़े हो गये। जब केन्द्रीय शक्ति दुर्बल हो जाती है तो राष्ट्र टूट जाता है या उसके सीमा-प्रान्त केन्द्र से अलग हो जाते हैं। इसी प्रकार रोम के महाराज्य का भी लोप हुआ और स्पेन के विजित देश उसके हाथ से निकल गये। यह भी हुआ है कि राजा की मृत्यु पर उसके पुत्र राष्ट्र को कई भागों में बाँट लें जैसे चारलेमेन का राज्य बाँटा गया था। फिर भी यदि भिन्न-भिन्न तत्व परस्पर सुदृढ़ रूप से मिले न रहे तो वे टूट कर अलग-अलग हो जाते हैं। यह सम्भव है कि वे शान्तिपूर्वक भी अलग हो सकते हैं तथा युद्ध द्वारा भी। कभी-कभी राष्ट्रों के भाग सहायक उपनिवेशों में बँट जाते हैं। कुछ काल बाद राष्ट्र और उपनिवेशों का हित भिन्न होने से परस्पर द्वेष पैदा हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वे एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। परन्तु साधारण प्रवृत्ति यह है कि राष्ट्र आपस में मिलकर रहें और बली राष्ट्र दुर्बल राष्ट्र को अपने अधीन रक्खें। यह क्रम सहस्रों वर्षों से चला आता है और आज भी चल रहा है। एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से मिलन कभी-कभी शान्तिमय उपाय से परन्तु अधिकतर युद्ध द्वारा होता है और बली राष्ट्र निर्बल राष्ट्र को दासता स्वीकार करने के लिए और उससे मिलने के लिए बाध्य कर देता है। वर्त्तमान योरपीय महायुद्ध इस क्रम का स्पष्ट उदाहरण है। आजकल का राष्ट्र भिन्न जातीय तत्वों से बना है, क्योंकि इसका निर्माण विजय, व्यापार और सन्धि के द्वारा हुआ है। यह सम्मिलन इतना घनिष्ठ है कि इसका विच्छेद दुष्कर प्रतीत होता है।



सभ्यताओं का उदय—(६) आर्य सभ्यता

वैदिक आर्यों के उत्थान से ६०० ई० पू० तक

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के समय की सभ्यता के क्षीण हो जाने के बाद क्या हुआ, इसका कुछ ठीक पता नहीं चलता। कुछ विद्वानों की धारणा है कि उसके बाद वैदिक आर्यों का उत्थान हुआ। उन्होंने पूर्ववर्ती सभ्यता के कुछ अंशों को ग्रहण कर लिया और शेष का अन्त कर दिया। ऋग्वेद में दास, दस्यु, असुर, पणि, राक्षस और पिशाचों का, जो आर्यों का विरोध करते रहे, संकेत पाया जाता है। इन अनार्यों को कुछ विद्वान् मोहनजोदड़ो-हड़प्पा काल की सभ्यता के निर्माता अथवा पोषक मानते हैं। अन्य विद्वान् इस धारणा से सहमत नहीं होते और कहते हैं कि असुर लोग दूसरी जाति के थे और उनकी सभ्यता भी उन्नत और स्वतन्त्र थी। यह विषय अत्यन्त विवाद-ग्रस्त है और इसके निर्णय के साधन भी इतने कम हैं कि दृढ़तापूर्वक किसी सिद्धान्त को स्थापित करना दुस्तर है। ऋग्वेद में इन अनार्यों का अनादरसूचक वर्णन मिलता है। उसके अनुसार अनार्यों की बोली कर्कश और विचित्र थी; वे वैदिक कर्मों का पालन नहीं करते थे; वैदिक देवताओं, यज्ञों और अनुशासनों को नहीं मानते थे; शिश्नदेव अर्थात् लिंग के उपासक थे। उनका रंग काला था, उनकी नाक छोटी या चिपटी थी। किन्तु वे लोग निरे असभ्य और जंगली न थे। उनके पास पशुओं की सम्पत्ति थी। वे पुरों में भी रहते, जिनकी रक्षा के लिए उन्होंने दुर्ग बना रक्खे थे। कुछ क़िले पत्थर के और काफ़ी बड़े थे। उनके राज्य में लगभग एक सौ पुर थे। दासों के फुटकर व्यक्तियों के तो नाम मिलते हैं—जैसे इलीविश, धुनी, चुमुरी, पिप्रु, वर्चिन, शम्बर। किन्तु उनकी जातियों में सम्भवतः शिम्यु, कीकट, अजस, यक्षु और शिग्रु का ही संकेत मिलता है।

आर्यों के समय से जिस सभ्यता का हमारे देश में आरम्भ हुआ वह कुछ काट-छाँट के साथ आज तक चली आ रही है। इसी कारण यह कहा जाता है कि हमारे देश के इतिहास और सभ्यता का स्रोत आर्यों से ही चला है। यद्यपि बहुत अंश में यह बात ठीक मानी जा सकती है, किन्तु फिर भी एक कठिनाई यह है कि बुद्ध भगवान् के पूर्व के इतिहास का कालक्रम और समय-गणना अनिश्चित और संदिग्ध है। कालक्रमबद्ध इतिहास का आरम्भ बुद्ध भगवान् के समय से होने के कारण उनके पूर्व का इतिहास 'प्रागैतिहासिक' और उनके बाद का समय 'ऐतिहासिक' काल माना जाता है।

'प्रागैतिहासिक' काल का अविच्छिन्न इतिहास आर्यों से होता है। आर्य कौन थे? भाषाविज्ञान और सभ्यता के अनुसन्धान करनेवालों की धारणा है कि पुरातन काल में 'आर्य' जाति किसी एक स्थान में बसती थी। अनेक कारणों से वह अपने मूलस्थान से निकलकर योरप और एशिया में फैल गई। आर्य भाषा का प्रचार आयरलैंड, फ्रांस, स्पेन, जर्मनी, ग्रीस, रोम, स्लाव प्रदेशों, प्राचीन फ़ारस और भारतवर्ष में हुआ। इससे अनुमान किया जाता है कि किसी समय आर्य जाति बड़ी प्रबल, उद्योगशील और पराक्रमी थी। उसने अपने मूलस्थान से निकलकर संसार की सभ्यता पर अपना अमिट सिक्का सदा के लिए जमा दिया।

आर्यों के मूलस्थान के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। कुछ उत्तरी ध्रुव के प्रदेश, कुछ मध्य एशिया, कुछ दक्षिण-

पश्चिमीय योरप को उनका मूलस्थान मानते हैं। कुछ लोगों का यह विश्वास भी है कि आर्य लोगों का मूलस्थान भारत के उत्तरी प्रदेश में कहीं पर था। किन्तु मताधिक्य इस समय आर्यों का मूलस्थान उस प्रदेश में मानता है जो अरल समुद्र से डैन्यूब नदी तक फैला हुआ है। सच तो यह है कि उपर्युक्त धारणाएँ केवल अनुमान पर अवलम्बित हैं और उनमें से एक भी ऐसी नहीं जो निश्चित अथवा सर्वमान्य कही जा सके। इसलिए इस विषय पर अधिक विवेचन करने का प्रयत्न अनुपयुक्त एवं व्यर्थ-सा है। तथापि यह मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं कि आर्यों का विस्तार योरप एवं एशिया में हुआ और वैदिक आर्यों के इतिहास की प्रारम्भिक रङ्गभूमि भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्तों में पाई जाती है। उत्तर-पश्चिम की ओर से ही बढ़कर वे भारत के अन्यान्य प्रान्तों में फैलते और अपनी सभ्यता और आधिपत्य जमाते गये। कालान्तर में सारे देश में उन्हीं की विभूति फैल गई, जो आज तक जीवित और प्रगतिशील है।

प्रागैतिहासिक समय का शृंखलाबद्ध इतिहास मिलना दुस्साध्य है। वैदिक काल के ग्रन्थों में, महाभारत और रामायण एवं पुराणों में, कुछ सङ्केत, अनुश्रुतियाँ और घटनाएँ मिलती हैं, जिनके आधार पर पुरातन काल के इतिहास के निर्माण का प्रयत्न किया गया है। किन्तु ये सब अपने-अपने ढंगों और अपने-अपने साधनों के अनुसार जो वर्णन करते हैं वे आपस में बहुत मेल नहीं खाते। उनमें आपत्तिजनक विभिन्नता है, जिससे किसी मत के स्थिर करने में स्वभाविकतया संकोच और अपरिमित कठिनाई होती है। ऐसी दशा में क्षेमता इसी में प्रतीत होती है कि वैदिक काल, विशेषतः ऋग्वेद के समय, के इतिहास की रूप-रेखा उसी में प्राप्य सामग्री से रची जाय, और उसके बाद का इतिहास आख्यानों, 'इतिहासों', नाराशंसी एवं पुराणों की सहायता से निर्मित किया जाय।

कहा जाता है, अपने मूलस्थान से डैन्यूब नदी के किनारे-किनारे वेलेकिया होते हुए आर्य लोग बास्फरस और डार्डनल्स को लाँघकर एशिया माइनर होते हुए ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और हिन्दुस्तान पहुँचे। रास्ते में वे अपने दल इधर-उधर छोड़ते आये। पश्चिम, मध्य और दक्षिण एशिया में उन्होंने अनेक प्रकार के परिवर्तन और संगठन किये, जिनका थोड़ा-बहुत वर्णन उचित स्थानों पर किया जायगा। इस स्थान पर केवल पुरातन भारत का प्रसंग उठाया जा रहा है।

अनुमान किया जाता है कि आर्यों ने कम-से-कम चार या साढ़े चार हज़ार वर्ष पूर्व हिन्दुस्तान में प्रवेश करना आरम्भ किया था। ऋग्वेद के समय में आर्यों का कार्यक्षेत्र भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्त से यमुना नदी के तट तक था। उन लोगों के अनेक दल थे। गन्धारी उस प्रान्त में जो आगे चलकर गान्धार कहलाया; मूजवन्त कुभा (काबुल नदी) के आस-पास; अलिन काफिरिस्तान के उत्तर-पूर्व-प्रदेश में; पक्थ और भलानस बोलन दर्रे के पास; शिव सिन्धुनद के समीप, और वहीं कहीं विषाणिन आदि जम गये। इसी प्रकार परुष्णी (रावी नदी) के आसपास अनु, द्रुह्यु बस गये। सरस्वती नदी के इधर-उधर तुर्वसु, यदु, पुरु और भरत आदि आकर बसे।

इन दलों का बहुत दिनों तक शान्त रहना सम्भव न था। आधिपत्य और प्रसार की ऐषणाओं से प्रेरित होकर उन्होंने अपना संगठन बढ़ाना आरम्भ कर दिया। सरस्वती, दृषद्वती और आपया नदियों से सिञ्चित प्रदेश ब्रह्मावर्त के नाम से प्रसिद्ध था। वहाँ पर भरत दल आकर जम गया था। उनके राजा दिवोदास के साथ तुर्वसु, यदु और पुरु आदि युद्ध किया करते थे। यही नहीं, यमुना के आस पास रहनेवाले प्रबल अनार्यों से तो निरन्तर लड़ाई हुआ करती थी। उसके पुत्र अथवा पौत्र राजा सुदास के समय में उस सुन्दर भूमि-भाग के लिए पंजाब के अनु, द्रुह्यु आदि दश दलों ने विश्वामित्र के नेतृत्व में एक संघ बनाकर पश्चिम की ओर से ब्रह्मावर्त पर चढ़ाई कर दी। अपनी विजय को निश्चित करने के लिए उन्होंने ब्रह्मावर्त के पूर्व में रहनेवाले अनार्य दलों को उस ओर से आक्रमण करने पर राज़ी कर लिया। दोनों ओर से आक्रान्त होने पर भी सुदास ने वीरता और साहस के साथ शत्रुओं से युद्ध किया और दोनों को परास्त कर दिया। यह युद्ध बड़े मारके का था। इसका परिणाम यह हुआ कि पुरु, भरत, क्रिवि और सृंजय दल मिलकर एक हो गये और संयुक्त रूप से वे 'कुरु' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस संगठित शक्ति ने धीरे-धीरे आप-पास के मत्स्य आदि आर्य दलों का दमन किया। प्रबल हो जाने से उत्साहित होकर उन्होंने पूर्व देश के अनार्यों का व्यवस्थित रूप से दमन करना आरम्भ किया। यद्यपि उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना और अनेक युद्ध करने पड़े तथापि अन्त में उनकी विजय हुई।

ऋग्वैदिक काल के अन्त में आर्यशक्ति का केन्द्र ब्रह्मावर्त था। वहीं से आर्य लोग अनार्यों को परास्त करते हुए आगे बढ़े। कुरुक्षेत्र उनका कर्मक्षेत्र हो



वैदिक काल में
भारतवर्ष
पक्थ
कुभा नं०
क्रुमु नं०
सुवास्तु नं०
गोमती नं०
केकय
यदु
सिन्धु नद
वितस्ता नं०
असिक्नी नं०
द्रुह्यु
परुष्णी नं०
विपाश नं०
मूजवन्त प०
उत्तर कुरु
उत्तर मद्र
सुतुद्री नं०
सरस्वती नं०
दृषद्वती नं०
सृंजय
पांचाल
कोशल
विदेह
काशी
यमुना नं०
गंगा नं०
रेवा नं०
मगध

गया। सम्भव है कि इसीलिए उसका नाम 'धर्मक्षेत्र' पड़ गया हो। पंचनद अथवा 'पंजाब' का ध्यान भूलने लगा। यही नहीं वहाँ के रहनेवाले आर्यों को पूर्ववाले कुछ नीची दृष्टि से देखने लगे। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के समय में मध्यदेश निवासी कुरु, पांचाल, मत्स्य, वश, उशीनर, सत्वन्त, उत्तरकुरु और उत्तरमद्र आदि का उल्लेख अधिकतर पाया जाता है। कुरु-पांचाल प्रदेश के पूर्व के प्रान्त जैसे कोसल, विदेह, मगध और अंग का भी उल्लेख पाया जाता है। किन्तु विन्ध्याचल के दक्षिण के किसी प्रदेश का स्पष्ट लेख नहीं पाया जाता।

'ब्राह्मण'-काल में रहन-सहन में एक और भी विशेषता दिखायी पड़ती है। वह है नगरों और नगरियों का विकास। आसन्दीवन्त, काम्पील, परिचक्रा, कौशाम्बी, काशी आदि राजधानियों और नगरों का उल्लेख पाया जाता है।

इस समय का सबसे प्रमुख और प्रख्यात वंश कुरु-पांचालों का था। उनकी भाषा और विद्या, उनका रहन-सहन, उनका धर्म-कर्म आदर्श-सा माना जाता था। वे बलवान् और समृद्धिशाली, सुसंगठित और विद्याप्रेमी थे। कहा जाता है कि महाराज परीक्षित् के समय में वे अपनी उन्नति की चोटी पर पहुँचे। इसके पश्चात् शायद टीड़ियों के भयंकर विनाशात्मक आक्रमण अथवा ओलों के पड़ने से उनकी आर्थिक और राजनीतिक स्थिति बिगड़ने लगी। फिर भी कौशाम्बी तक उनका प्रभुत्व शिथिल न होने पाया और उनके राजा जनमेजय ने अश्वमेध यज्ञ किये। इससे यह न समझना चाहिए कि अन्य राजे उनके अधीन थे; क्योंकि उस काल में औरों ने भी अश्वमेध यज्ञ किये थे।

इनके सिवा कोसल, काशी और विदेह के राज्य भी काफ़ी उन्नत और वैदिक सभ्यता के प्रसिद्ध पोषक थे। जलजातूकार्य कोसल और विदेह दोनों पर राज्य करता था। किन्तु अंग और मगध के राज्यों और उनकी सभ्यता का कोई विशेष आदर न था। वहाँ के लोग अधिकतर अनार्य अथवा नीची श्रेणी के माने जाते थे। वहाँ आर्य-व्यवस्था का यथोचित पालन भी नहीं होता था।

उपर्युक्त वर्णन वैदिक साहित्य—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और प्राचीन सूत्र—के आधार पर है। किन्तु 'इतिहास' और 'पुराणों' का वर्णन कुछ और ही ढंग से है। उसका भी उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा। उनके अनुसार सबसे पहले राजा वैवस्वत मनु हुए। उन्होंने सारे भारत पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। उनके नौ या दस पुत्र हुए, जिनमें से सबसे बड़े का नाम इक्ष्वाकु था। उसने अपनी राजधानी अयोध्या से मध्यदेश पर राज्य किया। इक्ष्वाकु के भाई करूष को शोण नदी के पश्चिम और गंगा के दक्षिण का प्रदेश मिला. सौद्युम्न को गया और पूर्वी प्रदेश दिये गये, शर्याति नाम के भाई को आधुनिक गुजरात का प्रदेश मिला। कहा जाता है कि मनु के एक पुत्री थी जिसका नाम इला था। इला का पुत्र पुरूरवा ऐल हुआ जिसके राज्य की राजधानी प्रतिष्ठान (प्रयाग के पास) थी।

इक्ष्वाकु के वंशज सूर्यवंशी या मानववंशी कहलाये। और इला के वंशज चन्द्रवंशी या ऐलवंशी के नाम से प्रख्यात हुए। पुरूरवा के पुत्र अमावसु ने कान्यकुब्ज (कन्नौज) और पड़पोते काश ने काशी की स्थापना की। पुरूरवा का एक पड़पोता ययाति, जो प्रतिष्ठान की गद्दी पर था, बड़ा प्रतापी निकला। उसने चारों ओर अपना राज्य बढ़ाया, जिससे वह पहला चक्रवर्ती राजा कहलाया। उसके पाँच पुत्र—यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, अनु और पुरु—थे। यमुना के पश्चिमी भाग और चंबल नदी से शोण नदी तक का विस्तृत प्रदेश उनको बाँट दिया गया। पुरूरवा के प्रतिष्ठानवाले वंशज पौरव कहलाये। यदु के वंशज यादव और हैहय शाखाओं ने आगे चलकर इतिहास में बड़ी ख्याति प्राप्त की। इसी यदुवंश के एक राजा शशिबिन्दु ने द्रुह्यु और पौरव राज्यों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया। उसी की पुत्री बिन्दुमती ने अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी राजा मान्धाता से विवाह करके सूर्य और चन्द्रवंश को मिला दिया, जिससे राजनीतिक परिस्थिति में भारी हेरफेर हो गया।

मान्धाता ने पौरवों के देश, कन्नौज का राज्य और सम्भवतः आनवों के राज्य पर सफल आक्रमण किये। यादवों को सम्बन्धी होने के कारण उसने छोड़ दिया, किन्तु दक्षिणस्थ हैहय देश को जीता। उसके भय से कुछ आनव और द्रुह्युओं को पंजाब की ओर भागना पड़ा, और कुछ आनव विदेह के पूर्व की ओर भाग गये। इस प्रकार इक्ष्वाकु वंश के उत्थान से पुरुवंश निस्तेज और श्रीहीन हो गया।

पुरुवंश की 'हैहय' शाखा ने प्रबलतापूर्वक इक्ष्वाकु-वंश का विरोध जारी रखा और तीन पीढ़ी में ही मध्य भारत पर अपना आतंक और आधिपत्य जमा दिया। हैहयों में कार्तवीर्य अर्जुन बड़ा प्रतापी, दिग्विजयी सम्राट

हुआ। यद्यपि नर्मदा-तटस्थ भार्गवों ने कान्यकुब्ज और अयोध्या की सहायता से हैहयों को कुछ समय तक के लिए दबा लिया था, तथापि वे शीघ्र ही सँभल गये और उन्होंने शक, यवनों, कम्बोजों, पारदों और पह्लवों की सहायता से अयोध्या और कान्यकुब्ज को विजय करके अधीनस्थ कर लिया। इक्ष्वाकुवंशी राजा सगर ने फिर अपने वंश का प्राधान्य स्थापित कर दिया और हैहय वंश का दलन कर दिया।

हैहय वंश के क्षीण होने पर चन्द्रवंश का झंडा दुष्यन्त और उसके सुप्रख्यात पुत्र भरत ने उठाया। प्रतिष्ठानपुर का मोह छोड़कर हस्तिनापुर में राजधानी स्थापित करके भरत और उसके वंशजों ने पाञ्चाल और काम्पिल्य तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया। किन्तु एक बार फिर इक्ष्वाकुवंश का प्रताप बढ़ा। भगीरथ, दिलीप, रघु, दशरथ के पराक्रम से बढ़ते बढ़ते इक्ष्वाकुवंशी श्री रामचन्द्रजी के समय तक अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गये। श्री रामचन्द्रजी ने सुदूर दक्षिण और लङ्का तक में अयोध्या का प्राबल्य स्थापित कर दिया। उनके समय में आर्य सभ्यता अपनी सबसे ऊँची चोटी पर पहुँची। उनका जीवन आर्य जाति के लिए आदर्श हो गया, यहाँ तक कि वह ईश्वर की तरह पूजे जाने लगे। उत्ताल तरङ्गमाला की तरह उठकर श्री रामचन्द्रजी के बाद इक्ष्वाकुवंश पतनोन्मुख होकर अस्त हो गया। फिर भी उस वंश के राजे बुद्ध भगवान् के समय तक राज्य करते थे। इक्ष्वाकुवंश के क्षीण हो जाने पर चन्द्रवंशी शाखाओं का उत्थान फिर हुआ। किन्तु इन लोगों में एकता का अभाव था। यादव और पौरव इनकी सबसे प्रबल शाखायें थीं। यादवों के कई राज्य थे, जिनमें मथुरा में अन्धक और द्वारका में वृष्णि सबसे प्रमुख थे। इनके सिवा शाल्व, माहिष्मती, विदर्भ, अवन्ति और दशार्ण के भी यादव राज्य थे। इस प्रकार काठियावाड़ और गुजरात, नर्मदा-तट, दक्षिण, मध्य और पूर्वी राजपूताना और मथुरा तक यादवों का प्रभुत्व था। दूसरा प्रबल राज्य हस्तिनापुर का था। यद्यपि वहाँ के राजा संवरण को भरत-वंशज राजा सुदास ने, जिसकी विजय वैदिक साहित्य में वर्णित है, हराकर भगा दिया था, तथापि सुदास के बाद उसने अपना राज्य ही नहीं छीन लिया वरन् उत्तर-पाञ्चाल को भी जीत लिया। संवरण का पुत्र कुरु और भी प्रतापी निकला और दक्षिण-पाञ्चाल को जीतकर उसने कौरव वंश का प्रभुत्व प्रयाग तक पहुँचा दिया। स्थूल रूप से सिन्धुनद से प्रयाग तक कौरवों का आधिपत्य जमा था।

पौरवों की एक शाखा और भी थी जिसने ख्याति पाई। वे कुरु के वंशज वसुचैद्य के पुत्र बृहद्रथ के नाम से 'बार्हद्रथ' कहलाये। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा जरासन्ध था, जो मगध में राज्य करता था। उसके अधीनस्थ ऐसे निर्भीक और बलवान् राजा जैसे मथुरा का अन्धकवंशज कंस और चेदिराज शिशुपाल आदि थे। उसने अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, आदि प्रदेश विजय किये। कंस तो उसका दामाद और शिशुपाल उसकी सेना का प्रधान सेनाध्यक्ष था। इसने मथुरा से यादवों को भी निकाल दिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि मथुरा से आसाम और उड़ीसा और बघेलखण्ड से राजपूताना और नर्मदा तक उसका साम्राज्य फैला हुआ था। कंस-संहारक यादव श्रीकृष्ण, भरतवंशज भीमसेन और अर्जुन ने मल्लयुद्ध में जलसन्ध को मार डाला, जिससे मगध-राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। यद्यपि बार्हद्रथों का साम्राज्य नष्ट हो गया तथापि उनके वंशज ईसा के पूर्व छठी शताब्दी तक अवन्ति में राज्य करते रहे।

पाण्डवों की महिमा एकाएक इतनी बढ़ी कि जिससे कौरवों को उनके साथ पहले तो ईर्ष्या, फिर द्वेष और अन्त में शत्रुता हो गई। इसी शत्रुता से कुरुक्षेत्र में ऐसी समराग्नि प्रज्वलित हुई जिससे कौरवों का नाश और पाण्डवों का ह्रास ही नहीं हुआ वरन् वह आर्य-जाति के पतन का मुख्य साधन हो गई। हिन्दुस्तान के इतिहास में राम-रावण के युद्ध के बाद घोर विनाशक युद्ध महाभारत का हुआ। कौरवों और पाण्डवों ने जितनी बड़ी सेना कुरुक्षेत्र में जमा की उतनी बड़ी शायद आज तक फिर कभी न जमा हुई और न वैसे योद्धा ही कभी एकत्रित हो सके। इस युद्ध का समय ईसा से १४०० वर्ष पहले अनुमान किया जाता है। कौरवों के विनाश के बाद ही यादवों में ऐसा गृह-युद्ध ठना कि वे भी नष्ट हो गये।

कौरव-पाण्डवों और यादवों के पतन से भारत का राजनीतिक मानचित्र शीघ्रता से बदलने लगा। कौरवों को टीड्डियों (?) के उत्पात, गंगा की बाढ़ आदि के कारण धीरे-धीरे हस्तिनापुर से हटाकर कौशाम्बी में, जो वत्स देश में थी, अपनी राजधानी स्थापित करनी पड़ी। यहाँ का राजवंश शुद्ध कौरव वंश न था, वरन् कौरवों और पाञ्चालों के मिश्रण से प्रकट हुआ। ये मिश्रित समुदाय कुरु-पाञ्चाल के नाम से प्रख्यात हुए। इस समय तक उत्तरी भारत में दस राज्य उल्लेखनीय थे—गान्धार (पेशावर-रावलपिंडी प्रान्त), केकय (गान्धार से व्यास नदी तक), मद्र (काश्मीर और केकय से रावी नदी तक), उशीनर

(मध्य देश), मत्स्य (भरतपुर, अलवर, जयपुर रियासतें), कुरु-पाञ्चाल (बरेली, बदायूँ, फ़र्रुख़ाबाद), काशी, कोसल (अवध) और विदेह (तिरहुत)। इस काल में और राज्यों के स्वामी केवल राजा कहलाते थे, किन्तु विदेहपति की पदवी सम्राट् की थी। इसी से इस समय को 'जनकों' (विदेह के राजों) का युग कहते हैं। विदेह के जनकों का आधिपत्य संभवतः ईसा के पूर्व छठी सदी तक चलता रहा। इस युग में उपर्युक्त राज्यों के सिवा विदर्भ (बरार), कलिङ्ग (उड़ीसा), अस्सक (अश्मक ?) (गोदावरी के आस-पास), भोज (?) राज्य थे। अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द (भिलसा प्रान्त), मूतिब (मूषिक ?) आदि अनार्य जातियाँ दक्षिणी सीमाओं पर राज्य करती थीं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से कई अनुमान लगाये जा सकते हैं। (१) वैदिक और पौराणिक जातियों और वंशों में विशेष विभिन्नता नहीं है। (२) वैदिक वर्णनों से यह जान पड़ता है कि आर्य जाति और वंश पश्चिम से बढ़कर मध्य, पूर्व और दक्षिण में फैले। किन्तु पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार आर्य मध्यदेश (आधुनिक युक्त प्रान्त) से चारों ओर फैल गये। पश्चिमी प्रान्तों में उनका विस्तार अनुमानतः ईसा के पूर्व सत्रहवीं शताब्दी में माना गया है। पौराणिक अनुश्रुति आर्यों के बाहर से आने का उल्लेख नहीं करती। (३) वैदिक अथवा पौराणिक घटनाओं को कालक्रमबद्ध करना दुस्साध्य है। बड़ी घटनाओं का काल अनुमान द्वारा निश्चित करने में कुछ सफलता मिली है, किन्तु वह भी संदिग्ध है। (४) इतना तो फिर भी माननीय हो सकता है कि प्राचीन भारत में मानव, ऐल और सौद्युम्न वंशों ने बड़ी ख्याति प्राप्त की और आर्य सभ्यता का सारे देश में विस्तार उनके साहस, पराक्रम और परिश्रम का फल है। (५) आरम्भ में आर्यों के दल और राज्य छोटे-छोटे थे, किन्तु बाद को बड़े राज्यों की ही नहीं वरन् साम्राज्यों की स्थापना हो गई। किन्तु कोई भी ऐसा साम्राज्य शायद नहीं हुआ जो सारे हिन्दुस्तान पर आधिपत्य स्थापित कर सका हो। साम्राज्य को पुत्रों और वंशजों में बाँटने की प्रथा, वंशानुगत ऐश्वर्य की आकांक्षाएँ एवं कलह, बड़े साम्राज्य के सुसंगठित शासन के स्थापन और संचालन के साधनों के अभाव, आदि के कारण प्राचीन साम्राज्य क्षोभग्रस्त रहे और अन्त में छिन्न-भिन्न हो गये। किन्तु हिन्दुस्तान ऐसे विशाल देश में अपनी सभ्यता को, जो हज़ारों वर्ष तक जीवित ही नहीं रही वरन् जिसमें संसार के योगक्षेम का सन्देश है, फैलाने और उच्च बनाने का ऐसा महान् कार्य है कि जिस पर कोई भी जाति या वंश अभिमान कर सकता है। उनकी इस सफलता की तुलना संसार के इतिहास में बहुत कम मिलती है। उनके इस अपूर्व प्रयास के कारण आज भी हिन्दुस्तान में आर्य सभ्यता जीती-जागती और प्रगतिशील है।

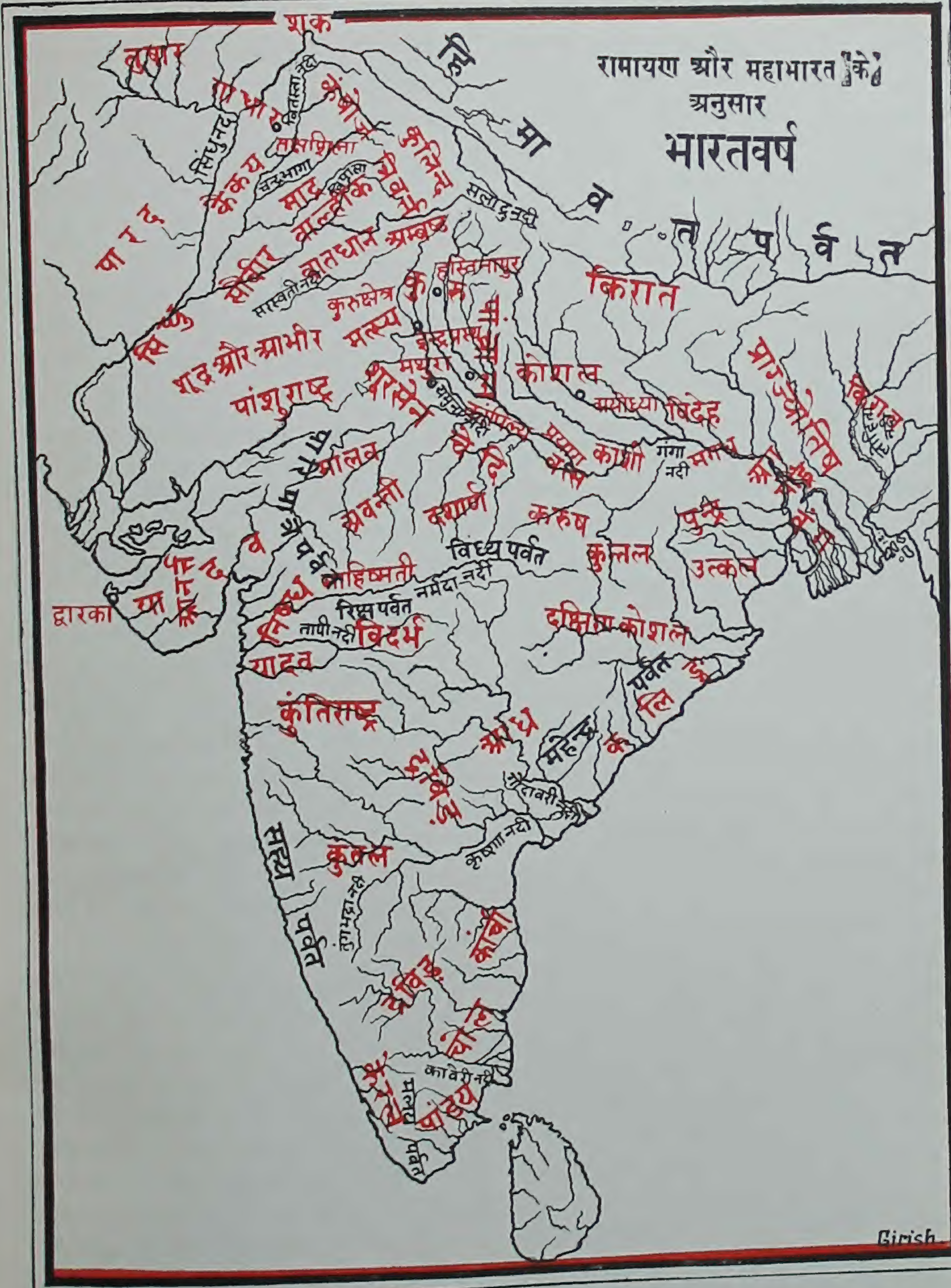
आर्यों की सभ्यता

दो हज़ार वर्ष के उपर्युक्त इतिहास की घटनाओं का ज्ञान तो हमें कम प्राप्त है, किन्तु उस समय की सभ्यता का चित्र अधिक स्पष्ट और आदरणीय है। आर्य सभ्यता के विकास की जड़ें वैदिक काल में दृढ़ हो गयी थीं। अतएव वैदिक काल के जीवन का स्पष्ट ज्ञान हो जाने से उसके पश्चात् की सभ्यता के विकास का ज्ञान सरल और सुग्राह्य हो जायगा। वैदिक काल को सुभीते के लिए दो भागों—पूर्व वैदिक काल और उत्तर वैदिक काल—में विभक्त किया गया है।

पूर्व वैदिक काल

सामाजिक व्यवस्था

वदिक काल में आर्य लोगों का जीवन अस्थिर न था। उनका गृहस्थ - जीवन संगठित और परिमार्जित था। उनका कुटुम्ब पैतृक सिद्धान्तों पर बना था, जिसमें गृह-पति की आज्ञापालन करना सबका कर्त्तव्य था। यद्यपि राजाओं में बहुविवाह होते थे तथापि साधारणतया एक स्त्री से विवाह ही आदर्श और प्रचलित था। पूर्व वैदिक काल में बाल्य विवाह का रिवाज न था। विवाह करने की स्त्री-पुरुषों दोनों को बहुत-कुछ स्वतन्त्रता थी। भाई-बहनों और पिता-पुत्री में विवाह वर्जित था। विवाह तक तो कन्या का भार उसके माता-पिता या भ्राताओं पर था, किन्तु विवाह के बाद वह अपने पति के घर चली जाती थी और उसकी रक्षा करना उसी का कर्त्तव्य हो जाता था। विवाह में दहेज़ की प्रथा थी। कभी लड़की की क़ीमत देकर विवाह होता था। विवाह का विच्छेद मृत्यु तक नहीं हो सकता था। विवाह का लक्ष्य सन्तान उत्पन्न करना था। यदि स्त्री के सन्तान होती तो विधवा हो जाने पर उसका पुनर्विवाह नहीं होता था। सन्तान न होने से यदि विधवा चाहती तो अपने देवर से ब्याह कर सकती थी। सती-प्रथा का आरम्भ नहीं हुआ था। विवाहित स्त्री का कुटुम्ब में मान और आदर था। वह पति के साथ धार्मिक कार्यों में भाग लेती थी। उसकी इच्छाओं का श्वशुर, सास, पति के भाई-बहन आदर करते थे। गृहस्थी का



वैदिक युग और आज के भारतवर्ष में भौगोलिक दृष्टि से बहुत अंतर था। तत्कालीन नदियों के पथ आज से बहुत कुछ भिन्न थे—उनकी सूखी घाटियाँ इस बात की साक्षी हैं। कई नदियों के नाम भी दूसरे थे जैसा कि ऊपर के मानचित्र से स्पष्ट है। इस मानचित्र में नदियों और पर्वतों के नाम काले रंग में और नगर, देश तथा जातियों के नाम लाल रंग में दिखाये गये हैं।

निर्वाह करने में उसका अनुशासन माना जाता था। पिता-पुत्र के सम्बन्ध भी अच्छे थे। पिता के मरने पर उसकी सम्पत्ति पुत्र को मिलती थी न कि पुत्री को। पुत्र न होने पर पुत्री को सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त होता था।

आर्थिक जीवन

आर्य की मुख्य जीविकावृत्ति पशुपालन और कृषि पर निर्भर थी। बैल जोतने और बोझ ढोने के लिए रखे जाते थे और घोड़े सवारी, घुड़दौड़ और युद्ध के लिए। उनके अलावा गाय, भैंस (?), बकरी, भेड़, गधे और कुत्ते भी पाले जाते थे। जानवरों के कान पर उनके स्वामी का चिह्न बना दिया जाता था। 'गोपाल' पशुओं को 'गोष्ठ' में चराने ले जाते थे। लोग शिकार भी खेलते थे।

उर्वरा भूमि की जुताई में छः, आठ और बारह तक बैल नाथे जाते थे। यद्यपि कुओं, झीलों और कुल्याओं (नहरों) एवं नालियों (सूर्मी सुशिरा) आदि से सिंचाई होती थी, किन्तु फिर भी कृषि जलवृष्टि पर ही निर्भर थी। 'शकन' या 'करीश' नाम की खाद का खेतों में प्रयोग किया जाता था। दैविक उत्पात—जैसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, कीड़ों और पक्षियों—से खेती को भय रहता था। अनाजों को वे यव या धान्य कहते थे। यद्यपि धान्यों के नाम नहीं मिलते तथापि उत्तर काल के संकेतों से जान पड़ता है कि वे चावल, जौ, सरसों, तिल, मसूर, गोधूम आदि की खेती करते थे।

उद्योग-धन्धे और व्यापार

बढ़ई (तक्षण) रथ और गाड़ियाँ तो बनाते ही थे, वे लकड़ी पर नक़्क़ाशी का काम भी करते थे। लोहा (कर्मार) धातु के बरतन और औज़ार बनाते। सोनार सोने के आभूषण बनाते। चमड़े का काम करनेवाले गोफन, धनुष की ज्या, तसमे, रास, कोड़े, थैले और डोल बनाते थे। चमड़े की रँगाई भी होती थी। कपड़ा बुननेवाले (वाय) करघों पर कपड़े बुनते। स्त्रियाँ अन्य गृहस्थी के कामों के सिवा ज़री का या बेलबूटे का काम, कताई, चटाई की बुनाई और पिसाई का काम करती थीं।

वणिक विनिमय द्वारा व्यापार करते थे। मोल-तोल पर झकझक होती थी। इस विनिमय का मान प्रायः गाय होती थी, किन्तु 'निष्क' नामक सोने के सिक्के भी प्रचलित थे। ज़मीन का व्यापार नहीं होता था यद्यपि उस पर स्वामी का अधिकार माना जाता था। क़र्ज़ भी चलता था, विशेषतः जुआ खेलने के व्यसन के कारण। मूल का अष्टमांश अथवा षोड़शांश शायद सूद में लिया जाता था। यदि क़र्ज़ लेनेवाला अदा न कर सके तो वह दास बनकर उऋण हो सकता था। स्थल के सिवा जल-मार्ग से नावों पर व्यापार होता था।

रहन-सहन

आर्य लोग दूध, पनीर, दही और घी के शौक़ीन थे। उनके साथ अनाजों को मिलाकर वे अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ बनाते थे। जिनको मांस का शौक़ था वे प्रायः बकरी और भेड़ का मांस खाते। गाय को मारना वे बुरा मानते थे। उसे वे 'अघन्य' समझते थे। हाँ, व्याह-शादी के अवसरों अथवा अतिथि-सत्कार के लिए बैल का मांस भी चलता था। मूजवन्त पर्वत में उत्पन्न होनेवाली सोमलता से वे एक रस तैयार करके बड़े चाव से पीते और उसके गुण का गान करते थे। उससे उन्हें सरूर और हर प्रकार की स्फूर्ति मिलती थी। कुछ लोग 'सुरा' नाम की नशीली शराब पीते थे। उसके नशे में कभी-कभी सभाओं में तू-तड़ाक से मार-पीट तक की नौबत आ जाती थी।

पोशाक में उन्हें सादगी पसन्द थी। वे दो वसनों का प्रायः प्रयोग करते थे—एक (नीवी) कमर पर और दूसरा (अधिवास) ऊपरी भाग के लिए। उनके वसन प्रायः भेड़ों के ऊन के होते थे। उनके वस्त्र पर बेलबूटे और ज़री का काम भी बनाया जाता था। त्यागी अथवा ब्रह्मचारी लोग चर्माम्बर (अजिन, मल) का परिधान बनाते थे। सिले कपड़े या तो तब प्रचलित नहीं हुए थे या उनका रिवाज न था। कपड़ों की सादगी को वे आभूषणों के प्रेम से पूरी कर देते थे। स्त्री-पुरुष दोनों कर्णफूल, कंठे, मालाएँ, अँगूठियाँ, हाथों और पैरों के कड़े और रत्नों का बड़े शौक़ से प्रयोग करते थे। दोनों लम्बे बाल रखते थे। पुरुष उनको जूड़े की तरह बाँधते और स्त्रियाँ गूँथकर बाँधती थीं। बालों की तेल-कंघी होती रहती थी। बाल बनवाने का रिवाज न था। यद्यपि कुछ लोग दाढ़ी मुड़वाते थे, किन्तु फ़ैशन दाढ़ी रखने का था।

आर्य लोग मनचले और आमोद-प्रमोद के प्रेमी थे। स्त्रियों में पर्दा न था। वे बेधड़क पुरुषों से मिलती-जुलती थीं। धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं, खेल-कूद एवं आमोद-प्रमोद में वे भी भाग लेती थीं, जिससे कि सामाजिक जीवन में कोमलता, मधुरता और सुन्दरता का निरन्तर संचार रहता था। युवकों और युवतियों में मैत्री और प्रेम भी इन्हीं अवसरों पर कभी-कभी हो जाते थे। युवक युवतियों को प्रसन्न और अनुकूल बनाने के लिए तन, मन, धन और सबसे अधिक वचनों से विविध प्रयत्न किया

करते थे। युवतियाँ वीर, धीर और तेजस्वी पुरुषों को प्राप्त करने की इच्छा रखती थीं।

आर्यों को जुआ खेलने की बड़ी लत थी। वे गहरे दाँव लगाते थे। वे कुछ न रहने पर अपना शरीर भी दाँव पर लगा देते थे और हारने पर दास हो जाते थे। किन्तु लड़कों को जुआ खेलने की आज्ञा न थी। इसके सिवा रथों की दौड़ और घुड़दौड़ का भी उन्हें विचित्र व्यसन था। नाचने, गाने और बजाने का स्त्रियों और पुरुषों को बड़ा प्रेम था। वे साथ मिलकर गाते, बजाते और नाचते भी थे। उनके पास हाथ से और फूँककर बजाने के कई बाजे थे। उनकी विजय का बाजा दुन्दुभी (ढोल) थी।

धर्म कर्म

आर्यों के धार्मिक विचार और आचार भी सरल थे। वैदिक धर्म में पितृपूजा और देवपूजा प्रमुख कर्त्तव्य थे। उनका पूजा और कर्म का मुख्य साधन यज्ञ था। उनके देवता चार प्रकार के थे। प्रथम, वे देवता जो कि प्रकृति की प्रकाशक और संचालक शक्तियों के काल्पनिक स्वरूप थे—जैसे द्यौ, पृथ्वी, इन्द्र, वरुण, सूर्य, रुद्र, मरुत्, वायु, पर्जन्य (मेघ), उषा आदि। दूसरे, वैसे ही कल्पित गृह-देवता जैसे अग्नि और सोम। तीसरे, भावजन्य देवता जैसे श्रद्धा और मन्यु (क्रोध)। चौथे, गौण देवता जैसे गन्धर्व, अप्सरा आदि। कभी-कभी वे देवताओं की कल्पना पशुरूप में भी करते थे। किसी विशेष देवता को स्वानुकूल और प्रसन्न करने के लिए वे विधि-विधानपूर्वक यज्ञ करते थे। यज्ञों में दूध, अन्न, घी, सोम और कभी-कभी मांस का प्रयोग करते थे। यज्ञों में निर्दिष्ट विधि के अनुसार वेद-मंत्रों के साथ हवन किया जाता था। यद्यपि देवताओं से उन्हें भय भी रहता था। तथापि उनकी देवता-सम्बन्धी भावनाओं की प्रेरणा केवल भय के कारण न थी। देवताओं की मित्रता और उनको प्रसन्न करके अपने उद्देश्य की सिद्धि करना उनका ध्येय था। उनका विश्वास था कि विधिपूर्वक यज्ञ करने से देवता उद्देश्य-पूर्त्ति करने को बाध्य हो जाते हैं। यज्ञ के विधान ऐसे लम्बे-चौड़े थे कि उनके करने के लिए कम-से-कम सात व्यक्तियों की आवश्यकता थी। बड़े यज्ञों में ख़र्च भी अधिक होता था, जिससे साधारण स्थिति के व्यक्ति उनके करने में असमर्थ थे।

अनेक देवताओं के स्वरूप की कल्पना करते हुए भी वैदिक तत्वज्ञों ने उनमें एक ही देवाधिदेव का विविध रूप में प्रकाश का चमत्कार देखा। इसी से यह कहना अनुचित न होगा कि तत्वतः आर्य एकेश्वरवादी थे। वस्तुतः वे सृष्टि को भी उसी अव्यक्त विराट् पुरुष का व्यक्त रूप मानते थे। उसी के नाना नाम-रूप हैं, जो देश-काल पात्र के अनुसार प्रयुक्त किये जाते हैं। धार्मिक जीवन एवं यज्ञादि से वे बल, स्फूर्ति, तेज, पराक्रम, समृद्धि और स्वर्ग की कामना करते थे। ऐहिक लोक में अभ्युदय और विहित सफलता की ओर उनका पूरा ध्यान रहता था। यद्यपि वे यमलोक मानते थे तथापि मरणोपरान्त पारलौकिक चिन्ता अथवा निराशावाद उनको कभी चिन्तित अथवा व्यथित नहीं करता था। वैदिक आर्य प्रायः मृतकों को जला देते थे। किसी-किसी दशा में 'निखात' (दफ़नाने) अथवा शव को पशु-पक्षी के आहार के निमित्त छोड़ देने का भी रिवाज था। वे पितरों का श्राद्ध और तर्पण भी करते थे।

विद्या और साहित्य

वैदिक आर्यों का आदर्श सरल किन्तु उच्च जीवन का था। विद्यार्थी गुरु के घर पर रहकर वेदादि का अध्ययन करते थे। उनको बहुत सीधा-साधा ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। उनकी दिनचर्या बहुत समझ-बूझकर बनाई गई थी। आलस्य, व्यर्थ बकवाद, अनुद्योग और व्यर्थ आलाप-प्रलाप के लिए गुंजाइश ही नहीं रक्खी गई थी। गुरु की सेवा और शुश्रूषा करना अनिवार्य-सा था। मेधा, धारणाशक्ति और प्रज्ञा तीनों का विकास करना शिक्षा का उद्देश्य था। धारणाशक्ति के बिना काम भी न चल सकता था, क्योंकि विद्यार्थियों को वेदवेदांग सस्वर कण्ठाग्र करने पड़ते थे। उच्चारण और स्वर में ज़रा-सी भी भूल अक्षम्य मानी जाती थी।

ऋग्वेदसंहिता की भाषा, व्याकरण, काव्यकल्पना और विचार सभी व्यवस्थित और प्रौढ़ हैं। ध्वनि, स्वर, और शब्द विद्या काफ़ी उन्नत थी। वैदिक शब्दों, स्वरों और वाक्यों की शुद्धता की रक्षा के लिए 'प्रातिशाख्य' और 'अनुक्रमणी' की रचना की गई थी।

नीतिक संगठन

वैदिक आर्यों के नीतिक संगठन का मूलाधार गृह अथवा कुल था। कुलवाले कुलपति या गृहपति के आज्ञानुवर्ती होते थे। कई कुलों के समूह और उनके निवासस्थान को 'ग्राम' कहते थे। 'ग्रामणी' उसका नेता होता था। ग्राम से बड़ा संगठन 'विश' कहलाता था और विशों से बड़ा 'जन' कहलाता था। अनुमान किया जाता है कि जन का अर्थ क़बील है और जनों का सामूहिक रूप शिव कहलाता था। पर यह अनुमान संदिग्ध-सा है।

राज्य के लिए 'राष्ट्र' शब्द का प्रयोग किया जाता था।

राष्ट्र का अधिपति राजा शान्ति अथवा समर में जन का नेता माना जाता था। वह बड़े ठाठ के साथ महल में अपने सेवकों के साथ रहता था। उसकी आमदनी का मुख्य साधन 'बलि' अर्थात् कर था। उसका चुनाव अथवा उसके उत्तराधिकारी के राजत्व का संस्थापन जनों की सभा-समिति करती थी। सभा या समिति का संगठन निश्चित रूप से नहीं ज्ञात होता। सभा का प्रधान 'ईशान' कहलाता था। राजा का निर्वाचन, निष्कासन अथवा पुनर्वार निर्वाचन सभा करती थी। समिति के सहयोग और परामर्श से राजा शासन करता था।

वैदिक आर्य यों तो शान्तिप्रिय थे, किन्तु अवसर पड़ने पर वे युद्धप्रेमी भी हो जाते थे। आत्मरक्षा एवं विजय-कामना के लिए युद्ध होते थे। सेना में पैदल और रथी रहते थे। रथों में घोड़े जोते जाते थे और रथ चमड़े से मढ़ा होता था। घुड़सवार अथवा हाथियों की सेना का प्रयोग देखने में नहीं आता। सैनिक धनुष-बाण, फरसों, बर्छों, भालों, असि और गोफनों का प्रयोग करते थे। शरीर-रक्षा के लिए वे धातु के बने वर्म, अत्क, हस्तघ्न, शिरस्त्राण आदि पहनते थे।

उत्तर वैदिक काल

२००० वर्ष के इतिहास में पूर्व से उत्तर काल की सभ्यता में परिवर्तन होना आश्चर्यजनक नहीं। उपर्युक्त क्रम से संक्षेप में मुख्य परिवर्तनों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

सामाजिक

यद्यपि ऋग्वेद में ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र का उल्लेख हुआ है, किन्तु उस समय वर्ण-व्यवस्था जटिल न थी। कम-से-कम पहले तीन वर्णों में खानपान और विवाह की सामाजिक विभिन्नता नगण्य थी। धीरे-धीरे उसमें कठोरता बढ़ने लगी। यहाँ तक कि सूत्र-काल में वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था जन्म से गिनी जाने लगी एवं प्रौढ़ हो गई। सूत्र-काल में वर्णों में रोटी-बेटी का सम्बन्ध बहुत नियन्त्रित और क़रीब-क़रीब बन्द-सा हो गया, यद्यपि कुछ-कुछ द्वार खुला रखा गया। प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्य निश्चित कर दिये गये। तथापि शूद्र की परिस्थिति बहुत ख़राब नहीं हुई। मनुष्य का जीवन चार आश्रमों में बाँट दिया गया—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस।

रहन-सहन

वर्ण-व्यवस्था के दृढ़ और जटिल हो जाने से एवं आर्थिक उन्नति होने से रहन-सहन में भी कुछ परिवर्तन हो गया। विवाह आठ प्रकार के माने गये, जिनमें से राक्षस और पैशाच गर्हणीय गिने जाते थे। दहेज़ लेकर विवाह करना 'आसुर' समझा जाता था। प्रत्येक गृहस्थ का यह कर्त्तव्य निश्चित हुआ कि वह पञ्च महायज्ञ प्रतिदिन किया करे। शूद्रों का उपनयन नहीं होता था, अतएव वे द्विज नहीं गिने जाते थे।

आर्थिक

कृषि में उन्नति हुई। हल के बड़े-बड़े फाल बनाये जाने लगे, जिनके चलाने के लिए बारह जोड़ी बैलों तक की आवश्यकता पड़ गई। गोबर की खाद का भी खेतों में प्रयोग होने लगा। साल में दो फ़सलें पैदा की जाने लगीं। मुद्ग (मूँग ?) और माश (उड़द) बोए जाने लगे। इसी प्रकार कला-कौशल और व्यापार में भी उन्नति हुई। नये धंधे और रोज़गार पैदा हो गये। मछलीवालों, हल चलानेवालों, धोबियों, नाउओं, रंगसाज़ों, बूचड़ों, चाकरों, समाचारवाहकों, जौहरियों, नटों, मल्लाहों, डलिया-रस्सी बनानेवालों और कुम्हारों आदि का उल्लेख पाया जाता है। रुपये का लेन-देन बढ़ गया। चाँदी, लोहा, काँसा, सीसा, जस्ता और टीन (त्रपु) का भी व्यवहार होने लगा। सोने, चाँदी और ताँबे के कई प्रकार के सिक्के भी प्रचलित हो गये। कई प्रकार के नाप-तौल के साधन बनाये गये। सूद की दर दस सैकड़ा थी, किन्तु दो से पाँच सैकड़ा मासिक सूद भी प्रचलित था। ब्राह्मण और क्षत्रिय को सूद लेना मना था। वे कृषि और व्यापार भी अच्छा नहीं समझते थे।

धर्म-कर्म

धार्मिक क्षेत्र में पहले तो कर्मकाण्ड में बड़ी उन्नति अथवा यों कहिए कि पेचीदगी हो गई। यज्ञों में अब सात के बदले सत्रह कर्मकाण्डियों की आवश्यकता हो गई। किन्तु यज्ञ के विधान में कुछ कृत्य वास्तविक के बजाय लाक्षणिक गिने जाने लगे। यज्ञ की परिभाषा विस्तृत, व्यापक हो गई। सृष्टि-रचना और सृष्टि-पालन आदि भी एक प्रकार का यज्ञ माना जाने लगा। आत्मन्, कर्म, पुनर्जन्म, माया और मुक्ति की चर्चा दिनोंदिन बढ़ने लगी। आत्मज्ञान यज्ञादि कर्मकाण्ड से अधिक श्रेयस्कर समझा जाने लगा। 'तत्वमसि' का मन्त्र उपनिषदों में प्रचलित हो गया। इसके सिवा वैदिक देवताओं में से रुद्र और विष्णु का महत्त्व अधिकाधिक बढ़ने और अन्य देवताओं का घटने लगा। इस प्रकार आधुनिक हिन्दू धर्म की रूप-रेखा स्पष्टतया दिखाई पड़ने लगी।

विद्या-शिक्षा

आर्यों का विद्या-व्यसन भी ख़ूब उन्नति करता रहा।

शिक्षा का आदर्श श्रद्धा, मेधा, प्रजा, धन, आयु और अमृततत्व प्राप्त करना था। शिक्षा प्राप्त करने के लिए बारह वर्ष, बत्तीस वर्ष अथवा जीवन पर्यन्त के शिक्षा-क्रम बना दिये गये थे। विद्यार्थी और विद्वान् भ्रमण करके शिक्षा प्राप्त अथवा प्रदान करते थे। परिषदों और सभाओं में ज्ञान-विज्ञान पर सत्यासत्य-निर्णय के लिए शास्त्रार्थ और व्याख्यान होते थे। स्त्रियाँ भी ऊँची-से-ऊँची शिक्षा प्राप्त करके शास्त्रार्थ में भाग लेतीं और धर्म का निरूपण करती थीं। किन्तु धीरे-धीरे उनके अधिकार कम होते जाते थे। क्षत्रिय लोग विद्या और विद्वानों का समादर ही नहीं करते वरन् उसमें पारंगत होने की श्लाघ्य चेष्टा करते थे। वेदों का तत्त्व-निर्णय करने के लिए छः वेदांगों (शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, कल्प) की रचना हुई। उपवेद (धनुर्वेद और गान्धर्ववेद, आयुर्वेद, स्थापत्यवेद), इतिहास और पुराणों (प्राचीनतम) का संकलन किया गया। कल्प का अंग विशेष रूप से बढ़ा। श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्र उसी के उपांग हैं।

नीतिक संगठन

वैदिक आर्यों का आरम्भिक जीवन ग्राम और पुर पर अवलम्बित था। किन्तु धीरे-धीरे बड़े नगरों, राज्यों और साम्राज्यों का विकास हुआ, जिससे उनमें नागरिकता एवं राष्ट्रीयता की विशाल भावनाएँ उत्पन्न हो गईं। सम्राटों के लिए विशेष यज्ञों का विधान रचा गया। राजा के लिए 'राजसूय', सम्राट् के लिए 'वाजपेय', स्वराट् के लिए 'अश्वमेध', विराट् के लिए 'पुरुषमेध' और सर्वराट् के लिए 'सर्वमेध' यज्ञों का विधान बनाया गया। इनसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि राजनीतिक विकास की सीढ़ियाँ थीं, जो एक दूसरे से उत्तरोत्तर विस्तृत और बड़ी थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक महत्वाकांक्षी राजा अपना आधिपत्य उत्तरोत्तर बढ़ाने के प्रयत्न में लग गया, जिसमें शान्ति का वातावरण क्षीण होने और युद्ध का बढ़ने लगा।

राजा की शक्ति यद्यपि बढ़ती चली गई तथापि उसकी स्वच्छन्दता के बन्धन ज्यों-के-त्यों रहे। राजा के निर्वाचन की प्रथा जारी रही। कर्त्तव्य-विमुखता के लिए उसको राज्यच्युत करने का अधिकार जनसभा के हाथ में रहा। राज्याभिषेक के समय उसे जो वायदे करने पड़ते थे उनसे वह बँध जाता था। मन्त्रियों, सभा-समितियों का भी दबाव उसे मानना पड़ता था। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार राजा के ऊपर धर्म था। धर्म का प्रतिपालन करना उसका परम कर्त्तव्य था। किन्तु धर्म का प्रतिपादन ब्राह्मणों के हाथ में था। उसको पूरा (ग्रामसंस्था), श्रेणी, जाति, कुल एवं जनपद के नियमों का सम्मान करना पड़ता था। वैदिक सिद्धान्त के अनुसार राजा में दैविक गुण तो अवश्य माने जाते थे, किन्तु उसके कोई दैविक अधिकारों का उल्लेख नहीं।

राजा के मन्त्री रत्न कहलाते थे। पहले उनकी संख्या पाँच थी, किन्तु बाद में बारह हो गई। उनमें पुरोहित, राजन्य, सेनानी, संग्रहीता, भागदुह आदि के सिवा महारानी, सबसे प्रिय रानी, त्यक्त रानी एवं अक्षावाप (द्यूत मन्त्री) शामिल थे। अनुमान किया जाता है कि राजा के प्रमुख साथी और सेवक ही कालांतर में मन्त्री हो गये। धीरे-धीरे इनकी संख्या सैंतीस तक पहुँची जो कार्य-सम्पादन में विलम्ब करनेवाली हो गई। अतएव मन्त्रिमण्डल से नौ मन्त्रियों की एक 'परिषद' की रचना की गई। राजा के नियन्त्रण एवं परामर्श के लिए सभा का होना आवश्यक एवं अनिवार्य था। सभा में खूब बहसें होतीं और निर्णय बहुमत से होता था। सभा के नियमों के उल्लंघन के लिए सभापति दण्ड देता था। सभा न्याय भी करती थी।

सभा के सिवा 'समिति' का भी उल्लेख है, जो राजा को निर्वाचित और उसे स्थिरता एवं विजय प्रदान करती थी। उसके संगठन के विषय में स्पष्ट पता नहीं चलता। कुछ विद्वान् कहते हैं कि वह सभा से बड़ी संस्था थी।

शासन-विधान का भी विकास हुआ। पूर्ववत् 'ग्राम' का मुख्य पदाधिकारी 'ग्रामणी' था। उसके ऊपर उत्तरोत्तर क्रम से 'दशग्रामी', 'विंशतिप', 'शतग्रामी' और उनके ऊपर 'अधिपति' था, जो एक सहस्र ग्रामों का शासक था। अपने-अपने क्षेत्र में राज-कर वसूल करना और न्याय करना इनके मुख्य कर्त्तव्य थे। शासन के १८ विभागों एवं उनके अध्यक्षों का उल्लेख मिलता है। ऐसे भी राज्यों का उल्लेख है जिनमें राजा नहीं होता था। ऐसे राज्य 'गणराज्य' कहलाते थे। उनका शासन सभा, समितियों, प्रधानों और मुखियों द्वारा होता था। कभी-कभी ऐसे कई राज्य मिलकर रक्षार्थ 'संघ' बना लेते थे। 'गणराज्य' अथवा 'संघ' में सबसे बड़ा दोष यह था कि उनमें दलबन्दी हो जाती और व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष के बढ़ने से फूट पड़ जाती थी। शायद इसी कारण से वे पनपने न पाये और एक राजानुशासित राज्यों के आघात से चूर्ण होकर अन्त में नष्ट हो गए।



विभिन्न देशों की पौराणिक गाथाओं में आकाश में मनुष्य के उड़ान की कल्पनाएँ

हमारे देश के प्राचीन कथा-साहित्य में प्रायः आकाश में विचरण करनेवाले विमानों का उल्लेख आता है। रामायण में वर्णित पुष्पक विमान का नाम कौन नहीं जानता ? कहते हैं, इसी में बैठकर श्री रामचन्द्रजी लंका से अयोध्या तक आकाश-मार्ग से आये थे (चित्र में नं० १)। चीन के प्राचीन ग्रंथों में उल्लेख है कि लगभग २२०० ई० पू० सम्राट् शुन ने एक आकाशगामी रथ बनवाया था। कहते हैं, शुन अपने क्रुद्ध पिता द्वारा एक बुर्ज़ में क़ैद कर दिया गया और उस बुर्ज़ में आग लगा दी गई। शुन सरकंडे के दो छतरीनुमा टोप हाथों में लेकर उस ऊँची बुर्ज़ से नीचे कूद पड़ा और सही-सलामत धरती पर उतर आया (दे० चित्र में नं० २)। बेबिलान की कथा है कि बाबुल की मीनार के रचयिता कैकाउस ने एक लकड़ी का उड़नखटोला बनाया था, जिसे चील उड़ाती थीं। कहते हैं, चीलों के आगे गोश्त के टुकड़े इस तरह बाँध दिये गये थे कि वे उन्हें पा नहीं सकती थीं पर उन्हें पाने के प्रयत्न में वे उड़ने लगती थीं, जिससे खटोला भी ऊपर उठ जाता था (चित्र में नं० ३)। प्राचीन ग्रीस की कथा है कि क्रीट के सम्राट् मीनास द्वारा एक भूल भुलैया में क़ैद कर दिये जाने पर, डीडेलस नामक एक व्यक्ति अपने पुत्र आइकेरस के साथ शरीर में मोम से चिपकाये हुए पर लगाकर भूल-भुलैया की छत से उड़कर नीचे उतर आया था। कहते हैं, सूर्य की गर्मी से आइकेरस के परों का मोम पिघल गया और पर बिखर पड़े, जिससे वह समुद्र में गिर पड़ा। (चित्र में नं० ४ में डिडेरस आइकेरस को उड़ने के लिए तैयार कर रहा है।) बेबीलान के शिलालेखों में यह कथा अंकित है कि इटाना नामक एक गड़रिया एक बार एक चील पर सवार होकर उड़ा था (दे० चित्र में नं० ५)।



वायु पर विजय—(१)

गुब्बारे से वायुपोत तक कैसे पहुँचे ?

मनुष्य के अनेक अद्भुत आविष्कारों में आकाश में विचरण करने की कला का आविष्कार एक ख़ास महत्त्व रखता है। इस अद्भुत खोज ने आज दिन मनुष्य के जीवन में क्रान्ति पैदा कर दी है। आकाश-मार्ग के उद्घाटन ने मानो हमारे जल और स्थल के बंधनों और सीमाओं को तोड़ दिया है। अभी तो इसकी शुरुआत ही है, आगे इस दिशा में न जाने कितनी उन्नति की संभावना है। इस और अगले अंक के लेख में हम मनुष्य की इसी महत्त्वपूर्ण खोज का हाल सुनायेंगे।

पक्षियों को आकाश में स्वच्छन्दतापूर्वक भ्रमण करते देख मनुष्य ने आज से लाखों वर्ष पहले ही इस सम्बन्ध में अपनी लाचारी और बेबसी को महसूस किया होगा। इधर-उधर घूमने-फिरने की स्वतन्त्रता के लिहाज़ से मनुष्य तो पक्षियों के सामने पासंग में भी नहीं टिक सकता। आदमी एक अन्धी मछली की भाँति हवा के इस अथाह सागर के तल पर रेंगता फिरता है। चन्द फ़ीट ऊँची दीवाल सामने आई तो बस वहीं रुकना पड़ा, या सामने कोई चौड़ी खाई आई तो उसे पार करने में भी असमर्थ! इसके प्रतिकूल पक्षियों को हर दिशा में स्वतंत्रता प्राप्त है। ऊपर-नीचे, दाहिने-बायें, किसी भी ओर पलक मारते-मारते पक्षी उड़कर जा सकते हैं। जिन पहाड़ों और खाइयों को पार करने में मनुष्य को घंटों लग जाते हैं, उन्हें पक्षी चन्द सैकण्ड में पार कर लेते हैं। इसी कारण अतीतकाल से ही मनुष्य के मन में पक्षियों की भाँति आकाश में विचरने की एक तीव्र लालसा हुई होगी।

इसी तीव्र लालसा की छाप हर देश के प्राचीन साहित्य पर पड़ी है। पौराणिक कथाओं तथा आख्यायिकाओं के रूप में कवियों और लेखकों ने अपनी इस हविस को खुल-कर खेलने का मौक़ा दिया। जिस किसी व्यक्ति के अन्दर असाधारण शौर्य्य या प्रतिभा दिखाना हुआ, उसे विमानों की सवारी प्रदान की! पुष्पक विमान का उल्लेख रामायण में आया है। अन्य देशों में भी



आकाश और वायु पर मनुष्य की विजय का महान् प्रतीक

यह न्यूयार्क शहर पर मँडराते हुए महान् जर्मन वायुपोत 'हिंडनबर्ग' का चित्र है जो दुर्भाग्य-वश बाद में जलकर ख़ाक हो गया था। यह अब तक बनाया गया सबसे बड़ा वायुपोत था।



मोन्टगोल्फियर बन्धु और उनका गुब्बारा जो एक मुर्गा, एक भेड़ और एक बतख़ को लेकर आठ मिनट तक आकाश में उड़ा था। सर्वप्रथम आकाश में गुब्बारों द्वारा उड़ने के मार्ग का उद्घाटन करने का श्रेय मोन्ट-गोल्फियर बन्धुओं को ही प्राप्त है। इन्हीं की सूझ के बल पर आगे बड़े-बड़े वायुपोत बनाना संभव हो सका।

आकाश-यात्राओं का उल्लेख है, किन्तु विमान वास्तव में बनाते कैसे हैं, इसका ज़िक्र किसी भी देश के प्राचीन ग्रन्थों में नहीं पाया जाता।

सभ्यता के क्षीण आलोक की ओर बढ़ने के उद्योग में निरन्तर रत मनुष्य की यह आकांक्षा कल्पना के संसार तक ही बहुत दिनों तक सीमित न रह सकी। प्रारम्भ काल में अनेक साहसी व्यक्तियों ने कृत्रिम ढंग के पंख लगाकर पक्षियों की तरह उड़ने का निष्फल प्रयत्न किया, किन्तु भौतिक नियमों की अनभिज्ञता के कारण कई इस हविस के फेर में आकर अपनी जान से भी हाथ धो बैठे। विज्ञान हमें बताता है कि मनुष्य पंख डुलाकर केवल अपनी शक्ति से पक्षियों की तरह हवा में क्यों नहीं उड़ सकता। किसी भी पक्षी के शरीर को लीजिए, उसके डैने क्षेत्रफल में शरीर के बोझ के मुक़ाबले में कितने बड़े होते हैं। फिर उसके शरीर की हड्डियाँ भी निहायत हल्की और खोखली होती हैं, ताकि उनमें मज़बूती तो काफ़ी मात्रा में मौजूद हो, किन्तु उनका वज़न बढ़ने न पाये।

इस बात को ध्यान में रखते हुए हम आसानी से अन्दाज़ लगा सकते हैं कि डेढ़-दो मन के बोझवाले मनुष्य के शरीर को हवा में सँभाल सकने के लिए कितने बड़े डैने होने चाहिएँ और उन्हें डुलाने के लिए कितनी ज़बर्दस्त शक्ति की ज़रूरत होगी।

इस दिशा में वास्तविकता का ध्यान रखते हुए सही क़दम उठानेवाला सर्वप्रथम व्यक्ति रॉजर बैकन हुआ था। यह बात १३वीं शताब्दी की है। उसने ग़ौर किया कि गरम करने से चीज़ें प्रायः हलकी हो जाती हैं। तप्त वायु भी ठण्डी वायु की अपेक्षा हल्की होगी। अब यदि एक बृहत्काय खोखले बर्तन में गर्म हवा भर दी जाय, तो बाहर

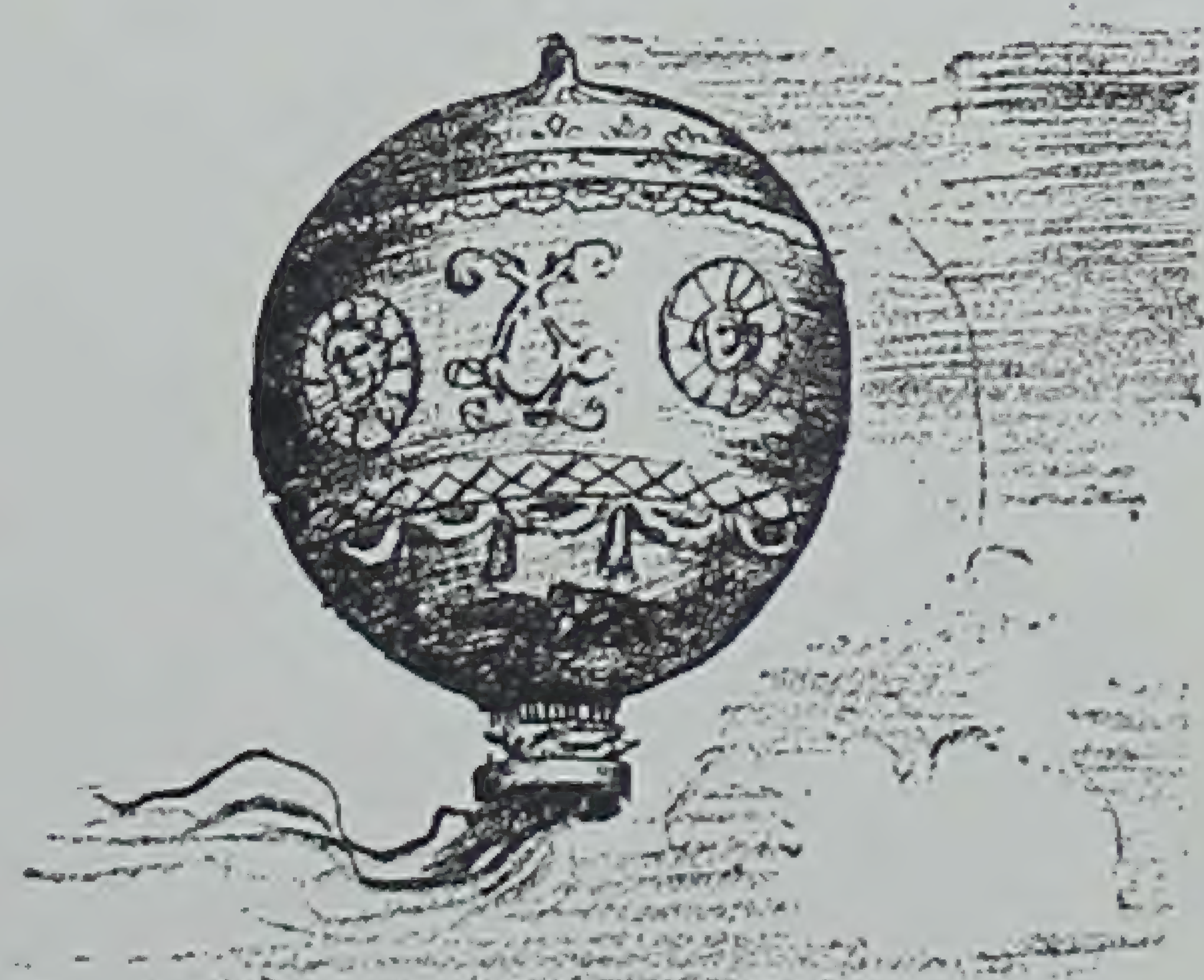
की हवा में यह बर्त्तन उसी प्रकार तैरेगा जैसे पानी पर किश्ती तैरती है। धातु का बना हुआ तप्त वायु से भरा हुआ गोला यदि किसी ऊँचे स्थान से हवा में लुढ़का दिया जाय तो वह अवश्य हवा में इधर-उधर तैरता रहेगा। रॉजर बैकन पूर्ण विश्वास के साथ लिखता है कि इस बर्तन के अन्दर कोई ऐसी मशीन रखी जा सकती है, जो बर्तन के बाहर लगे हुए पंख को तेज़ी के साथ डुला सके। ऐसा करने से चिड़ियों की तरह मनमानी दिशा में तेज़ रफ़्तार के साथ हम उड़ सकेंगे। किन्तु रॉजर बेकन ने भी वास्तव में कभी अपनी इस योजना को कार्यान्वित नहीं किया।

पंख लगाकर उड़ने का ख़ब्त अभी तक यहाँ-वहाँ लोगों के अन्दर मौजूद था। इसलिए इन्हीं दिनों इंगलैण्ड का एक पादरी अपने शरीर में चिड़ियों के पंख बाँधकर एक ऊँचे मीनार से इस आशा में कूदा कि नीचे गिरते समय ये पंख उसका बोझ सँभाल लेंगे और वह चील की तरह मँडराता हुआ धीरे-धीरे ज़मीन पर सकुशल उतर आयेगा। किन्तु उसके कृत्रिम पंखों ने उसकी तनिक भी मदद न की और बेचारा इतने ज़ोर से गिरा कि हाथ-पैर टूट गये।



इस क्षेत्र में सर्वप्रथम सफलता प्राप्त करने का श्रेय मोन्टगोल्फियर बन्धुओं को प्राप्त है। नवम्बर १७८१ ई० में चिमनी से धुएँ को ऊपर उठते देखकर उन्होंने विचार किया कि इस धुएँ के बल से हल्की चीज़ें ऊपर को उठ सकती हैं। पतले काग़ज़ का थैला बनाकर ऊपर उठाए हुए उन्होंने उसे आग के ऊपर रक्खा तो गर्म हवा उस थैले में भर गई और तुरन्त वह थैला ऊपर को उठ चला। इस प्रयोग की सफलता देखकर दोनों भाइयों की प्रसन्नता की सीमा न रही। एक तरह से मोन्टगोल्फियर भाइयों को हम गुब्बारे का जन्मदाता कह सकते हैं।

इनके इस अद्भुत आविष्कार की ख़बर जनता में बिजली की तरह फैल गई। फलस्वरूप ५ जून, १७८३, को





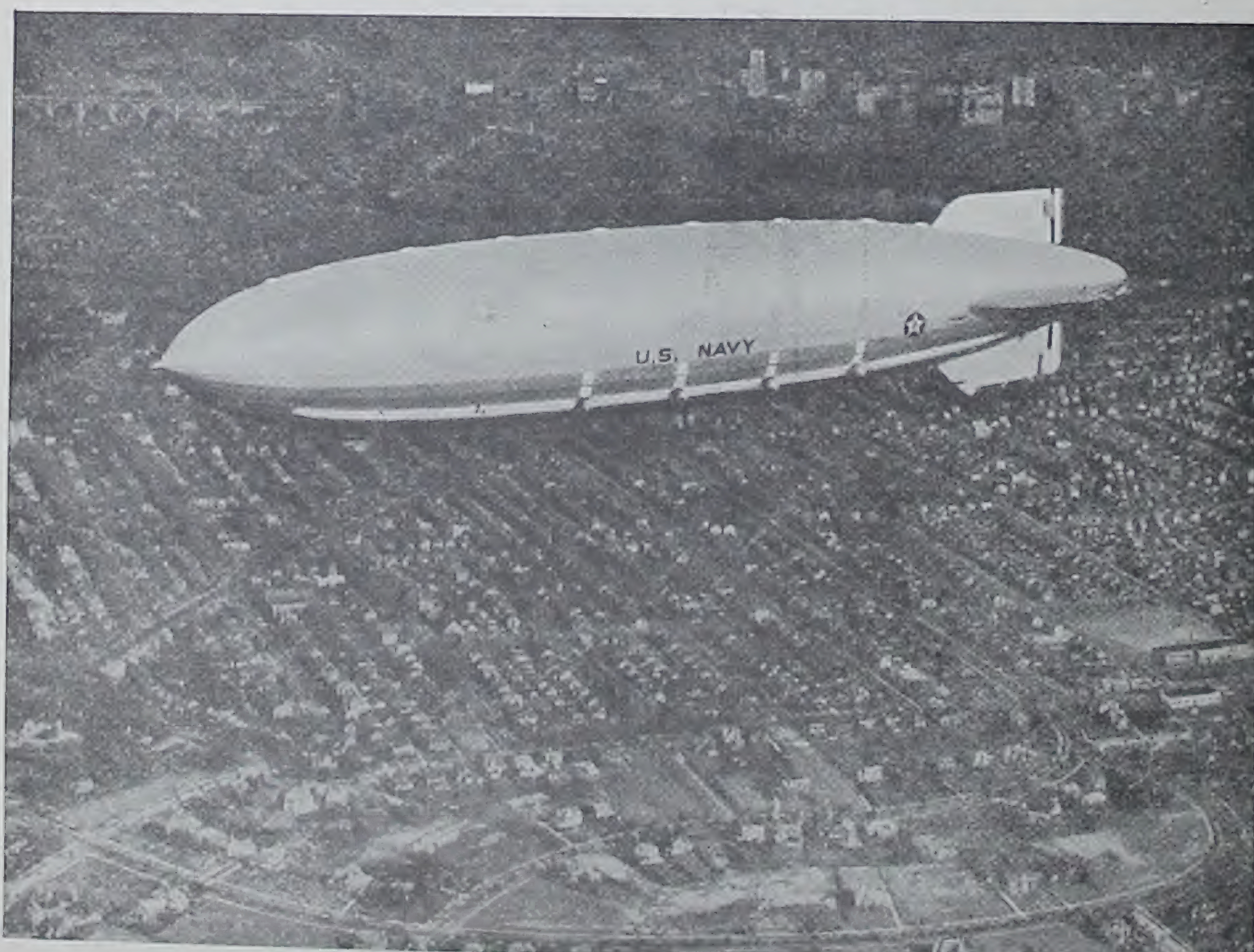
संसार का सर्वप्रथम उड़ाका डी रोज़ियर और उसका बैलून

(ऊपर बाईं ओर) डी रोज़ियर, जो अक्टोबर १५, १७८३, को एक बैलून में बैठकर सबसे पहले आकाश में उड़ा था। महीने भर बाद वह फिर एक साथी के साथ ३००० फ़ीट की ऊँचाई तक उड़ा। इस उड़ान का दृश्य दाहिनी ओर के चित्र में दिखाया गया है।

जनता के सामने गुब्बारे के एक बहुत बड़े प्रदर्शन का आयोजन किया गया। राज्यपरिषद् के सदस्य तथा आम जनता की भीड़ ने कुतूहल-भरे नेत्रों से इस करिश्मे को देखा। ११० फ़ीट की परिधि के गुब्बारे की काग़ज़ की खोल सामने मैदान में पड़ी हुई थी। गुब्बारे के पेंदे में सूराख़ था। इसी सूराख़ के रास्ते धीरे-धीरे भूसे की आग की गर्म हवा इस गुब्बारे में प्रवेश करने लगी। थोड़ी देर में यह सुडौल गुब्बारा ऊपर उठकर १॥ मील की ऊँचाई पर पहुँच गया और ठंढा होकर फिर नीचे उतर आया। कुल दस मिनट का समय लगा। इस गुब्बारे की खोल पर वार्निश पुती हुई थी ताकि हवा की साँस बाहर निकल न सके।

कुछ ही दिन पहले हाइड्रोजन गैस के गुणों की जाँच कैवेन्डिश ने की थी। हाइड्रोजन साधारण हवा से पंद्रहवाँ हिस्सा हलकी होती है। अतः गरम हवा के स्थान पर हाइड्रोजन को गुब्बारे में भरने की बात सोची गई। फलस्वरूप पेरिस में सर्वप्रथम हाइड्रोजनवाला गुब्बारा तैयार किया गया। १४ मन लोहे का चूर और ८ मन गन्धक के तेजाब से इस गुब्बारे में भरने के लिए हाइड्रोजन गैस तैयार की गई। इस गुब्बारे का व्यास १३ फ़ीट था और वज़न केवल १० सेर। इसकी खोल रेशम की बनी थी, जिस पर गोंद की पतली वार्निश चढ़ाई हुई थी। यह गुब्बारा ३०० फ़ीट ऊँचा उठा और मूसलाधार बारिश में भी ४५ मिनट तक आकाश में उड़ता रहा।

इसके कुछ ही दिनों बाद मोन्टगोल्फियर ने एक दूसरा गरम वायु का गुब्बारा बनाया और इस गुब्बारे से एक टोकरी लटका दी जिसमें एक मुर्ग़ा, एक भेड़ और एक बत्तख़ बैठी हुई थी। आठ मिनट के बाद जब गुब्बारा धरती पर उतरा तो ये तीनों सही-सलामत दिखाई दिये। इस प्रयोग को देखकर लोगों को स्वयं गुब्बारे में



अमेरिका का सबसे बड़ा वायुपोत 'एक्रॉन' पहले-पहल आकाश में उड़ रहा है
जलने से बचने के लिए इसमें हीलियम गैस भरी गई, फिर भी दुर्भाग्यवश १९३५ में आँधी और तूफ़ान के झोंके में आकर यह नष्ट हो गया।

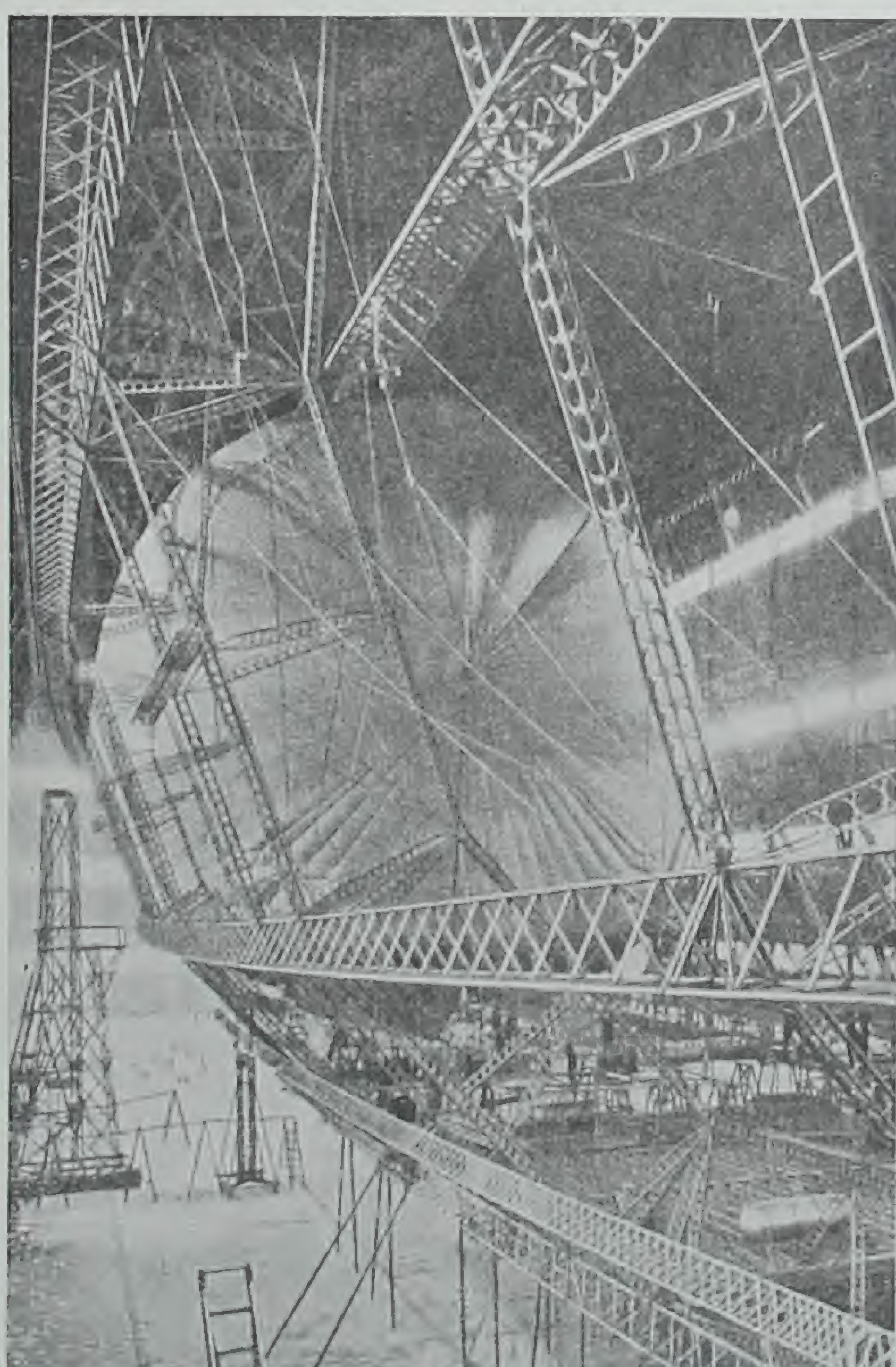
सवार होकर ऊपर जाने की हिम्मत हुई। अक्टूबर १७८३ में फ्रान्स का एक नवयुवक रोज़ियर एक गरम वायु के बैलून की टोकरी में अकेले बैठकर ऊपर गया। हवा में उड़नेवाला सर्वप्रथम व्यक्ति यही था।

अब हाइड्रोजनवाले गुब्बारे भी इस दिशा में पीछे न रहे। अमेरिका के फिलाडेल्फिया प्रान्त में उसी महीने में एक व्यक्ति हाइड्रोजनवाले गुब्बारे में चढ़कर आकाश में उड़ा।

फिर तो भिन्न-भिन्न देशों में जैसे गुब्बारों की बाढ़ आ गई। दिसम्बर १७८४ में राबर्ट और चार्ल्स दो व्यक्ति हाइड्रोजन-वाले बैलून में बैठकर १० हज़ार फ़ीट ऊँचे तक उड़े। इसी साल मैडम थिब्रुल नामक फ्रेंच महिला लिओं में हाइड्रोजनवाले बैलून में चढ़ीं। आकाश में भ्रमण करने वाली यह सर्वप्रथम महिला थी।

बैलून उड़ाने की कला से अब लोग भली भाँति परिचित हो चुके थे—किन्तु अभी तक बैलून का प्रयोग केवल मनोरंजन तक ही सीमित था। वैज्ञानिक अन्वेषण के सिलसिले में आकाश की वायु का तापक्रम, दबाव, आदि का नाप-जोख करने के लिए बैलून का सर्वप्रथम प्रयोग १८०५ में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक गेलुज़ाक ने किया था।

इसके बाद क़रीब ५० वर्ष तक इस दिशा में कुछ विशेष काम नहीं हुआ। हाँ, इंगलैण्ड में १८६२-६६ के बीच ग्लेशर ने बैलून में सवार होकर ऊर्ध्वाकाश की कई बार सैर की और वायुमण्डल के ऊपरी वायुस्तर के बारे में नई-नई बातें ढूँढ़ निकालीं। बादलों की ऊँचाई, उनका घनत्व, भिन्न-भिन्न वायुधाराओं की दिशा तथा उनका वेग, हवा में विद्युत् की मात्रा, हवा का दबाव और उसका तापक्रम, इन सभी बातों पर पर्याप्त प्रकाश उसने डाला। ग्लेशर के लिए निस्संदेह यह महत्वपूर्ण बात है कि ऊर्ध्वाकाश सम्बन्धी अनुसन्धानों के इस शुरू ज़माने में भी अपने को ख़तरे में डालकर वह ऊर्ध्वाकाश में ६॥ मील की ऊँचाई तक पहुँचा था। तदुपरान्त ऊर्ध्वाकाश में समय-समय पर वैज्ञानिक अनुसन्धान के निमित्त अभियान होते रहे। १९०१ में बर्लिन से दो साहसी अभियानकारी बैलून में बैठकर आकाश में ७ मील की ऊँचाई तक पहुँचे थे। इस क्षेत्र में प्रो० पिकार्ड ने विशेष ख्याति पाई है। सन् १९३३ में वह अनुसन्धान के लिये ६$\frac{3}{4}$ मील की ऊँचाई तक उड़े थे। फिर नवम्बर १९३५ में विशेष तैयारी के साथ दो अमेरिकन स्टीवेन्स और एन्डर्सन ऊर्ध्वाकाश के अभियान के लिए दुनिया के सबसे बड़े बैलून में उड़े थे। ये लोग १४ मील से भी कुछ फ़ीट ऊपर पहुँच गये थे!

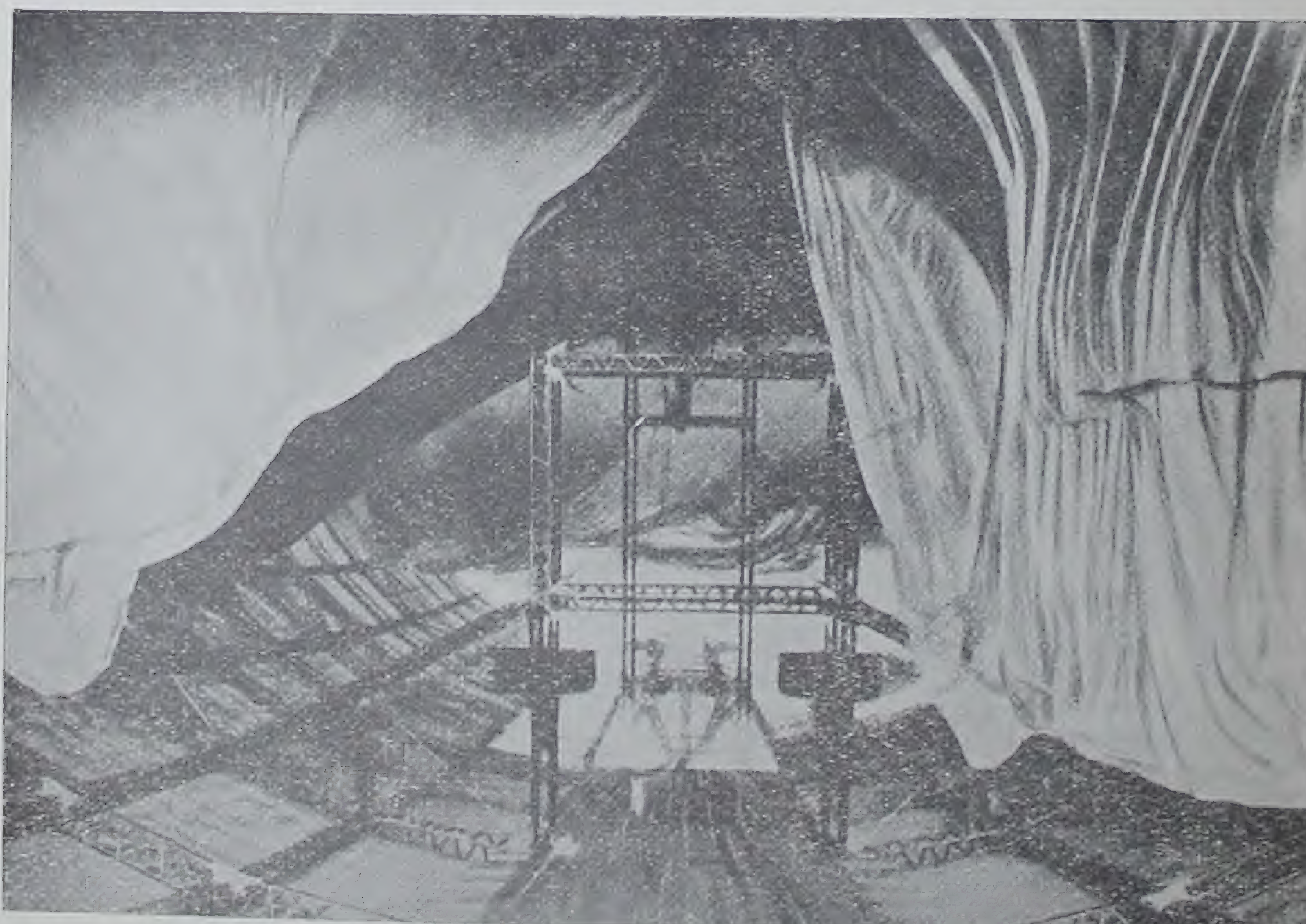


अँगरेज़ों के सबसे बड़े वायुपोत 'आर--१०१' का विशाल कंकाल

यह वायुपोत भी दुर्घटनावश जलकर नष्ट हो गया था।

हाइड्रोजनवाले बैलून के आविष्कार के बाद ही उड़ाकों ने बैलून द्वारा लम्बी यात्रायें पूरी करने की योजनाएँ बनाईं। तदनुसार इँगलिश चैनेल पार करने का प्रयत्न कई साहसी व्यक्तियों ने किया। इसी उद्योग में बेचारे रोज़ियर की जान गई। किन्तु १७८५ में ब्लैकर्ड और जेफ़्री ने एक अपने निज के डिज़ाइन के बैलून में बैठकर इँगलिश चैनेल को पहली बार पार किया। फिर तो बैलून द्वारा लम्बी यात्राएँ पूरी करने की धुन लोगों में इतनी फैली कि १८६७ में स्विट्ज़बर्ग से आन्द्रे ने अपने दो साथियों को लेकर बैलून में उत्तरी ध्रुव के लिए अभियान किया। पर यह सारी टोली वहीं मौत की भेंट हो गई। पूरे ३० वर्ष बाद बर्फ़ के ढेर के अन्दर से उनकी लाशें मिलीं! साधारण बैलून द्वारा पूरी की गई सबसे लम्बी यात्रा का रेकार्ड १०३२ मील के फ़ासले का है, जबकि सितम्बर १६३५ में वॉरसा से स्टैलिनग्रेड तक ५७ घंटे ५४ मिनट में यह यात्रा पूर्ण की गई थी।

किन्तु बैलूनवाली इन सभी यात्राओं में बैलून को निरन्तर हवा की मर्ज़ी पर निर्भर रहना होता था। हवा के झोंके जिधर चाहे उसी ओर उसे ले जाएँ। तत्कालीन सभी वैज्ञानिक इस उधेड़बुन में थे कि कौन-सी ऐसी तरकीब निकले जिसमें गुब्बारे को इच्छित दिशा में ले जाना सम्भव हो। इस उद्योग में कई एक विचित्र मशीनें बनीं। धीरे-धीरे लोगों ने इस बात को महसूस किया कि हवा की अवरोधक शक्ति कम करने के लिए यह आवश्यक है कि बैलून गेंद की तरह गोल न हो बल्कि सिगार की तरह गावदुम शक्ल का हो। क्योंकि इस शक्ल के बैलून की सतह पर से हवा आसानी से फ़िसल सकेगी। अतः एक फ्रेञ्च जनरल ने १७८४ में एक सिगार की शक्ल का बैलून बनाया और उसमें हाथ से चलानेवाले पतवार लगाये ताकि उनकी मदद से बैलून का नियमन कर सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये पतवार कार्यकर साबित न हो सके।



संसार के सबसे बड़े वायुपोत हिंडनबर्ग के ढाँचे का भीतरी दृश्य

इस विशाल ढाँचे के भीतर गैस भरने के १६ बड़े-बड़े थैले थे, जिनमें ७० लाख घन फ़ीट हाइड्रोजन भरी जाती थी। चित्र में थैले खाली दिखाई दे रहे हैं।

वास्तविक रूप में पहला नियम्य (dirigible) बैलून गिफ़ार्ड ने १८५२ में तैयार किया। सिगार के आकार का यह बैलून ११४ फ़ीट लम्बा और ३६ फ़ीट चौड़ा था। इसके संचालन के लिए एक हलके वाष्प-इंजिन का प्रयोग किया गया था। स्थिर हवा में ४ मील प्रति घण्टे की रफ़्तार से यह बैलून उड़ा था। फिर भी वाष्प-इंजिन का बोझ इतना अधिक था कि ऐसे बैलून कुछ अधिक कार्य-कर साबित न हो सके, क्योंकि ये तेज़ रफ़्तार पकड़ ही नहीं पाते थे।

हाँ, पेट्रोल-इंजिन की ईजाद ने इस क्षेत्र में लोगों को अवश्य उत्साहित किया। १८९७ में डाक्टर उल्फ़र्ड ने अपने बैलून में पेट्रोल इंजिन लगाया, किन्तु बीच आकाश में इंजिन के फट जाने से समूचे बैलून में आग लग गई और उल्फ़र्ड भी उसी आग में भुनकर ख़त्म हो गया। दूसरे साल सैन्टो ड्यूमा ने मोटर लगे हुए वायुयान तैयार किये। इस उत्साही युवक ने एक-एक करके १४ वायुपोत तैयार किये। अपने नियम्य बैलून में बैठकर १९ अक्टूबर, १९०१, को १९ मील की रफ़्तार से उसने पेरिस की एफिल टावर के कई चक्कर लगाये। ड्यूमा का वायुपोत बिना ढाँचेवाला था—वह सिगार की शक्ल का एक बड़ा-सा थैला था, जिसके अन्दर हाइड्रोजन कसकर भरी रहती थी। हाइड्रोजन के ही दबाव के कारण इसकी गावदुम शक्ल क़ायम रहती थी। हाइड्रोजन निकल जाने पर वह एकदम पिचक जाता था।

आधुनिक बिना ढाँचेवाले वायुपोत साइज़ में अपेक्षाकृत छोटे हुआ करते हैं। थोड़ी दूर तक आने-जाने के लिए ये बड़े ही उपयुक्त साबित होते हैं। पिछले योरपीय महायुद्ध में ऐसे वायुपोतों को प्रायः पनडुब्बियों का पता लगाने के लिए काम में लाया जाता था।

बिना ढाँचेवाले वायुपोत में हाइड्रोजन गैस के थैले की खोल से रेशम की मज़बूत डोरियों के सहारे एक गाड़ी लटकती रहती है। इसी गाड़ी में इंजिन लगा रहता है तथा पेट्रोल रखने और आठ-दस यात्रियों के बैठने के लिए जगह बनी रहती है। गैस के थैले में छोटे-छोटे कई ख़ाने एक दूसरे से अलग भी बने रहते हैं, जिनमें हाइड्रोजन के बजाय हवा कसी रहती है। ज्यों-ज्यों पेट्रोल ख़त्म होता जाता है, कार का बोझ भी हलका पड़ता जाता है, फलस्वरूप समूचे वायुपोत का घनत्व भी कम हो जाता है और वह आकाश में और ऊँचा उठना चाहता है। उसे एक नियत ऊँचाई पर ही रखने के लिए थैले के अन्दर से थोड़ी हाइड्रोजन बाहर निकल जाने देते हैं और इन ख़ाली ख़ानों में साधारण हवा भर देते हैं ताकि वायुपोत का घनत्व पहले जैसा हो जाय, साथ ही उसकी शक्ल भी पूर्ववत् बनी रहे।



'मूरिङ्ग मास्ट' या वायुपोत को बाँध रखनेवाला लौह स्तम्भ

इसे हम वायुपोत रूपी आकाशीय जहाज़ों का 'घाट' कह सकते हैं, क्योंकि इसी पर आकर ये जहाज़ टिकते और यात्री लोग इसी के द्वारा इन जहाज़ों पर चढ़ते-उतरते हैं। इस मूरिंग मास्ट से 'आर-१०१' बँधा दिखाया गया है।

इस तरह के वायुपोत लगभग २५० फ़ीट की लम्बाई तक बनाये जाते हैं। इस ढंग के वायुपोत अगर बड़े साइज़ के तैयार किये जायँ तो उनमें यह ख़राबी आ जाती है कि तेज़ हवा के झोंके के सामने पड़ते ही इनका गैसवाला थैला दुहर जाता है और कभी-कभी तो ये फट भी जाते हैं। इसी कारण बड़े साइज़ के वायुपोतों के लिए पहले से मज़बूत ढाँचा तैयार कर लिया जाता है ताकि उनके दुहरने या फटने का डर न रहे। कभी-कभी पूरा ढाँचा न तैयार करके केवल अर्द्ध-ढाँचे का ही प्रयोग करते हैं।

अर्द्ध-ढाँचेवाला वायुपोत बहुत-कुछ बिना ढाँचे के वायुपोत के ढंग पर बनता है। इसे मज़बूती देने के लिए इसके सिगारनुमा थैले के पेंदे में एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक एक मज़बूत गार्डर लगा देते हैं, जैसा समुद्र के जहाज़ों में अक्सर लगा हुआ होता है। फिर इसी गार्डर से इंजिन-कार वग़ैरह लटकाते हैं। किन्तु इस तरह के अर्द्ध-ढाँचेवाले वायुपोतों की संख्या बहुत कम है।

बहुत दूर का फ़ासला तय करने के लिए ऐसे वायुपोतों की ज़रूरत थी जो काफ़ी मज़बूत हों, ताकि हज़ारों मील की यात्रा की कठिनाइयों को आसानी से वे सह सकें। इसी ज़रूरत को पूरा करने के लिए ढाँचेवाले वायुपोतों का आविष्कार हुआ। इस श्रेणी के वायुपोत स्वर्गीय जर्मन काउण्ट ज़ैप्लिन के मस्तिष्क की ख़ास उपज हैं। काउण्ट ज़ैप्लिन ने ही बिना ढाँचेवाले वायुपोतों के दुहर जाने की ख़राबी को दूर करने के लिए तरकीब ढूँढ़ी। उसने अल्यूमिनियम की मज़बूत तीलियों की मदद से एक विशालकाय ढाँचा तैयार किया ताकि उसी के अन्दर हाइड्रोजन भरा हुआ थैला रखा जा सके। ढाँचे के अन्दर १५ अलग-अलग ख़ाने थे और हर ख़ाने में गैस के ढोलनुमा थैले रक्खे गये थे। गैस को अलग-अलग थैलों में रखने से यह लाभ रहता है कि यदि किसी एकाध थैले में छिद्र हो जाय तो अन्य थैलों में से गैस बाहर न निकल सके। थैलों के बीच कुछ थोड़ी-सी जगह ख़ाली भी रख छोड़ी गई थी ताकि बाहरी हवा के दबाव के घटने-बढ़ने से गैस में होनेवाले संकुचन या प्रसार के लिए काफ़ी गुंजायश बनी रहे। पूरे ढाँचे पर लिनन की एक पतली किन्तु मज़बूत चद्दर चढ़ाई गई थी, ताकि हवा के झोंकों का झटका सीधे गैस के थैलों पर न लगे। ढाँचे से लटकती हुई दो गाड़ियाँ भी इस वायुपोत में थीं। प्रत्येक गाड़ी में १६ अश्वबल का पेट्रोल इंजिन लगा हुआ था। इस विशालकाय ढाँचे की पूँछ पर पतवार लगा हुआ था, जिसका सम्बन्ध इंजिन से था। इस तरह का ढाँचायुक्त सर्वप्रथम वायुपोत जून १९०० में १८ मील प्रति घण्टे की रफ़्तार से उड़ा। ढाँचे-युक्त वायुपोतों की शक्ल उसमें भरी हुई गैस के दबाव पर बिल्कुल ही निर्भर नहीं रहती। अपने आविष्कारक के नाम पर ऐसे नियम्य वायुपोतों का नाम ही ज़ैप्लिन पड़ गया। जर्मन महायुद्ध में शुरू-शुरू में जर्मन ज़ैप्लिन वायुपोतों ने लन्दन में बमवर्षा करके जनता में भीषण आतंक उत्पन्न कर दिया था। फिर तो कुछ ही दिनों उपरान्त जर्मनी के अतिरिक्त इँगलैण्ड और अमेरिका में भी ज़ैप्लिन के निर्माण का काम ज़ोरों से शुरू हो गया। लोगों ने उसके डिज़ाइन में तरह-तरह के सुधार भी किये। यहाँ तक कि आधुनिक ज़ैप्लिन वायुपोतों में १६ हज़ार से ज़्यादा भिन्न-भिन्न पुर्ज़े अब फ़िट किये जाते हैं। ढाँचे के गार्डर और शहतीरों की कुल लम्बाई क़रीब ७० मील तक पहुँचती है और उनको बाँधनेवाले तार की कुल लम्बाई ५३ मील से भी ऊपर उतरती है। गाड़ियाँ इस ढाँचे से चन्द फ़ीट नीचे को लटकती हैं। प्रायः चार गाड़ियाँ आजकल के ज़ैप्लिनों में लगी हुई होती हैं।

सबसे आगेवाली गाड़ी का आकार काफ़ी बड़ा होता है और इसमें वायरलेस यंत्र, कन्ट्रोल केबिन और एक इंजिन रहता है। कन्ट्रोल केबिन में दिशासूचक तथा ऊँचाई नापने के यंत्र लगे रहते हैं। कप्तान यहीं से ज़ैप्लिन का संचालन करता है। टेलीफ़ोन द्वारा एक गाड़ी के व्यक्ति दूसरी गाड़ी के व्यक्तियों से बात कर सकते हैं। शेष तीन गाड़ियों में भी इंजिन लगे होते हैं। इन इंजिनों की कुल शक्ति १२०० से लेकर ४००० अश्वबल तक पहुँचती है। मुख्य ढाँचे के दोनों सिरों पर पतवार और ऊँचाई नियामक यंत्र लगे रहते हैं। इन्हीं की मदद से कप्तान वायुपोत को इच्छित ऊँचाई पर और जिस दिशा में चाहे ऊपर ले जा सकता है।

पेट्रोल और पानी की टङ्कियाँ ढाँचे के अन्दर पेंदे में रक्खी होती हैं, ताकि इनका बोझ वायुपोत का समतुलन क़ायम रख सके। ढाँचे के अन्दर ही एक सँकरी गली-सी बनी रहती है। इसी गली से होकर आप एक गाड़ी में से दूसरी गाड़ी में जा सकते हैं। लम्बी यात्रा में यात्री लोग इसी गली में टहलकर व्यायाम भी कर सकते हैं। यात्रियों के सोने का इन्तज़ाम भी इसी ढाँचे के अन्दर होता है। रात के समय जब नींद मालूम होने लगी, तो अपनी गाड़ी से चढ़कर ऊपर ढाँचे के अन्दर चले गये और लटकते हुए पालने में आराम के साथ लेट गये। बिना ढाँचेवाले वायुपोतों में इन सब आराम के साधनों के लिए कहाँ गुंजाइश हो सकती थी?

महायुद्ध के बाद सवारी ढोने और सेना-सम्बन्धी काम, दोनों के लिए इंगलैंड, अमेरिका आदि में ज़ैप्लिनों का निर्माण तेज़ी के साथ होने लगा। आकाशपथ से हज़ारों मील की लम्बी यात्रा रास्ते में बिना कहीं रुके हुए पूरी करने के लिए ज़ैप्लिन सबसे ज़्यादा उपयुक्त साबित हुए। ब्रिटिश वायुपोत 'आर-३४' को सबसे पहले अटलाण्टिक महासागर पार करने का श्रेय प्राप्त हुआ। और १९३४ में तो जर्मन वायुपोत ग्रेफ़ ज़ैप्लिन ने सारी दुनिया की प्रदक्षिणा लगा ली। ब्रिटिश वायुपोत 'आर-१०१' ने भी लम्बी उड़ान में बड़ा नाम कमाया था। किन्तु १९३० में फ्रान्स की एक पहाड़ी से टकराकर यह जल उठा और ४८ प्राणी इस दुर्घटना में नष्ट हुए।

निस्सन्देह ज़ैप्लिन-निर्माण में जर्मनी का स्थान अब तक सर्वोपरि रहा है। जर्मनी का सबसे पिछला वायुपोत

‘हिन्डनबर्ग’ था। इसमें ७० लाख घन फ़ीट हाइड्रोजन भरी हुई थी। अब तक तैयार हुए तमाम वायुयान इसके आकार के सामने बौने-से जँचते थे। ८१३ फ़ीट लम्बा और १३५ फ़ीट चौड़ा इसका ढाँचा था। इसके ढाँचे की खोल के ऊपर अल्यूमिनियम पाउडर की सफ़ेद पालिश की हुई थी, ताकि सूर्य की तप्त किरणें वायुपोत को विशेष गर्म न कर सकें। इसके इंजिनों की कुल शक्ति ४००० अश्वबल के बराबर थी। इसके इंजिन में पेट्रोल नहीं इस्तेमाल होता था, बल्कि उसकी जगह क्रूड तेल का प्रयोग करते थे। इस तरह इसके परिचालन में कम ख़र्च बैठता था। साथ ही अनुमान यह भी था कि यदि कोई दुर्घटना हुई तो क्रूड तेल पेट्रोल की तरह फ़ौरन् विस्फोट न कर बैठेगा। किन्तु नियति की कुदृष्टि देखिए—१९३७ में यह आकाशपथ की रेल भी दुर्घटना के चक्कर में पड़कर ख़ाक हो गई!



प्रो० पिकार्ड का आकाश-अभियान

यह गुब्बारे के नीचे बँधा हुआ गंडोला है जिसमें प्रो० पिकार्ड और उनके साथी बैठे थे। चित्र में बाज़ू काटकर भीतर का भाग दिखाया गया है।

एक बार की उड़ान में बीच में कहीं पर इंजिन के लिए ईंधन लिए बिना यह वायुपोत ८००० मील का रास्ता आसानी के साथ ८० मील प्रति घंटे की रफ़्तार से तय कर सकता था। कप्तान, ड्राइवर वग़ैरह को मिलाकर कुल ६० व्यक्तियों के लिए इस वायुपोत में जगह थी। स्नानगृह, वाचनालय, भोजनगृह और शयनागार तथा ५० फ़ीट लम्बी डेक—सभी आवश्यक चीज़ों का इस वायुपोत पर समावेश किया गया था।

इसके प्रतिकूल ग्रैफ़ ज़ैप्लिन नामक वायुपोत, जो १९२८ में जर्मन जनता के चन्दे से तैयार हुआ था, बराबर १९३७ तक बिना एक भी दुर्घटना के अटलाण्टिक महासागर के एक छोर से दूसरे छोर तक सवारी ढोता रहा। किन्तु हिन्डनबर्ग की दुर्घटना के कारण अधिकारीगण ‘ग्रैफ़ ज़ैप्लिन’ की ओर से भी सशंकित हो गये और उन्होंने उसे छुट्टी दे दी। ग्रैफ़ ज़ैप्लिन का विशालकाय ढाँचा अब ज़ैप्लिन वायुपोतों का संग्रहालय बना दिया गया है।

वायुपोत-सम्बन्धी लगभग ९० प्रतिशत दुर्घटनाएँ गैस बैग की हाइड्रोजन में आग लगने के कारण हुई हैं। अतः ऐसी गैस की तलाश थी जो हलकी भी हो, साथ ही आग पकड़नेवाली न हो। ऐसी एक गैस ‘हीलियम’ ही है। इसकी उड़ानशक्ति भी हाइड्रोजन से कुछ ही कम है। किन्तु ज़ैप्लिन के लिए इतनी महँगी गैस को इस्तेमाल करना सम्भव न था। १९०० में जब काउण्ट ज़ैप्लिन ने अपना सर्वप्रथम नियम्य वायुपोत तैयार किया था तब हीलियम विज्ञानशालाओं की एक नायाब चीज़ समझी जाती थी। उन दिनों इसका मूल्य प्रति घन फ़ुट २००० पौण्ड था। किन्तु इस बीच में अमेरिका में खनिज तेल के कुओं से हीलियम गैस सस्ते में तैयार की जाने लगी। यहाँ तक कि अब प्रति घन फ़ुट दो पैसे के हिसाब से हीलियम गैस ख़रीदी जा सकती है।

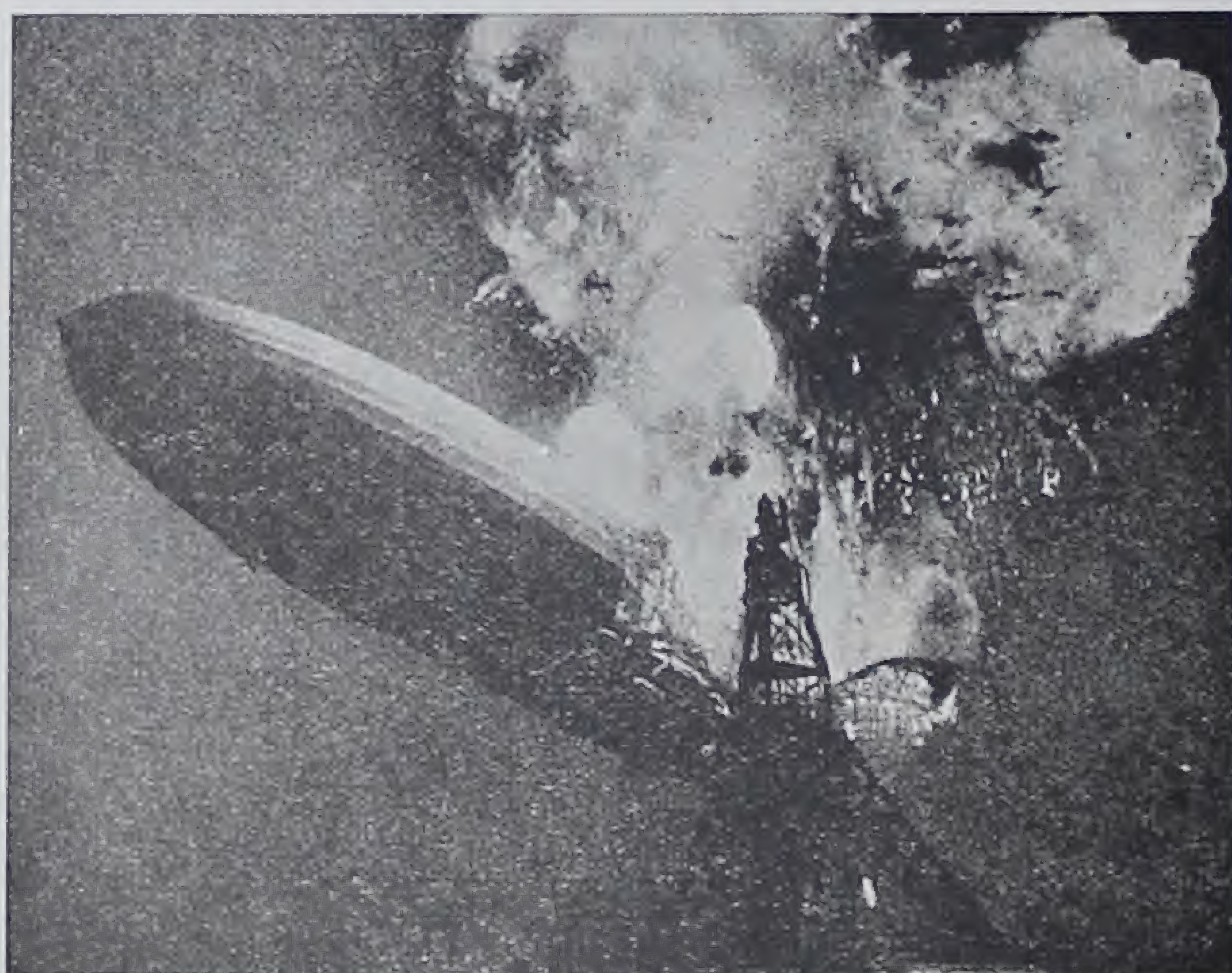
अतः अब आग की दुर्घटनाओं से बचने के लिए अमेरिका के कई ज़ैप्लिनों में हीलियम गैस का इस्तेमाल होने लगा है। ज़ैप्लिनों में हीलियम गैस इस्तेमाल करने पर वायुपोत के बोझ उठाने की शक्ति कम हो जाती है, और व्यावसायिक दृष्टिकोण से इस कमी के प्रति उदासीन नहीं रहा जा सकता; क्योंकि सवारी और माल इन्हीं दोनों पर ज़ैप्लिन संचालन का मुनाफ़ा निर्भर है। हीलियम गैस भरने पर ये ज़ैप्लिन पहले की अपेक्षा कम माल-असबाब ढो सकेंगे।

किन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हीलियम का इस्तेमाल करने पर भी हम ज़ैप्लिनों को दुर्घटनाओं से सुरक्षित न बना सके। १९३५ में अमेरिका का सबसे बड़ा वायुपोत ‘एक्रॉन’—जिसमें हीलियम भरी थी और जो दुर्घटनाओं से परे समझा जाता था—आँधी और विद्युत् तूफ़ान के झोंके के चक्कर में आकर समुद्र में गिरकर डूब गया और ७४ प्राणी तुरन्त जलमग्न हो गये। केवल तीन अपनी जान बचा पाये।

फिर भी आग से बचने के लिए हीलियम का प्रयोग यथासम्भव हर ज़ैप्लिन में किया जा रहा है और ज़ैप्लिन के ढाँचे का बोझ कम करने के लिए भारी भरकम गार्डर

की जगह ख़ास ढंग पर तैयार की हुई धातु की चद्दरें भी काम में लाई जा रही हैं।

हाइड्रोजनवाले ज़ैप्लिन में इंजिन का ईंधन ज्यों-ज्यों ख़र्च होता है, ज़ैप्लिन हल्का होकर त्यों-त्यों ऊपर चढ़ना चाहता है। उसे ऐसा करने से रोकने के लिए हाइड्रोजन के एकाध थैले को खोल देते हैं, जिससे हाइड्रोजन बाहर निकल जाती है और वायुपोत का घनत्व पहले जैसा बना रहता है तथा ज़ैप्लिन भी उसी पहले की ऊँचाई पर उड़ता रहता है। किन्तु हीलियम-जैसी महँगी गैस को इस तरह नष्ट नहीं कर सकते। अतः हीलियमवाले ज़ैप्लिनों का घनत्व एक-सा बनाये रखने के लिए एक दूसरा ही उपाय काम में लाते हैं। इंजिन से निकलनेवाली भाप को ठण्डी करके पानी बना लेते हैं और उसे इकट्ठा करते जाते हैं। इस तरह पेट्रोल के वज़न की कमी पूरी हो जाती है और ज़ैप्लिन अनायास ही ऊपर चढ़ने नहीं पाता।



हाइड्रोजन से भरे वायुपोतों के लिए सबसे बड़ा ख़तरा उनमें आग लग जाना है जिससे 'हिंडनबर्ग' जैसे वायुपोत भी न बच सके! इसीसे बचाव के लिए वायुपोतों में अब अप्रज्वलनशील 'हीलियम' गैस का प्रयोग होने लगा है।

हीलियमवाले ज़ैप्लिनों के ढाँचे के अन्दर ही इंजिन और मुसाफ़िरों के बैठने की गाड़ी भी रखी जा सकती है, क्योंकि अब उसमें आग लगने का ख़तरा नहीं। ऐसा करने से निस्सन्देह हवा की अवरोधक शक्ति बहुत कम पड़ जायगी और तब ज़ैप्लिन की रफ़्तार में भी काफ़ी वृद्धि की जा सकेगी।

ज़ैप्लिन वायुपोत ज़मीन पर नहीं उतरा करते। लोहे के विशालकाय स्तम्भ, जिन्हें 'मूरिंग मास्ट' कहते हैं, इन वायुपोतों के लंगर का काम देते हैं। हवा में उड़ता हुआ ज़ैप्लिन जब मूरिंग मास्ट के ऊपर पहुँचता है, तो ज़ैप्लिन से लटकता हुआ एक मज़बूत तार मूरिंग मास्ट की एक घूमती हुई पुली से लिपट जाता है। तेज़ी के साथ घूमती हुई पुली वायुपोत को अपनी तरफ़ खींच लेती है और अन्त में वायुपोत के अगले सिरे में लगी हुई एक कँटिया मूरिंग मास्ट के आँकड़े में फँस जाती है। अब यात्रीगण ज़ैप्लिन से बाहर निकलकर इस मूरिंग मास्ट पर आते हैं और विद्युत् लिफ़्ट से नीचे उतर आते हैं। ये मूरिंग मास्ट बड़े मज़बूत होते हैं। तेज़-से-तेज़ आँधी भी मूरिंग मास्ट से ज़ैप्लिन को अलग नहीं कर सकती। हाँ, हवा की दिशा के साथ ज़ैप्लिन का रुख़ भी बदलता रहता है। कुछ थोड़े-से ड्राइवर और मिस्त्री इस वक़्त भी वायुपोत का समतुलन क़ायम रखने के लिए ड्यूटी पर रहते हैं।

ज़ैप्लिनों के सम्बन्ध में एक भारी ख़र्च का मद है उनके रखने के लिए घर का निर्माण। ये घर या शेड प्रायः २०० फ़ीट ऊँचे होते हैं और इनके फ़र्श का क्षेत्रफल कभी-कभी तो आठ-दस एकड़ तक पहुँच जाता है।

हवा से हलके इन वायुपोतों में पंख लगे हुए साधारण वायुयानों की अपेक्षा अनेक विशेषताएँ होती हैं। काफ़ी धीमी रफ़्तार पर ये अपने मूरिंग मास्ट पर उतर सकते हैं और ऐसी जगह में भी जहाँ किसी भी वायुयान के लिए उतरना सम्भव नहीं। फिर वायुपोत इंजिन के बन्द हो जाने पर भी आकाश में भ्रमण कर सकते हैं; क्योंकि ये हवा से हलके होते हैं। इंजिन का काम केवल इन्हें किसी नियत दिशा में ले जाना होता है। लेकिन वायुयान में जहाँ पेट्रोल चुका कि वह बेतहाशा नीचे को गिरा! वायुपोत इस ख़तरे से बरी हैं। किन्तु जहाँ तेज़ रफ़्तार का प्रश्न आता है, वहाँ वायुयान के आगे वायुपोत को कोई पूछता भी नहीं। इसीलिए सैनिक दृष्टि से वायुयानों को विशेष महत्त्व प्राप्त है।



प्राक्-यूनानी कला

पिछली शताब्दी के अंतिम वर्षों तक योरपीय कला के इतिहास का प्रारंभ यूनानी कला से करने की प्रथा जारी थी, पर क्रमशः अब यह स्पष्ट हो चुका है कि सबसे पहले होना तो दूर रहा, वास्तव में, ग्रीक लोग इस क्षेत्र में सबसे बाद में आए, और एथेन्सवालों ने एक्रॉपॉलिस की नींव डाली उससे हज़ारों वर्ष पहले ही ईजियन समुद्र व्यापार, कला और एक बहुत ही उच्च श्रेणी की सभ्यता का केन्द्र बन चुका था।

मिस्र और असीरिया की पुरातत्त्व-संबंधी खोजों के साथ जैसे शेम्पोलियों और बोत्ता के नाम घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, वैसे ही यूनानी या प्राक्-यूनानी सभ्यताओं के अनुसंधान के क्षेत्र में हम हाइनरिख शलीमान के सदैव ऋणी रहेंगे। हाइनरिख शलीमान की जीवन-कहानी ऐसी रोमांचक है कि यदि उसका संक्षेप में यहाँ उल्लेख कर दिया जाय तो अनुपयुक्त न होगा। उत्तर के एक निर्धन पादरी का यह लड़का बचपन में मंत्रमुग्ध होकर ट्रोज़न युद्ध की कथाएँ सुना करता। तभी से उसने यह ठान ली थी कि किसी दिन जाकर प्राचीन ट्रॉय के मूलस्थान की खोज करूँगा। किन्तु वह जानता था कि ऐसे साहसपूर्ण कार्य के लिए बहुत बड़ी धनराशि की ज़रूरत होगी। इसलिए सबसे पहले उसने अपने आपको धनवान् बनाने की ओर क़दम उठाया।

अभी वह निरा बच्चा ही था कि काम सीखने के लिए उसने नोन-तेल बेचनेवाले एक बनिए की दूकान में नौकरी कर ली। पर जल्दी ही इस काम को तिलांजलि देकर वह दक्षिणी अमेरिका को जानेवाले एक जहाज़ में यात्रियों के टहलुए की जगह भर्त्ती हो गया। दुर्घटनावश जहाज़ अपने लक्ष्य-स्थान को पहुँचने के पहले ही डूब गया और बेचारे शलीमान को पुनः रॉटरडम की एक डच कंपनी में मुनीमगिरी का काम करने को विवश होना पड़ा। यहाँ वह सायंकाल का समय भाषाओं के अध्ययन में बिताया करता और इस तरह आठ भाषाओं पर उसने आधिपत्य जमा लिया। रूसी भाषा में दक्ष होने के कारण शीघ्र ही वह सेंट पीटरबर्ग भेज दिया गया, जहाँ उसने बाहरी देशों से नील ख़रीदने के लिए दूकान खोल ली। सन् १८५४ में क्रीमियन युद्ध क्या छिड़ा, मानो शलीमान के भाग्य जग उठे। उसने फ़ौज की ठेकेदारी में अनाप-शनाप धन कमाया। पर अब भी उसे अपनी इस गहरी कमाई से संतोष न था। इसीलिए जिन दिनों कैलीफ़ोर्निया में सोने की नई खदानों की खोज की धूम मची हुई थी, वह वहाँ चला गया और बाक़ायदा अमेरिका का नागरिक बन गया।



क्नोसोस में 'माइनोस' के राजप्रासाद की खुदाई में प्राप्त मिट्टी के बर्त्तन

१८६८ में, जब उसे इस बात से संतोष हो गया कि चिरकाल से मन में समाई हुई पुरातत्त्वानुसंधान संबंधी अपनी धुन में हाथ लगाने के लिए अब काफ़ी धन जमा हो चुका है, तब तुर्की अफ़सरों को गहरी रिश्वत देकर उसने हेलीज़पान्ट (डार्डनेल्स जल-डमरूमध्य) के एशियाई तट पर स्थित हिस्सार्लिक नामक स्थान में खुदाई शुरू कर दी। शलीमान की तक़दीर अच्छी थी कि हिस्सार्लिक पर ही उसका ध्यान गया। क्योंकि शीघ्र ही मालूम हुआ कि यह स्थान पुराने ज़माने में दुनिया के अति महत्त्वपूर्ण

व्यापारिक केन्द्रों में से एक था। परन्तु श्लीमान किसी तरह भी यह बात मानने को तैयार न था कि यह जगह प्राचीन ट्रॉय नगर का मूलस्थान न थी, और अपने अदम्य उत्साह के जोश में उसने अपने मार्ग में पड़नेवाले प्राचीन ट्रॉय के वास्तविक ध्वंसावशेषों को ही नहीं खोद फेंका, बल्कि उससे भी अधिक प्राचीन कई गाँवों को भी खोद डाला। इसी समय एकाएक उसके और तुर्की अफ़सरों के बीच झगड़ा उठ खड़ा हुआ, और फलस्वरूप तुर्की सरकार के हुक्म से हिस्सार्लिक की खुदाई का काम इससे आगे बिल्कुल रोक दिया गया।

श्लीमान ने अब ख़ास ग्रीस के ही प्रधान भू-भाग की ओर अपना ध्यान लगाया, और आर्गोलिस के मध्य-भाग में स्थित माइकीनी नामक प्राचीन नगर की खुदाई शुरू कर दी। इस नगर की विलक्षणता थी उसके दुर्ग में लगे हुए भारी-भरकम पत्थरों की अपूर्व लंबाई-चौड़ाई तथा उसी दुर्ग के प्रवेश-द्वार के सिरे पर स्थापित पाषाण की कई भीमकाय सिंह-मूर्त्तियाँ। पहले के पुरातत्त्वविदों में से किसी ने इस स्थान को छुआ तक न था; श्लीमान ही सर्वप्रथम-व्यक्ति था जिसने इसके छिपे हुए रहस्यों का उद्घाटन किया। उसने सिंह-द्वार के समीप ही खुदाई शुरू की और शीघ्र ही एक बहुत ही निराली बात प्रकाश में आई। यह थी कई ऐसे ताबूतों की पंक्तियाँ जिनमें मुर्दे लिटाये हुए नहीं बल्कि खड़े-खड़े ही दफ़नाये गए थे! ये क़ब्रें गोलाई में पंक्तिवार रची हुई थीं और खुदाई के समय वे भीतर रक्खे गये सोने-चाँदी के ज़ेवरों के साथ ज्यों-की-त्यों बंद और अछूती पाई गई थीं।

१८८५ में, एक बार और ट्रॉय का चक्कर लगा लेने के बाद, श्लीमान ने पेलोपोनेसस नामक प्रदेश में स्थित एक और अति प्राचीन नगर, टिरिन्स, को अपने अनुसंधान का लक्ष्य बनाया। टिरिन्स में श्लीमान ने एक संपूर्ण राजप्रासाद को खोद निकाला, जिसमें भी कुछ ऐसे चिह्न मौजूद थे जिनसे ग्रीस के होमर के पूर्व के युग का कुछ आभास मिलता था।



क्रीट में प्राप्त (१६०० ईस्वी पूर्व का) 'माइनोअन युग' का रंगीन चित्रकारीवाला एक पात्र
(फ़ोटो—'ब्रिटिश स्कूल ऑफ़ आरकियालाजी'।)

तदनन्तर उसने अपना ध्यान क्रीट द्वीप की ओर लगाया, जो ग्रीस के प्रधान भू-भाग से कहीं अधिक पहले आबाद हुआ माना जाता था।

बावजूद इसके कि श्लीमान के अनुसंधानों में कई भारी भूलें और ग़लतियाँ थीं, यह मानना ही पड़ेगा कि उसने यूनानी इतिहास के तिथिक्रम को पूरे सात सौ वर्ष पीछे धकेल दिया—ठीक उसी तरह जिस तरह कि स्वर्गीय राखालदास बेनर्जी द्वारा सिंध में मोहन-जो-दड़ो की खोज ने आरंभिक भारतीय इतिहास के तिथिक्रम को लगभग एक या दो हज़ार वर्ष पीछे तक पहुँचा दिया है।

पिछली शताब्दी के अंतिम वर्षों तक योरपीय कला के इतिहास का प्रारंभ यूनानी कला से करने की प्रथा जारी थी, पर क्रमशः अब यह स्पष्ट हो चुका है कि सबसे पहले तो दूर रहा, वास्तव में, ग्रीक लोग इस क्षेत्र में सबसे बाद में आए, और एथेन्सवालों ने एक्रॉपॉलिस की नींव डाली। उसके हज़ारों वर्ष पहले ही ईजियन समुद्र व्यापार, कला और एक बहुत ही उच्च श्रेणी की सभ्यता का केन्द्र था।

प्राचीन क्रीट के तथाकथित 'माइनोअन युग' के चित्रों के जो अवशेष हमें मिले हैं, वे इस बात के द्योतक हैं कि इस छोटे से टापू के ४००० वर्ष पूर्व के कलाकारों को सजावट के लिए काम में लाये जानेवाले कलात्मक आकारों—विशेषकर जानवरों के चित्रों—की बारीकियों में विलक्षण सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त थी। इनके द्वारा अंकित जान-



क्नोसोस से प्राप्त ईजियन कला का एक नमूना

बैल के शीश की आकृति का यह जलपात्र संभवत: पूजा के लिए काम में लाया जाता रहा होगा। यह लगभग ३३०० वर्ष पुराना है, और क्नोसोस की खुदाई करते समय सर आर्थर इवान्स को मिला था। [फ़ोटो—'सोसाइटी आफ़ एण्टीक्वेरीज़']



क्नोसोस में खुदाई करने पर निकले 'माइनोस' के महल का एक भाग

सामने रक्खे हुए भीमकाय मिट्टी के बर्त्तन संभवतः मूल्यवान् पदार्थों को रखने के लिए काम आते थे। [फ़ोटो—'डेस साइक्लेड्स एन क्रीट' से।]

वरों के ये चित्र बहुत ही सजीव और ओजपूर्ण हैं और उनमें वैसे ही सूक्ष्म प्रकृति-अध्ययन की झलक हमें मिलती है जैसा कि हम अल्टामीरा गुफा के कलाकारों में (जिनके बारे में आप 'विश्व-भारती' के दूसरे अंक में पढ़ चुके हैं) पाते हैं। क्रीट के ये कलाकार क्या स्पेन की गुफाओं के प्रागैतिहासिक कलाकारों के ही वंशज थे ; क्या कला का रूप और शैली हज़ारों वर्ष (इस संबंध में लगभग १०००० वर्ष) तक बचे रह सकते हैं ; क्या स्पेन के वे कंदरा-निवासी कलाविद् जलवायु-संबंधी परिवर्त्तनों द्वारा खदेड़े जाकर क्रमशः अधिक समशीतोष्ण जलवायु के स्थानों में आ बसे थे और ईजियन समुद्र के इन द्वीपों में उन्होंने अपने लिए नया घर पा लिया था—ये प्रश्न केवल कल्पना की उड़ान के विषय हैं, कोई निश्चित बात इस संबंध में नहीं कही जा सकती।

माइकीनी और टिरिन्स की रहस्यपूर्ण भीमकाय दीवारें अब उतनी प्राचीन नहीं मानी जातीं जैसे कि पहले कल्पित की जाती थीं और अब यह ख़याल किया जाता है कि इन दीवारों और योरप के अटलांटिक तट के प्रागैतिहासिक पाषाणगृहों (Dolmens) तथा भौंडी स्मारक मूर्त्तियों (Menhirs) एवं इंगलैंड की सुप्रसिद्ध "स्टोनहेंज" में स्पष्ट जातीय संबंध है। मानव सभ्यता के इस अंश का इतिहास अस्पष्ट और धुँधला-सा है, अतएव हर कोशिश के बावजूद भी इन दोनों में हम संबंध स्थापित नहीं कर पाये हैं। 'साइप्रस' का अर्थ होता है 'ताम्रद्वीप', किन्तु इसका हमें कोई पता नहीं कि इस द्वीप ही से तत्कालीन प्रागैतिहासिक जगत् को ताँबा मिला करता था। हम यह भी नहीं जानते कि उन शताब्दियों के बीच जब क्नोसोस प्राचीन जगत् की सभ्यता का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था (मोटे तौर पर लगभग २५०० से १५०० ई० पूर्व तक), तब क्रीट और प्राचीन मिस्र के किस तरह के संबंध थे। न हमें यह ही पता है कि वे क्रूर आक्रमणकारी कौन थे, जिन्होंने मानो एक ही रात में इस सुसमृद्ध साम्राज्य को इतने पूरे तौर से तहस-नहस कर दिया कि आगे के ५०० वर्षों तक वहाँ के मूल निवासियों का निशान तक हमें नहीं मिलता।

आधुनिक ऐतिहासिक अनुसंधान को अभी इन समस्याओं को हल करने में सफलता नहीं मिल पाई है, यद्यपि आज दिन हम बर्बर एवं क्रूर असीरिया अथवा पुरोहितशाही के उपासक रहस्यमय प्राचीन मिस्र की अपेक्षा ईजियन सभ्यता के साथ एक अधिक समान आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक नातेदारी का अनुभव करते हैं। मिस्र और असीरिया के प्रासादों की आडम्बरयुक्त भव्यता और विशालता के बावजूद भी उनमें स्वच्छता के साधन तथा हवा और रोशनी के आने-जाने की व्यवस्था का बिल्कुल अभाव-सा है, जबकि ईजियन इमारतों और महलों में, स्वयं हमारे देश में पाई गई मोहन-जो-दड़ो की इमारतों की तरह, प्रकाश के आने-जाने तथा पानी बाहर निकालने की बड़ी सुंदर व्यवस्था होती थी। वहाँ के कई सार्वजनिक भवनों में पानी बाहर निकालने की नालियाँ, बहते हुए पानी को यहाँ-से-वहाँ पहुँचाने की व्यवस्था तथा गर्म करने के लिए यंत्र होते थे। पुरातत्त्ववेत्ताओं को वहाँ ऐसी व्यवस्थाओं का भी पता लगा है जिनके द्वारा लोग यंत्र द्वारा खींचकर एक मंज़िल से दूसरी मंज़िल को पहुँचा दिए जाते थे—यह एक तरह का आदिम 'लिफ़्ट' था, जो वृद्ध और कमज़ोर व्यक्तियों के लिए लाभप्रद था। इसके अतिरिक्त हमें वहाँ रहने के कमरों के साथ जुड़े हुए स्नानागारों और शौच्यगृहों, विभिन्न कमरों के बीच घुमावदार दरवाज़ों, तथा ख़ानगी कमरों का भी पता मिलता है, जिनमें राजकीय मंत्री या सेक्रेटरी लोग अन्य नौकरों-चाकरों की भगदड़ से निर्विघ्न होकर काम करते रहते थे।

सवारी और दौड़ दोनों के लिए उपयुक्त उत्तरकालीन रोमन लोगों जैसे पहिएदार वाहन भी यहाँ मिले हैं। हमारी तरह ये लोग भी हर तरह के खेल-कूद, नृत्य, घूँसेबाज़ी, कुश्ती और साँड़ों की लड़ाई के बेहद प्रेमी थे।

वर्त्तमान शताब्दी के आरंभ-काल के लगभग सर आर्थर इवान्स ने क्नोसोस के खंडहरों की खुदाई शुरू की और कई प्राचीन स्मारकों को खोद निकाला तथा उनका सही-सही अर्थ भी लगाया, जिससे ईजियन सभ्यता के विकास के धारा-प्रवाह को किसी हद तक सही तौर से समझ पाना अब संभव हो गया है।

सबसे पहले, हम बहुत शिथिल विकास का एक युग पाते हैं, जो लगभग एक हज़ार वर्ष तक (३००० से २००० ई० पू० तक) रहा और जिस बीच सभ्यता एक द्वीप से दूसरे द्वीप को फैलती गई।

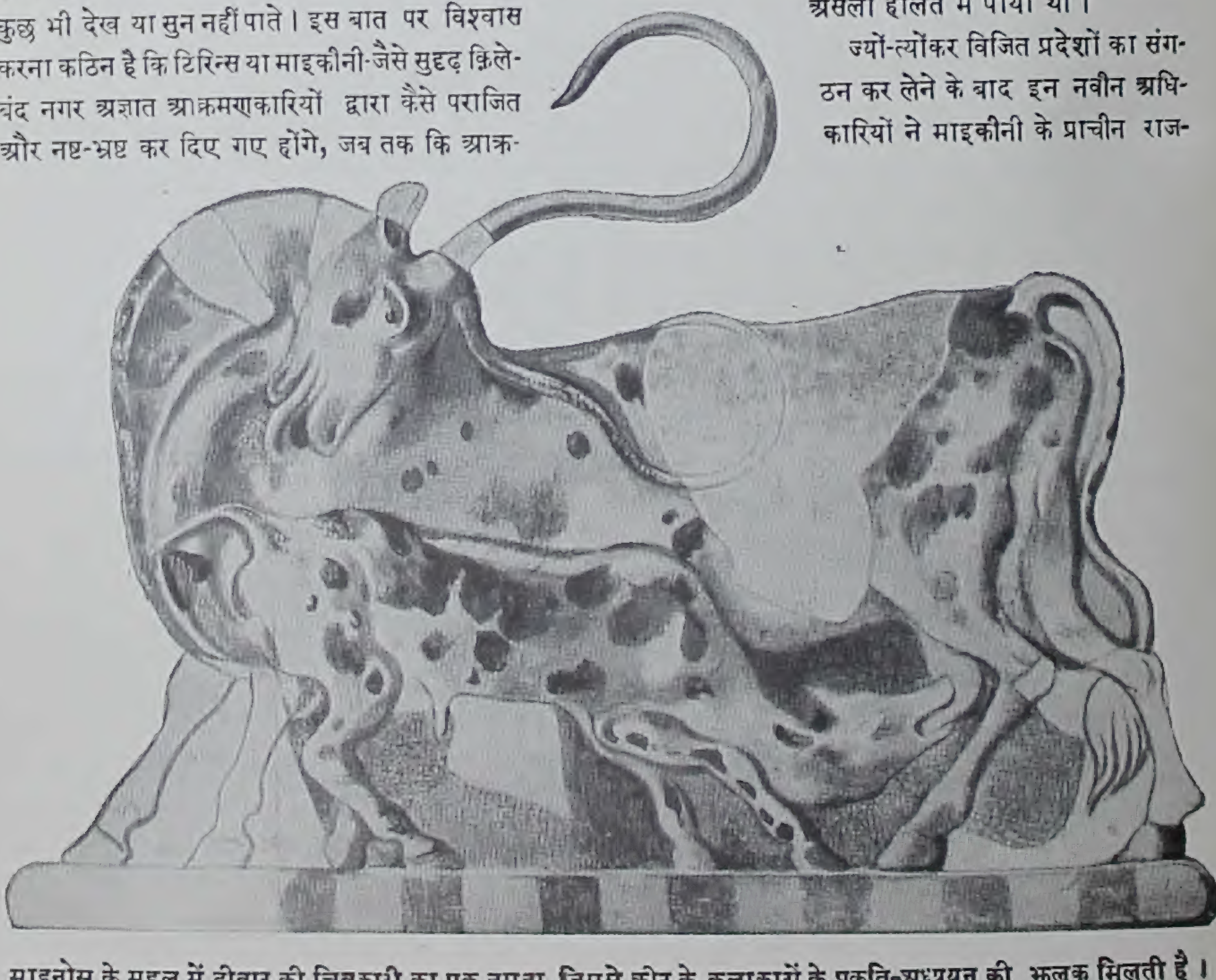
इसके बाद आया माइनोअन युग (२००० से १५०० ई० पू० तक), जिसमें क्रीट इस सभ्यता का केन्द्र था और क्नोसोस उस द्वीप-साम्राज्य का प्रधान आधारबिंदु।

अन्त में माइकीनियन युग (१५०० से १०६० ई० पू०) का आविर्भाव हुआ, जिसमें ईजियन सभ्यता यूनानी द्वीपों से स्वयं यूनान के ही प्रायद्वीप में फैल गई। ईजि-

यन समुद्र के द्वीपों से जो उपनिवेशक यूनान में आये थे वे मूल द्वीपवासियों से कहीं अधिक दृढ़ साबित हुए। क्रमशः माइकीनी-जैसे नगर, जिनका जन्म क्रीटवालों की मामूली व्यापारिक बस्तियों के रूप में हुआ था, मातृ-प्रदेश (क्रीट) से स्वतंत्र हो गए और अंत में स्वयं क्रीट को ही उन्होंने अपना एक उपनिवेश बना लिया।

शांति और समृद्धि के इस युग में यूनान के प्रधान भू-भाग में कला खूब फली-फूली। उसने मिट्टी के बर्त्तन बनाने की कला, धातु का काम, सोने-चाँदी के आभूषण बनाने की कला आदि विविध रूप ग्रहण कर लिये, और उस समय से क्रमशः फ़ीनिशिया से स्पेन और मिस्र से इटली तक भूमध्यसागर के सभी तटवर्त्ती भू-भागों में उसका विस्तार होता गया। इसके बाद एक रहस्यमय अंधकार-युग हमारे सामने आता है, जिसके ऊपर से अंधकार के बादल हटकर पुनः प्रकाश दिखाई देता है तब तक क्रीट-वालों और माइकीनीवालों दोनों के तारतम्य को हम खो बैठते हैं और लगभग ५०० वर्ष तक उनके बारे में हम कुछ भी देख या सुन नहीं पाते। इस बात पर विश्वास करना कठिन है कि टिरिन्स या माइकीनी-जैसे सुदृढ़ क़िले-बंद नगर अज्ञात आक्रमणकारियों द्वारा कैसे पराजित और नष्ट-भ्रष्ट कर दिए गए होंगे, जब तक कि आक्रमणकारियों के पास इनसे अधिक ऊँचे दर्जे के हथियार, जन-शक्ति और संगठन न रहे होंगे। ये आक्रमणकारी वास्तव में कौन थे इसका हमें तनिक भी पता नहीं है। यह अनुमान किया जाता है कि ये लोग आरंभ में उत्तर से—डैन्यूब नदी की घाटी से—आये थे और लोहे के भाले और तलवार बनाने में बड़े पटु थे। परंतु होमर की रचनाओं में ऐसे कोई भी लोगों का उल्लेख नहीं है। उसके अनुसार यूनान के आदिम निवासी 'एकियन' कहलाते थे और वे योरप के उत्तर में संभवतः (आज के कॉसेक लोगों के पूर्वज) सिथियनों के देश में रहते थे। किन्तु ये चाहे एकियन रहे हों चाहे और कोई, इन आक्रमणकारियों ने यूनान के प्रधान भू-भाग के क़िलेबंद नगरों में बची-खुची ईजियन सभ्यता को कुचलकर संपूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इन लोगों ने यह कार्य घोर निर्दयता और तीव्रता के साथ किया होगा, वरना ये लोग उस सोने को कदापि न छोड़ते, जो उन अद्भुत ताबूतनुमा क़ब्रों में गड़ा पड़ा था, जिन्हें ३००० वर्ष बाद श्लीमान ने ज्यों-की-त्यों असली हालत में पाया था।

ज्यों-त्योंकर विजित प्रदेशों का संगठन कर लेने के बाद इन नवीन अधिकारियों ने माइकीनी के प्राचीन राज-



माइनोस के महल में दीवार की चित्रकारी का एक नमूना, जिससे क्रीट के कलाकारों के प्रकृति-अध्ययन की झलक मिलती है।

प्रासादों के अपरिचित वैभव के वातावरण में अपने आपको सुखपूर्वक स्थापित करने की कोशिश की, किन्तु सब कुछ कर लेने पर भी उन्हें चैन न पड़ा, क्योंकि उन्होंने देखा कि उनमें एक ऐसी वस्तु का सर्वथा अभाव था, जिसका कि उनसे पूर्व के निवासियों के पास बाहुल्य था। जब विजित और विजेताओं के बीच व्यापारिक संबंध पुनर्स्थापित हो गया, तब स्वभावतया उनमें विचारों और सांस्कृतिक भावनाओं का अधिक घनिष्ठ रूप से विनिमय होने लगा, जिसके फलस्वरूप बर्बर उजड्ड विजेताओं पर सुखप्रद सभ्य जीवन का मधुर प्रभाव पड़ने लगा। माइकीनी की स्त्रियाँ जिन-जिन विशेष बातों का उपभोग करती हैं उनसे हम और हमारे बच्चे क्यों वंचित हैं, इस ईर्ष्या-युक्त जिज्ञासा के भाव से प्रेरित होकर जब बर्बर विजेता की पत्नी उसे लगातार दिक किया करती रही होगी, तब विवश होकर उसने सबसे नज़दीक के द्वीप से कुछ कारीगरों, स्थापत्यविशारदों, धातु का काम करनेवालों तथा ऐसे कुछ लोगों को बुला भेजा होगा, जो उसे वे कलाएँ सिखा सकें, जिनसे कि वह बिल्कुल अनभिज्ञ था, किन्तु जो उसके भोलेभाले मन में विस्मय का और उसकी स्त्री के मन में ईर्ष्या के भाव का संचार किया करती थीं।



माइनोअन युग की एक खंडित मूर्त्ति

आरंभ में तो ये कारीगर सताये जाने के भय से वहाँ जाने में हिचकिचाए, पर चूँकि उन्हें जीवित रहना था, इसलिए किसी प्रकार साहस करके वे ग्रीस के प्रधान भूभाग पर आने-जाने लगे। क़रीब ५०० वर्ष तक यह क्रम चलता रहा और तब अंततः हम वहाँ एक ऐसी कला का रूप प्रकट होते हुए देखते हैं, जो न तो ईजियन या माइनोअन थी, न माइकीनीयन ही; बल्कि निश्चित रूप से विशुद्ध ग्रीक या यूनानी कला थी।

नूबियन जाति की युवतियाँ

इनके ऊन जैसे घुँघराले बाल, मोटे ओठ और काला रंग इस बात की ओर संकेत करते हैं कि इनमें कुछ निग्रो रक्त मिश्रित है, फिर भी इनके चेहरों के काट और डील-डौल सुंदर होते हैं।





सूदान में बसनेवाली एक खूँख़ार जंगली जाति के लोग जो फ़ज़ी-वूज़ी कहलाते हैं

इन्हें बचपन से ही लड़ाकू होने की शिक्षा दी जाती है। इस चित्र में इनके एक नृत्य विशेष का दृश्य है। इस नृत्य में दो आदमी हाथ में तलवार या ख़ंज़र और ढाल लेकर पैंतरे बदलते हुए लड़ने का प्रदर्शन करते हैं। हर तरह के हाथ दिखाए जाते हैं और कभी-कभी तो ये घायल भी हो जाते हैं। यह इन लोगों के लिए न सिर्फ़ मनोरंजन का ही साधन है वरन् युवकों को इससे युद्ध की शिक्षा भी मिलती है।



सूदान के बाशिन्दे

अफ़्रीक़ा महादेश के किसी देश का ख़याल आते ही हम वहाँ अन्धकार देखने लगते हैं। हमारी कल्पना में शेर और हाथियों से भरे जंगल, नर-बलि करनेवाली ख़ूँख़ार जातियाँ और चारों तरफ़ सिर्फ़ काले-काले निग्रो लोगों की आबादी नज़र आने लगती है। हममें से बहुत ही कम आदमियों को इस बात का पता है कि सारे उत्तरी अफ़्रीक़ा में बसनेवाली जातियों में एक भी विशुद्ध निग्रो की क़िस्म की नहीं है।

'सूदान' शब्द का अर्थ है 'कालों का देश', पर यह नाम एक अंश में भ्रमात्मक है। सूदान के रहनेवाले काले अवश्य होते हैं पर वे निग्रो की क़िस्म से जुदा हैं। जाति की दृष्टि से हम मोटे तौर पर तीन भाग में सूदान के बाशिन्दों को बाँट सकते हैं—अरब, हामायत और बर्बर। ये तीन जातियाँ आजकल बहुत छीटफूट बसी हैं। इनकी आबादी भी अंगरेज़ोंका आधिपत्य जम जाने के बाद बहुत कम हो गयी है। अंगरेज़ दक्षिणी अफ़्रीक़ा के उपनिवेशों से भूमध्य-सागर तक के अपने क़ब्ज़े के इलाक़ों के बीच स्थल-संबंध जोड़ना चाहते थे। इस दृष्टि से सूदान बड़े महत्व का देश साबित हो रहा था। फ़ौजी दृष्टि से इस उपयोगिता के सिवा अंगरेज़ों को सूदान की रुई का भी लालच था। इसीलिए गत शताब्दी के अंतिम चरण में उन्होंने अफ़्रीक़ा की इस १,०२४,४०० वर्गमील भूमि पर अपना आधिपत्य जमा लिया। सरकारी तौर पर इस दख़ल किये गये देश का नाम 'ऐंग्लो-ईजिप्शियन सूदान' रक्खा गया है।

इस सूदान का अधिकांश भाग मरुभूमि है। लगभग सारा देश ही इस भाँति रूखा-सूखा और वीरान है कि मनुष्यों के लिए एक स्थान पर टिक पाना कठिन हो जाता है। बाशिन्दे अधिकतर ख़ानाबदोश हैं। हाँ, श्वेत नील नदी तथा अबीसीनिया के पहाड़ों से निकली हुई उसकी दो शाखाओं—नीली नील और अतबारा—नदियों के किनारे बहुत थोड़ी आबादी ऐसी भी है जो अपना स्थान परिवर्त्तन नहीं किया करती।

नील नद की एक और सहायक नदी सोबत नदी है। जिन



उत्तरी सूदान के जंगली बाशिन्दों का नृत्य

ये सोबत नदी के तट पर रहते हैं और क़द में ६ से ७ फ़ीट तक लंबे होते हैं।

इलाक़ों से होकर यह नदी बहती है वे बड़े ही अस्वास्थ्यकर हैं। उत्तरी काँगो की ओर से आनेवाली बहर-एल-गज़ल नामक नदी जहाँ पर नील से मिलती है वहाँ बहुत बड़ा दलदल बन गया है। सारा सूदान इस दलदल और मरुभूमि से बना है। इसलिए पूर्वीय सूदान का एक चौथाई से अधिक भाग उपजाऊ नहीं है। यह समूचा देश ही एक तरह से दलदल में बसा है। नील नदी यहाँ औसत एक मील में सात इंच ही नीचे उतर पाती है। इसलिए देश के दक्षिणी हिस्से के दलदल और भी भयानक रूप धारण कर लेते हैं। इन इलाक़ों में जहाँ नदी में काफ़ी पानी है वहाँ भी इतना अधिक सिवार होता है कि नौका द्वारा यातायात की यहाँ सुविधा नहीं है।



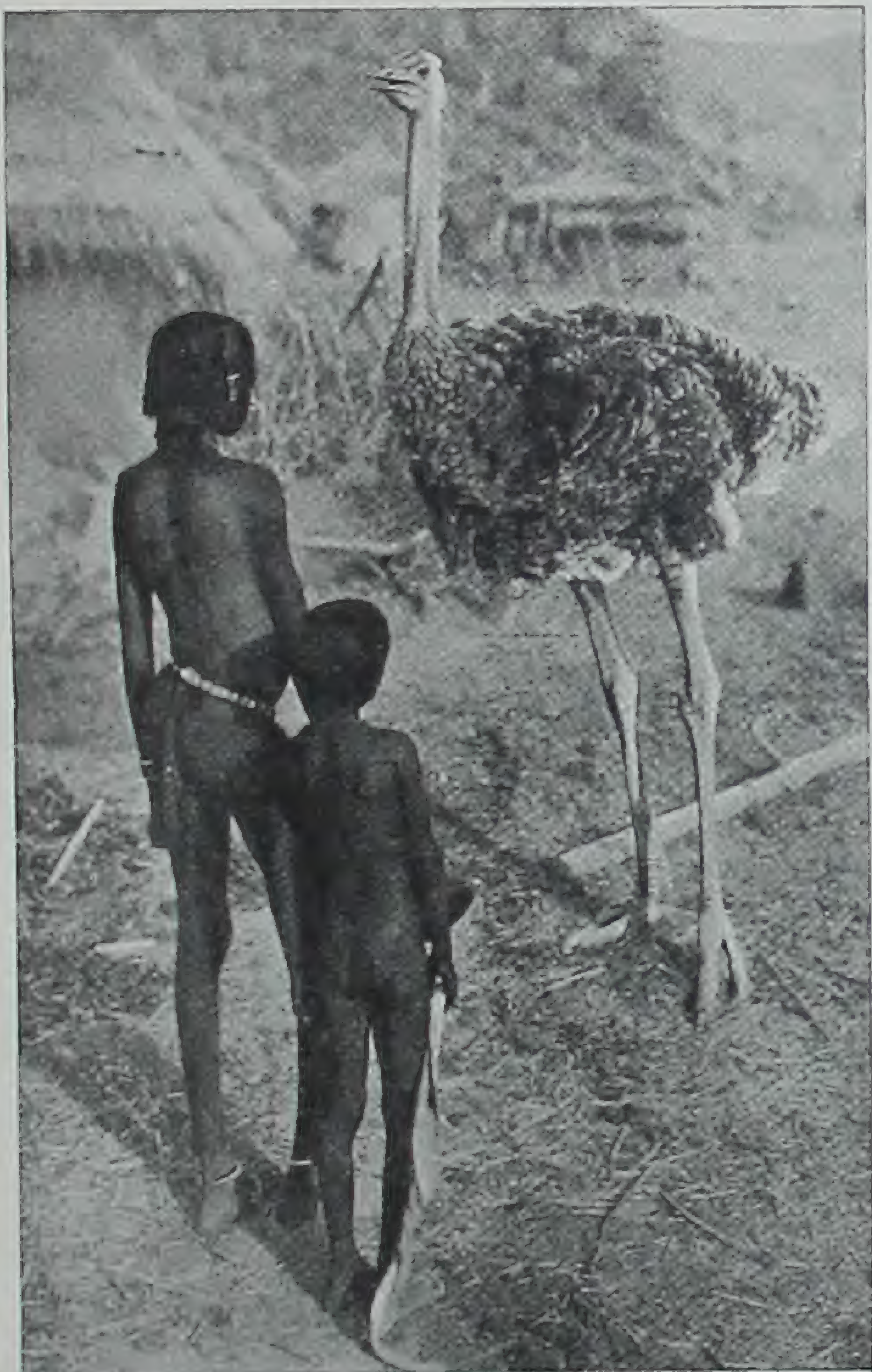
सूदान में बसनेवाली मेसेरिया नामक एक जाति की स्त्री
इस जात से नूबा जाति के लोग बहुत डरते हैं।



सूदान की लड़ाकू फ़ज़ी-वूज़ी जाति का एक योद्धा अपने ऊँट को दाना खिला रहा है।

उत्तरी सूदान की मरुभूमि में ज़िन्दगी बसर करनेवाले अरब हैं। ये इस्लाम मज़हब के अनुयायी हैं। सूदान में बसनेवाली और सब जातियों की अपेक्षा ये अधिक सभ्य हैं। ये अपनी आज़ादी का भी महत्त्व समझते हैं। सन् १८९२ में लार्ड किचनर के हमला करने के पहले इनकी आबादी पचासी लाख के लगभग थी। पर हमले के बाद ये बीस लाख से भी कम बच रहे। इन्होंने अंगरेज़ी फ़ौज का मुक़ाबला बड़ी बहादुरी से किया। पर लड़ाई के आधुनिक अस्त्र-शस्त्र पास में न रहने के कारण ये ज़्यादा दिन टिक नहीं सके। अंगरेज़ों के द्वारा इतने अधिक तबाह किये जाने के बाद भी इनकी जाति ज़िन्दा बची है। यही इनकी ताक़त का बहुत बड़ा परिचायक है।

जिस प्रदेश में ये अरब रहते हैं और अनवरत यात्रा किया करते हैं वहाँ इन्हें सवारी तथा अपना सामान ढोने के लिए सिर्फ़ ऊँट मिलते हैं। बालुकामय तथा विशाल जलरहित प्रदेशों में ऊँट ही सबसे अधिक उपयोगी साबित भी हो सकते हैं। वहाँ की परिस्थिति को देखते हुए



दो नूबा लड़कियाँ और उनका पालतू शुतुर्मुर्ग़

इन सबके ऊपर भोजन जुटाने की मुसीबत रहती है। जीवन का अधिकांश समय इन्हें कम-से-कम भोजन और पानी पर बिताना पड़ता है। यदि इनका कुछ पेशा कहा जाय तो वह भेड़ पालना और व्यापार है। लालसागर-तट से संबंध जुड़े रहने के कारण तरह-तरह के आयात-निर्यात की सामग्रियों से ये व्यापार किया करते हैं। विदेशी पूँजी का प्रोत्साहन मिलने पर अपने से निम्न कोटि की जातियों के आदमियों तक का ये व्यापार किया करते थे। इसके सिवा व्यापारिक क़ाफ़िलों को लूट लेना भी इनमें ऐसी आम और रोज़मर्रे की बात हो गई है कि उसे भी इनके पेशे में ही शुमार कर लिया जा सकता है।

एक ख़ास ख़ूबी जो इन लोगों में पाई जाती है वह इनकी व्याकुलता है। ये अपने मरुभूमि के जीवन से सन्तुष्ट नहीं हैं। ये अपने को सुखी बनाने की कोशिश किया करते हैं। पर इसमें कठिनाइयाँ आती रही हैं। अंगरेज़ों का आधिपत्य होने के बाद वे अपनी पहले की आज़ादी में कमी हो जाने के सिवा आर्थिक अवस्था में भी गिर जाना महसूस करते हैं। इसीलिए हमेशा अंगरेज़ों के ख़िलाफ़ बग़ावत खड़ाकर डालने की धुन में ये लगे रहते हैं।

आधुनिक युद्ध-विद्या में प्रवीण अंगरेज़ी फ़ौज से लड़ने के लिए उनके पास उपयुक्त हथियार नहीं। जब-जब उन्होंने सर उठाया है उन्हें हार ही खानी पड़ी है। इसलिए इस हार को बर्दाश्त करने तथा आगे के लिए हिम्मत बाँधने का उनमें एक निराला ढंग ही निकल आया है।

ऊँटों की चाल की रफ़्तार को बहुत तेज़ ही मानना पड़ेगा। ख़ानाबदोश अरबों का इस संसार में जितनी चीज़ों पर आधिपत्य होता है उन्हें वे ऊँटों पर ही लादे चलते हैं। उनके जीवन को हम लोगों में से कोई भी, आराम का जीवन तो दूर रहा, बसर करने लायक़ भी शायद ही क़रार दे। इनके अस्थायी पड़ावों को 'झोपड़े' की इज़्ज़त भी नहीं दी जा सकती। मरुभूमि की भुन डालनेवाली लू से भी भयानक धूल से भरी हवा हमेशा ही चलती रहती है। हमेशा चकाचौंध कर देनेवाली धूप आँखों को ख़राब करती रहती है, साथ ही उड़नेवाली धूल भी आँखें खोलना असंभव-सा बना देती है। इसीलिए यहाँ के बाशिन्दे अपनी गर्दन तथा चेहरा कपड़े से हमेशा ढका रखते हैं।

प्रकृति के विरुद्ध संग्राम करते-करते उन्हें दृढ़तापूर्वक पाँव जमाकर संग्राम करने की आवश्यकता पड़ती है। यही दृढ़ता उनके लिए मज़हब का काम देती है। यदि भली भाँति उनका मनोविश्लेषण कर देखा जाय तो उनके लिए इस्लाम मज़हब की कट्टरता और परिस्थिति के विरुद्ध दृढ़तापूर्वक पाँव जमाकर लड़ते जाने की सिफ़त में एक ही तरह की ताक़त काम करती हुई दिखाई देगी। परिस्थितिवश अपने पास के अस्त्रों की अपेक्षा कहीं अधिक मज़बूत रहने के साधनों की आवश्यकता के कारण दृढ़तापूर्वक टिके रहने के लिए उन्हें अन्धविश्वास से काम लेना पड़ता है। यही अन्धविश्वास उनके लिए ताक़त का काम देता है, जिसके बल पर वे लड़ाई में टिक पाते हैं और अपने को जीवित रखने में समर्थ होते हैं।

इन अरबों को प्रकृति ने लड़ते जाना ही सिखलाया है। इसीलिए 'मौज' या 'आराम'-जैसी चीज़ें इनके लिए गौण रहती हैं और उनके प्रति इनका विशेष आकर्षण नहीं होता। उदाहरण के लिए हम औरतों के प्रति उनका व्यवहार ही लें। अँगरेज़ों से लड़ाई लेने के समय तक वे आपसी लड़ाइयों के तरीक़े पर औरतों तक को लड़ाई के मैदान में अपने साथ रखते थे। मर्द लड़ते थे और उनके बग़ल में औरतें उनके लिए खाना पकाया करती थीं! लड़ाई के लिए खाना आवश्यक था और खाना जुटाने के लिए औरतों की ज़रूरत पड़ती थी, इसीलिए इन अरबों को औरतों की दरकार रहती थी। उन्होंने ज्यों ही अंगरेज़ों के साथ के युद्ध में देखा कि लड़ाई के समय सहायक साबित होने के बजाय औरतें बाधक साबित होती हैं तो उन्होंने औरतों को साथ ले चलना तुरन्त ही छोड़ दिया।

ये अरब लड़ाई के ही दीवाने हैं। उनके एक ख़ास फ़िर्क़े के लोग 'दरवेश' कहे जाते हैं। दरवेश शब्द का अर्थ साधु या भिखारी होता है। पर ये साधु या भिखारी लड़ने के लिए ही होते हैं। इनके भिखारी बनने या साधुगिरी अख्तियार करने का ख़ास कारण लड़ाई में अधिक उपयोगी साबित हो सकना ही रहता है। यह लड़ाई का पाठ भी जिस मरुभूमि में वे रहते हैं उसकी रुखाई ने ही उन्हें सिखाया है। वही उन्हें अपने जीवन के ढर्रे को बदल देने के लिए मजबूर करती रहती है। स्वयं ये लोग भी उस ढर्रे को बदलने में अपनी पूरी ताक़त लगाया करते है, इसीलिए हम इन्हें सभ्यता की ओर अग्रसर होते हुए लोगों में गिन सकते हैं।

दक्षिणी सूदान उत्तरी सूदान से भिन्न है। इसीलिए यहाँ पर बसनेवाली जातियाँ भी भिन्न प्रकार की हैं। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उत्तरी सूदान से चलकर हम लोग ज्यों-ज्यो दक्षिण की ओर आते हैं हमारे चारों तरफ़ की प्रकृति दूसरा रूप धारण करती जाती है, और उसके साथ-ही-साथ उसी प्राकृतिक परिवर्त्तन के अनुपात में हम विभिन्न प्रकार की जातियों का रहन-सहन पाते हैं। सबसे पहले हमें कुछ मिश्रित रक्तवाली जातियाँ मिलती हैं, जिन्हें साधारणतया हामायत नाम दिया गया है। इनमें भी प्रथम हमें भूमध्यसागर तट की कुछ जातियों से मिलती-जुलती एक जाति मिलती है। इस जाति के लोगों का समय अधिकतर बाल सँवारने में जाता है। ये भेड़ की चर्बी और बहुत रंग के 'पाउडर' बालों में लगाते हैं। बालों को ये सीधे इस प्रकार चर्बी और पाउडर लगाकर खड़ा कर लेते हैं कि वे दूर से दो सींग की तरह दीखते हैं। इनकी आजीविका पशुपालन से होती है और इनमें भी हमेशा स्थान-परिवर्त्तन करते रहने की प्रवृत्ति रहती है।

इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि इनके सामने हमेशा पशु ही रहते हैं। उन्हीं के गहरे संपर्क में ये रहते हैं और इसीलिए उनसे अधिक क़ीमत की कोई चीज़ संसार में इनके लिए नहीं होती। अपने क़ब्ज़े के पशुओं की रक्षा और अधिक संख्या में उन्हें बटोरकर अपनाने की चेष्टा में ही इनकी लड़ाइयाँ होती हैं। भूमि सिवा चरागाह होने के और कोई महत्त्व इनके लिए नहीं रखती। इनका भोजन मुख्यतया मांस, दूध और ख़ून होता है।

जहाँ तक समाज-व्यवस्था का संबंध है, वह इनके बीच अपने निजी ढंग पर ही संगठित होती गई है। इनके नवयुवक अविवाहित लड़कियों के साथ अपने मवेशी चराया करते हैं और मवेशियों की रक्षा के लिए बर्छे



मेसेरिया जाति का एक योद्धा

इनसे नूबियन जाति के लोग बहुत डरते हैं, क्योंकि ये प्रायः उन पर आक्रमण कर उन्हें मार डालते अथवा ग़ुलाम बनाते रहे हैं।

चलाने का अभ्यास करते हैं। उन्हें इसी समय से इस बात की शिक्षा दी जाती है कि ज्यों ही कोई आदमी उनके मवेशी पर अधिकार जमाने की चेष्टा करने आवे वे उसे मार डालें। अपने भीतर यही सन्देह रहने के कारण उनकी अपनी पड़ोसी जातियों के साथ लड़ाई चलती रहती है जिसमें बहुत-से लोग मारे जाते हैं। इनकी औरतें लड़ाई की भीषणता कम करने की कोशिश में रहती हैं। एक तरफ़ मर्दों की लड़ाई चलती है और दूसरी ओर इनकी औरतें खाल और दूध देकर पड़ोसवालों से शाक और अन्न लेने की कोशिश करती हैं। कभी-कभी जब यह विनिमय लाभदायक प्रतीत होने लगता है तब लड़ाई की भयंकरता वास्तव में ही कम हो जाती है। बड़े हो जाने पर नवयुवक शादी कर लेते हैं और अधिक स्थिर जीवन बिताने लगते हैं। पशु-रक्षा का भार नये नवयुवकों पर आ जाता है। इन लोगों में सफ़ाई तथा औषधियों की व्यवस्था न रहने के कारण कभी-कभी बहुत अधिक बीमारियाँ फैल जाती हैं, जिनमें इनके अधिकांश पशु मर जाते हैं और मनुष्यों की भी आबादी बहुत कम हो जाती है।



सूदान का एक दरवेश

ये रहते तो फ़क़ीर के भेष में हैं, पर बड़े ख़ूँख़ार और लड़ाकू होते हैं।

हम ज्यों-ज्यों सूदान के दक्षिणी हिस्से की ओर बढ़ते जाते हैं, लोगों की ज़बान भी बदलती हुई पाते हैं। उत्तर में अरबी, पर दक्षिणी हिस्सों में नूबियन अपभ्रंश की चलन है। ये नूबियन जाति के लोग भी काले होते हैं, क्योंकि इनमें दक्षिण के निग्रो तथा उत्तर के अरबों के ख़ून का मिश्रण रहता है। नूबी शब्द का अर्थ दास होता है। ये लोग बहुत अर्से तक उत्तर में बसनेवाले अरबों के दास रहे हैं। शायद इनका यह नाम भी अरबों का ही दिया हुआ है। जब से स्वयं अरब अंगरेज़ों के ग़ुलाम हो गये हैं, वे स्वयं बहुत कुछ नूबियों की श्रेणी में आ गये हैं।

नूबी जाति के लोगों के चमड़े काले होते हैं, पर ये देखने में निग्रो-जैसे बदसूरत नहीं होते, क्योंकि इनके चेहरे का काट सुन्दर होता है। कितने लोगों का अनुमान है कि यह सौन्दर्य विभिन्न जातियों के रक्त-मिश्रण के कारण आया है। उत्तर के अरबों की तुलना में नूबी शांत और अधिक तीक्ष्णबुद्धि होते हैं। पर अरबों जैसी ख़ानाबदोशी की सिफ़त से ये भी बरी नहीं हैं। जहाँ कहीं भी ये अपने बकरे के खाल का बना तम्बू लगा लेते हैं, वहीं इनका घर बन जाता है। मरुभूमि के इलाक़ों में जहाँ-जहाँ इन्हें हरियाली (ओएसिस) दीखती है वहाँ-वहाँ वे व्यापार और अपने पशुओं के चरागाह की खोज में जाया करते हैं। नूबियन मरुभूमि इनमें भी व्याकुलता भरे रहती है और ये सारा जीवन ख़ानाबदोशी में बिताकर उस व्याकुलता से छुटकारा पाने की चेष्टा किया करते हैं।

सूदान के पश्चिमी भाग में बहर-एल-गज़ल के इलाक़े में भूमध्यसागर-तट की 'बर्बर' जातियों की क़िस्म की कई जातियाँ रहती हैं। इनकी सिफ़त यह है कि इनकी औरतें छाती तथा उसके निचले भाग में गोदना गुदाया करती हैं। साथ ही एक विशेषता यह है कि औरतों को जानबूझकर ख़ूब अधिक खिलाया जाता है जिसमें वे ख़ूब मोटी हो जायँ। मोटा होना सौन्दर्य की बड़ी निशानी समझी जाती है। इनके नाक तथा होठों में भी गहने

पहनने का रिवाज है। भूमध्यरेखा के निकट होने के कारण सूदान में कड़ी धूप पड़ती है, जिसमें झुलसते रहने के कारण इन लोगों के चमड़े बिलकुल काले हो जाते हैं। फिर भी इनके बाल जतला देते हैं कि ये निग्रो की क़िस्म के नहीं हैं। इनमें जो 'फूला' वा 'फ़ुलानी' जाति के या उन्हीं की क़िस्म के हैं, इनके विषय में बहुत से विशेषज्ञों का अनुमान है कि ये सैकड़ों वर्ष पहले सीरिया की ओर से आये थे। इनके बाल सीधे होते हैं और होंठ पतले रहते हैं। अपने आस-पास की जातियों की तुलना में ये अधिक प्रखरबुद्धि भी होते हैं।

एक समय ऐसा भी था जब इस 'बर्बर' जाति का सिर्फ़ सूदान के ही पश्चिमी भाग में नहीं बल्कि सारे पश्चिमी अफ़्रीक़ा में बहुत प्रभाव था। पिछली शताब्दी के आरम्भ में इन्हीं की जाति में ओथमन-दानफ़ोदियो नाम का एक नेता हुआ था, जिसने अफ़्रीक़ा के इस भाग में इस्लाम का झंडा खड़ा किया था। सारे उत्तरी निगेरिया तक पर उसका क़ब्ज़ा हो गया था। जिन लोगों ने पहले-पहल इस्लाम अपनाया वे 'अमीर' तक बन गये। इन्हीं का अफ़्रीक़ा के उस इलाके में आधिपत्य जम गया। पर आगे चलकर इन्होंने अपनी शक्ति का दुर्व्यवहार किया। जब विदेशी पूँजी के सहारे ग़ुलामों का बाज़ार गरम हुआ और काले आदमियों की क़ीमत मिलने लगी, तो इन लोगों ने ग़ुलाम पकड़ने में मदद पहुँचाई। इनके इस तरह के काम से इनके आसपास की जातियाँ इनका विरोध करने लगीं।

अंगरेज़ों ने भी अपना आधिपत्य जमने पर और जातियों की तुलना में फ़ुलानी लोगों के हाथ में अधिक आधिपत्य रहने दिया। अपने निरीक्षण में वे कच्चा माल जुटाने में इस जाति की मदद लेने लगे। न्याय के सिलसिले में भी मुसलमानी क़ानून के ढंग पर न्याय करने का सिलसिला चलने दिया। इस कारण इनके भीतर उत्तर के अरबों की भाँति विदेशी सल्तनत के ख़िलाफ़ विद्रोह का भाव नहीं फैल सका।

आम तरह से इस जाति के लोग भी ख़ानाबदोशी का जीवन पसन्द करनेवाले हैं। आजीविका के लिए ये भी पशु-पालन करते हैं। योरपीय लोगों के साथ ये भी अपना सम्पर्क नहीं रखना चाहते और सभ्य समाज में इस्तेमाल में आनेवाली चीज़ों का भी जहाँ तक संभव होता है ये व्यवहार नहीं करते। जो जानवर ये पालते हैं उन्हीं की खाल इनके वस्त्र का काम देती है। स्थायी गाँव बनाकर रहने की इनकी आदत नहीं।



नूबा लोगों के एक गाँव का दृश्य

नूबा जाति के लोग मिट्टी की दीवारों पर फूस को छाकर बनाये झोंपड़ों में रहते हैं, जैसे कि चित्र में पीछे की ओर दिखाई दे रहे हैं। ये लोग तरह-तरह के जानवरों के अलावा मक्का और दुर्रा नामक अनाज पर बसर करते हैं। इस अनाज को ये लोग अपने झोंपड़ों के आगे मैदान में बनाये हुए एक तरह के ढोलनुमा बखार में भरकर सुरक्षित रखते हैं। ऐसा एक बखार चित्र में आगे की ओर दिखाई दे रहा है।

सूदान के अथवा उसके आसपास के देशों में बसनेवाली बर्बर, हामायत और अरब जातियों पर दृष्टि डालने पर हम यही पाते हैं कि ये अफ़्रीक़ा की निग्रो सभ्यता से कम पर एशियाई देशों की अरब सभ्यता से अधिक मिलती-जुलती हैं। इनके अध्ययन के सिलसिले में एक बात यह भी हम देखते हैं कि जिस भूभाग की प्रकृति रूखी होती है और जहाँ मनुष्यों को जीवित रहने के लिए अनवरत संग्राम करते रहना पड़ता है, वहाँ के मनुष्य शीघ्र ही पराजय मान लेनेवाले नहीं होते। यदि कोई विदेशी ताक़त उन पर ज़ोर-ज़बर्दस्ती से अपना आधिपत्य जमा भी लेती है, तो वे उस विदेशी ताक़त के ख़िलाफ़ भी हमेशा जंग छेड़े रहते हैं। दूसरी ओर जहाँ हवा में नरमी होती है, अर्थात् जहाँ जीवन-संघर्ष कठोर नहीं होता, वहाँ के लोग विदेशियों का आधिपत्य मान लेने में बहुत अधिक आनाकानी नहीं करते।



छोटा नागपुर पठार की खरिया जाति

बिहार प्रान्त की मुण्डा-भाषा-भाषी जातियों की एक शाखा

पिछले लेख में सिंघभूम ज़िले में बसनेवाली 'हो' जाति का परिचय आप पा चुके हैं। यहाँ एक और मुण्डा-भाषा-भाषी जाति का विवरण दिया जाता है, जो 'खरिया' जाति के नाम से प्रसिद्ध है।

छोटा नागपुर के पठार में रहनेवाली आदिम नस्ल के जातिवालों की कुल संख्या ४० लाख से अधिक है। अतएव, इस प्रदेश की आदिम संस्कृति की विशेषताओं का कुछ परिचय प्राप्त करने के लिए यहाँ एक अन्य जाति का वर्णन देना भी आवश्यक जान पड़ता है। इस प्रदेश में रहनेवाली बड़ी जातियों में हो, खरिया, खोंद, मुण्डा, ओराँव और सन्थाल ऐसी जातियाँ हैं, जो अब तक अपने पृथक् अस्तित्व और अपने पुराने संगठन को क़ायम रखने में समर्थ हुई हैं। पिछले लेख में मैं 'हो' जाति का परिचय आपको दे चुका हूँ; इस लेख में खरिया लोगों का कुछ हाल आपके सामने रखना चाहता हूँ, यद्यपि यह इन जातियों में संख्या की दृष्टि से सबसे छोटी है।



ढेलकी खरिया जाति का एक पुरुष

खरिया लोग उड़ीसा की जागीरदारी रियासतों की पर्वत-श्रेणियों में रहते हैं और मध्य भारत तक फैले पाये जाते हैं। यद्यपि वे छोटे-छोटे समूहों में दूर-दूर तक फैले हुए हैं, किन्तु उनका केन्द्रीय निवास-स्थान दक्षिण-पूर्व में उड़ीसा प्रान्त के मयूरभंज राज्य की मध्य पर्वत-मेखला तथा मयूरभंज के उत्तर में सिंगभूम और मानभूम ज़िलों की पहाड़ियों से होता हुआ बिहार के आजकल के राँची ज़िले व उड़ीसा के सम्भलपुर ज़िले की पहाड़ियों और पठारों से लेकर पश्चिम में मध्यप्रान्त के बिलासपुर, रायपुर, द्रुग और छिंदवाँड़ा ज़िलों तक पाया जाता है। वे लोग पूर्व भारतीय एजेंसी की रियासतों अर्थात् जशपुर, रायगढ़, सक्ती और सारंघर के राज्यों में भी पाये जाते हैं।

खरिया जाति का सबसे जंगली भाग पहाड़ी खरिया कहलाता है। ये लोग मयूरभंज रियासत की सिमलीपाल

पर्वत-श्रेणी और छोटा नागपुर पठार के सिंगभूम और मानभूम ज़िलों की पहाड़ियों में पाये जाते हैं। खरिया लोग मुण्डा परिवार की एक भाषा बोलते हैं और नस्ल की दृष्टि से पूर्व-द्राविड़ या भारतवर्ष के ऑस्ट्रोलाइड (Austroloids) कहलाते हैं। पहाड़ी खरिया आज भी ख़ानाबदोशों की ज़िन्दगी बिताते हैं, एक जंगल से दूसरे जंगल का चक्कर लगाते रहते हैं। वे एक साथ एक या दो परिवारों से अधिक इकट्ठे नहीं चलते। अपने रहने के लिए वे वृक्षों की डालियों के झोपड़े बनाते हैं, जिनके छप्पर छाने के लिए वे पत्तों को इस्तेमाल करते हैं और रस्सी के लिए लताएँ काम में लाते हैं। वे ज़मीन पर ही सो रहते हैं और जाड़े में भी अँगरखा या चद्दर काम में नहीं लाते। लताओं के उबाले हुए कंद-मूल ही उनका परम प्रिय आहार हैं और मिल गया तो दिन में एक बार वे साथ में चावल भी खा लेते हैं। वे अब भी रगड़ से ही आग पैदा करते हैं। जब उनके कुटुम्ब की तादाद बढ़ जाती है और भोजन दुर्लभ हो जाता है, तो वे अपना डेरा हटाकर नये जंगल को चले जाते हैं।

खरिया औरतें बारीक़ चटाइयाँ बुनने में बहुत चतुर होती हैं, जिन्हें बेचकर वे बदले में खाने की चीज़ें खरीदती हैं। वे धातुशोधन की कुछ मोटी-मोटी बातों की भी जानकारी रखती हैं। अपने फावड़ों को वे आग में गर्म करके तेज़ करती हैं और लोहा गलाने के लिए पत्तियों की बनी सादी धौंकनी काम में लाती हैं। खरिया जाति के जिन लोगों ने खेती को अपनाया है, वे अब भी झूम का तरीक़ा काम में लाते हैं, जो कि बड़ी फ़िज़ूलख़र्ची का तरीक़ा है और जिसकी बदौलत छोटा नागपुर के जंगलों तथा दूसरे स्थानों का, जहाँ ऐसे जंगलों की भरमार है जो अछूते हैं, बहुत-सा हिस्सा उजाड़ हो गया है। झूम के लिए वे जंगल के किसी हिस्से के सारे पेड़ों की डालों को काटकर और टहनियों तथा ठूँठ में आग लगाकर उस हिस्से को साफ़ करते हैं और फिर उसमें खेती करते हैं। साल-दो साल तक उस हिस्से में खेती करने के बाद वे उसे छोड़ देते हैं और फिर उसी प्रकार किसी नये हिस्से को साफ़ करते हैं। पहाड़ी खरिया लोग शहद और रेशम के कोवों तथा लाख आदि जंगल की पैदावार को इकट्ठा करके, जंगल में पैदा होनेवाले कन्दमूल को अपने उस भोंड़े कुदाल से खनकर जिसे 'खनता' कहते हैं, और कभी-कभी हिरन या दूसरे छोटे जानवरों का शिकार करके बड़ी मुश्किल से अपनी जीविका का प्रबन्ध कर पाते हैं। खेती का झूम का तरीक़ा अब सरकार की ओर से अधिकांशतः बन्द करा दिया गया है, जिससे इन लोगों पर मानो विपदा का पहाड़ टूट पड़ा है। इस बात की कोशिश की गई है कि उन्हें पहाड़ को छोड़कर मैदानों में बसकर हल से खेती करने के लिए राज़ी किया जाय, लेकिन इन प्रयत्नों का कोई उत्साहजनक परिणाम नहीं हुआ है।

पहाड़ी खरिया लोगों के अलावा खरिया जाति की दो दूसरी शाखायें हैं, जो ढेलकी और दुध कहलाती हैं। ये लोग यों तो बहुत दूर तक फैले हुए हैं, किन्तु विशेषकर राँची ज़िले में ये केन्द्रीभूत पाये जाते हैं। सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से पहाड़ी खरिया सबसे नीचे और दुध खरिया सबसे ऊपर हैं और ढेलकी लोग इन दोनों के बीच में हैं। शारीरिक बनावट में भी दुध और ढेलकी शाखायें एक दूसरे से बहुत मिलती-जुलती हैं और पहाड़ी खरिया लोगों से उनमें बहुत विभिन्नता पाई जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि दुध खरिया लोग दूसरी जातियों के समूहों के साथ मिश्रित होते रहे हैं, किन्तु पहाड़ी खरिया लोग औरों से बिल्कुल अलग रहते आये हैं और उन्होंने अपनी नस्ल सम्बन्धी पवित्रता को अधिक सुरक्षित बनाये रखा है। ढेलकी की नस्ल इन दोनों के बीच की है। वे खरिया जाति के विकास की उस अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं जब कि वह पहाड़ी नस्ल से उठकर दुध नस्ल का रूप धारण कर रही थी। नस्ल सम्बन्धी विशेषताओं के साथ सांस्कृतिक विभिन्नताओं का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध कदाचित् ही देखने में आता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, खरिया जाति मुण्डा नस्ल की है। खरिया लोगों के चमड़े का रंग अगर काला नहीं तो गहरा भूरा होता है। सिर ज़रा लम्बा, नाक मोटी और चौड़ी और कभी-कभी जड़ के पास चिपटी होती है। चेहरे के कोने अपेक्षाकृत धँसे हुए होते हैं और चेहरा चौड़ा तथा भरा हुआ होता है। वे क़द के नाटे और शरीर के कुछ बेडौल-से होते हैं, पर उनके अवयव बड़े मज़बूत और गठीले होते हैं। साधारणतया वे बलिष्ठ मांसपेशियों, सुन्दर सीने, ताक़तवर जबड़े और मज़बूत सफ़ेद दाँतोंवाले लोग होते हैं। मर्द लोग मामूली तौर पर घुटनों तक एक प्रकार का अँगौछा पहनते हैं जो बोतोई (Botoi) कहलाता है। यह ३ से लेकर ४॥ गज़ लम्बा होता है और इसके दोनों सिरों पर रंगीन धारियाँ होती हैं। इस कपड़े के अलावा खरिया लोग देह के ऊपरी हिस्से को ढकने के लिए भी एक तरह की चद्दर लपेट

लेते हैं। खरिया औरतें साधारणतः कमर में 'परिया' नाम का एक वस्त्र लपेटे रहती हैं, जिसका एक हिस्सा आड़े ढंग से इस तरह देह के ऊपरी हिस्से पर डाला हुआ रहता है जिससे उनके स्तन ढँके रहते हैं। भीतरी प्रदेशों में औरतें लहँगा के अलावा, जो कि कमर में पहना जाता है, और कोई भी वस्त्र नहीं धारण करतीं। खरिया औरतों को अपनी दूसरी मुण्डा बहनों की तरह अपनी देह को तरह-तरह के गहनों से सजाने का बड़ा शौक़ होता है। ये गहने साधारणतया पीतल के बने हुए होते हैं। गुदना गोदाना एक प्रकार का शृंगार समझा जाता है। ८-९ वर्ष की उम्र में ही लड़कियों का माथा सुई से गोद दिया जाता है; मत्थे पर तीन चार समानान्तर रेखाएँ बना दी जाती हैं और उनमें एक प्रकार का काला वानस्पतिक रंग भर दिया जाता है। पीठ, बाँह, हाथ और पैर भी इसी प्रकार गुदाये जाते हैं।

भौगोलिक वातावरण के साथ सामाजिक समूहों के सामंजस्य का जैसा प्रमाण पहाड़ी खरिया लोगों में पाया जाता है वैसा भारतवर्ष में अन्यत्र कहीं नहीं देख पड़ता। संसार के सभी महान् आविष्कारों और खोजों का मूल कारण जीवन में किसी बड़े संकट का होना रहा है। हमेशा संकट का सामना करते और उसे वश में करने की चिन्ता करते-करते मनुष्य का मस्तिष्क अचानक कोई-न-कोई ऐसा आविष्कार कर लेता है, जिससे उसे चिन्ता से छुटकारा मिल जाता है और वह संकट पर वश पा लेता है। खरिया लोगों के साथ भी यही बात घटती है। उन्हें भोजन की समस्या हमेशा सताती रही है। असभ्य जंगलियों के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वे पारी-पारी से फाका करते और दावतें उड़ाते हैं। जब उन्हें आहार बहुत अधिक मात्रा में मिल जाता है तो मन अच्छी तरह भर न जाय तब तक वे भोजन को पेट में ठूँसते जाते हैं और जब शिकार के लिए पशुओं का मिलना दुर्लभ हो जाता है या अन्न की पैदावार नहीं होती तो अनशन करते हैं, या कठिनाइयों के शिकार बनकर ज़िन्दगी से ही हाथ धो बैठते हैं। अपने उन भौंड़े औज़ारों और युक्तियों की सहायता से, जिन्हें उनका मस्तिष्क ईजाद कर सका है, पहाड़ी खरिया लोग कुछ अंश तक प्रकृति की शक्तियों का उपयोग इस प्रकार करने में सफल हुए हैं कि वे अपने वातावरण को अपने वश में कर सकें और उन्होंने भोजन और घर, व्यक्तिगत शृंगार और वस्त्र, आक्रमण और उससे अपनी रक्षा, तथा यातायात और विनिमय की समस्याओं को हल कर लिया है। किन्तु जंगलों पर से उनका अधिकार छिन जाने के कारण अब संकट गम्भीर हो गया है और नई परिस्थिति पर नियंत्रण पाने का सामर्थ्य होने के प्रत्यक्ष प्रमाण उनमें नहीं मिल रहे हैं। कुछ समय पहले तक जंगलों से ही उन्हें लकड़ी और लोहा मिलता रहा है, जिससे वे ज़मीन को खोदने और बोने, जानवरों और चिड़ियों का शिकार करने, मछली मारने, कातने और बुनने के औज़ार तथा घर के बर्त्तन, गहने, कंघे और सुँघनी के डिब्बे वग़ैरह बनाते रहे हैं। पेड़ों की पत्तियों और छालों से वे अपने लिए भोजन करने और पानी पीने के बर्त्तन, थालियाँ, तश्तरियाँ, प्याले वग़ैरह तथा वर्षा से बचने के लिए टोप और छाते तैयार करते हैं। पेड़ की लकड़ी, पत्तियाँ तथा शाखायें घर बनाने के काम आती हैं और जंगली बेल और लतायें उनके लिए बिस्तर, खूँटियों, सामान ढोनेवाले जालों, तथा भोजन के हेतु फल और कन्दमूल की खोज में पहाड़ पर जाने के लिए रस्सीदार सीढ़ियों का काम देती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि खरिया जाति की भौतिक संस्कृति, जिस रूप में आज वह हमारे सामने है, युगों से चले आनेवाले प्रयोग, भूल और अनुभव के क्रम का परिणाम है, जिसके कि फलस्वरूप ऐसे कई तरीक़े ख़ुद ईजाद करके और कुछ दूसरे लोगों से सीखकर, जिनसे वे अपने प्राकृतिक वातावरण पर



पहाड़ी खरिया जाति के मर्द शिकार के लिए जा रहे हैं

अपनी सामर्थ्य के अनुसार नियंत्रण प्राप्त कर सके हैं, उन्होंने अपनी भोजन की समस्या को मोटे तौर पर हल कर लिया है।

पहाड़ी खरिया लोगों के गाँव का दर्शन करना कठिन है, क्योंकि जहाँ तक पता चलता है उन लोगों के गाँव होते ही नहीं। वे लोग पेड़ों की डालियों और पत्तों की अस्थायी झोपड़ियाँ बनाकर तीन या चार परिवारों के समूह में रहते हैं और ये झोपड़ियाँ बहुत दूरी में फैली हुई होती हैं, जिससे सौ गज़ के फ़ासले के भीतर भी दो परिवार नहीं पाये जा सकते। खरिया जाति की दूसरी शाखायें, दुध और ढेलकी, गाँवों में रहती हैं, लेकिन उनके गाँव भी उस तरह के बाक़ायदा बने हुए नहीं होते जैसे कि दूसरी आदिम जातियों में पाये जाते हैं। यद्यपि खरिया लोग मकान बहुत कम ही बनाते हैं और कामचलाऊ झोपड़ों में ही रहते हैं, किन्तु मेहमानों के साथ उनका व्यवहार बहुत उदारतापूर्ण होता है। सभी मेहमानों को गाँव के एक सिरे पर स्थित 'गीती ओ' नाम के बड़े घर में ठहराया जाता है, जो अविवाहितों का शयनकक्ष होता है। इस घर की बनावट समूह की छोटाई-बड़ाई पर निर्भर रहती है और यह छोटे झोपड़े से लेकर ऐसे बड़े शानदार और कलापूर्ण गृह के रूप से बनाया जाता है जिसके बीचोबीच छत को सँभालने के लिए एक खम्भा लगाया हुआ होता है। खरिया लोग दूसरी आदिम जातियों की तरह जंगल में मिलनेवाली सभी तरह की चीज़ें खाते हैं और उनके भोजन में जानवरों के मांस और पेड़-पौधों के फलादि की नाना प्रकार की वस्तुयें होती हैं। उन लोगों ने बूटियों द्वारा चिकित्सा की बड़ी विस्तृत विधियाँ बना रखी हैं और कई जंगली फल तथा उनके बीज भोजन के अकाल के समय उनका काम चलाते हैं। गोमांस को छोड़कर वे बिना ज़हरवाले किसी भी जानवर का मांस खा लेते हैं, लेकिन कुछ दिनों से वे सुअर, बन्दर और भेंड़ के गोश्त से भी नफ़रत करने लगे हैं। 'भारतवर्ष का जंगली जीवन' (Jungle Life in India) नामक अपनी पुस्तक में वी० बाल (V. Ball) ने एक स्थल पर वर्णन किया है कि किस प्रकार उन्होंने एक पहाड़ी खरिया औरत को अपने परिवार के सदस्यों को सुबह के भोजन के लिए साल के पत्तों से बनाये हुए पत्तल पर एक छोटे जानवर की आँत को परसते हुए देखा था और किस प्रकार सबको परस चुकने के बाद उस स्त्री ने अपने हिस्से के मांस को दो पत्तियों के बीच में लपेटकर भूनने के लिए आग में डाल दिया था। जहाँ तक मदिरा का सम्बन्ध है, छोटा नागपुर पठार की दूसरी मुण्डा-भाषी जातियों की तरह खरिया लोगों को भी चावल से बनाई हुई 'गोलंग' को पीने का बड़ा शौक़ होता है और वे अपने भाग्य का संचालन करनेवाले देवी-देवताओं वग़ैरह को भी यही शराब भेंट में चढ़ाते हैं।

खरिया समाज पितृमूलक होता है, यद्यपि मातृमूलक संगठन के चिह्न भी उसमें पाये जाते हैं। पिता परिवार का मुखिया होता है और उसका कर्त्तव्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपनी स्त्री तथा बालबच्चों का भरण-पोषण करना होता है। खरिया जाति ने स्त्री-पुरुष में काम का बँटवारा बहुत अच्छी तरह किया है। स्त्रियों और पुरुषों के लिए अलग-अलग धन्धे बाँध दिये गये हैं। प्रकृति और समाज ने मिलकर खरिया स्त्रियों को उन कार्यों से वंचित कर रक्खा है, जो दूसरी जातियों में कोई भी व्यक्ति—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—कर सकता है। इनमें ऐसे अनगिनती काम हैं जिनके बारे में यह विश्वास प्रचलित है कि उन्हें सिर्फ़ पुरुष या स्त्री को ही करना चाहिए। इन विश्वासों ने स्त्री को पुरुष के और पुरुष को स्त्री के कार्य-क्षेत्र से इस तरह अलग कर रक्खा है कि बड़ी कट्टरतापूर्वक वे एक दूसरे को अपने कामों में दख़ल देने से रोके रखते हैं। उदाहरण-स्वरूप, खरिया लोगों में हल जोतना पुरुषों का कार्य है और हल चलते वक़्त किसी स्त्री को उसे छूने या नज़दीक़ तक आने नहीं दिया जाता। ओराँव और अन्य कई जाति के लोगों में हल को स्त्रियों के स्पर्श से अपवित्र करने की सख़्त मुमानियत है और गाँव के सभी हल गाँव से दूर एक निश्चित स्थान पर रख दिये जाते हैं ताकि भूल से भी कोई स्त्री उनसे छू न जाय। अगर एक क्षण के लिए भी कोई स्त्री हल को चलाये तो सारा गाँव इस डर से काँप उठेगा कि परिणामस्वरूप कहीं सूखा या अकाल न पड़ जाय। ऐसी अवस्था में गाँव में "रोग खेदना" नामक क्रिया की जाती है। "रोग खेदना" का अर्थ 'रोग-निवारण' या 'विपत्ति-निवारण' होता है। खरिया जाति में उपर्युक्त अपराध करनेवाली स्त्री को अपने पाप का प्रायश्चित्त जिस हल को वह छू लेती है उस हल में जुतकर कुछ धरती जोतकर करना होता है। कुछ गाँवों में ऐसी स्त्री को थोड़ी-सी घास भी खानी पड़ती है तथा गाँव में घूमकर भीख माँगनी पड़ती है ताकि भीख माँगकर इकट्ठी की गई सामग्री से वह एक दावत दे सके जिसके बिना गाँव के बड़े-बूढ़े उसे जाति में फिर लेने से इनकार कर सकते हैं। ऐसी स्त्री का शुद्धि-संस्कार गोलंग (एक तरह की देशी शराब) का एक प्याला पिलाकर किया जाता है। इस

प्याले में खरिया जाति के देवता पोनोमोसोर के नाम पर बलि की हुई एक मुर्ग़ी के ख़ून की कुछ बूँदें भी मिली रहती हैं।

स्त्री-पुरुष के कार्य-विभाजन के सम्बन्ध में इतनी कड़ाई होने पर भी खरिया स्त्री का पद समाज में बहुत सम्मानपूर्ण होता है और परिवार तथा पति पर उसका प्रभाव बहुत अधिक होता है। यद्यपि मुण्डा जाति की शाखाएँ जानवरों तथा पौधों के नाम से पुकारे जानेवाले अनेक क़बीलों में बँटी हुई हैं, परन्तु खरिया जाति के सम्बन्ध में ऐसा प्रतीत होता है कि उसके जंगली-से-जंगली लोगों ने भी अपना आरम्भिक क़बीलोंवाला संगठन खो दिया है। विवाह एक ही गाँव तथा एक ही गोत्र या क़बीले में होते हैं अतएव उनमें बहिर्गोत्रीय विवाह करनेवाले क़बीले हैं ही नहीं। उनमें कुछ तरह के विवाहों का निषेध है। उदाहरणस्वरूप, एक ही रक्त के सम्बन्धियों में विवाह नहीं होता। चचेरे भाई-बहनों में या पिता के चचेरे भाइयों की संतानों से ब्याह नहीं होता। परन्तु भाई और बहन की संतानों में ब्याह-सम्बन्ध हो सकता है। खरिया जाति का पुरुष अपनी सगी साली से और अपने भाई की साली से ब्याह कर सकता है। खरिया जाति की विधवा स्त्री अपने देवर या अपने बहनोई के भाई से ब्याह कर सकती है।

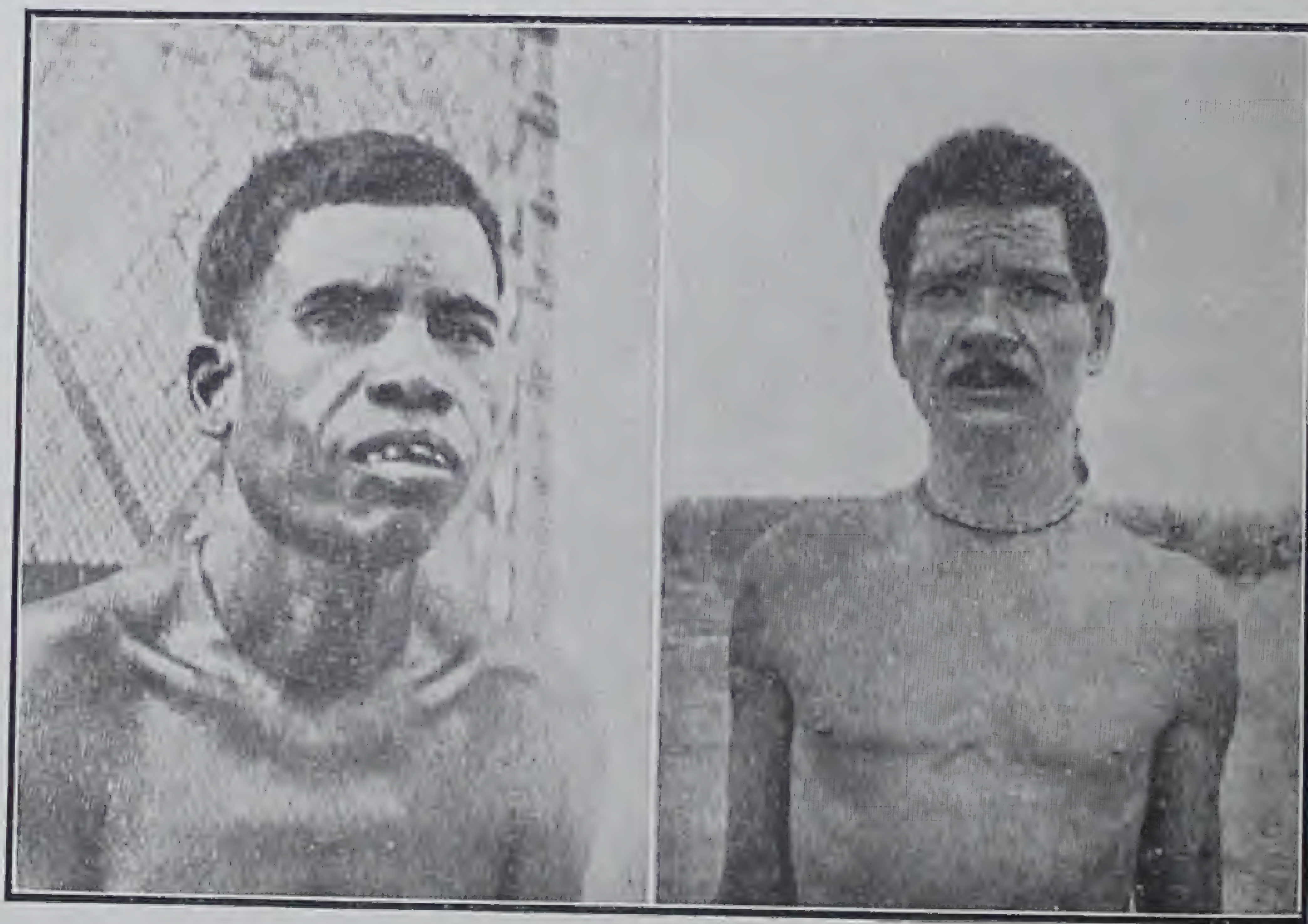


ढेलकी खरिया जाति की स्त्री और उसके बच्चे

पीछे इनकी कुटिया है।

विवाह हमेशा युवावस्था प्राप्त होने पर होता है। खरिया जाति में प्रणय द्वारा, घर से भगाकर तथा अन्य तरीक़ों से भी विवाह-सम्बन्ध होते हैं, परन्तु प्रचलित तरीक़ा मूल्य चुकाकर ब्याह करना है। विवाह करनेवाले वर-वधू के माता-पिता अथवा संरक्षक होते हैं। इनकी विवाह-विधि बहुत ही सरल है। एक मध्यस्थ को, जिसे डँडिया कहा जाता है, विवाह-सम्बन्धी बातें तय करने का भार सौंपा जाता है और जब दोनों पक्ष सब बातें तय कर लेते हैं, तो विवाह की एक तिथि निश्चित हो जाती है। अधिकतर विवाह माघ (जनवरी-फ़रवरी) के महीने में होते हैं, यद्यपि कुछ लोग फाल्गुन में भी विवाह करते हैं। विवाह के लिए सोमवार, मंगलवार, बुधवार और शुक्रवार ही शुभ वार समझे जाते हैं, यद्यपि खरिया लोग स्वयं नहीं जानते कि दूसरे दिन विवाह के लिए शुभ क्यों नहीं हैं। वधू की क़ीमत काफ़ी ऊँची रहती है और इसलिए विवाह-संस्कार तब तक स्थगित रक्खा जाता है जब तक कि वर विवाह के उपयुक्त साधन नहीं जुटा पाता। दूसरा उपाय यह है कि मनचाही लड़की को भगा लिया जाय या किसी भीड़ के सामने बाज़ार में अथवा भरी सड़क पर युवक अपनी प्रेमिका के मत्थे पर ज़बर्दस्ती सिन्दूर लगा दे। युवती के मस्तक पर सिन्दूर लगाना उससे ब्याह करने के बराबर होता है, क्योंकि यह विवाह-संस्कार की सबसे महत्व-पूर्ण और उत्तरदायित्वपूर्ण क्रिया है। ढेलकी खरिया लोगों की सगाई की रस्म दूसरे खरिया लोगों में प्रचलित सगाई की रस्म से ज़रा भिन्न होती है। इनमें जब वरपक्ष के लोग वधू के गाँव में आते हैं, तो वधूपक्ष के लोग उनको खिलाते-पिलाते, उनके पैर धोते, दाबते तथा उनके शरीर में तेल मलते हैं और उनको पीने के लिए काफ़ी मात्रा में शराब देते हैं। तदुपरान्त दूल्हे के रिश्तेदार वधू के पिता और रिश्तेदारों के पैरों में तेल लगाते और उनको दाबते हैं। इसके बाद लड़की का पिता एक मंच पर चढ़कर यह घोषणा करता है—"आप सब लोग सुनें, आज से मैंने अपनी लड़की कुटुम्ब के बन्धुओं (वर पक्ष के सम्बन्धियों) को दे दी है। आगे चलकर उसका जीवन कैसा होगा यह न तो वह जानती है और न मैं। आज वह स्वस्थ और प्रसन्न है। बाद को वह अन्धी या लँगड़ी हो जाय, कौन जानता है। जो कोई यहाँ है सब सुन लें, मैंने अपनी लड़की इनको दे दी है।" सभी एकत्रित लोग एक स्वर से बोलते हैं—"हम पंचों ने आपकी बात सुन ली।" इस सगाई के संस्कार के बाद विवाह होता है, परन्तु यह ज़रूरी नहीं है कि विवाह एक या दो महीने के अन्दर-अन्दर ही हो जाय। दो या तीन वर्ष बाद भी विवाह

हो सकता है। वधू की क़ीमत तय करने का एक बड़ा मनोरंजक तरीक़ा है। गाँव के स्त्री-पुरुष इकट्ठे होते हैं और वधू के पिता और उसके रिश्तेदार बीच में बैठते हैं। वर के पिता के संकेत पर कई लड़के-लड़कियाँ ढोरों की भाँति हाथ-पैर के बल चलते हुए भीड़ में पहुँचते हैं। पहुँचकर वे ढोरों की नक़ल करते हुए चरना या रंभाना शुरू कर देते हैं। तब वधू का पिता या उसके बदले और कोई उनमें से जितने को पकड़ सके पकड़ने की कोशिश करता है और जितने को वह पकड़ पाता है उतने ही ढोर वर के पिता को देने पड़ते हैं। इसके बाद कुछ और लड़के-लड़कियाँ भेड़-बकरियों की तरह चलते हुए आते हैं। इनसे कितनी भेड़ें और बकरियाँ दी जायँ इसका निश्चय होता है। वधू के पिता या उसके किसी प्रतिनिधि को इन मनुष्य-रूपी भेड़ और बकरियों को पकड़ना पड़ता है और इस तरह वधू की क़ीमत बिना झगड़े के तय हो जाती है। प्रायः विवाह तय करनेवाला मध्यस्थ वधू की क़ीमत पहले ही तय कर लेता है और उपर्युक्त नाटकीय दृश्य केवल तमाशे के लिए किया जाता है। पति-पत्नी के बीच पूर्ण सहयोग के लिए खरिया लोग बहुत प्रसिद्ध हैं, क्योंकि उनमें ऐसे पति बहुत हैं, जिन पर पत्नी का पूर्ण आधिपत्य रहता है और तलाक़ के मामले विरले ही पाये जाते हैं। बच्चों की बड़ी ख़बरदारी रक्खी जाती है। दम्पति के बच्चे न रहने पर तलाक़ हो भी सकता है, परन्तु बच्चे हो जाने पर तलाक़ शायद ही होता है। यद्यपि खरिया लोगों के बच्चे छोटी अवस्था में ही अपना अधिकांश काम सीख लेते हैं तो भी उनको अपनी जीविका के लिए कठिन परिश्रम नहीं करने दिया जाता। दस वर्ष की आयु से लेकर विवाह की अवस्था तक उनका जीवन बड़ा सुखमय और सुगम होता है। जब तक उनके माता-पिता जीवित रहते हैं, वे अपने खाने-पीने और रहने के लिए चिन्ता नहीं करते। अपने माता-पिता की मृत्यु के बाद ही उनको कठोर परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। उनमें ऐसे सैकड़ों गीत प्रचलित हैं, जिनमें माता-पिता की मृत्यु के लिए शोक प्रकट करते हुए उस समृद्ध घर की बड़े अभिमान के साथ प्रशंसा की जाती है, जहाँ माता-पिता अपनी संतान की ज़रूरतों को बिना उनसे कुछ काम कराये पूरा किया करते हैं। हो और मुण्डा लोगों की तरह खरिया युवक वर्त्तमान का ही ख़याल करता है, 'कल' की चिन्ता नहीं करता। हो युवक यह गीत गाता है—



(बाईं ओर) एक पहाड़ी खरिया पुरुष; (दाहिनी ओर) एक दुध खरिया जाति का पुरुष।
दोनों के चेहरों की असमानता स्पष्ट है।

"प्यारे, हमें चाहिए कि हम प्रसन्न रहें,
जब तक यह जीवन है, तब तक प्रसन्न रहें।
ऐसा आनन्द फिर हमें न मिलेगा,
न हम हमेशा जीवित ही रहेंगे, प्यारे!
पृथ्वी की तरह हम अमर नहीं हैं, और न वृक्षों की
पत्तियों की तरह हममें नवीन कोंपलें ही फूट सकती हैं।"

खरिया युवक में भी यही भावना उसकी बोल-चाल की भाषा के गीतों में पाई जाती है।



महर्षि व्यास

व्यास भारतीय ज्ञान-गंगा के भगीरथ हैं। जिस प्रकार इस देवनिर्मित देश को किसी पुरा-युग में भगीरथ ने अपने उग्र तप से गंगावतरण के द्वारा पवित्र किया था, उसी प्रकार पुराण मुनि वेद-व्यास ने भारतीय लोक-साहित्य के आदि युग में हिमालय के बदरिकाश्रम में अखंड समाधि लगाकर अध्यात्म, धर्म-नीति और पुराण की त्रिपथगा गंगा का पहले अपनी आत्मा में साक्षात्कार किया और फिर साहित्यिक साधना के द्वारा देश के आर्य वाङ्मय को उससे पवित्र बनाया। ज्ञानरूपी हिमवान् के उच्च शिखरों पर बहनेवाले दिव्य जलों को मानों वेद-व्यास भूतल पर ले आए। उन्होंने लोक-साहित्य को वेग की प्रेरणा दी। उनके द्वारा पूर्वजों के ज्ञान और चरित्रों से गुम्फित सरस्वती लोक के कंठ में आ विराजी।

जिस प्रकार भारतवर्ष की प्राकृतिक सम्पदा का अपरिमित विस्तार है, उसी प्रकार कालक्रम से वेद-व्यास की साहित्यिक सृष्टि भी लोक के देश-व्यापी जीवन में अनन्त बनकर समा गई है। एक प्रकार से सारे राष्ट्र का जीवन ही आज व्यास रूपी महान् वट-वृक्ष की छाया के आश्रय में आ गया है। व्यास भारतवर्षीय ज्ञान के सर्वोत्तम प्रतिनिधि बन गए हैं। यदि भारतीय ज्ञान की उपमा एक ऐसे रत्न से दी जाय जिसकी चमक के सहस्रों पहलू हों, तो व्यास की शत-साहस्री संहिता पूरी तरह से उस महार्घ मणि का स्थान ले सकती है। जैसे भगवान् समुद्र और हिमवान् गिरि दोनों रत्नों की खान हैं, वैसे ही 'भारत' भी रत्नों से सम्पूर्ण है।* व्यास की प्रतिभा की स्तुति में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता था—

> **धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।**
> **यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥**
> (आदिपर्व ५६।३३)

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक जीवन के चार पुरुषार्थों से सम्बन्ध रखनेवाला जो कुछ ज्ञान महाभारत में है, वही दूसरी जगह है; जो यहाँ नहीं है वह कहीं और भी न मिलेगा।

जीवन-चरित

पुराविदों के प्रयत्न करने पर भी व्यास हमारे ऐतिहासिक तिथिक्रम के शिकंजे में पूरी तरह नहीं बाँधे जा सके। विक्रम से तीस शताब्दी पूर्व से लेकर पन्द्रह शताब्दी पूर्व तक के किसी युग में हमारे व्यास का उदय हुआ। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा से लेकर कृष्ण द्वैपायन तक अट्ठाइस व्यासों की परम्परा मिलती है। ये मुख्यतः पुराणों के प्रवचनकर्त्ता रहे होंगे। पर जब तक सब पुराणों के सुसमीक्षित संस्करण तैयार न हो जायँ तब तक इस अनुश्रुति का पूरा मूल्य नहीं आँका जा सकता। हाँ, जय नामक उत्तम इतिहास के रचनेवाले अमितौजा महामुनि व्यास, जिनका नाम अट्ठाइस व्यासों के अन्त में आता है, अवश्य ही हमारे चिरपरिचित वे पुराण मुनि हैं जो कुरु-पाण्डव युग में इस पृथिवी पर बदरिकाश्रम और हस्तिनापुर के बीच में आते-जाते थे। हिमालय के रम्य शिखर पर जहाँ नर-नारायण नामक दो पर्वत हैं, वहाँ भागीरथी के समीप विशाला बदरी नामक स्थान में व्यास ने अपना आश्रम बनाया था। आज भी बदरीनारायण के इस प्रदेश के दर्शन के लिए प्रति वर्ष सहस्रों यात्री जाते हैं। विशाला बदरी के समीप ही आकाशगंगा है जहाँ व्यास का चंक्रमण (घूमने का) स्थान था। यह स्थान हरद्वार

---

* **यथा समुद्रो भगवान्यथा हिमवान् गिरिः।**
ख्यातावुभौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते॥
(आदिपर्व ५६।२७, सुक्थणकर संस्करण)

से लगभग एक मास की पैदल यात्रा के बाद आता था। उसी हिमवत् पृष्ठ पर व्यास का आश्रम था, जिसके कण-कण में दिव्य तप की भावना ओत-प्रोत थी। वहाँ व्यास ने चार प्रमुख शिष्यों को वैदिक संहिताओं का अध्ययन कराया। पैल ने ऋग्वेद, वैशम्पायन ने यजुर्वेद, जैमिनि ने सामवेद और सुमन्तु ने अथर्ववेद की संहिताओं का पारायण किया। कहा जाता है कि व्यास ने स्वयं अत्यधिक परिश्रम से समस्त वैदिक मंत्रों का वर्गीकरण करके चार संहिताओं का विभाग किया, और इस साहित्यिक साधना के कारण ही उनका नाम वेद-व्यास प्रसिद्ध हुआ।* इसी आश्रम में कुरु-पांडवों के युद्ध की समाप्ति पर व्यासजी ने तीन वर्ष के संतत उत्थान के बाद महाभारत नामक श्रेष्ठ काव्यात्मक इतिहास की रचना की—

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ॥
(आदि पर्व ५६।३२)

यह महाभारत पाँचवाँ वेद कहलाता है और इसे व्यास ने अपने पाँचवें शिष्य रोमहर्षण को पढ़ाया था। इसका एक नाम कार्ष्ण वेद भी है। वस्तुतः व्यास का जन्म-नाम कृष्ण था। महाभारत की राजनीति के युग में दो कृष्ण प्रसिद्ध हुए, एक वासुदेव कृष्ण और दूसरे द्वैपायन कृष्ण। यमुना नदी के एक द्वीप में जन्म होने के कारण ये द्वैपायन कहलाए। चेदि देश के राजा वसु उपरिचर के वीर्य से हस्तिनापुर के पास, जहाँ एक टापू था, सत्यवती का जन्म हुआ। जन्मकाल से ही यमुनातीर-वासी दाशराज ने उसका पालन-पोषण किया था। सत्यवती नामक यह कन्या यमुना के पार नाव चलाती हुई प्रथम यौवन के समय योगी पराशर मुनि के संयोग से व्यास की माता बनी। इसी सत्यवती के साथ आगे चलकर राजा शन्तनु ने विवाह किया। व्यास की माता सत्यवती गंगापुत्र भीष्म की सौतेली माँ थी, अतएव व्यास और पितामह भीष्म का सम्बन्ध अत्यन्त निकट का था। सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य निस्सन्तान ही मृत्यु को प्राप्त हुए। उनके बाद जब कुरुकुल अनपत्यता के कारण डूबने लगा, तब अपनी माता सत्यवती के कहने को मानकर व्यास ने विचित्रवीर्य की स्त्रियों से धृतराष्ट्र और पाण्डु नामक दो पुत्रों को उत्पन्न किया। इसी अवसर पर एक दासी के गर्भ से विदुर उत्पन्न हुए। आम्बिकेय धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि कौरव और कौशल्यानन्दन पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिरादि पंच पांडव हुए। व्यासजी ही इस वंश के बीज वपन करनेवाले थे। अतएव जन्म-पर्यन्त हस्तिनापुर के राजनीतिक उतार-चढ़ाव के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा। पुत्रों के जन्म के बाद व्यास ने हस्तिनापुर के पास सरस्वती नदी के किनारे भी एक आश्रम बना लिया था। वहाँ से वे हस्तिनापुर आते रहते थे। जिस समय पाण्डु की मृत्यु के बाद पाण्डव हस्तिनापुर आए और पाण्डु का दाह-संस्कार हुआ, उस समय व्यास वहाँ मौजूद थे। व्यास ने माता सत्यवती को सलाह दी कि अब तुम हस्तिनापुर छोड़कर वन में जाकर योग में चित्त लगाओ। कौरव-पाण्डवों की अस्त्र-परीक्षा के समय भी व्यास हस्तिनापुर में थे। उन्होंने वनवास के समय एकचक्रा नगरी में पाण्डवों से भेंट करके उन्हें द्रौपदी के स्वयंवर में सम्मिलित होने की सलाह दी। व्यासजी का अमोघ मंत्र गाढ़े वक़्त में सदा पांडवों के साथ रहा। ब्याह के पश्चात् जब पांडवों को राज मिला तब भी राजसूय यज्ञ की सूझ व्यासजी से ही उनको प्राप्त हुई। इस यज्ञ में आपसी डाह के ऐसे बानक बने जिनसे आगे युद्ध अवश्यम्भावी जँचने लगा। व्यासजी युधिष्ठिर को क्षत्रियों के भावी विनाश की सूचना देकर स्वयं कैलाश पर्वत की यात्रा को चले गए।* इधर पांडवों ने जुए में हारकर फिर वन की राह ली। व्यासजी को जब यह समाचार मालूम हुआ तब उन्होंने आकर धृतराष्ट्र को समझाया कि पाण्डवों के साथ न्याय करें, और स्वयं द्वैतवन में जाकर पाण्डवों से मिलें। वहाँ उन्होंने युधिष्ठिर को प्रतिस्मृति नामक सिद्ध विद्या दी और उन्हें दूसरी जगह जाकर रहने की सम्मति दी। पाण्डव द्वैतवन को छोड़कर सरस्वती के किनारे काम्यकवन में रहने लगे। उनके वनवास के बारह वर्ष समाप्त हो रहे थे। व्यासजी फिर उनके पास पहुँचे और युधिष्ठिर को नीतिमार्ग और आत्मसंयम के धर्म का उपदेश देकर अपने आश्रम को चले गए। तेरहवें वर्ष के बाद जब युधिष्ठिर ने अपना राज्य वापस माँगा तब व्यास ने फिर धृतराष्ट्र को समझाया। परन्तु काल के सामने बूढ़े और अन्धे राजा धृतराष्ट्र तथा मनीषी वेद-व्यास का एक भी उपाय सफल

* यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात्कृष्णत्वमेव च ॥
(आदि पर्व ६६।१५)

* स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि कैलासं पर्वतं प्रति।
अप्रमत्तः स्थितो दान्तः पृथिवीं परिपालय ॥
(सभापर्व ४६।१७)

न हुआ। व्यास अपने ज्ञान-चक्षु से काल की महिमा को जानते थे। काल की दुर्धर्ष सत्ता में विश्वास उनके दर्शन का अभिन्न अंग था जिसे उन्होंने कई जगह महाभारत में प्रकट किया है—

कालमूलमिदं सर्वं जगद्बीजं धनञ्जय।
काल एव समादत्ते पुनरेव यदृच्छया।
स एव बलवान् भूत्वा पुनर्भवति दुर्बलः॥

(मौसल पर्व ८।३३।३४)

काल सबकी जड़ है, काल संसार के उत्थान का बीज है। काल ही अपने वश में करके उसे हड़प लेता है। कभी काल बली रहता है, कभी वही निर्बल हो जाता है। समन्तपञ्चक के सर्व क्षत्रियों का क्षय करनेवाले युद्ध को अपनी आँखों से देखकर वेद-व्यास ने काल की महिमा के ध्यान से ही अपने चित्त को धैर्य दिया। जिस समय कुरुक्षेत्र में दोनों ओर से भारतीय सेनाएँ आ डटीं तब भी व्यासजी ने धृतराष्ट्र को समझाकर युद्ध रोकना चाहा। पर उनकी एक न चली। युद्ध के दिनों में भी वह जब-तब अपने मंत्र से स्थिति को सँभालते रहे और युद्ध के अन्त में शोकमना धृतराष्ट्र को और युधिष्ठिर को समझा-बुझाकर धैर्य बँधाया। युधिष्ठिर को राज्य के लिए तैयार करके नीति, धर्म और अध्यात्म की शिक्षा के लिए भीष्म के पास भेजा और अश्वमेध करने की प्रेरणा की। युद्ध के सोलह वर्ष बाद वह धृतराष्ट्र से फिर हिमालय में जाकर मिले और तप करने की सलाह देकर अपने आश्रम को चले गए। जब सरस्वती नदी के तीर पर बसनेवाले आभीर गणों (हरियाने के दस्युओं) ने वृष्णि वंश की स्त्रियों को अर्जुन के देखते-देखते लूट लिया, तब शोक और अपमान से भग्न-हृदय अर्जुन अन्तिम बार व्यास के दर्शन को गए। व्यास ने उन्हें कालचक्र के उत्थान और पतन का उपदेश देकर बिदा किया। घटनाओं के झंझावात में भी क्षोभरहित स्थिति के प्रतीक वेद-व्यास हैं।

ग्रन्थ-परिचय

व्यास को वेदान्तसूत्रों का कर्त्ता भी माना जाता है। वेदान्तसूत्रों का नाम भिक्षुसूत्र भी है। पाणिनि की अष्टाध्यायी से विदित होता है कि भिक्षुसूत्र के रचयिता पाराशर्य थे। पराशर के पुत्र होने के कारण व्यास का ही एक नाम पाराशर्य था। बदरी आश्रम में रहने के कारण व्यास का दूसरा नाम बादरायण मुनि भी था और इसी कारण कभी-कभी वेदान्तसूत्रों को बादरायणसूत्र भी कहते हैं। पाणिनि के शास्त्र में जो ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है उसको प्रामाणिक मानते हुए यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त हेतु है कि वेदान्तसूत्रों की रचना वेद-व्यास ने ही की हो। वेदान्तसूत्र उपनिषदों के अध्यात्मज्ञान का निचोड़ है। कहा जाता है कि वेद-व्यास ने अपने पुत्र शुक को मोक्षशास्त्र का अध्ययन कराया। सम्भव है, बादरायण सूत्रों की रचना में यही हेतु रहा हो।

परन्तु जो ग्रन्थराट् व्यास की कीर्ति का शुभ्र जयस्तम्भ है वह महाभारत है। महाभारत में व्यास ने अपनी अमित बुद्धि से अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र को भारतीय कथा के साथ-साथ बड़े सुन्दर ढंग से सजाकर सदा के लिए आर्य जाति के विस्तृत ज्ञान और लौकिक जीवन का रूप खड़ा कर दिया है—

अर्थशास्त्रमिदं पुण्यं धर्मशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामित बुद्धिना॥

(आदिपर्व २६।२१)

महाभारत सच्चे अर्थों में प्राचीन भारतवर्ष का विश्व-कोष है। संसार के साहित्य में महाभारत एक दिग्गज ग्रन्थ है। इसकी तुलना में यूनान के इलियड और ओडेसी अथवा आइसलैंड और स्कैंडिनेविया के प्राचीन एड्डा और सागा, जिनमें उत्तराखंड का बचा-खुचा गाथाशास्त्र * सुरक्षित है, बहुत पीछे छूट जाते हैं। महाभारत जहाँ एक ओर प्राचीन नीति और धर्म का अक्षय भंडार है, वहीं दूसरी ओर इसमें भारतीय गाथाशास्त्र की भी अनन्त सामग्री है। महाभारत को वेद-व्यास ने अतीत की घटनाओं के नीरस क्रोड़पत्र के रूप में नहीं रचा, अन्यथा वह अब से कहीं पहले अन्य देशों के भारी भरकम ऐतिहासिक पोथों की तरह धूलि-धूसरित हो गया होता। महाभारत एक जीते-जागते चित्रपट के रूप में सदा हमारे सामने रहा है, जिसके अर्थ का व्याख्यान अनगिन्त सूत अपने-अपने आसन से करते रहे हैं। आज भी व्यास-गद्दी का उत्तराधिकार भारत के अपने साहित्यिक जगत् में अक्षुण्ण बना हुआ है। आकाश में उड़नेवाले ज्ञान को पृथिवी के मानव की पहुँच में किस तरह लाया जा सकता है, इस प्रश्न का समाधान भारतवर्षीय व्यास-गद्दी है। पश्चिम को यह शिकायत है कि उसका नया ज्ञान विशेषज्ञों के हाथ में पड़कर लोक से दूर जा पड़ा है। जीवन-मरण एवं सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध में जो विज्ञान के संशोधन हैं उनको जन-साधारण के जीवन में ढालने के साधन का विज्ञान के पास अभाव है। परन्तु

* Nordic Mythology.

भारतवर्ष में सार्वजनिक शिक्षा के चमत्कारी विधानों में व्यास-गद्दी से कही जानेवाली कथाओं के द्वारा विशेषज्ञ और लोक के बीच की खाई पर पुल बनाने का सफल प्रयास होता आया है। इसी कारण रामायण, महाभारत और पुराणों के महान् चरित्रों की अमर कथाएँ देश के कोने-कोने में फैली हुई हैं। अपने पूर्वपुरुषाओं के चरित्रों को सुनने की जो हमारे मन में स्वाभाविक उमंग है, वही हमारा सबसे उत्कट इतिहास-प्रेम है। जनमेजय के शब्दों में हम कह सकते हैं—

नहि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत्।

(आदि० ५६।३)

'पूर्वपुरुषों के महान् चरित्र को सुनते-सुनते मैं कभी तृप्त नहीं होता।' उस स्वाभाविक कौतुक को तृप्त करने का राष्ट्रीय साधन महाभारत ग्रन्थ था। पराक्रमी द्रोण, भीष्म, अर्जुन, भीम, कर्ण और दुर्योधन के महावीर्य भुजदंडों की शक्ति के जिस ओज को वेद-व्यास ने अपने श्लोकों में भरा है, उससे अब भी हमारा वीर हृदय उछलने लगता है।

भारत—महाभारत

महाभारत को शत-साहस्री संहिता कहा गया है। हरिवंश को मिलाकर महाभारत के १८ पर्वों में एक लाख श्लोक होने का अनुमान किया जाता है। पर यह निश्चय है कि वेद-व्यास के समय में इस ग्रन्थ का यह वृहत् रूप न था। पाणिनि की अष्टाध्यायी के एक सूत्र (६।२।३८) में महाभारत नाम आता है। उससे पहले आश्वलायन गृह्यसूत्र में भारत और महाभारत दोनों का एक ही वाक्य में अलग-अलग उल्लेख है। वास्तविक कुरु-पाण्डवों का वीर-गाथा ग्रन्थ भारत ही था, जिसमें चौबीस हज़ार श्लोक थे और इस कारण जिसका नाम 'चतुर्विंशति साहस्री भारत संहिता' प्रसिद्ध था। इसकी अन्तःसाक्षी स्वयं महाभारत में मौजूद है—

चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥

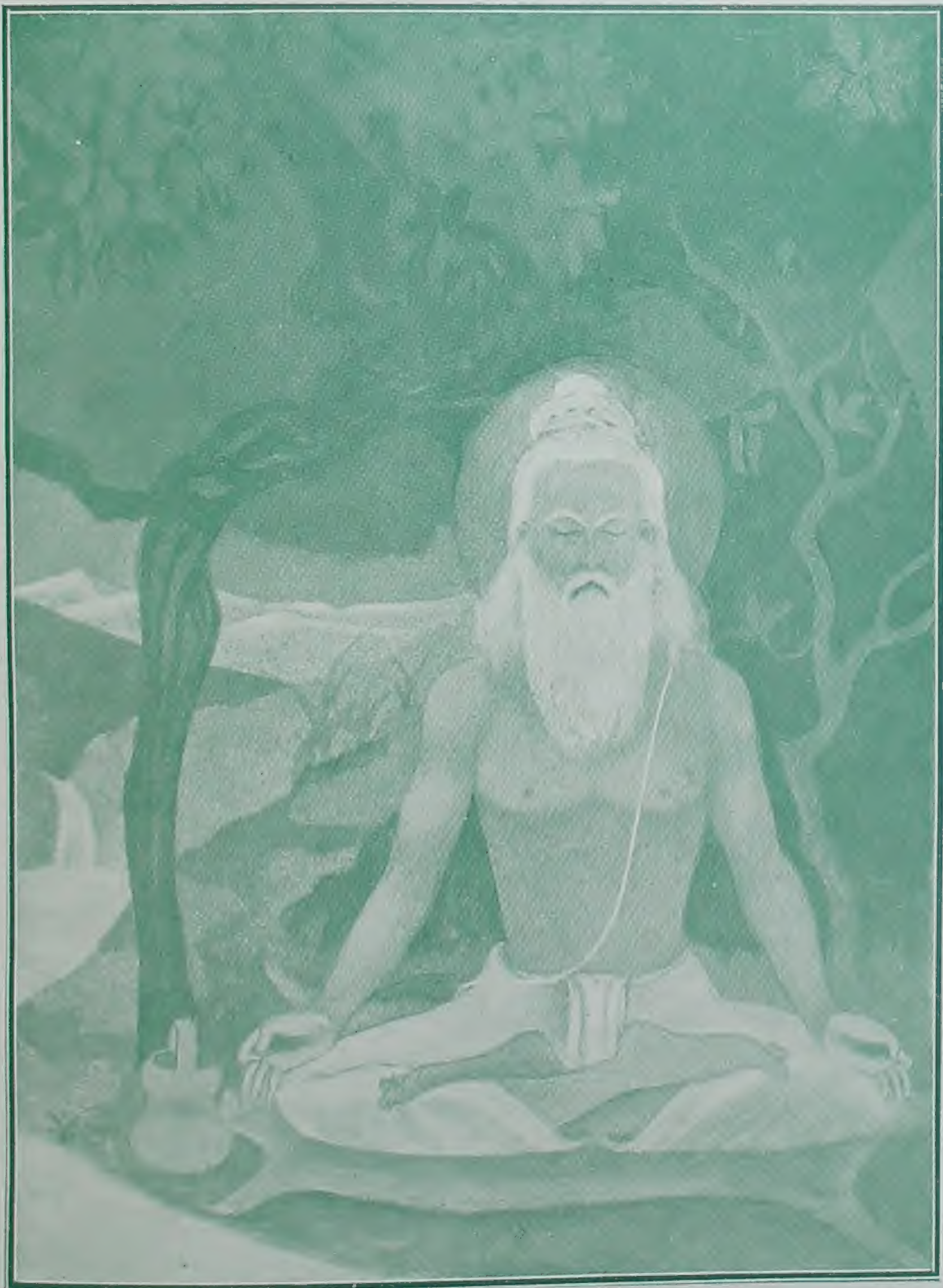
(आदि० १।६१)

व्यास का मूल भारत बिना उपाख्यानों के था पर वर्तमान ग्रन्थ में सैकड़ों उपाख्यान यथास्थान पिरो दिए गए हैं। व्यास ने तीन वर्ष के संतत परिश्रम (उत्थान) से २४००० श्लोकों में भरतवंश के इतिहास और युद्ध का मूल काव्य रचा। उसको रोमहर्षण सूत ने यथावत् पढ़ा। पुनः व्यास-शिष्य वैशम्पायन ने जनमेजय के यज्ञ में उसका पारायण किया। इस समय तक ग्रन्थ का रूप शुद्ध बना रहा। महाभारत का तीसरा संस्करण भार्गव-वंशी कुलपति शौनक के बारह वर्षों के यज्ञ में देखने में आता है। यहाँ वक्ता और श्रोता दोनों नैमिषारण्य की सघन छाया में शान्ति के साथ पर्याप्त अवकाश लेकर बैठे थे। इस समय भारत का उपबृंहरण महाभारत के रूप में हो चुका था, चतुर्विंशति साहस्रीं संहिता बढ़कर शतसाहस्री बन गई थी। उसमें ययाति* और परशुराम-जैसे बड़े-बड़े उपाख्यान स्वच्छन्दता से मिला लिये गए। बहुत-सी कथाएँ, जिन्हें हम बौद्ध जातकों तक में पाते हैं, लोक की चलती-फिरती सम्पत्ति थीं, वे भी महाभारत में मिला ली गईं। अनुशासन पर्व की पुष्करहरण की कथा (अ० ९३-९४) और बिसजातक (सं० ४८८) एक ही हैं। अनागत विधाता आदि तीन मछलियों की कहानी या राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिड़िया की बाल-कहानियाँ भी महाभारत के भीतर आ गईं। इसके अतिरिक्त शिव, विष्णु, सूर्य, देवी और गणपति की बढ़ती हुई भक्ति के आवेश में सम्प्रदायविदों ने महाभारत को अपनी कृपा का लक्ष्य बनाया। परन्तु इन सबसे बढ़कर अध्यात्म, धर्म और नीति के अनेक संवाद महाभारत में समय-समय पर मिलते गये। इन सब सम्मिश्रणों के कारण मूल ग्रन्थ का कायापलट हो गया। कुछ समय तक तो भारत और महाभारत का अस्तित्व अलग-अलग पहचानने में आता रहा, परन्तु जैसा स्वाभाविक था, आगे चलकर केवल महाभारत ही आर्य संस्कृति के सबसे महान् ज्ञान-विज्ञान-कोष के रूप में रह गया।

पूना-संस्करण

प्रश्न यह है कि क्या फिर मूल भारत ग्रन्थ को महाभारत में से अलग किया जा सकता है? क्या यह सम्भव है कि महाभारत के भीतर कालक्रम से जमी हुई विभिन्न साहित्यिक तहों को फिर से उलटकर हम कुछ उस पर्दे को हटा सकें जिसके पीछे नवीन ने प्राचीन भाग को छिपा रक्खा है? यह प्रश्न हमारे राष्ट्रीय पाण्डित्य की कसौटी है। हर्ष की बात है कि यह भगीरथ कार्य पूना के 'भांडारकर प्राच्य विद्या इन्स्टीट्यूट' की तरफ़ से आज लगभग बीस वर्षों से हो रहा है। महाभारत के इस संस्करण में जहाँ तक मानवी बुद्धि और परिश्रम के लिए सम्भव है, वहाँ तक महाभारत के उस मूल रूप का, जिसका पारायण उग्रश्रवा सूत ने शौनक के सत्र में किया था, उद्धार करने

*** व्याकरण साहित्य में इन उपाख्यानों का उल्लेख 'यायात' 'आधिराम' नामों से किया गया है। (काशिका सूत्र ६।२।१०३)**



महर्षि वेदव्यास

का प्रयत्न किया गया है। डा० सुक्ठणकर इस कार्य के प्राण हैं। उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा से कुछ-कुछ यह भी प्रयत्न किया है कि हम शौनक के संस्करण से भी पूर्व में हुए परिवर्धनों को अलग पहचान सकें। इस दिशा में उनका 'भृगु और भारत'* शीर्षक बृहत् निबन्ध स्तुत्य है। उससे यह ज्ञात होता है कि भृगुवंशी ब्राह्मणों के द्वारा किये गये सम्पादन के फलस्वरूप शताब्दियों में भारत को महाभारत का स्वरूप प्राप्त हुआ होगा। कुलपति शौनक स्वयं भार्गव थे। भरतवंश से भी पहले उनकी जिज्ञासा भार्गववंश की कथा के लिए प्रकट होती है—

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।

भार्गव शौनक का यह पक्षपात समग्र ग्रन्थ पर पड़े हुए भार्गव प्रभाव का द्योतक मात्र है। औवोंपाख्यान (आदि), कार्तवीर्योपाख्यान (वन), अम्बोपाख्यान (उद्योग), विपुलोपाख्यान (शान्ति), उत्तंकोपाख्यान (अश्वमेध) का सम्बन्ध भार्गवों से है। आदि पर्व के पहले ५३ अध्याय, जिनमें पौलोम और पौष्य पर्व हैं, भार्गव कथाओं से सम्बन्ध रखते हैं। भरतवंश की कथा उसके बाद चली है। शान्ति और अनुशासन पर्वों में जो धर्म और नीति परक अंश हैं, वे भी भृगुओं की प्रेरणा के फल हैं। यह सत्य है कि मूल भारतसंहिता के उस शुद्ध रूप का जिसमें उसका आविर्भाव हिमवत् पृष्ठ के बदरी वन में हुआ था, इस समय ठीक-ठीक उद्धार करने का दावा कोई नहीं कर सकता, पर फिर भी सहस्रों वर्षों की जमी हुई काई को हटाकर जितना भी परिष्कार किया जा सके श्रेयस्कर है। इस दृष्टि से पूना के भारत-चिन्तकों का कार्य राष्ट्रीय महत्त्व का है। महामति पुराणज्ञ डा० सुक्ठणकर इस कार्य में हमारे अर्वाचीन उग्रश्रवा हैं।

साहित्यिक महत्त्व

महाभारत संस्कृत-साहित्य का धुरंधर ग्रन्थ है। उसका साहित्यिक तेज सर्वातिशायी है। 'एड्डा' और 'सागाओ' के लिए प्रख्यात लेखक कारलाइल ने लिखा है कि वे इतनी महान् कृतियाँ हैं कि उन्हें किंचित् स्वल्प कर देने पर शेक्सपियर, दाँते और गेटे बन सकते हैं। यही बात हम महाभारत के लिए कह सकते हैं। भास, कालिदास माघ, भारवि, हर्ष की साहित्यिक कृतियाँ महाभारत के ही अल्प-विषयात्मक रूप हैं। यों भी महाभारत साहित्यिक शैलियों की खान है—उपाख्यान शैली, गल्प शैली, दर्शन और अध्यात्म निरूपण की संवादात्मक शैली, प्रश्नोत्तर शैली (युधिष्ठिर-अजगर और युधिष्ठिर-यक्ष प्रश्न, वनपर्व अ० १८०—८१, अ० ३१३), केवल प्रश्नात्मक शैली (सभापर्व अ० ५, नारद प्रश्न मुख से राजधर्मानुशासन), नीति ग्रन्थात्मक शैली (विदुरनीति, उद्योग० अ० ३३-४०), स्तोत्र शैली*, सहस्रनाम शैली—इस प्रकार वर्तमान महाभारत में साहित्यिक पद्धति के अनेक बीज पाये जाते हैं।

व्यास और राष्ट्र

पर हमारे राष्ट्रीय अभ्युत्थान के लिए महाभारत का विशेष महत्त्व यह है कि वह प्राचीन भूगोल, समाजशास्त्र, शासन-सम्बन्धी संस्था, नीति और धर्म के आदर्शों की खान है। वेद-व्यास जिस भारत-राष्ट्र की उपासना करते थे, भविष्य का प्रत्येक हिन्दू उसका स्वप्न देखेगा। उनका निम्नलिखित राष्ट्रगीत हमारे इतिहास का सनातन मंगलाचरण होगा—

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च॥
पृथोस्तु राजन्वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः।
ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च॥
तथैव मुचुकुन्दस्य शिबेरौशीनरस्य च।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा॥
कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च॥
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम्।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम्॥×

आओ, हे भारत! अब मैं तुम्हें भारत देश का कीर्तिगान सुनाता हूँ—वह भारत, जो इन्द्रदेव को प्रिय है, जो मनु, वैवस्वत, आदिराज पृथु, वैन्य और महात्मा इक्ष्वाकु को प्यारा था; जो भारत ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचुकुन्द और औशीनर शिबि को प्रिय था; ऋषभ, ऐल और नृग जिस भारत को प्यार करते थे; और जो भारत कुशिक, गाधि, सोमक, दिलीप और अनेकानेक वीर्यशाली क्षत्रिय सम्राटों को प्यारा था। हे नरेन्द्र! उस दिव्य देश की कीर्ति-कथा मैं तुम्हें सुनाऊँगा।

* भंडारकर इंस्टीट्यूट की मुखपत्रिका, भाग १८, पृ० १-७६

* जैसे महापुरुषस्तव (शान्ति अ० ३३८), कृष्णनाम स्तुति (शा० अ० ४३), भगवन्माहात्म्य (अनु० अ० १४८), शतरुद्रिय (अनु० अ० १६१), भगवन्नाम निरुक्ति (शा० अ० ३४१) और कृष्णस्तवराज (शा० अ० ४७)। स्तोत्र और सहस्रनामों का संग्रह इन्हीं दो पर्वों में अधिक है। यह संदेहजनक है।

× भीष्मपर्व अ० ६, श्लो० ५-६। संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं।

व्यास ने राष्ट्रीय राजनीति का जो आदर्श रक्खा है वह मनु और वाल्मीकि से मिलता है। पिछले दो अंकों में मनु और वाल्मीकि की राष्ट्र-कल्पना हम बता चुके हैं। वाल्मीकि के 'अराजक जनपद' गीत से मिलता-जुलता व्यास का 'यदि राजा न पालयेत्' (शान्ति० ६८।१-३०) गीत है। लोक में शान्ति की व्यवस्था राजा का सबसे प्रथम कर्त्तव्य है। धर्म की जड़ राजा की सुव्यवस्था के बल पर टिकी रहती है। यदि राजा न हो, तो दुष्ट साधुओं को खा डालें, धर्म डूब जाय, वेद कहीं के न रहें, सारी प्रजा अन्धकार में विलीन हो जाय। † राष्ट्र के धर्मबन्ध शासन की सुव्यवस्था के अधीन हैं। व्यास के मत में बिना राजा का राष्ट्र मरा हुआ है—

मृतं राष्ट्रमराजकम्। (वन० ३१३। ८४)

अराजक राष्ट्र मात्स्य न्याय का शिकार हो जाता है। (शा० १६—१७)। व्यास ने राजा और क्षत्रिय की परिभाषा दी है। जो लोकरंजन करता है वही राजा है (शा० ५६। ११), जो क्षत्र से बचाता है वही क्षत्रिय है (शा० २६। १३८)। इन्हीं आदर्शों को हमारे इतिहास के स्वर्णयुग में कालिदास ने दोहराया था। × भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है कि राजा काल को बनाता है, या काल राजा को बनाता है इसमें तुम कभी संशय मत करना, राजा ही काल को बनाता है—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा काल कारणम्।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम्॥
(शा० ६१। ६)

जब राजा भली प्रकार दंडनीति का पालन (administration of law) करता है, तभी सतयुग आ जाता है। राजा का आसन राष्ट्र का ककुद् है। राजा की उस आदर्श आसन्दी की रक्षा में रहकर प्रजा जिस धर्म का पालन करती है, उसका एक चतुर्थ अंश राजा को प्राप्त होता है। राजा को अपनी नीति में माली की तरह होना चाहिए, कोयला फूँकनेवाले आंगारिक की तरह नहीं। एक फूलों की चाह में वृक्षों को पोसता है, दूसरा अंगारों के लिए पेड़ों को फूँक डालता है। राजा का शरीर प्रजाएँ हैं। अपने आपे को बचाने के लिए भी राजा को प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। प्रजा का भी सर्वोत्तम शरीर राजा ही है। राजा को पुष्ट करके वे अपने आपको बढ़ाती हैं। जो राष्ट्र की कामना करते हैं उनको सबसे पहले लोक की रक्षा करनी चाहिए। व्यास ने षोडश राजीय पर्व में प्राचीन आर्य राजाओं के आदर्श का स्मरण दिलाया है। राम के राज्य में समय पर मेघ बरसते थे, और सदा सुभिक्ष रहता था। दिलीप के राज्य में स्वाध्याय घोष, टंकार घोष और दान के संकल्प का घोष, ये तीन शब्द बराबर सुनाई पड़ते थे। संक्षेप में वेद-व्यास के मत के अनुसार लोक का सारा जीवन राजधर्म के आश्रित है, राजधर्म बिगड़ गया तो वेद, धर्म, वर्ण, आश्रम, त्याग, तप, विद्या, सब कुछ नष्ट हुआ समझना चाहिए (शान्ति पर्व ६३। २८-२९)—

मज्जेत् त्रयी दंडनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वाः दीक्षा राजधर्मेषु युक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु चोक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥ ‡

व्यास और धर्म

व्यास ने जो धर्म का स्वरूप रक्खा है, वह उनका सबसे महान् ऋषित्व या दर्शन है। वे धर्म को स्वर्ग-प्राप्ति करानेवाले थोथे कर्मों का जंजाल नहीं मानते। उन्होंने अपने ध्यान से धर्म की एक नई परिभाषा, एक नये स्वरूप का अनुभव किया—

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः।
(उद्योग० १३७। ६)

---

† **राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।**
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्॥
न योनिदोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक् पथः।
मज्जेद्धर्मस्त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत्॥ (शा० अ० ६८)

× **क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः**
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः। (रघुवंश २। ५३)
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृति रंजनात्। (रघु० ४। १२)
अर्थात् रघु प्रकृतिरंजन के कारण सच्चे अर्थों में राजा कहलाए।

‡ **'हिन्दू पालिटी' में डा० जायसवाल ने इन श्लोकों का निम्नलिखित अनुवाद दिया है—**

"When Politics becomes lifeless the triple Veda sinks, all the *dharmas* [i. e., the bases of civilization] (howsoever) developed, completely decay. When traditional State Ethics are departed from, all thc bases of the divisions of individual life are shattered.

"In Politics are realised all the forms of renunciation, in Politics are united all the sacraments, in Politics are combined all knowledge, in Politics are centred all the Worlds."

व्यक्ति को, राष्ट्र को, जीवन को, संस्थाओं को, लोक और परलोक—सबको धारण करनेवाले जो शाश्वत सर्वोपरि नियम हैं वे धर्म हैं—

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यस्याद्धारण सयुक्तं स धर्म इत्युदाहृतः ॥

धर्म स्वर्ग से भी महान् है। लोकस्थिति का सनातन बीज धर्म है। इस दृष्टि से देखने पर धर्म गंगा के ओजस्वी प्रवाह की तरह जीवन के सुविस्तृत क्षेत्र को सिंचित और पवित्र करनेवाला अमृत बन जाता है। राजाओं की जय और पराजय आने-जानेवाली चीज़ हैं, जीवन में सुख और दुःख भी सदा एक-से नहीं रहते, पर सम्पत्ति और विपत्ति में भी जो वस्तु एक-सी बनी रहती है वह धर्म है। व्यास ने महाभारत संहिता लिखने के बाद उसके अंत में अपने दृष्टिकोण और उद्देश्य का निचोड़ चार श्लोकों में दिया है, जिसे भारतसावित्री कहते हैं। उसका अन्तिम श्लोक यह है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुख दुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

अर्थात् काम से, भय से, लोभ से, यहाँ तक कि प्राणों के लिए भी धर्म को छोड़ना ठीक नहीं। क्योंकि धर्म नित्य है, सुख और दुःख क्षणिक हैं। इसी तरह जीव भी नित्य है, जन्म और मृत्यु अनित्य हैं। 'मैं भुजा उठाकर कह रहा हूँ, पर कोई मेरी बात सुननेवाला ही नहीं है। धर्म से ही धन और काम मिलते हैं, उस धर्म का आश्रय क्यों नहीं लेते!' ये भारत-सावित्री में व्यास के साक्षात् वचन हैं।

यदि धर्म जीवन को धारण करनेवाला है और धर्म अच्छी चीज़ है तो जीवन भी मूल्यवान् होना चाहिए। व्यास के धर्म में जीवन रोने-धोने या माया समझकर खोने की चीज़ नहीं। उनकी दृष्टि में यह लोक कर्मभूमि है, परलोक फलभूमि होगा। देवदूत ने मुद्गल से कहा—

कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमि रसौ मता ।
(वन० २६१ । ३५)

वन में पाण्डवों के पास जाकर स्वयं व्यास ने यह मत रक्खा था। वे इस लोक में कर्मवाद को मानते हैं। उसके साथ दैववाद को मानते हैं और दोनों के ऊपर अध्यात्म ब्रह्म या आत्मतत्त्व में विश्वास रखते हैं। उन्होंने जो दार्शनिक मत रक्खा उसमें मनुष्य सबके केन्द्र में है। व्यास का यह श्लोक स्वर्ण के अक्षरों में टाँकने योग्य है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि
नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् ।
(शान्ति० १८० । १२)

अर्थात्, यह रहस्य-ज्ञान तुमको बताता हूँ—मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है। व्यास का यह मानव-केन्द्रिक (man as the centre of universe) मत हमारे अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान और सामाजिक अध्ययन में सर्वत्र व्याप्त होता जा रहा है।

व्यास की परिभाषा के अनुसार कर्म मनुष्य की विशेषता है—

प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः ।
(अश्व० ४३ । २०)

कर्म करने से जो प्रकाश जीवन में आता है उसी से मनुष्य देव बन जाता है। आत्माभिमान के साथ मनुष्य-शरीर रखने से ही सारे लाभ प्राप्त होते हैं।

पाणिवाद

व्यास ने मानवी पुरुषार्थ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए इन्द्र के मुख से **पाणिवाद** का व्याख्यान कराया है। जिनके पास हाथ हैं वे क्या नहीं करते? जिनके हाथ हैं वे ही सिद्धार्थ हैं। जिनके हाथ हैं उनकी मैं सबसे अधिक सराहना करता हूँ। जैसे तुम धन चाहा करते हो, वैसे मैं तो पाँच अँगुलियोंवाले हाथ चाहता हूँ। पाणिलाभ से बढ़कर कोई लाभ नहीं है।* जैसा कर्म किया जाता है वैसा ही लाभ मिलता है, यही शास्त्रों का निचोड़ है—

यथा कर्म तथा लाभ इति शास्त्रनिदर्शनम् ।
(शान्ति० २७६।२०)

किन्तु धनागम धर्म से होना चाहिए। व्यास जी के मन में धर्म का जो ऊँचा स्थान है उसके अनुसार न केवल अर्थ वरन् काम और मोक्ष भी धर्म पर आश्रित हैं और यह राज्य भी धर्ममूलक है—

त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलं नरेन्द्र राज्यञ्चेदं धर्ममूलं वदन्ति ।
(वन० ४।४)

व्यास की दृष्टि में लोक-संग्रह और लोक-धर्म बहुत मूल्यवान् पदार्थ हैं। आजगर मुनि को 'शोकधर्मविधान-वित्' अर्थात् लोक-धर्म के सिद्धान्त और संगठन का वेत्ता

---

* **अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः ।**
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः ॥
पाणिमद्भ्यः स्पृहाऽस्माकं यथा तव धनस्य वै ।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन् विद्यते ॥
(शान्तिपर्व १८० । ११-१२)

(शा० १७६।६) कहा गया है। जो व्यक्ति लोकपक्ष का इतना समर्थक हो, उसे गृहस्थ धर्म का प्रशंसक होना ही चाहिए। व्यास के अनुसार धर्म के द्वारा प्रवृत्त गृहस्थ आश्रम सब आश्रमों में तेजस्वी मार्ग है, वह पवित्र धर्म है जिसकी उपासना करनी चाहिए।*

व्यास और अध्यात्म

लोक, गार्हस्थ्य और मनुष्य के लिए जिस महापुरुष के मन में श्रद्धा है, जिसका दृष्टिकोण इन विषयों में इतना मँजा हुआ है, उसका अध्यात्मशास्त्र भी तदनुकूल ही मानव को साथ लेकर चलता है। मनुष्य पंचेन्द्रियों से युक्त प्राणी है। इन्द्रियाँ ही मानव को देव या असुर बना देती हैं। व्यास के अध्यात्मशास्त्र का सार इन्द्रियनिग्रह है—

आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रिय निग्रहात्।

(उद्योग ६६।१७)

इन्द्रियों को रोकने के सिवाय आत्मा की उन्नति का दूसरा उपाय नहीं है। विषयों की ओर जाती हुई इन्द्रियों को वश में रखने से अध्यात्माग्नि प्रकाशित हो उठती है। जिस प्रकार ईंधन के जलने से अग्नि चमक उठती है उसी प्रकार इन्द्रियनिरोध से महानात्मा प्रकाशित होता है। डसने के भाव से सर्प जाने जाते हैं, दम्भभाव से असुर, दानभाव से देव और दमभाव से महर्षि पहचाने जाते हैं (आश्व० अ० २१)। वेदज्ञान का रहस्य सत्य भाषण में है, सत्य का उपनिषद् इन्द्रियदमन है, और दम का फल मोक्ष है—

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद्दमः।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम्॥

(शा० २६६।१३)

आत्मनिरोध के द्वारा जो व्यक्ति जीवन में अपना मार्ग विषयों से भरे हुए जंगल में स्वयं निश्चित करता है, वह अपना ज्ञान औरों पर नहीं बघारता, बल्कि अपने आचार से औरों को उपदेश देता है। बोध्य ऋषि की कही हुई पुरातन गाथाओं को उद्धृत करके व्यास ने यही कहा है—**उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कंचन।** (शा० १७८।६) मैं अपनी 'करनी' से सिखाता हूँ, 'कथनी' से नहीं। वेदव्यास जीवन में ऋजुभाव के माननेवाले हैं। ऋजुभाव की उपासना ब्रह्मपद की प्राप्ति है, कुटिलता मृत्यु का पद है। इतना ही ज्ञान का सार है, और सब झूठी बकवाद है।†

कालधर्म

वेदव्यास के आध्यात्मिक दर्शन में कालधर्म का बड़ा स्थान है। उनकी आँखों ने समंत पंचक में हुए कुरु-पाण्डवों के दारुण नाश को देखा। बड़े कुशाग्र बुद्धि और कल्याणाभिनिवेशी व्यक्ति इच्छा रहते हुए भी उस क्षय को नहीं रोक सके। यह कालचक्र की ही महिमा है। कर्म के साथ मिलकर काल ही संसार में बहुत तरह के उलट-फेर करता है (शा० २१३।१३)। काल के पर्यायधर्म के सामने सब अनित्य ठहरता है, कभी एक की बारी, कभी दूसरे की। महाभारत के अन्त में जो व्यक्ति स्त्री पर्व को देखे, वह इसके सिवाय और क्या कह सकता है—

न च दैवं कृतो मार्गः शक्यो भूतेन केनचित्।
घटतापि चिरं कालं नियन्तुमिति मे मतिः॥

कोई प्राणी कितनी भी कोशिश करे दैव के रास्ते को नहीं रोक सकता! यह दैव या उत्कट काल विश्व का नित्य विधान है। इसी का नामान्तर सनातन ब्रह्म है। वेदव्यास मानव जीवन की घटनाओं की ऊहापोह करते हुए उनके अन्तिम कारण की खोज में यहीं विश्राम लेते हैं। यह सच है कि मनुष्य विधाता के द्वारा निश्चित संसार के विधान को बदल नहीं सकता, पर वह यह अवश्य कर सकता है कि उस सर्वोपरि शक्ति के रहस्यों का साक्षात्कार करके जीवन में ऋजुभाव को अपना ले। वह यह भी कर सकता है कि इन्द्रियों के निरोध और आत्म-चिन्तन से आत्म-ज्योति को इसी शरीर में प्राप्त कर ले। यह शरीर मूँज घास है, आत्मा उसके भीतर की सींक है। जिस प्रकार मूँज से इषीका निकाली जाती है, वैसे ही योगवेत्ता शरीर में आत्मा का साक्षात्कार करते हैं (आश्व० १६।२२-२३)।

व्यास की आज्ञा है कि जय नामक इतिहास सबको सुनना चाहिए। यह धुरंधर ग्रन्थ भारतीय चरित और ज्ञान का पूर्णतम वर्ण-पट (spectrum) है। इसके निर्माता की प्रज्ञा सूर्यरश्मियों की तरह विराट् है। सारा भारत राष्ट्र महामुनि वेदव्यास के लिए अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। हम भी हिमालय के शिलाप्रस्थ पर विराजमान बदरिकाश्रम के पुराण मुनि को प्रणाम करते हैं, जिनके पृथु नेत्रों में हमारे ज्ञान का सारा आलोक समा गया था, जिनका शालस्कन्ध के समान उन्नत मेरुदण्ड राष्ट्रीय मेरुदण्ड का प्रतीक था, जिनके चन्दनोक्षित कृष्णशरीर में हमारे शुभ आदर्श मानो राशिभूत होकर मूर्तिमान् हो उठे थे।

---

* सर्वाश्रमपदेऽप्याहुर्गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम्।
पावनं पुरुषव्याघ्र यं धर्मं पर्युपासते॥ (शा० ६६।३५)

† सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति॥(आश्व० ११।४)



विश्व की कहानी



पृथ्वी भी एक ग्रह है

पृथ्वी हमें इतनी बड़ी और भारी जान पड़ती है कि यह कल्पना करना कि पृथ्वी भी एक ग्रह है और बेलाग आकाश में स्थित है, हमारे लिए कठिन हो जाता है। किन्तु वास्तव में पृथ्वी सौर परिवार का एक अत्यंत लघु सदस्य है। अन्य ग्रहों की तरह यह भी अपनी धुरी पर नाचती हुई सूर्य की परिक्रमा करती है। यह बहुत बड़ी भी नहीं है। बृहस्पति या शनि के सामने तो यह बहुत ही छोटी लगेगी।



पृथ्वी भी एक ग्रह है

सूर्य के दो निकटतम ग्रह बुध और शुक्र का निरीक्षण आप पिछले लेख में कर चुके। इस लेख में पृथ्वी का एक ग्रह के रूप में विवेचन किया गया है।

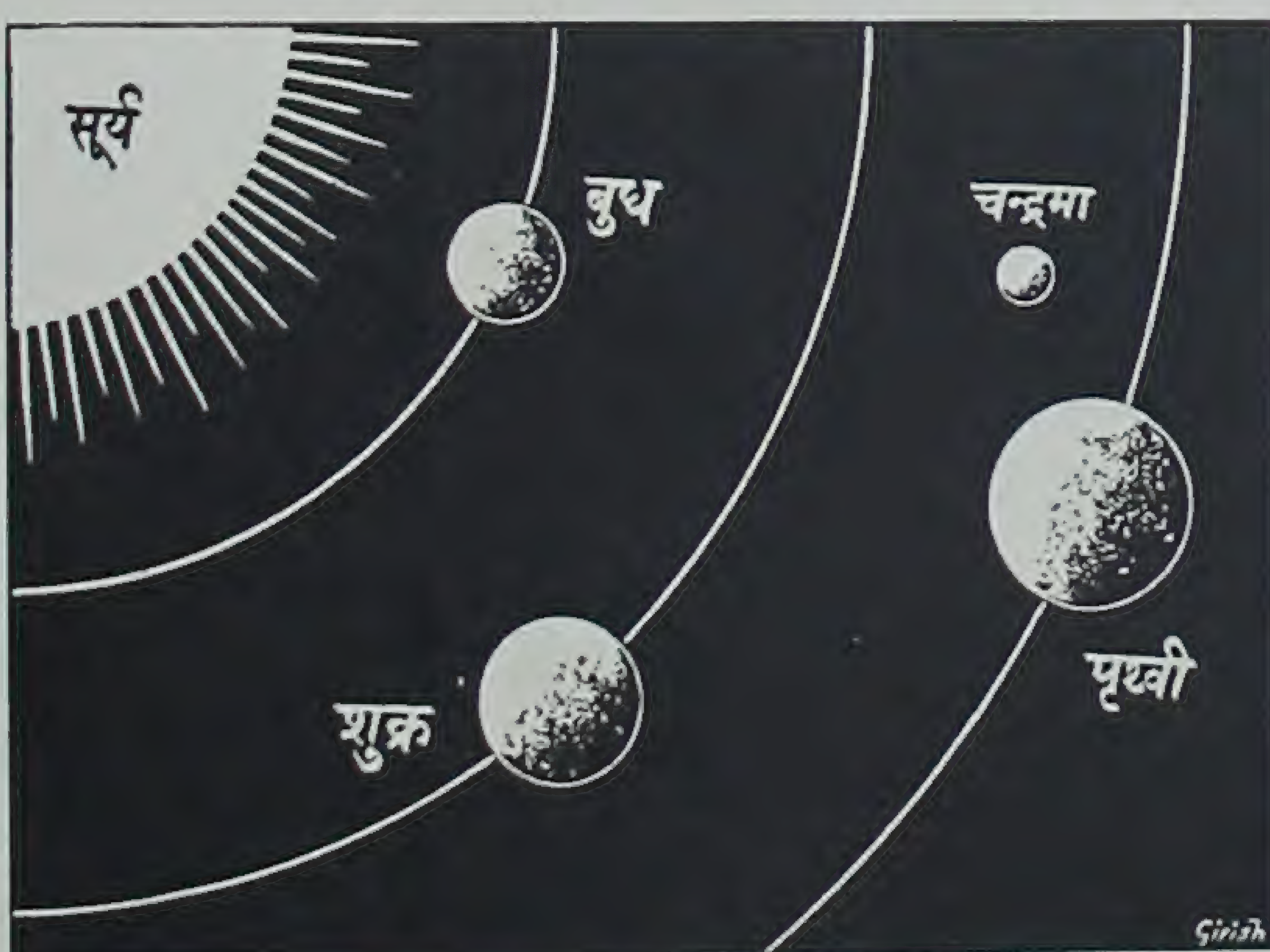
पृथ्वी, जिस पर हम रहते हैं, इतनी बड़ी, इतनी भारी, जान पड़ती है और ग्रह, जो आकाश में हमें दिखलाई पड़ते हैं, इतने छोटे, विंदु-सरीखे, जान पड़ते हैं कि यह कल्पना करना कि पृथ्वी भी एक ग्रह है हमारे लिए कठिन हो जाता था। प्राचीन काल के लोगों को कभी विश्वास ही न हो पाता था कि पृथ्वी आकाश में बेलाग है। उनकी कल्पना थी कि अनंत समुद्र में एक सर्प तैर रहा है, उसके ही फन पर पृथ्वी टिकी है ; इसके अतिरिक्त पृथ्वी को उन दिग्गजों (हाथियों) से ही सहारा मिल रहा है जो कछुओं की पीठों पर सवार हैं; ये कछुए उसी अनंत सागर में तैर रहे हैं जिसमें सर्प तैरता है।

कठिनाई की जड़ वस्तुतः यही थी कि प्राचीन काल के लोग समझते थे कि यदि पृथ्वी निराधार है, तो यह गिर पड़ेगी, ठीक उसी प्रकार जैसे अन्य निराधार वस्तुएँ गिर पड़ती हैं।

इस कठिनाई का मुँह-तोड़ उत्तर हमारे कुछ अर्द्ध-प्राचीन ज्योतिषियों ने ही दे दिया था। वाराह मिहिर ने, जिसका विश्वास था कि पृथ्वी आकाश में बेलाग टिकी है, स्पष्ट लिखा है कि पृथ्वी के ऊपर की सभी वस्तुएँ पृथ्वी की ओर गिरती हैं; तो पृथ्वी स्वयं किस ओर गिरेगी ?

आधुनिक युग के सभी पढ़े-लिखे लोग अपने भौतिक भूगोल के पाठों से जानते हैं कि पृथ्वी गोल है, वह आकाश में बेलाग स्थित है, और यह सूर्य के चारों ओर चल रही है।

अब तो पृथ्वी की एक-एक गज़ सतह देख ली गई है और हम प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं कि पृथ्वी किसी दूसरी वस्तु या प्राणी पर टिकी नहीं है। सच्ची बात यही है कि पृथ्वी भी एक ग्रह है। अन्य ग्रहों की तरह यह भी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है। अन्य ग्रहों की तरह यह भी प्रायः गोल है और अपनी धुरी



पृथ्वी की कक्षा

सौर परिवार में पृथ्वी का स्थान बुध और शुक्र की कक्षाओं के बाहर है, अतएव इन ग्रहों की अपेक्षा यह सूर्य से अधिक दूर है। परंतु मंगल, बृहस्पति, शनि, यूरेनस, नेपच्यून और प्लूटो की अपेक्षा यह सूर्य के निकट है, अतएव उनकी कक्षाएँ पृथ्वी की कक्षा के बाहर पड़ती हैं।

पर नाचती है। अन्य ग्रहों की अपेक्षा यह कुछ विशेष बड़ी भी नहीं है। बृहस्पति के सामने तो यह बहुत छोटी लगेगी।

शुक्र से पृथ्वी कैसी दिखलाई पड़ेगी ?

गणित और तर्क से हम अनुमान कर सकते हैं कि पृथ्वी दूर से कैसी दिखलाई पड़ती होगी। शुक्र की तरह पृथ्वी एकदम बादलों से ढकी नहीं है; और न यह चंद्रमा की तरह एकदम बादल-रहित है। इसलिए हम अनुमान कर सकते हैं कि पृथ्वी की परिक्षेपण-शक्ति—सूर्य के प्रकाश को बखेरने की ताक़त—शुक्र और चंद्रमा की परिक्षेपण-शक्तियों के बीच में होगी। वास्तविक नाप से इसका समर्थन भी अब हो गया है। सभी ने देखा होगा कि द्वितीया या तृतीया के चंद्रमा का अप्रकाशित भाग भी हमें मंद-मंद प्रकाश से चमकता हुआ दिखलाई पड़ता है। कारण यह है कि सूर्य का प्रकाश उस समय पृथ्वी पर ऐसी दिशा से पड़ता है कि पृथ्वी का प्रायः पूरा धरातल, जिस पर धूप पड़ती है, चंद्रमा की ओर रहता है। इसलिए पृथ्वी से बिखरा हुआ प्रकाश चंद्रमा पर इतनी अधिक मात्रा में पहुँच जाता है कि उसका साये में स्थित भाग भी हमको दिखलाई पड़ जाता है। चंद्रमा के मंद प्रकाशवाले भाग के प्रकाश को नापकर और इन बातों पर ध्यान देकर कि पृथ्वी पर सूर्य का प्रकाश कितना पड़ रहा है और चंद्रमा की परिक्षेपण-शक्ति क्या है, हम अब इसकी गणना कर सकते हैं कि पृथ्वी की परिक्षेपण-शक्ति क्या है।

इस प्रकार पता चला है कि पृथ्वी की परिक्षेपण-शक्ति ०·४५ है—सूर्य से जितना प्रकाश पृथ्वी पर आता है उसमें से १०० पीछे ४५ भाग बिखरकर लौट जाता है।



शुक्र के घने वायुमण्डल के कारण वहाँ से तारे-जैसी दिखाई दे रही पृथ्वी के आसपास एक या अधिक वलयाकार प्रकाश-मंडल भी दिखाई पड़ते होंगे।

परिक्षेपण-शक्तियों और धरातलों की नापों पर ध्यान रखकर गणना से पता चलता है कि दूर से देखने पर पृथ्वी चंद्रमा की अपेक्षा चालीस गुनी अधिक चमकदार जान पड़ती होगी। शुक्र से देखने पर उस समय जब शुक्र और पृथ्वी की दूरी सबसे कम रहती है, पृथ्वी अत्यंत चमकीली दिखलाई पड़ती होगी और इसके पास ही चंद्रमा भी चमकीले तारे के समान दिखलाई पड़ता होगा। शुक्र अपने महत्तम चमक के दिन हमको जितना चमकीला दिखलाई पड़ता है पृथ्वी उससे छः गुनी चमकीली दिखलाई पड़ती होगी। चंद्रमा उतना ही चमकीला दिखलाई पड़ता होगा जितना चमकीला बृहस्पति हमें पृथ्वी से दिखलाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त चंद्रमा पृथ्वी की अगल-बगल आन्दोलन करता हुआ दिखलाई पड़ता होगा। एक आन्दोलन में एक महीना समय लगता होगा और जिस समय चंद्रमा पृथ्वी से महत्तम दूरी पर पहुँचता होगा उस समय यह दूरी इतनी रहती होगी, जितना यहाँ से हमको चंद्रमा का व्यास दिखलाई पड़ता है।

अपनी चमक के कारण शुक्र और बृहस्पति हमको जितने सुंदर जान पड़ते हैं, शुक्र से देखने पर पृथ्वी और चंद्रमा तो और भी सुंदर जान पड़ेंगे—एक शुक्र से कहीं अधिक चमकीला, दूसरा बृहस्पति के समान;

सदा दोनों पास-ही-पास, परंतु कभी एक दूसरे को प्रायः छूते हुए और कभी आधी डिगरी की दूरी पर। वस्तुतः, दोनों की अधिक चमक के कारण चंद्रमा और पृथ्वी शुक्र से देखने पर ग्रह और उपग्रह के बदले युग्म-ग्रह से जान पड़ते होंगे। पृथ्वी का रंग कुछ नीला और चंद्रमा का कुछ पीला जान पड़ता होगा। कभी-कभी दोनों मिलकर एक ही ग्रह के समान भी दिखलाई पड़ते होंगे।

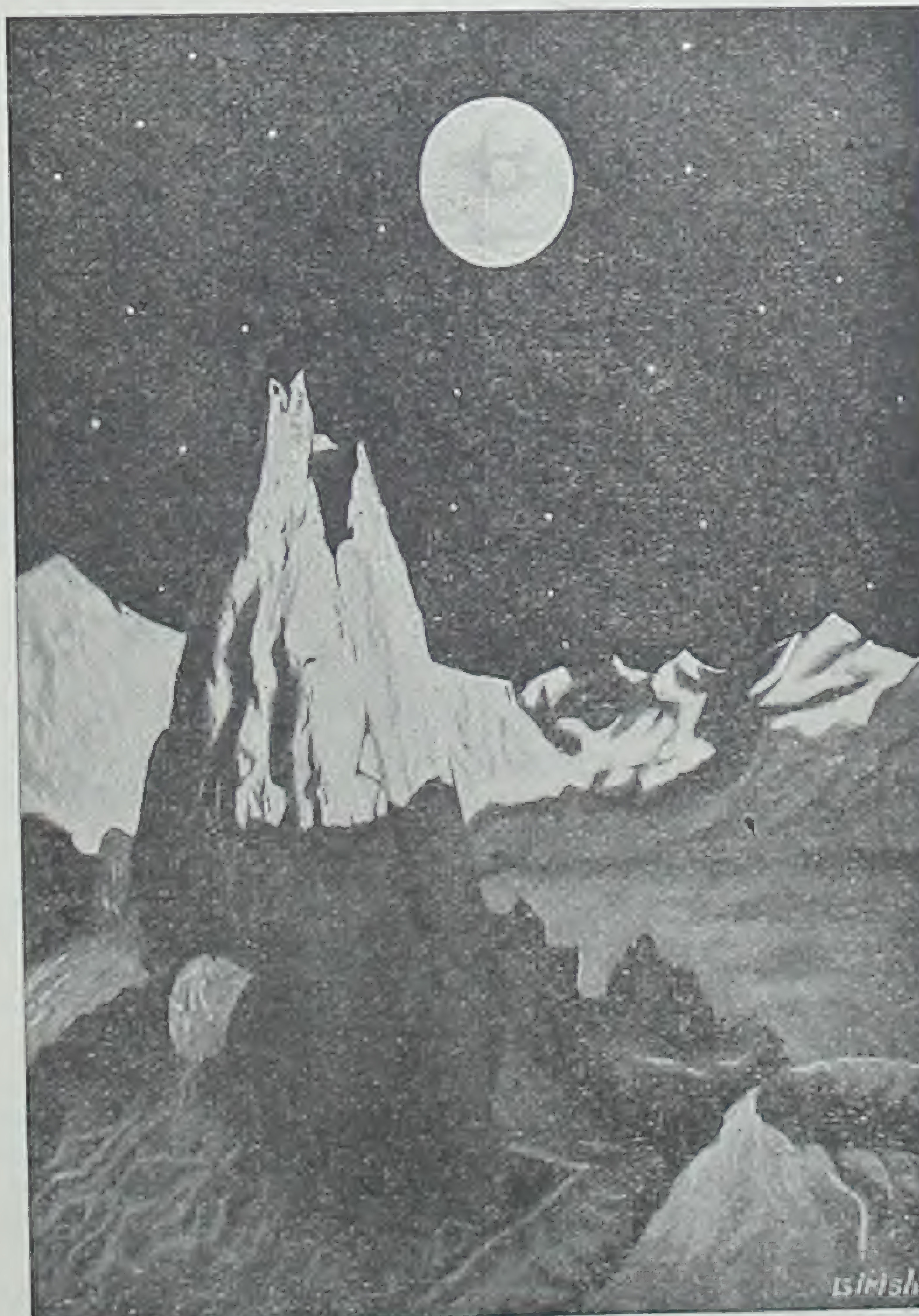
चंद्रमा से पृथ्वी

चंद्रमा से देखने पर पृथ्वी ठीक चंद्रमा-सी दिखलाई पड़ेगी। इसमें कलाएँ उसी प्रकार घटती-बढ़ती हुई दिखलाई पड़ेंगी, जैसे हमें चंद्रमा में दिखलाई पड़ती हैं। परंतु पृथ्वी क्षेत्रफल में चंद्रमा से तेरह गुनी बड़ी जान पड़ेगी। बड़ा ही अनुपम दृश्य होगा!

किसी भी ग्रह से दूरदर्शक द्वारा देखने पर, और चंद्रमा से कोरी आँख से ही देखने पर, पृथ्वी का स्वरूप कुछ-कुछ वैसा ही दिखलाई पड़ेगा जैसा बृहस्पति का हमको यहाँ से दिखलाई पड़ता है—इसमें धारियाँ दिखलाई पड़ेंगी। बात यह है कि पृथ्वी के रेगिस्तान सब प्रायः दो धारियों में हैं। भूमध्य के उत्तर में सहारा (अफ़्रीका), अरब, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान, तिब्बत, तुर्किस्तान और मंगोलिया तथा मध्य अमरीका के रेगिस्तानों से एक धारी बन जाती है। भूमध्य के नीचे कालाहारी (दक्षिण अफ़्रीका), ग्रेट विक्टोरिया (आस्ट्रेलिया) तथा अटाकामा (दक्षिणी अमरीका) के रेगिस्तानों से एक दूसरी धारी बन जाती है। ये रेगिस्तानवाली धारियाँ, बादल न रहने के कारण, दूर से काली दिखलाई पड़ती होंगी। फिर, भूमध्य के पास प्रायः सदा ही वर्षा हुआ करती है और प्रायः सदा ही बादल रहते हैं। बादल बहुत सफ़ेद दिखलाई पड़ते हैं। इसलिए पृथ्वी के मध्य में सफ़ेद धारी दिखलाई पड़ती होगी। अंत में, उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव-प्रदेशों के पास बर्फ़ के कारण चमकीली टोपियाँ दिखलाई पड़ती होंगी, जिस प्रकार मंगल पर हमें ऐसी टोपियाँ दिखलाई पड़ती हैं। इससे स्पष्ट है कि चंद्रमा या शुक्र या अन्य ग्रहों से देखने पर पृथ्वी पर दो बर्फ़ीली टोपियाँ और तीन धारियाँ दिखलाई पड़ती होंगी।

यदि बादल हुए तो बात दूसरी है, अन्यथा समुद्र में सूर्य का प्रतिबिंब भी कहीं दिखलाई पड़ेगा, ठीक उसी प्रकार जैसे काँच के गोल क़लईदार लट्टू में प्रतिबिंब दिखलाई पड़ता है। यही पृथ्वी का सबसे अधिक चमकीला विंदु जान पड़ेगा, परंतु इसकी स्थिति सूर्य की दिशा के अनुसार बदलती रहेगी।

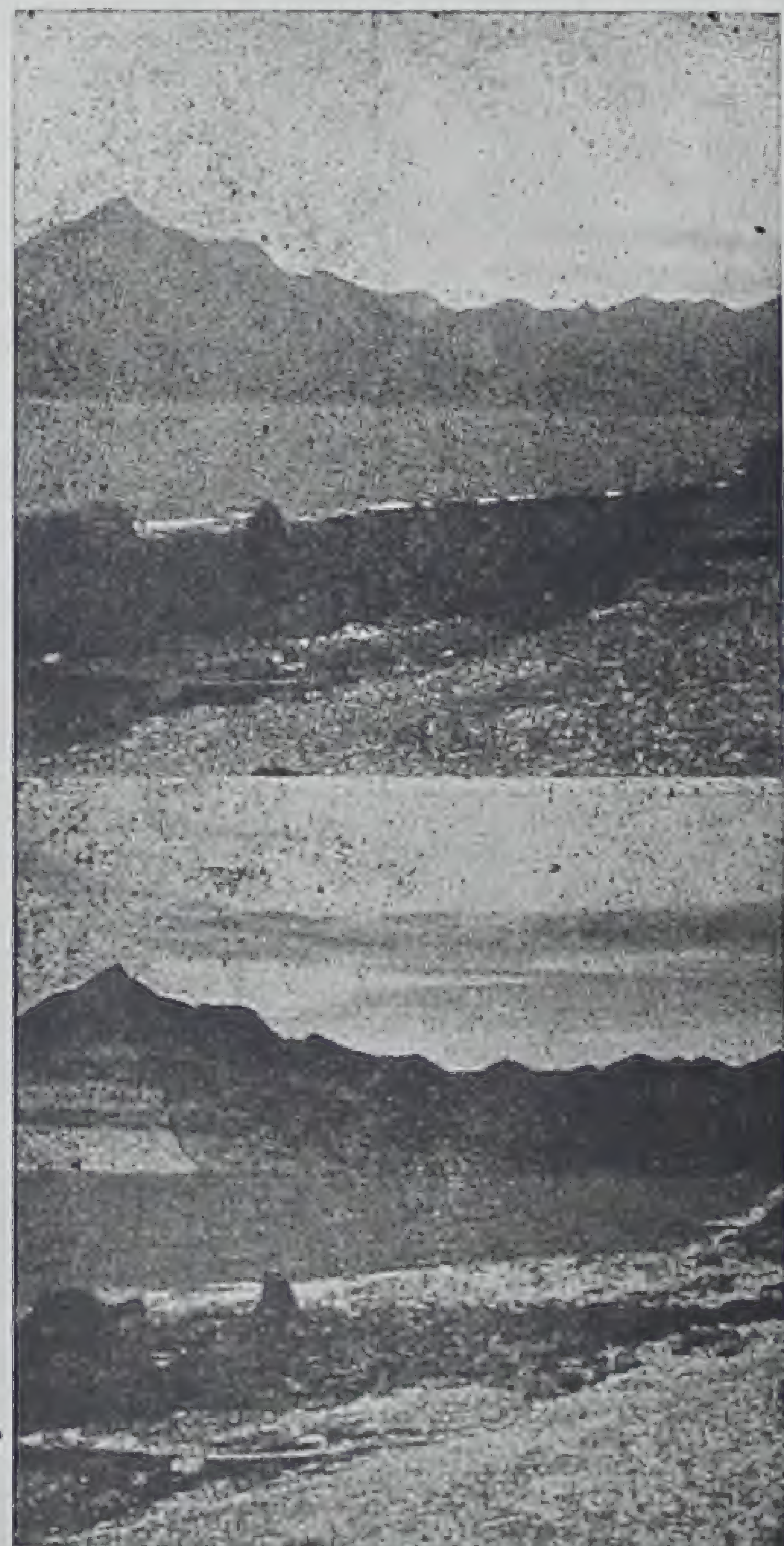
पृथ्वी पर कभी-कभी कलंक भी दिखलाई पड़ेंगे, क्योंकि पृथ्वी के बड़े-बड़े बवंडर (साइक्लोन) दूर से कलंक की तरह ही दिखलाई पड़ेंगे। चंद्रमा या शुक्रादि ग्रहों का कोई ज्योतिषी (यदि वहाँ ज्योतिषी हों!) जब पृथ्वी का भ्रमणकाल ऐसे कलंक से निकालने की चेष्टा करेगा तो यह



चंद्रमा से पृथ्वी एक बहुत बड़े चंद्रमा-जैसी दिखलाई पड़ती होगी, जिसमें कलाएँ घटती-बढ़ती दृष्टिगत होती होंगी।

काल चौबीस घंटे से कुछ अधिक ही निकलेगा, क्योंकि ये बवंडर भूमध्य के पास साधारणतः पूरब से पच्छिम की ओर चलते हैं, परंतु समशीतोष्ण कटिबंधों में ये साधारणतः पच्छिम से पूरब की ओर चलते हैं। इसलिए ग्रह पर स्थित हमारे कल्पित ज्योतिषी को पृथ्वी पर दिखलाई पड़नेवाली विभिन्न धारियों के भ्रमणकाल भिन्न-भिन्न मिलेंगे। मध्य में भ्रमणकाल २४ घंटे से कुछ अधिक और इसके उत्तर और दक्षिण में २४ घंटे से कुछ कम निकलेगा।

रेगिस्तानों को छोड़कर अन्य स्थानों में इने-गिने अवसरों पर ही १००० वर्गमील का स्थान बिना बादलों का मिलेगा। इसलिए बाहरी ज्योतिषी को पृथ्वी के वास्तविक स्वरूप के अध्ययन में बड़ी कठिनाई पड़ेगी। परंतु धैर्य के साथ बराबर देखते रहने और नक़्शा बनाते रहने से अवश्य ही उसे कुछ वर्षों में पृथ्वी के सब महाद्वीपों की रूपरेखा का पता चल जायगा। बड़े-बड़े पहाड़, बड़ी-बड़ी नदियों इत्यादि का भी ज्ञान चंद्रमा पर स्थित ज्योतिषी को हो जायगा। हमारे वायुमंडल के कारण ये सब वस्तुएँ स्पष्ट न दिखलाई पड़ेंगी—ठीक उसी प्रकार जैसे दूरस्थ वस्तुएँ, वायुमंडल से प्रकाश बिखरने के कारण, हमको धुँधली दिखलाई पड़ती हैं। परंतु यदि चंद्रमा का ज्योतिषी वैसा ही चतुर हो जैसे यहाँ के ज्योतिषी अब हैं तो वह इनफ़्रा-रेड प्लेट और उचित फ़िल्टर की सहायता से ऐसा फ़ोटोग्राफ़ ले सकेगा, जिसमें वायुमंडल से बिखरा प्रकाश दब जायगा और सब ब्योरे स्पष्ट दिखलाई पड़ेंगे। इस काम के लिए इनफ़्रा-रेड प्लेट वस्तुतः अद्भुत है; हम इस प्लेट पर अब ऐसा फ़ोटोग्राफ़ ले सकते हैं, जिसमें तीन सौ मील पर स्थित पहाड़ स्पष्ट और ब्योरायुक्त दिखलाई पड़ता है!



कई मील दूर स्थित एक ही स्थान के (ऊपर) साधारण प्लेट द्वारा और (नीचे) इन्फ्रा-रेड प्लेट द्वारा लिये गए दो फ़ोटो।

चंद्रमा से लंदन, न्यूयार्क आदि बड़े शहर भी, रात के समय बिजली की रोशनी से जगमगा उठने के कारण, दिखलाई पड़ जायँगे।

पृथ्वी ग्रह संबंधी कुछ जानने-योग्य बातें

पृथ्वी के रूप और रचना के संबंध में 'विश्व-भारती' के 'पृथ्वी की कहानी' शीर्षक खण्ड में विस्तृत विवरण आपको मिलेगा। यहाँ केवल निर्देश के लिए हम कुछ आँकड़े दे रहे हैं, जिनसे सौर परिवार में पृथ्वी के स्थान का कुछ परिचय आपको मिल सकेगा। पृथ्वी सूर्य से औसत ९२,९९५,००० मील की दूरी पर है। इसका व्यास ध्रुवों पर ७,८९९.६ मील और विषुवत् रेखा पर ७,९२६.६ मील है। इसकी परिधि २४,८९९ मील, घनत्व २६०,०००,०००,००० घनमील और वज़न ६,०००,०००,०००,०००,०००,०००,००० टन है। इसके वायुमण्डल का वज़न ११,६००,०००,०००,०००,०००,००० टन है। इसकी कक्षा ५८४,६००,००० मील लंबी है और उसमें यह ६६,६०० मील प्रति घंटे की गति से सूर्य के आसपास परिक्रमा कर रही है। इसका धरातल १९७,०००,००० वर्गमील है, जिसमें १४२,०००,००० वर्गमील जलभाग और ५५,०००,००० वर्गमील स्थलभाग है।

जैसा कि आप "धरातल की रूपरेखा" शीर्षक स्तंभ में पढ़ चुके हैं, पृथ्वी न केवल अपनी कक्षा में यात्रा करती हुई सूर्य की परिक्रमा कर रही है, बल्कि चौबीस घंटे में एक बार लट्टू की तरह स्वयं भी घूम जाती है। आपको जानकर आश्चर्य होगा कि इन दो प्रकार की गतियों के अलावा पृथ्वी की दस प्रकार की अन्य गतियों का भी वैज्ञानिकों को पता लगा है। पर ये गतियाँ बड़ी गूढ़ हैं, इसलिए गणित के उच्च ज्ञान के बिना समझ में नहीं आ सकतीं।

क्या बुध और सूर्य के बीच एक और ग्रह है ?

पृथ्वी भी ग्रह है, यह हम देख चुके। इस प्रकार सूर्य से चलकर पहले बुध, फिर शुक्र और तब पृथ्वी ये तीन ग्रह पड़ते हैं। एक समय था जब ज्योतिषियों को संदेह था कि बुध और सूर्य के बीच में एक और भी ग्रह है जो सूर्य के बहुत समीप होने के कारण हमको साधारणतः नहीं दिखलाई पड़ता। इस संदेह का कारण यह था कि बुध गणनानुसार नहीं चल रहा था। आकर्षण-सिद्धान्त के अनुसार हम सभी ग्रहों की ठीक-ठीक स्थितियाँ वर्षों पहले से बतला सकते हैं, और समय आने पर ग्रह ठीक वहीं पाया भी जायगा, परंतु बुध के संबंध में ही यह बात लागू नहीं है। गणना के अनुसार, और वास्तव में भी, बुध एक दीर्घवृत्त में चलता है और दीर्घवृत्त का महत्तम व्यास धीरे-धीरे घूमता रहता है, जिससे बुध का मार्ग कुछ-कुछ बग़ल के संकेत-चित्र-सा रहता है; परंतु गणना से बुध की कक्षा को जितना घूमना चाहिए वस्तुतः उससे कहीं अधिक यह घूमती है। प्राचीन गणितज्ञों और ज्योतिषियों को इसका कोई कारण नहीं सूझता था। अंत में प्रसिद्ध फ़्रेंच ज्योतिषी लेवेरियर ने, जिसने यूरेनस की गणित-सिद्ध और वास्तविक-कक्षाओं के अंतर से नवीन ग्रह नेपच्यून की भविष्यद्वाणी की थी, यह सिद्धान्त ठहराया कि बुध के उस ओर भी एक अज्ञात ग्रह है जो बुध की कक्षा को विकृत कर रहा है। संयोग की बात यह हुई कि एक व्यक्ति उसी समय ऐसा मिल भी गया जो दावा करता था कि मैंने इस अज्ञात ग्रह को देखा है। इस व्यक्ति और लेवेरियर की मुलाक़ात का बड़ा मनोरंजक इतिहास है। मिलने पर लेवेरियर ने देखा कि वह व्यक्ति एक बूढ़ा और ग़रीब डाक्टर है और उसके पास ज्योतिष के कोई भी अच्छे यंत्र नहीं हैं। लेवेरियर को तुरंत संदेह हो गया कि यह कोई धूर्त है जिसने ख्याति पाने के लालच से नवीन ग्रह के देखने की बात उसको लिखी थी। लेवेरियर ने रूखे स्वर में उससे बातें खोद-खोदकर पूछना आरंभ किया और उसे अपना नाम तक न बतलाया। परंतु अंत में लेवेरियर को यह बात माननी पड़ी कि बूढ़े ने नवीन ग्रह को देखा है; क्योंकि उसके सब उत्तर संतोषजनक निकले; उदाहरणतः उस बूढ़े डाक्टर के पास कोई ऐसी घड़ी न थी जिससे वह सेकंड तक समय नाप सकता, परंतु पूछने पर उसने लेवेरियर को अपना सरल लंगर दिखलाया—रेशम के तागे से एक गेंद लटकाया गया था जो एक सेकंड में एक बार झूलता था। लेवेरियर ने पूछा कि आप इस लंगर के झूलने को कैसे गिनते हैं और तुरंत उत्तर मिला कि मुझे मरीज़ों की नाड़ी गिनने का अभ्यास अपनी जवानी से ही है; लंगर के झूलने को गिनने में क्या रक्खा है!



बुध-कक्षा धीरे-धीरे घूमती है

एक समय ज्योतिषियों की धारणा थी कि ऐसा किसी अज्ञात ग्रह के कारण होता है; परंतु अब सापेक्षवाद से हम इसका वास्तविक कारण जानते हैं।

परंतु बूढ़े डाक्टर को अवश्य ही कोई भ्रम हो गया रहा होगा। पीछे वर्षों तक बराबर ताक में रहने पर भी वह ग्रह नहीं देखा जा सका। दो ज्योतिषियों को भी एक बार सर्व सूर्य-ग्रहण के अवसर पर नवीन ग्रह के देखने का भ्रम हो गया, परंतु उनकी भी बातों का समर्थन न हो सका।

अब तो आइनस्टाइन के प्रसिद्ध सापेक्षवाद (Theory of Relativity) से हम यह भी जान सके हैं कि क्यों बुध-कक्षा की वास्तविक और न्यूटन के आकर्षण-नियम पर निकाली गतियों में अंतर पड़ता है। इसलिए यह मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं रही कि बुध और सूर्य के बीच कोई अज्ञात ग्रह भी है, और फिर, यदि प्रत्यक्ष प्रमाण की आवश्यकता समझी जाय, तो यह भी प्रमाण है कि सूर्य का फ़ोटोग्राफ़ प्रति दिन वर्षों से लिया

जा रहा है। यदि सूर्य के पास कोई अज्ञात ग्रह होता, तो वह कभी तो सूर्य के बिंब के सामने आ जाता और इस प्रकार दिखलाई पड़ जाता। फिर, सर्व सूर्य-ग्रहणों के अवसरों पर इधर बहुत-से फ़ोटोग्राफ़ सापेक्षवाद के सिलसिले में लिये गये हैं। इनमें नन्हें-नन्हें और कोरी आँख से न दिखलाई पड़नेवाले तारे एक सीमा तक सब आ गये हैं, परंतु ग्रह कोई नहीं दिखलाई पड़ा है। इसलिए अब स्वयंसिद्ध माना जाता है कि सूर्य और बुध के बीच में दूसरा कोई ग्रह ऐसा नहीं है, जो व्यास में ३० मील से बड़ा हो।

राशिचक्र-प्रकाश

सूर्यास्त के बाद पश्चिम में और सूर्योदय के पहले पूरब में आकाश में एक अत्यंत मंद परंतु स्पष्ट प्रकाश दिखलाई पड़ता है, जिसका वायुमंडल के कणों द्वारा बिखरे प्रकाश से कोई संबंध नहीं है। इस प्रकाश की रूपरेखा स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। क्षितिज की ओर चौड़े और ऊपर की ओर सँकरे-से क्षेत्र में ही यह प्रकाश परिमित रहता है; और जैसे-जैसे समय बीतता है, तैसे-तैसे यह बिना अपना रूप बदले ही, अस्त हो जाता है। इसकी मध्य-रेखा खड़ी नहीं रहती; यह मध्य-रेखा ठीक राशिचक्र पर पड़ती है। इसी से इस प्रकाश को राशिचक्र प्रकाश (ज़ोडाइकल लाइट) कहते हैं। (राशिचक्र उस काल्पनिक रेखा को कहते हैं, जिस पर तारों के बीच सूर्य चलता है और जिस पर मेष, वृष, मिथुन, कर्क आदि राशियाँ हैं।)



संध्या के समय राशिचक्र-प्रकाश

आकाश के अनेक विचित्र कौतुकों में सूर्यास्त के बाद या सूर्योदय के पहले आकाश में दिखाई पड़नेवाला एक अत्यंत मंद परन्तु स्पष्ट प्रकाश है, जिसे ज्योतिषी राशिचक्र-प्रकाश कहते हैं। इस प्रकाश की स्थिति सदैव एक जैसी नहीं रहती। वर्ष के विभिन्न समय में उसकी स्थिति और झुकाव भिन्न-भिन्न तरह का रहता है। ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि यह प्रकाश कैसे उत्पन्न होता है, पर अनुमान किया जाता है कि सूर्य के निकट अत्यंत सूक्ष्म कण आकाश में बिखरे हुए हैं, जिन पर प्रकाश पड़ने से हमें यह रोशनी दिखाई देती है।

ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि यह प्रकाश कैसे उत्पन्न होता है, परंतु ज्योतिषियों का अनुमान है कि सूर्य के निकट लिट्टी (या पेड़े) के रूप में बिखरे हुए कुछ अत्यंत सूक्ष्म कण हैं, जिन पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है। हमें ये कण बगल से दिखलाई पड़ते हैं, और इसीलिए हमें प्रकाश अर्द्ध-दीर्घ-वृत्ताकार रूप में दिखलाई पड़ता है।

राशिचक्र - प्रकाश किसी भी स्वच्छ अँधेरी रात में आसानी से देखा जा सकता है। सूर्यास्त के लगभग एक घंटे बाद देखना चाहिए, क्योंकि तब हमारे वायुमंडल से बिखरकर आनेवाला सूर्य का प्रकाश—जिसे संधि प्रकाश (अँगरेज़ी में ट्वाइलाइट) कहते हैं—प्रायः मिट जाता है। अपने सबसे अधिक चमकीले भाग में राशिचक्र-प्रकाश आकाश-गंगा से भी अधिक चमकीला दिखलाई पड़ता है।

गणना करने से पता चलता है कि यदि पाँच-पाँच मील पर सरसों के बराबर एक-एक कण हों और यदि ये कण साधारण पत्थर के रंग के हों, तो हमको उतना प्रकाश मिल जायगा जितना वस्तुतः मिलता है! इसमें संदेह नहीं है कि बुध इन कणों के बीच चलता है और कुछ पुच्छल तारे इन कणों को चीरते हुए निकल गये हैं, परंतु इन कणों की अत्यंत बिखरी हुई अवस्था को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं जान पड़ती।



ताप—शक्ति का एक रूप

मानव सभ्यता के विकास के इतिहास में अग्नि पर विजय-प्राप्ति का एक विशिष्ट तथा महत्वपूर्ण स्थान रहा है। अग्नि को मनुष्य ने किस प्रकार अपने वश में किया इसकी कहानी भी अत्यन्त ही रोचक तथा साहस से भरी हुई है।

बाल्यावस्था में पालने में पड़े-पड़े दीपशिखा को देखकर आपको अपार प्रसन्नता होती थी। जाड़े की रात में अलाव के पास बैठे-बैठे इधर-उधर के तिनके उठाकर जब आप आग में डाल देते थे, तो उसकी लौ देखकर भी आप बेहद खुश हो उठते थे। कुछ और बड़े होने पर बिजली के स्विच खोलने और बन्द करने में आपको मज़ा आने लगा था। संभव है, स्टोव के प्रति भी आपने अत्यधिक उत्सुकता दिखलाई हो और इस कोशिश में या तो स्वयं आपने अपने हाथ जला डाले हों या पिता की कड़ी डाँट खाने को आपको मिली हो!



आदिम मनुष्य आग सुलगा रहे हैं

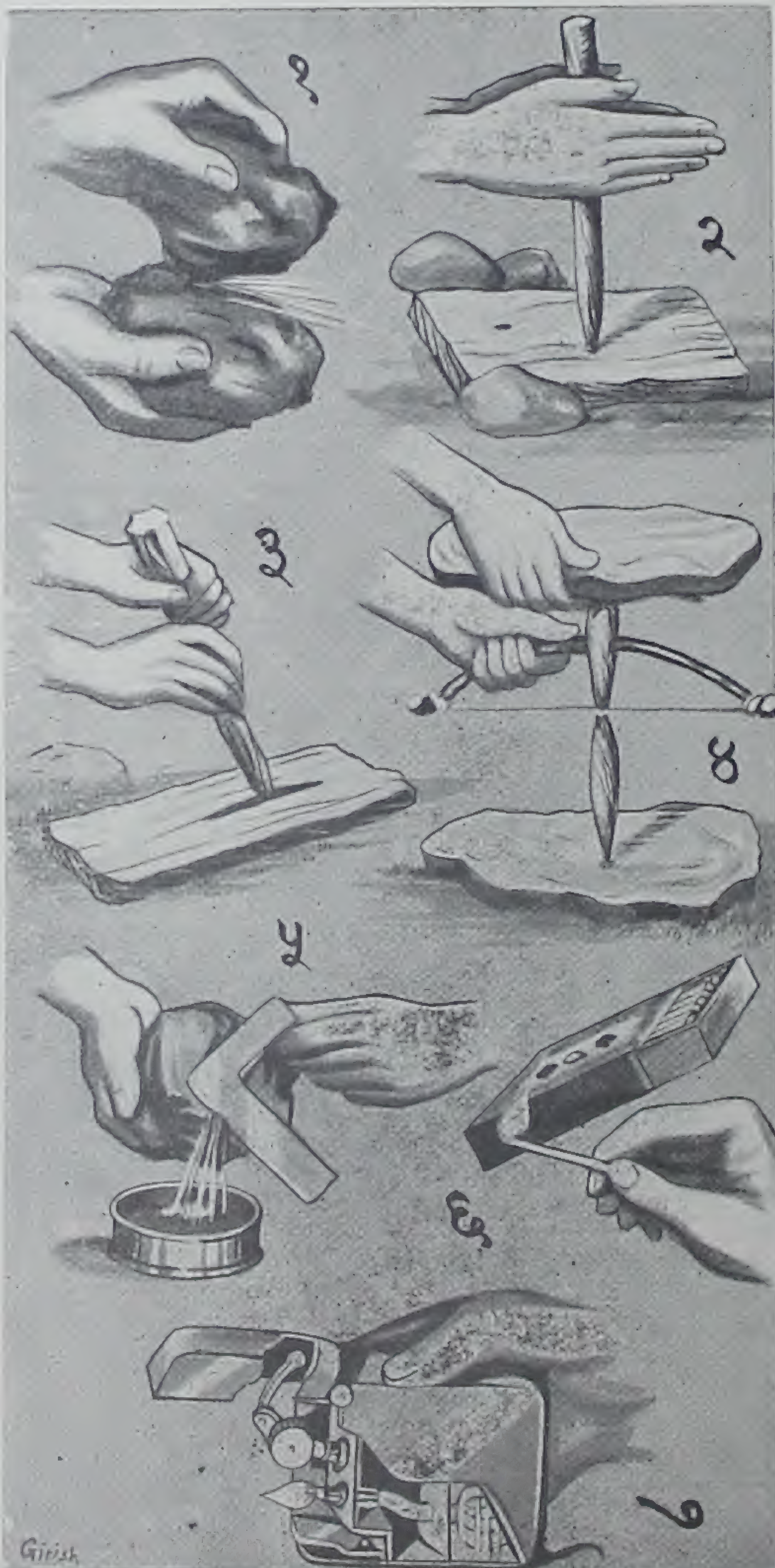
अगर आप किसी बड़े शहर में रहते हैं तो लोहे के कारख़ानों में प्रायः आपको पिघलता हुआ लोहा देखने को मिला होगा, जो तप्त भट्टियों की आँच में पड़कर एकदम पानी की भाँति द्रवित हो जाता है। आजकल तो हद दर्जे की गर्मी पैदा करके पानी के अन्दर भी जहाज़ की टूटी हुई लोहे की चद्दरों को पिघलाकर उनकी मरम्मत कर लेते हैं। हर बात में आप देख सकते हैं कि आधुनिक सभ्यता अग्नि के सहारे टिकी हुई है—इसमें किसी को रत्ती भर भी संदेह करने की गुंजायश नहीं है।

अब ज़रा कुछ हज़ार वर्ष पहले के युग पर भी दृष्टि डालिये। अपने पिता के संग चर्म-परिधान धारण किये किशोर बालक शिकार की खोज में अपनी कन्दरा से बाहर निकलकर घने जंगल की ओर जाता है। तीर की मदद से बनैले सुअर का शिकार करके दोनों उसे कन्धे से लटकाकर कन्दरा में ले आते हैं। भूख से परेशान घर के अन्य छोटे-छोटे बच्चे तथा स्त्रियाँ शिकार को देखकर प्रसन्न हो उठती हैं। फ़ौरन् ही दो सूखी लकड़ियों को रगड़कर आग बनाई जाती है, और उसमें मांस को भूनकर सब लोग अपनी क्षुधा-निवृत्ति करते हैं। उनकी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में कदाचित् खाना पकाने तथा अपने शरीर को सर्दी से बचाने के अतिरिक्त अग्नि का प्रयोग अन्य किसी काम के लिए होता ही नहीं था। साथ ही उन आदिम निवासियों की आवश्यकताएँ भी इन्हीं ज़रूरतों तक सीमित थीं। इस तरह हम देखते हैं कि उनकी इस हद दर्जे की सादी ज़िन्दगी में भी अग्नि को एक नितान्त महत्वपूर्ण स्थान मिला था।

ये आदिम निवासी अग्नि से डरते भी बहुत थे। जंगल में जब वृक्षों के आपस में रगड़ खाने से एकाएक आग की लपटें चारों ओर फैल जातीं तो ये लोग हैरान और भयभीत होकर उन गगनचुम्बी अग्निशिखाओं से अपनी प्राणरक्षा करने के लिए इधर-उधर पनाह के लिए जगह ढूँढ़ते और झील या नदी में घुसकर गले तक पानी की गहराई में उस वक़्त तक खड़े रहते जब तक कि आस-

पास की अग्निशिखाएँ मन्द न पड़ जातीं। फिर एकाएक उनके किसी साथी पर जब आसमान से बिजली गिरती, तो डर के मारे उनके होश-हवास गुम हो जाते। वे समझते कि अग्निदेव कुपित होकर पृथ्वी के निवासियों को दण्ड दे रहे हैं। अग्निपूजा का प्रारम्भ कदाचित् इसी ख़याल से हुआ। किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, भय और आश्चर्य का स्थान जानकारी ने लेना शुरू किया। आग को वश में करने के लिए उसके बारे में हर तरह की जानकारी हासिल करना भी ज़रूरी था। अतः अग्निविषयक तरह-तरह के प्रयोग भी किये जाने लगे। इन प्रयोगों के सिलसिले में बहुत-से ख़तरों का भी सामना करना पड़ा, जिनके कारण अनेक अनुसन्धानकारियों की जानें भी गईं।

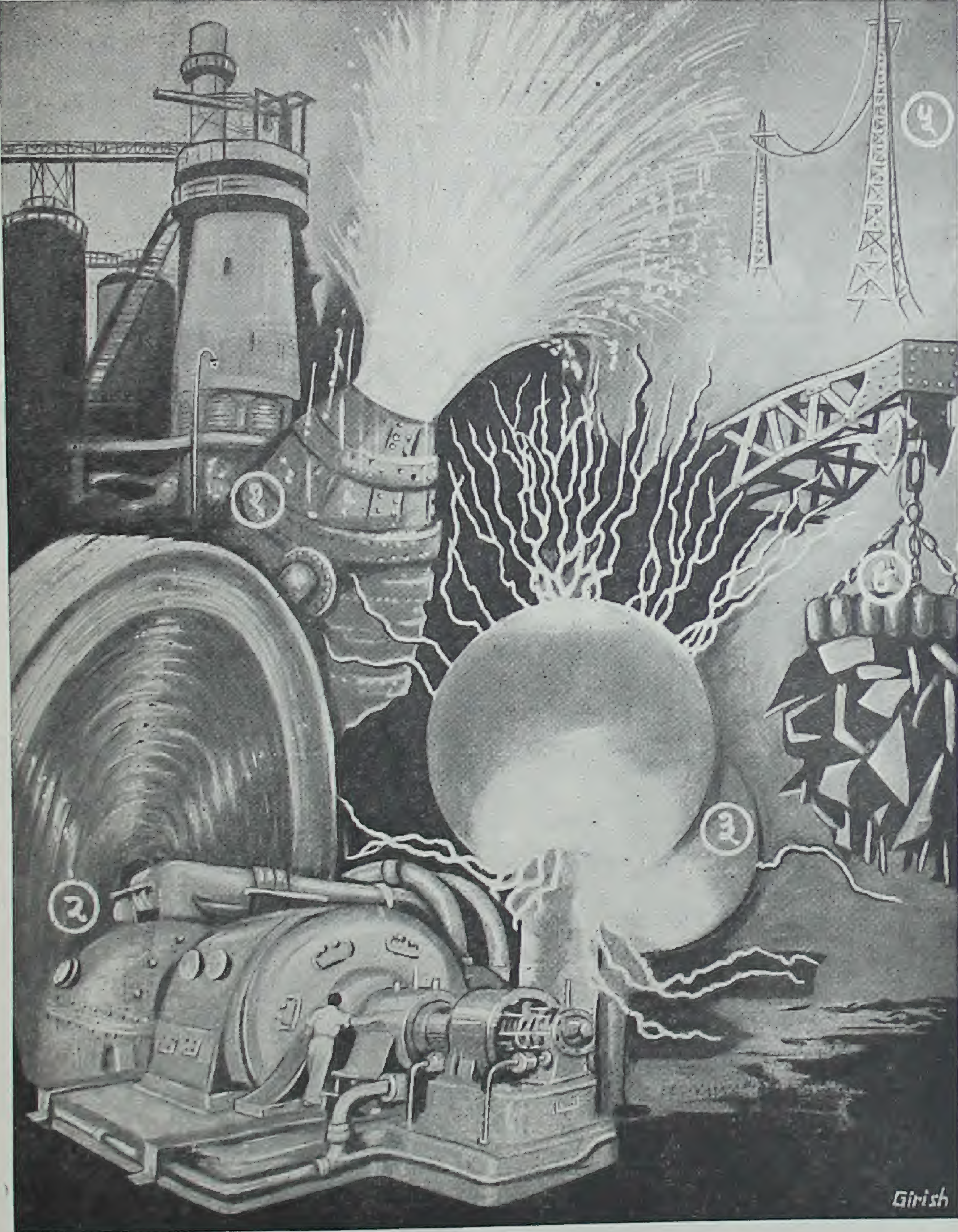
आग उत्पन्न करने के लिए भी नये-नये तरीक़े ढूँढ़े गये। किन्तु शुरू के उन दिनों के ये तमाम तरीक़े रगड़ या कड़ी चीज़ पर चोट डालने पर ही निर्भर थे। लकड़ी के एक सूखे तख्ते में एक सीधी लम्बी दरार खोद लेते थे, और उसमें एक नुकीली लकड़ी का सिरा रगड़ते थे। रगड़ की गर्मी से फ़ौरन् ही आग जल उठती थी। पत्थर पर लोहे की छिन्नी से चोट करके भी आग की चिनगारियाँ लोग पैदा कर लेते थे।



आग उपजाने के विभिन्न तरीक़े

१. चकमक पत्थर की चोट से; २. लकड़ी के तख्ते में कील घुमाकर; ३. लकड़ी के तख्ते की दरार में कील रगड़कर; ४. दो तख्तों के बीच एक नुकीली कील को घुमाकर; ५. पत्थर पर लोहे की चोट द्वारा; ६. साधारण दियासलाई द्वारा; ७. पेट्रोल की दियासलाई द्वारा।

चूँकि उन दिनों आग जलाने में इतनी मेहनत पड़ती थी, इसलिए लोग इस बात का विशेष ध्यान रखते थे कि ग़फ़लत की वजह से आग बुझने न पाए। यहाँ तक कि मन्दिरों, मठों आदि में आग को निरन्तर जलाये रखना धर्म की निगाह से लाज़िमी क़रार दे दिया गया। रोम के मन्दिरों और पूजागृह में निरन्तर आग सुलगा करती थी। यदि किसी कारण एक बार आग बुझ जाती, तो उसे पुनः जलाने के लिए एक बड़े पैमाने पर अनेक धार्मिक क्रियाओं का आयोजन किया जाता था और नगर का निजी तथा सार्वजनिक सारा कारबार रोक दिया जाता था, क्योंकि लोग यह समझते कि स्वर्ग और पृथ्वी के बीच सम्बन्ध स्थापित करने-



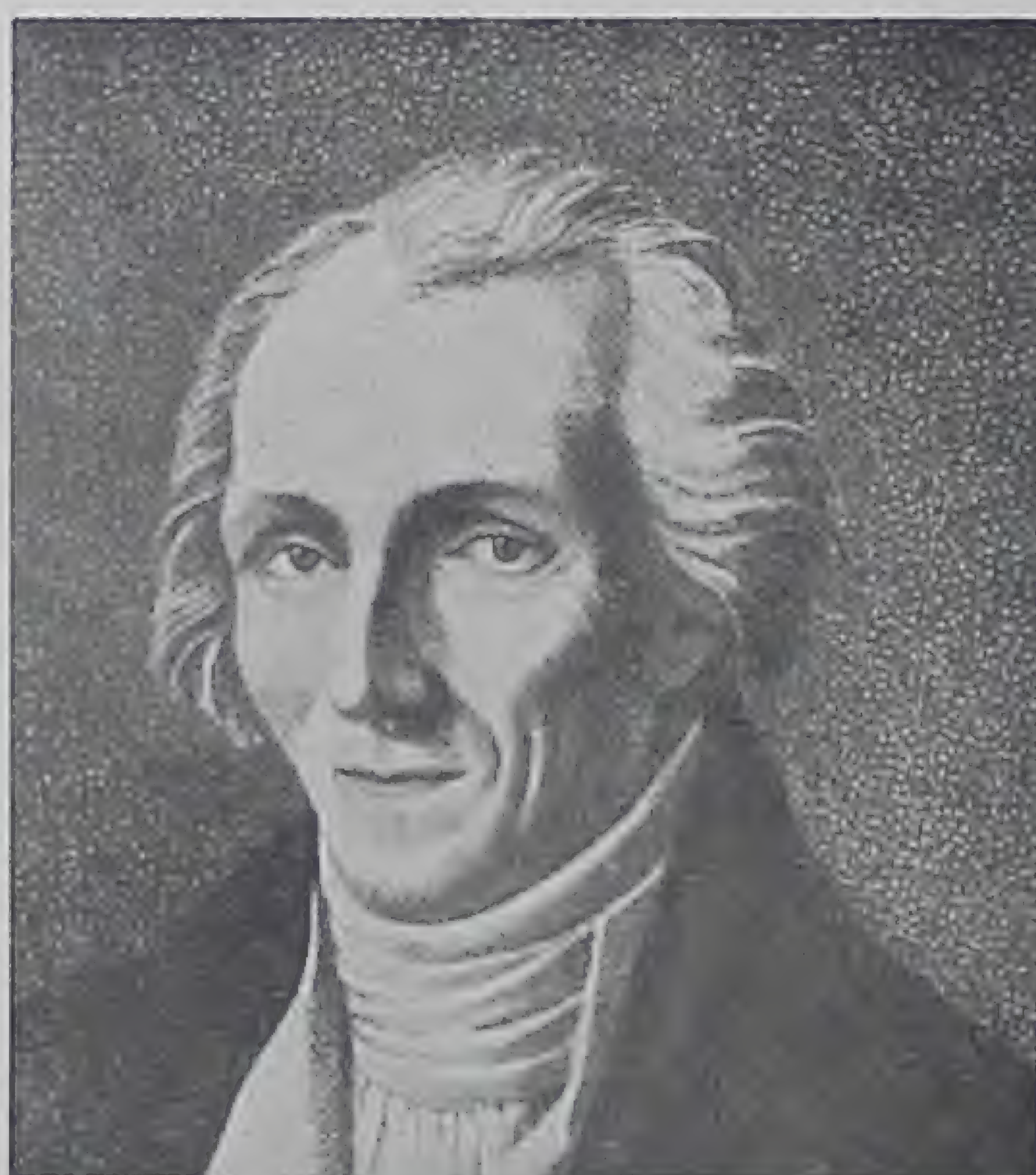
१. ताप-शक्ति, जिसका प्रखर रूप बात की बात में टनों लोहे को पिघला देनेवाले आग उगलते हुए बेसेमेर कन्वर्टर में देखने को मिलता है; इससे उत्पन्न होनेवाली तेज़ रोशनी प्रकाश-शक्ति की परिचायक है; २. गतिज-शक्ति, जिसका परिचय हम इस भीमकाय डायनमो का परिचालन करनेवाले इंजिन के चक्र में पा सकते हैं; ३. विद्युत्-शक्ति, जिसकी ताक़त का अंदाज़ा ३० लाख वोल्ट की ताक़त का विद्युत्-प्रवाह उत्पन्न करनेवाले इन परमाणु-भाजक यंत्रों से हम कर सकते हैं; ४. चुंबक-शक्ति—यह भीमकाय 'मैगनेट' मनों लोहे को महज़ आकर्षण द्वारा उठा लेता है; ५. रेडिओ-ऐक्टिव-शक्ति—इसी शक्ति के बल पर आज दिन मीलों दूर के गाने और समाचार हम घर बैठे रेडिओ आदि से सुन लेते हैं। ये शक्ति के विभिन्न रूप हैं, परंतु वास्तव में समस्त पदार्थों की तरह मूल में शक्ति भी एक ही है।

वाला एकमात्र भौतिक साधन (अग्नि) टूट गया है, जब तक यह साधन पुनः प्राप्तः नहीं हो जाता है तब तक संसार में कोई काम करना निरापद नहीं हो सकता ! बड़े समारोह के साथ प्रधान पोप बड़े आकार के नतोदर दर्पण की मदद से सूर्य्यरश्मियों को रुई के एक टुकड़े पर केन्द्रित करता और एकत्र हुई सूर्य्यरश्मियों के प्रखर ताप से रुई जल उठती।

अग्नि उत्पन्न करने के नये तरीक़े ढूँढ़कर उसे पूर्णतया अपने वश में करके उससे मनुष्य ने अपने फ़ायदे के लिए तरह-तरह के काम कराये। पहले भोजन पकाने का काम अग्नि से लिया गया, फिर सर्दी से बचने के लिए भी आग का इस्तेमाल किया गया। तदुपरान्त कला के सृजन में भी अग्नि की सहायता ली जाने लगी। लोहे आदि को गलाकर सुन्दर मूर्त्तियों का निर्माण किया जाने लगा। तरह-तरह के हथियार भी लोहे को गलाकर बनाये गये। सभ्यता के विकास के साथ ही मशीनों और सवारियों के संचालन के लिए भी आग की शक्ति का प्रयोग धीरे-धीरे बढ़ने लगा। आज तो मानो अग्नि की शक्ति से ही हमारी सभ्यता का संचालन हो रहा है।

किन्तु अग्नि की शक्ति पर इस हद तक जो क़ाबू पाया जा चुका है, वह ताप के वैज्ञानिक अध्ययन का ही नतीजा है। ताप वास्तव में है क्या वस्तु, इस प्रश्न पर लोगों ने बहुत पहले से ग़ौर किया है। प्राचीन काल के यूनानी दार्शनिकों ने इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने का प्रयत्न किया था। ताप की विशेषताओं का अध्ययन करने के लिए उन्होंने ताप के परमाणुओं (atoms) की कल्पना की थी। उनका कहना था कि ताप के परमाणु अत्यन्त ही क्रियाशील होते हैं। जब ये तापकण किसी पदार्थ में प्रवेश करते हैं तो उस पदार्थ के अवयवों को ये ज़ोरों के साथ धक्का देते हैं। फलस्वरूप वह पदार्थ यदि ठोस हुआ तो उसके अवयव तापकणों के धक्के के कारण एक-दूसरे से दूर हट जाते हैं और इस हालत में वह ठोस पदार्थ द्रव का रूप धारण कर लेता है। इसी कारण गर्मी पाने पर बर्फ़ पिघलकर पानी बन जाती है और मोम भी पिघलकर पानी-जैसी तरल हो जाती है। जब द्रव पदार्थों में तापकण प्रवेश करते हैं तो द्रवों के अवयव भी तापकणों के धक्के से दूर-दूर हट जाते हैं। अब द्रव पदार्थ गैस का रूप धारण कर लेता है। इसी कारण गर्मी पाने पर पानी भाप बन जाता है।

बाद में लोगों ने ताप को एक प्रकार का तरल पदार्थ माना। लोहे के एक तप्त टुकड़े को यदि प्याले में रखे हुए पानी के अन्दर डालें तो पानी गर्म हो जाता है और लोहे का टुकड़ा ठण्डा, मानो किसी तरल पदार्थ की तरह ताप भी लोहे में से निकलकर पानी में चला गया हो। तत्कालीन लोगों का ख़याल था कि हरएक वस्तु में ताप थोड़ी-बहुत मात्रा में मौजूद रहता है। चीज़ों के रगड़ने से भी गर्मी पैदा होती है। रगड़ने से चीज़ों का धरातल दब जाता है, और तब अन्दर का तापद्रव बाहर निकल आता है, ठीक उसी तरह जैसे स्पंज के दबाने से उसके अन्दर का पानी बाहर निकल आता है! साइकिल के अन्दर पम्प से हवा भरते वक़्त पम्प की हवा गर्म हो उठती है। यहाँ पर भी स्पंजवाला सिद्धान्त लागू कराया गया कि दबाव पड़ने से ही हवा के अन्दर का तापद्रव बाहर सतह पर आ जाता है।



काउण्ट रम्फर्ड

इस धारणा के रास्ते में सबसे बड़ी अड़चन यह थी कि अगर ताप एक द्रव पदार्थ है तो बाहर से गर्मी पाने पर जब वस्तुएँ गर्म हो जाती हैं तब उनका वज़न भी बढ़ जाना चाहिए। किन्तु हरएक वस्तु का वज़न गर्म या ठण्डी अवस्था में एक-सा ही पाया जाता है। अतः यह बात निश्चय रूप से साबित हो गई कि ताप वास्तव में कोई भौतिक पदार्थ नहीं है, क्योंकि ताप की वजह से किसी पदार्थ का वज़न घटता-बढ़ता नहीं। १८ वीं शताब्दी के अंतिम दिनों में काउण्ट रम्फर्ड नामक एक विद्वान् ने पहली बार ताप के वास्तविक रूप को पहचाना। रम्फर्ड बवेरिया सरकार की सेना में अफ़सर था। उन दिनों तोप की नली लोहे के ठोस बेलनाकार टुकड़े में से खरादकर तैयार की जाती थी। बर्मी से उस टुकड़े में एक सिरे से दूसरे सिरे तक सूराख़ करके नली तैयार कर लेते थे।

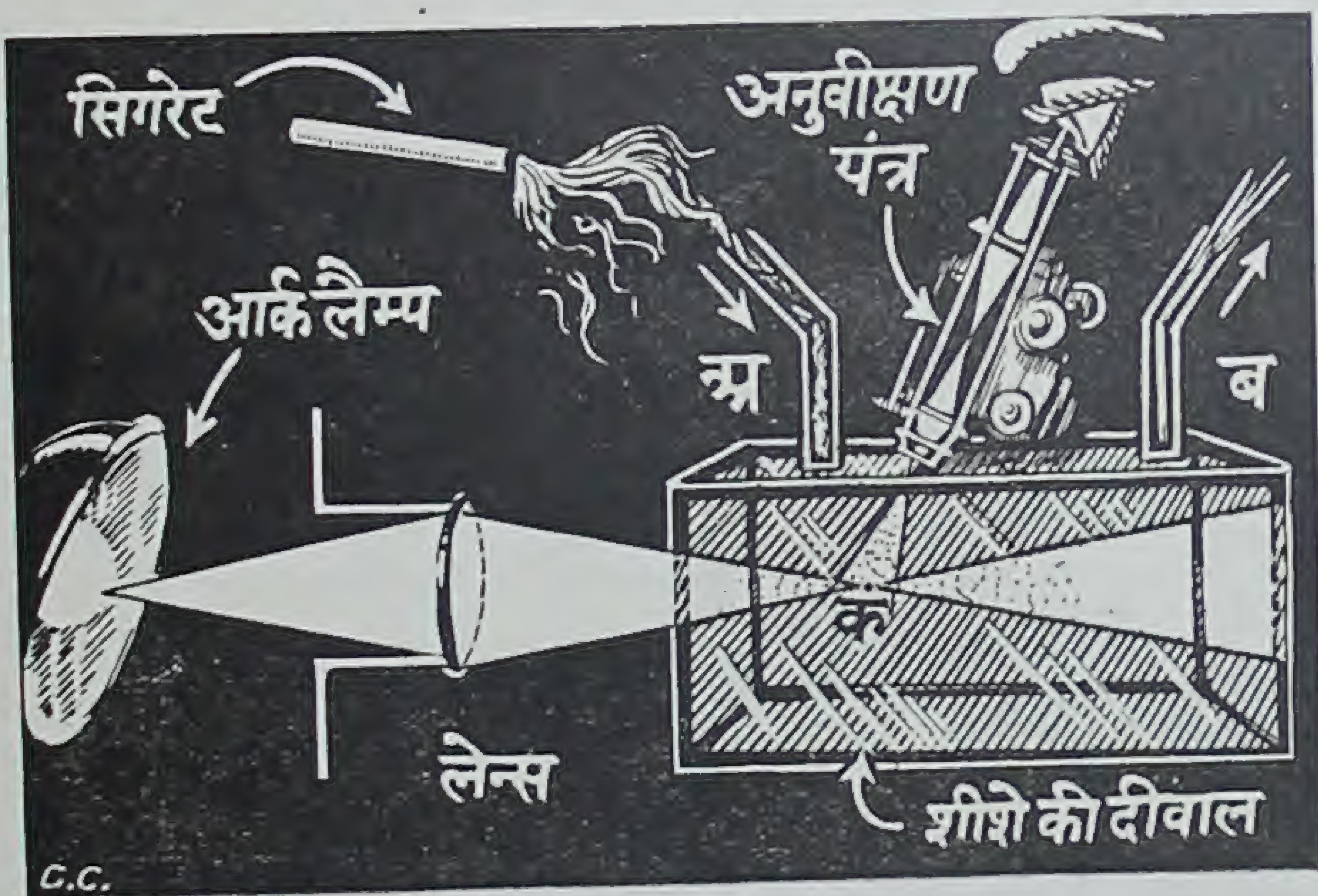
रम्फर्ड के जिम्मे तोपें तैयार कराने का काम सुपुर्द हुआ था। उसने देखा कि बर्मी चलने से लोहा ख़ूब गर्म हो उठता है। यह देखकर उसका कुतूहल और भी बढ़ा और उसने इस सिलसिले में अनेक प्रयोग किये। उसने एक नाँद में पानी रक्खा और उसी के अन्दर लोहे पर बर्मी चलवाई। दो घंटे के अंदर नाँद का १० सेर ठण्डा पानी बिना आग की मदद के ही उबलने लगा!

इसके कुछ ही दिनों बाद इङ्गलैण्ड के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सर हम्फ्री डेवी ने एक रोचक प्रयोग किया। उन्होंने बर्फ़ के दो टुकड़ों को लेकर उन्हें आपस में ख़ूब रगड़ा। इस रगड़ की गर्मी से ये दोनों टुकड़े शीघ्र ही पिघल गये। यहाँ पर भी रगड़ से ही ताप उत्पन्न हुआ।

अब इन प्रयोगों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया कि अवश्य ही उपरोक्त प्रयोगों में ताप के उत्पन्न होने का कारण रगड़ और बर्मी के चलाने की शक्ति ही थी। पत्थर पर संगतराश जिस वक़्त छेनी चलाता है, उसकी शक्ति का व्यय होता है। यही शक्ति चिनगारियों के रूप में प्रगट होती है।

ताप की इस नयी व्याख्या ने भौतिक विज्ञान में एक नवीन अध्याय का आरम्भ किया। रासायनिक क्रियाओं पर भी अब इस नवीन दृष्टिकोण से विचार किया जाने लगा। पहले इस बात को लोग समझ नहीं पाते थे कि गन्धक के गाढ़े तेज़ाब में पानी मिलाने से तेज़ाब एकदम गर्म क्यों हो जाता है। किन्तु उक्त व्याख्या ने इन क्रियाओं पर पर्य्याप्त रोशनी डाली। इस प्रयोग में भी रासायनिक शक्ति (energy) परिवर्त्तित होकर ताप - शक्ति के रूप में प्रकट होती है। बिजली के लैम्प या स्टोव में विद्युत्-शक्ति व्यय होती है और उसके बदले में हमें ताप या प्रकाश मिलता है।

साधारण काम करने की यांत्रिक शक्ति, विद्युत् - शक्ति और रासायनिक शक्ति ये सभी ताप - शक्ति में परिवर्त्तित हो सकती हैं। अब तो रेडियो-ऐक्टिव तथा आलोक-रश्मियों की शक्तियाँ भी ताप-शक्ति में परिवर्त्तित की जा चुकी हैं। अतः अब इस बात में कोई सन्देह नहीं रहा कि ताप स्वयं कोई भौतिक पदार्थ नहीं है, बल्कि यह भी शक्ति का ही एक विशेष रूप है। अनुकूल परिस्थितियों में ताप-शक्ति भी यांत्रिक शक्ति, विद्युत् शक्ति या रासायनिक शक्ति में परिवर्त्तित हो सकती है। भिन्न-भिन्न इंजिनों की संचालन-शक्ति कोयले या पेट्रोल



ब्राउनियन गति

आर्क लैम्प से तेज़ रोशनी आयताकार सेल के भीतर केंद्रित की जाती है। सेल की दीवालें शीशे की बनी होती हैं। ट्यूब अ के रास्ते सिगरेट का धुँआ सेल के अन्दर प्रविष्ट कराने के लिए ब से हवा बाहर को खींचनी होती है। अनुवीक्षण यंत्र बिन्दु 'क' पर केंद्रित किया जाता है। इस यंत्र से देखने पर सेल के अन्दर नन्हें-नन्हें चमकते हुए ज़र्रे इधर-उधर भागते हुए दिखाई देते हैं, मानो उन्हें अदृश्य डंडों से कोई रहरहकर गेंद की तरह मार रहा हो। वास्तव में ये ज़र्रे धुएँ के कण हैं जिन्हें सेल के अन्दर की हवा के अवयव बारबार धक्का देते रहते हैं। धुएँ के ये कण आसानी से देखे भी नहीं जा सकते। किन्तु आड़ी दिशा से जब इन पर तेज़ आलोक-रश्मियाँ पड़ती हैं, तो ये फौरन् दिखाई पड़ जाते हैं—ठीक उसी तरह जैसे अँधेरे कमरे में एक सूराख़ से आती हुई सूर्य्य-रश्मियों के रास्ते में नाचते हुए धूलिकण सहस्रों की संख्या में अनायास ही नज़र आ जाते हैं। राबर्ट ब्राउन ने पहली बार दूध के एक पतले घोल पर यह प्रयोग आजमाया था। दूध के नन्हें-नन्हें कणों को तेज़ रोशनी में तीव्र गति से नाचते हुए देखकर उसे पहले यह धोखा हुआ कि कहीं ये जीवित कीटाणु तो नहीं हैं। यह बात १८२५ की है। पूरे ३२ वर्ष बाद ब्राउन के उक्त प्रयोग की सही व्याख्या एक फ्रेंचमैन ने की।

की तापशक्ति से ही तो मिलती है! विद्युत्-शक्ति पैदा करनेवाले डायनमो का परिचालन भी प्रायः भाप से चलनेवाले इंजिनों की मदद से ही होता है, और अनेक रासायनिक क्रियाएँ भी ताप को पाकर ही पूरी होती हैं।

शक्ति के इस रूप-परिवर्त्तन के सिद्धान्त की पुष्टि उस समय पूर्ण रूप से हो गई जब अनेक वैज्ञानिकों ने प्रयोगों द्वारा यह बात साबित कर दिखाई कि एक नियत मात्रा में यांत्रिक शक्ति ख़र्च करने पर एक नियत परिमाण में ही ताप उत्पन्न किया जा सकता है। व्यय की गई शक्ति और उससे उत्पन्न हुए ताप की मात्रा में एक ख़ास अनुपात है जो हर हालत में एक-सा ही रहता है।

अब प्रश्न उठता है कि यदि ताप शक्ति का ही एक रूप है, तो किस प्रकार विभिन्न वस्तुएँ इस शक्ति को अपने अन्दर ग्रहण कर पाती हैं? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व हमें पदार्थ की असलियत तक पहुँचना होगा। हम जानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ नन्हें-नन्हें अवयवों से मिलकर बना है। गैसों में ये अवयव (molecules) निरन्तर तेज़ी के साथ इधर-उधर डोलते-फिरते रहते हैं। किसी भी ज़रिये से जब हम इन अवयवों को शक्ति प्रदान करते हैं तो इनके डोलने की रफ़्तार भी बढ़ जाती है। ये बड़ी तेज़ी के साथ हरकत करने लगते हैं। यही कारण है कि गर्म होने पर गैसों का दबाव बढ़ जाता है क्योंकि तापशक्ति पाकर अवयवों की हरकत बढ़ जाती है और इसलिए ये आस-पास की दीवालों पर और भी ज़ोरों के साथ धक्का मारते हैं।

गैस के अवयवों की हरकत वैज्ञानिकों की कोरी कल्पना नहीं है। बढ़िया क़िस्म के अनुवीक्षण यंत्र की मदद से आप स्वयं इस हरकत का निरीक्षण कर सकते हैं। सिगरेट का बारीक धुँआ एक शीशे की दीवालों से घिरे हुए चौकोर डिब्बे में बन्द कर दिया जाता है। फिर विद्युत् लैम्प से तेज़ किरणें इस डिब्बे पर एक ओर से डाली जाती हैं, और उस कमरे में जिसमें यह प्रयोग किया जाता है, अन्य किसी ओर से रोशनी नहीं आती। कमरे में एकदम अँधेरा रखते हैं। फिर जिस ओर से प्रकाश-रश्मियाँ उस डिब्बे में प्रवेश करती हैं, उसकी आड़ी दिशा में अनुवीक्षण यंत्र लगाकर धुएँ के उन कणों को ग़ौर से देखते हैं। धुएँ के कण बड़ी तेज़ी के साथ इधर-से-उधर डोलते नज़र आते हैं। तनिक देर के लिए भी ये विश्राम नहीं लेते। अवयवों की इस निरन्तर की हरकत को प्रयोगों द्वारा सबसे पहले साबित करने का श्रेय एक अंग्रेज़ वैज्ञानिक ब्राउन को मिला था। गैस के अवयव आकार में इतने छोटे होते हैं कि उन्हें हम कभी देख नहीं सकते। किन्तु गैस में तैरते हुए धुएँ के ये कण उन अवयवों से धक्का खाकर बड़ी तेज़ी के साथ इधर-से-उधर डोलने लगते हैं—और इन्हें हम अनुवीक्षण यंत्र की मदद से बख़ूबी देख भी सकते हैं (देखिए पृ० ९२७ का चित्र)।



द्रवों के अवयव की हरकत
तूतिया का एक संपृक्त (saturated) घोल 'ब' तैय्यार करके उस पर एक कार्क का टुकड़ा तैरा दो। फिर कार्क पर धीरे-धीरे पोटेसियम डाइक्रोमेट का घोल उँडेल दो। चूँकि पोटेसियम डाइक्रोमेट का घोल 'अ' घनत्व में तूतिया के घोल से हलका होता है, शुरू में पीला घोल ऊपर ही रहेगा। चन्द महीनों के बाद पीला घोल अन्दर नीचे घुस जायगा और दोनों घोल आपस में घुल मिलकर हरे रंग के हो जायँगे। ऐसा होना तभी सम्भव हो सकता है जब कि उन दोनों घोलों के अवयव हरकत करते हों।

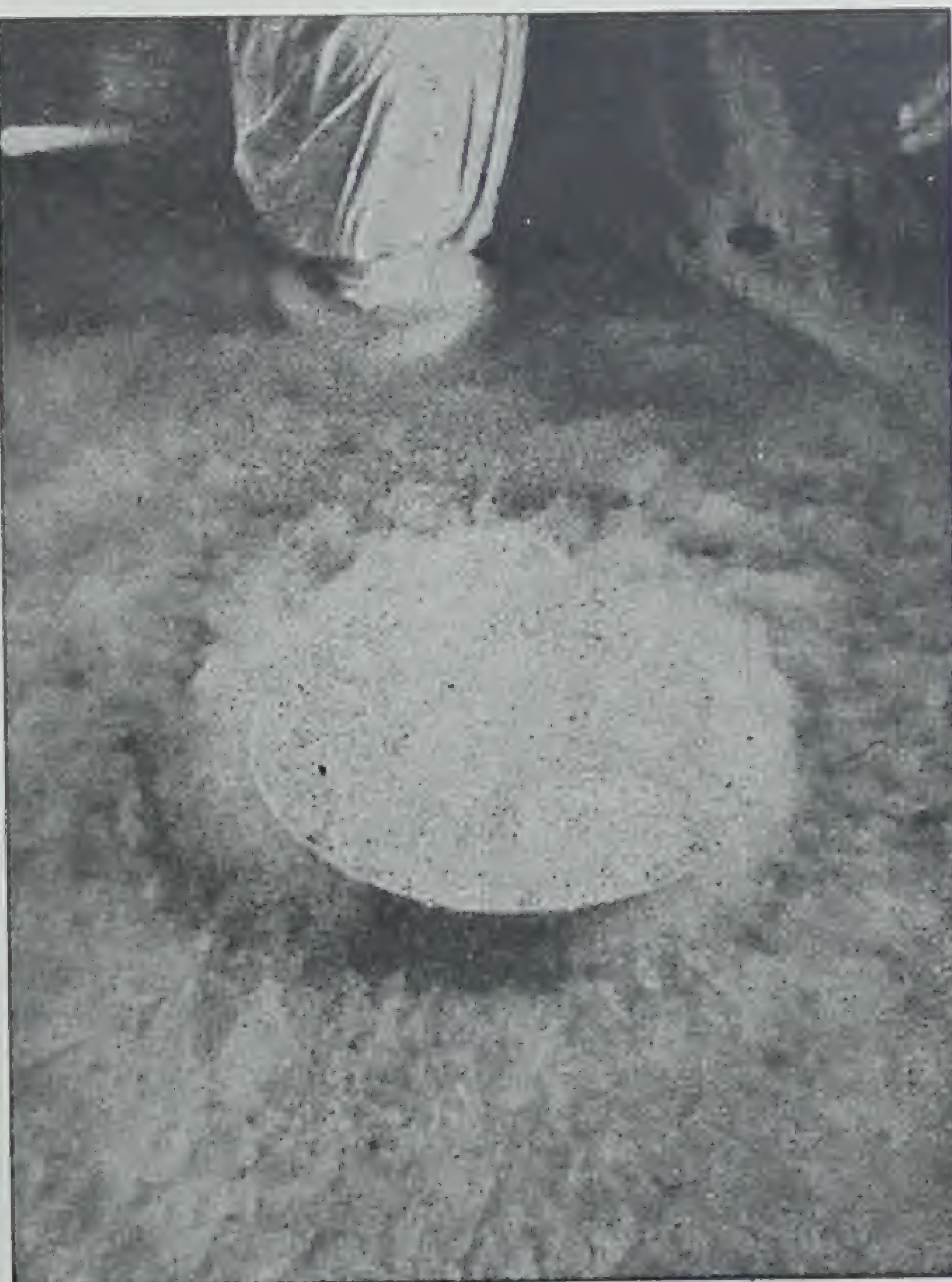
ठोस तथा द्रव पदार्थों में भी ताप का प्रादुर्भाव उनके अवयवों की हरकत के कारण ही होता है। किन्तु ठोस पदार्थों के अवयवों की हरकत गैस के अवयवों की हरकत की तरह एकदम स्वतंत्र नहीं होती है। ठोस तथा द्रव पदार्थों के अवयव अपनी जगह छोड़कर दूसरी जगह भाग नहीं सकते। किन्तु अपनी जगह पर हमेशा के लिए बँधे रहने पर भी ये वहाँ एकदम निश्चेष्ट और चुपचाप बैठे भी नहीं रहते। बल्कि हारमोनियम बाजे की पत्ती की तरह अपनी जगह पर ही इधर-उधर ये नियमित रूप से कँपते रहते हैं। जब इन्हें कहीं और से ज़्यादा शक्ति मिल जाती है तो इनके कँपने की गति भी तेज़ हो जाती है।

अतः यह कहना ग़लत न होगा कि ताप वास्तव में पदार्थों के अवयवों की हरकत है।

ज्यों-ज्यों किसी पदार्थ की गर्मी हम खींचते हैं त्यों-त्यों उस पदार्थ के अवयवों की हरकत भी मन्द पड़ती जाती है। उदाहरण के लिए यदि भाप को धीरे-धीरे हम ठण्डा करें तो पानी के अवयवों की हरकत इतनी कम हो जाती है कि वे एक दूसरे के एकदम निकट आ जाते हैं—वे द्रव रूप धारण कर लेते हैं। अब

इस द्रव पानी को हम और भी ठण्डा करें तो इन अवयवों की हरकत और भी मन्द पड़ जाती है—और ये अवयव एक दूसरे के साथ गुँथ-से जाते हैं। पानी का ठोस रूप बर्फ़ हमें प्राप्त होता है। किन्तु बर्फ़ के अन्दर भी थोड़ी-बहुत मात्रा में ताप मौजूद रहता है। अतः बर्फ़ के अवयवों में बराबर कंपन की हरकत होती रहती है। हाँ, यदि बर्फ़ को भी निरन्तर हम ठण्डा करते चलें तो इन अवयवों की हरकत भी क्रमशः कम होती चलेगी।

स्वभावतः प्रश्न उठता है, क्या वस्तुओं को ठण्डा करने की भी कोई हद है? बर्फ़ को यदि हम ठण्डा करने लगें तो क्या कोई ऐसा भी तापक्रम आएगा, जबकि बर्फ़ के अन्दर की तमाम गर्मी हम खींच चुके होंगे, और उस हालत में उक्त सिद्धान्त के अनुसार बर्फ़ के अवयवों की हरकत भी बिल्कुल बन्द हो चुकी होगी? वैज्ञानिक बताता है कि हाँ ठण्डे की भी एक सीमा होती है। शून्य डिग्री सेन्टीग्रेड से २७३ डिग्री नीचे के तापक्रम तक हम चीज़ों को ठण्डा कर सकते हैं। इस टेम्परेचर पर किसी भी पदार्थ के अन्दर गर्मी बाक़ी नहीं रह जाती, साथ ही उसके अवयवों की हरकत भी पूर्णतया बन्द हो जाती है।



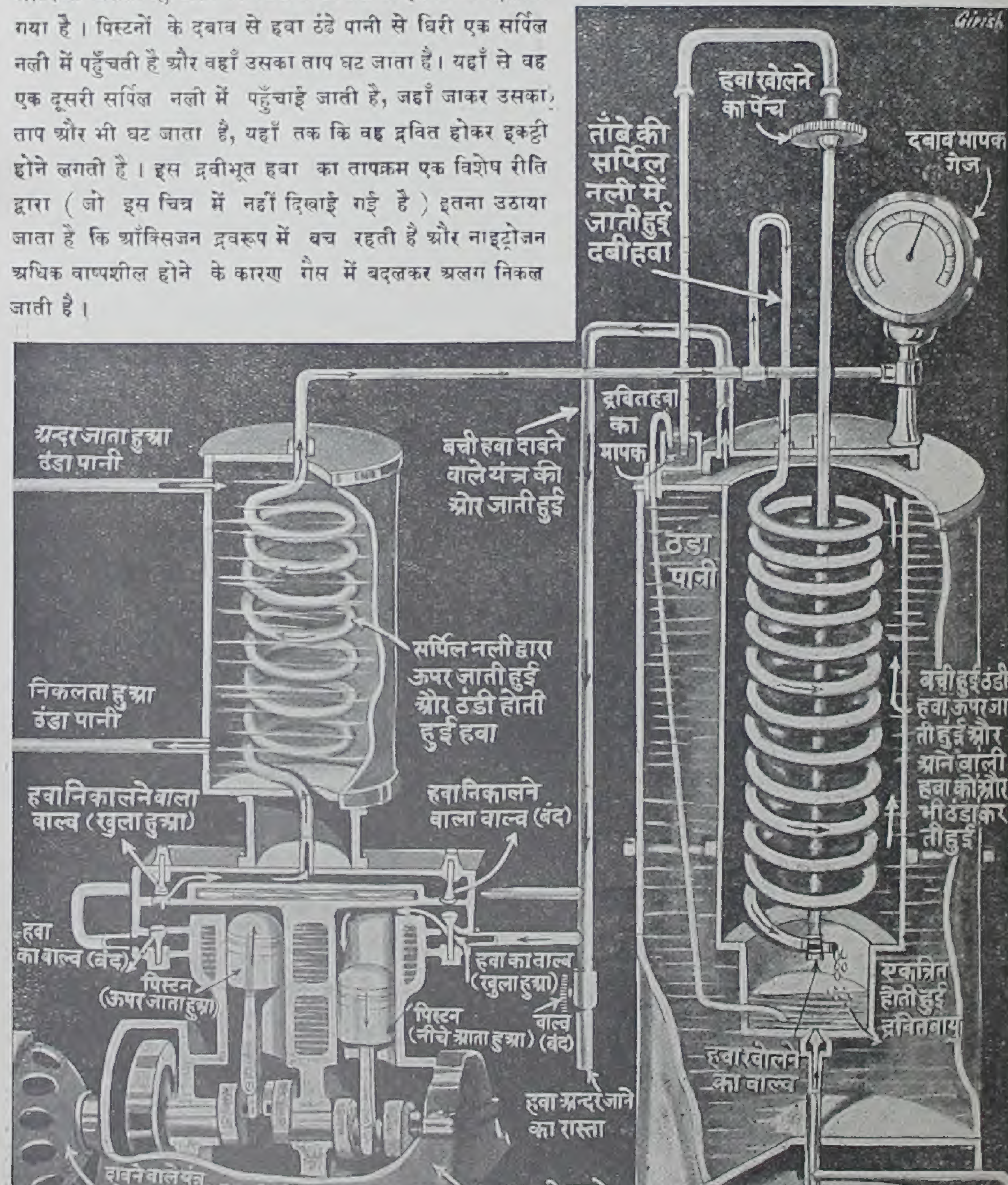
तापक्रम अधिकाधिक कितना घटाया या बढ़ाया जा सकता है?



वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में तापक्रम कम से कम जिस दर्जे तक घटाया जा सका है, वह शून्य सेंटीग्रेड से २५३ डिग्री नीचे तक है। इस तापक्रम पर हाइड्रोजन गैस, जो सृष्टि का सबसे हलका पदार्थ है, ठंडी होकर दबाव के कारण द्रव रूप धारण कर लेती है। ऊपर के चित्र में इसी तरह ठंडी की गई द्रवीभूत हाइड्रोजन पानी की तरह एक फ्लास्क से उँडेली जा रही है। जिस तरह तापक्रम की एक निचली सीमा है, उसी तरह उसकी कोई ऊपरी हद या अधिकाधिक पराकाष्ठा होगी, अभी यह बात भी मनुष्य के ज्ञान की परिधि में पूरी तरह नहीं आ पाई है, यद्यपि अत्यधिक ताप के कुछ उदाहरण हमें आकाशीय नक्षत्रों में मिलते हैं। हमारे पड़ोसी सूर्य (दे० ऊपर बाईं ओर का चित्र) के अंतराल में ४,००,००,००० डिग्री सेंटीग्रेड के लगभग घोर तापक्रम होने का अनुमान वैज्ञानिक लोग करते हैं। किंतु यही ताप की अंतिम सीमा नहीं है। कुछ नक्षत्रों का तापक्रम सूर्य से भी कई गुना अधिक है!

वायु के द्रवीकरण द्वारा बहुत बड़े पैमाने पर नाइट्रोजन गैस का उत्पादन

प्रयोगशाला में नाइट्रोजन उसके कुछ यौगिकों के विच्छेदन द्वारा या तांबे की रक्त-तप्त छीलन पर धीरे-धीरे वायु प्रवाहित कर निकाली जाती है जैसा कि पृष्ठ ६३३-६३४ के चित्रों में प्रदर्शित है। किन्तु उद्योग-व्यवसाय के क्षेत्र में, जहाँ बहुत बड़े पैमाने पर नाइट्रोजन की आवश्यकता पड़ती है, हवा के द्रवीकरण द्वारा यह गैस तैयार की जाती है। इसका वर्णन हम ऑक्सिजन संबंधी लेख में रेखाचित्र देकर कर चुके हैं। यहाँ वही विधि विस्तारपूर्वक प्रदर्शित की गई है। हवा के द्रवीकरण की पद्धति इस प्रकार है। वायुमण्डल की साधारण वायु एक दाबनेवाले यंत्र में खींची जाती है। यह यंत्र बिजली की मोटर से चलता है, जैसा कि चित्र में निचले बाएँ कोने में दिखाया गया है। पिस्टनों के दबाव से हवा ठंडे पानी से घिरी एक सर्पिल नली में पहुँचती है और वहाँ उसका ताप घट जाता है। यहाँ से वह एक दूसरी सर्पिल नली में पहुँचाई जाती है, जहाँ जाकर उसका ताप और भी घट जाता है, यहाँ तक कि वह द्रवित होकर इकट्ठी होने लगती है। इस द्रवीभूत हवा का तापक्रम एक विशेष रीति द्वारा (जो इस चित्र में नहीं दिखाई गई है) इतना उठाया जाता है कि ऑक्सिजन द्रवरूप में बच रहती है और नाइट्रोजन अधिक वाष्पशील होने के कारण गैस में बदलकर अलग निकल जाती है।





आलस्यमयी नाइट्रोजन गैस

नाइट्रोजन परिमाण की दृष्टि से पृथ्वी का एक उपेक्षणीय मूलतत्त्व है और रासायनिक क्रियाशीलता की दृष्टि से एक आलसी गैस है, तथापि जीवधारियों के जगत् में वह बड़े महत्त्व का कार्य करती है। इस लेख में इस महत्त्वपूर्ण मूलतत्त्व का विस्तृत रूप से परिचय कराया गया है।

आजकल प्रायः प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति जानता है कि हवा में मुख्यतः दो गैसें रहती हैं—ऑक्सिजन और नाइट्रोजन। जैसा कि ऑक्सिजन के अध्याय में कहा जा चुका है, वस्तुओं का हवा में जलना, उनमें ज़ंग लगना, अथवा साँस द्वारा प्राणियों के जीवन का संचालन, आदि प्रक्रियाएँ ऑक्सिजन के संयोग द्वारा ही संभव होती हैं। इसीलिए ऑक्सिजन हवा की क्रियाशील गैस कहलाई। नाइट्रोजन स्वयं इन क्रियाओं में कोई भाग नहीं लेती; वह तो अपने आलस्य के प्रभाव से ऑक्सिजन की संयोगात्मक उग्रता को भी मंदतर कर देती है। इन क्रियाओं में ऑक्सिजन का अणु दूल्हा की भाँति अपनी भावी वधू से संयुक्त होने के लिए तत्पर रहता है, किंतु नाइट्रोजन के अणु बारातियों की भाँति केवल उसके साथ रहनेवाले होते हैं। ऑक्सिजन का अणु तो यौगिक रूपी दंपति के रूप में परिणत हो जाता है, लेकिन नाइट्रोजन जैसी-की-तैसी रह जाती है। परंतु, तब भी ऑक्सिजन के साथ नाइट्रोजन की उपस्थिति अत्यंत आवश्यक होती है; उसके बिना ऑक्सिजन अत्याचार ढा देती (देखिए पृष्ठ ४०६ और ४०८)।

हवा में मिश्रित ऑक्सिजन और नाइट्रोजन गैसों का उपर्युक्त रासायनिक आचरण हम निम्न प्रयोगों द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं—

मोमबत्ती, दीपक आदि कोई भी जलती हुई वस्तु को किसी समतल स्थान पर रख दीजिए, और उस पर एक शीशे का बेलजार (इसी पृष्ठ का चित्र देखिये) अथवा कोई अन्य उपर्युक्त बर्तन औंधा दीजिए, जिससे हवा उसके अन्दर न जा सके। कुछ ही सेकंडों में उसकी लौ कम हो जायगी और वह बुझ जायगी। इसका कारण यह है कि ऑक्सिजन जलती हुई वस्तु से संयुक्त होकर समाप्त हो जाती है, और बची हुई नाइट्रोजन क्रियाहीन होने के कारण जलने में साधक नहीं होती।



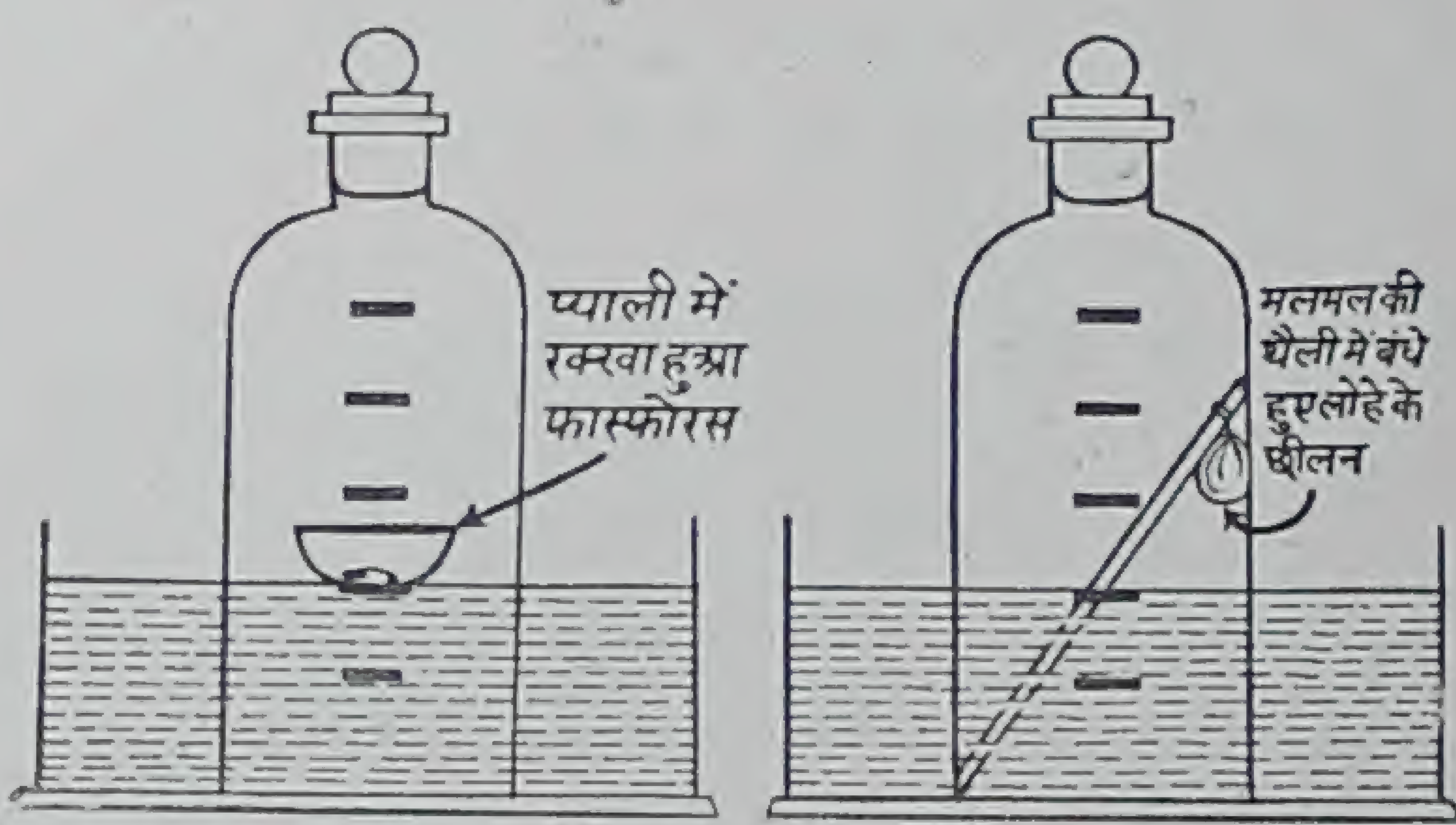
हवा में मिश्रित ऑक्सिजन और नाइट्रोजन गैसों का रासायनिक आचरण

(बाईं ओर) मोमबत्ती का प्रयोग; (दाहिनी ओर) चूहे पर प्रयोग।

श्वास के द्वारा जो ऑक्सिजन हमारे फेफड़ों में पहुँचती है वह रक्त-संयुक्त कार्बन को जलाकर कार्बन-डाइऑक्साइड के रूप में लौट जाती है; लेकिन नाइट्रोजन के अणु

यहाँ भी ऑक्सिजन की उच्छृङ्खलता को रोकने के अलावा और कोई कार्य नहीं करते। यदि एक चूहे को समतल स्थान पर रखकर उसके ऊपर एक बेलजार औंधा दें तो कुछ ही देर में उसका दम घुट जायगा और उसकी जीवनलीला समाप्त हो जायगी (देखो पिछले पृष्ठ का चित्र)। बेलजार की बची हुई हवा में मुख्यतः नाइट्रोजन और (फेफड़े में ऑक्सिजन के संयोग से बनी हुई) कार्बन डाइ-ऑक्साइड* गैसें ही पाई जायँगी। ऑक्सिजन के समाप्त होने पर नाइट्रोजन आदि गैसें जीवन का संचालन नहीं कर सकतीं। वास्तव में दीपक या मोमबत्ती के जलने तथा जीवन के संचालन में रासायनिक दृष्टि से कोई विशेष भेद नहीं है। कवियों की दीपक अथवा शमा से जीवन की उपमा में कोरी कल्पना ही नहीं, वैज्ञानिक सत्य की भी विद्यमानता है।

हम पहले बता चुके हैं कि हवा के पाँच आयतनिक भागों में चार भाग नाइट्रोजन का है और लगभग एक आयतनिक भाग ऑक्सिजन गैस का। यह अनुपात प्रयोगशाला में सरलता से प्रदर्शित किया जा सकता है—



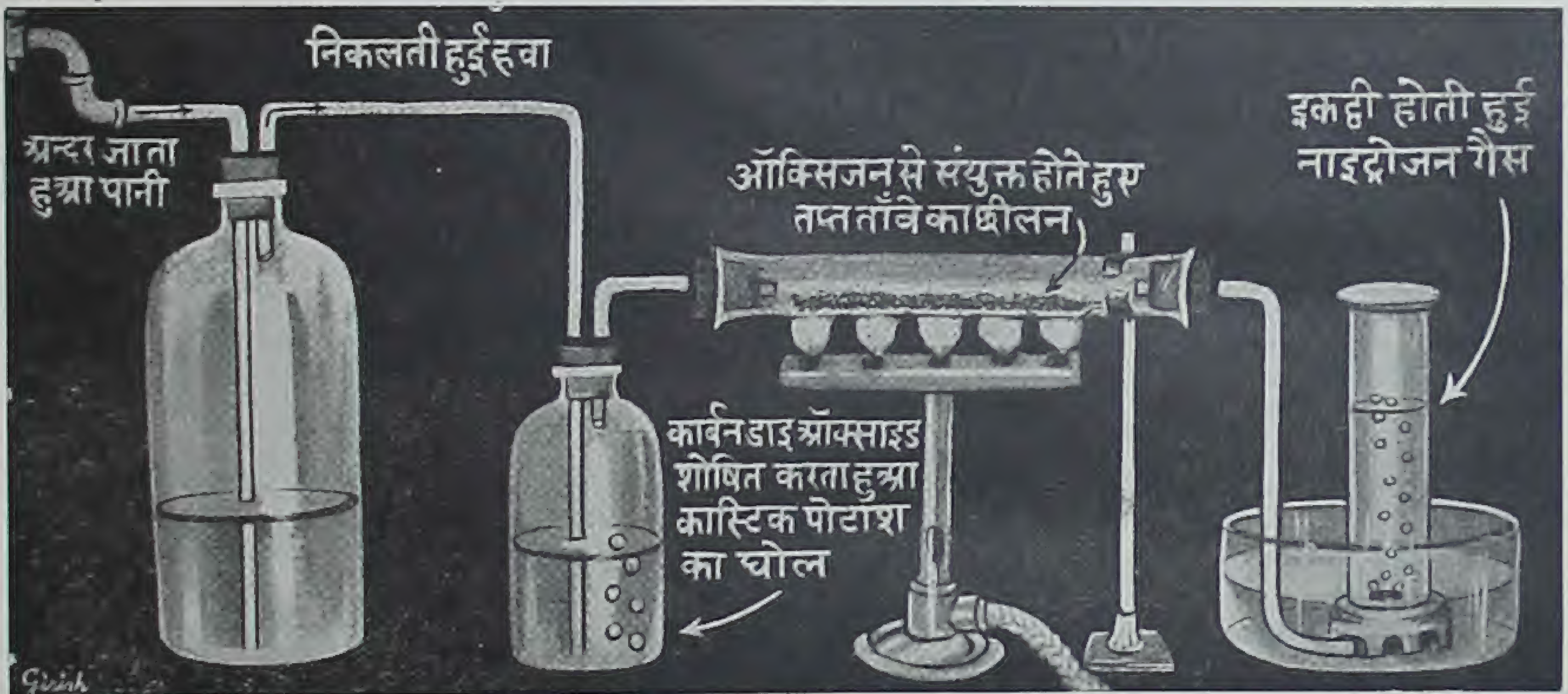
हवा में नाइट्रोजन और आक्सिजन के आयतनिक भागों का अनुपात

(बाईं ओर) बेलजार में फ़ास्फ़ोरस जलाकर किया गया प्रयोग; (दाहिनी ओर) जंग लगने की मंद रासायनिक क्रिया का प्रयोग। (विस्तृत विवरण के लिए देखिए इसी पृष्ठ का मैटर)।

एक बेलजार पर शीशे की पेंसिल से अथवा काग़ज़ चिपकाकर बराबर दूरी पर पाँच निशान बना लीजिए। इस बेलजार को खोलकर एक शीशे के तसले (trough) में रखिए और उसमें इतना पानी भरिये कि वह बेलजार के सबसे नीचेवाले निशान तक आ जाय। अब फ़ास्फ़ोरस का एक छोटा-सा टुकड़ा सावधानी से पानी के भीतर ही काटिए क्योंकि हवा में वह सुलगने और कभी-कभी गर्मी पाकर जलने लगता है। इस टुकड़े को ब्लॉटिंग पेपर पर सुखाकर एक छोटी-सी चीनी की प्याली में रख दीजिए। बेलजार को हटाकर उस प्याली को पानी पर तैरा दीजिए और उसके ऊपर बेलजार को सावधानी से रख दीजिए (देखो इसी पृष्ठ का चित्र)। अब एक गर्म तार द्वारा फ़ास्फ़ोरस के टुकड़े को छूकर बेलजार में तुरंत डाट लगा दीजिए। फ़ास्फ़ोरस बेलजार के अंदर सफ़ेद धुआँ देता हुआ जलने लगता है, जो फ़ास्फ़ोरस पेंटॉक्साइड नामक यौगिक का होता है। यह श्वेत पदार्थ या तो पानी में घुलने, अथवा बेलजार के भीतरी पृष्ठों पर जमने लगता है। फ़ास्फ़ोरस से संयुक्त होती हुई ऑक्सिजन का स्थान लेने के लिए पानी ऊपर चढ़ने लगता है। उसके बुझ जाने के बाद तसले में इतना पानी और भरिए कि पानी के बाहरी और भीतरी तल बराबर हो जायँ। ऐसा करने से बेलजार में बची हुई गैस का दबाव फिर वायुमंडल के दबाव के बराबर हो जाता है, और यह देखा जाता है कि बेलजार के भीतर पानी पहले निशान से दूसरे तक आ गया। इससे यह सिद्ध होता है कि हवा के पाँच आयतनिक भागों में एक आयतनिक भाग ऑक्सिजन का रहता है, जिसके लुप्त होने से उसके स्थान में पानी आ जाता है। बचे हुए चार आयतनिक भाग प्रायः नाइट्रोजन गैस के होते हैं। इस बची हुई गैस के अंदर एक जलती हुई खिपाच अथवा दियासलाई ले जाने से वह तुरंत बुझ जाती है। इस प्रयोग में फ़ास्फ़ोरस इसीलिए उपयुक्त होता है कि उससे यह प्रदर्शन शीघ्रता और सुगमता से हो जाता है। यदि हम समय की परवा न करें तो इसी प्रयोग को ज़ंग लगने की मंद रासायनिक क्रिया द्वारा भी कर सकते हैं।

शीशे की एक इतनी लंबी छड़ लीजिए कि वह बेलजार के अंदर सुगमता से टिकाकर रक्खी जा सके। इस छड़ के एक सिरे पर मलमल के एक टुकड़े में लोहे का थोड़ा-सा भीगा हुआ बुरादा बाँध दीजिए। फिर इस छड़ को

***कार्बन डाइऑक्साइड की उपस्थिति हम चूने के पानी द्वारा पहचान सकते हैं। बेलजार के अंदर थोड़ा साफ़ पानी छोड़कर उसे हिला दीजिए। यदि उसके भीतर कार्बन डाइऑक्साइड है तो वह दूध-जैसा श्वेत हो जायगा।**



— प्रयोगशाला में नाइट्रोजन-उत्पादन—(१)

नल से एक बोतल में धीरे-धीरे पानी आता रहता है, और उसकी हटती हुई हवा कास्टिक पोटाश के घोल में बुलबुलाई जाती है, जिससे उसका कार्बन डाइऑक्साइड पोटाश में शोषित हो अलग हो जाय। यह हवा ताँबे के तप्त छीलन पर प्रवाहित होती है। इससे ऑक्सिजन विलग हो जाती है और बची हुई नाइट्रोजन जारों में पानी को नीचे हटाकर इकट्ठी हो जाती है।

उपर्युक्त प्रयोग की फ़ास्फ़ोरस की प्याली के स्थान पर बेलजार में इस प्रकार टिकाकर रख दीजिए जिससे पोटली ऊपर हवा में रहे। फिर बेलजार को ग्रीज़ लगी हुई डाट से बंद करके पूरे अपरेटस को एक सप्ताह तक अलग रक्खे रहने दीजिए (देखो पिछले पृष्ठ का चित्र)। आप देखेंगे कि बेलजार के भीतर पानी धीरे-धीरे चढ़ता रहता है, और उसी प्रकार पाँच आयतनों में एक आयतन घेर लेता है। बची हुई गैस के गुणों की परीक्षा करने पर वह नाइट्रोजन सिद्ध होती है। लोहे के छीलनों को भिगो लेना इसलिए आवश्यक है कि पानी ज़ंग लगने की क्रिया का उत्प्रेरक होता है। उसकी अनुपस्थिति में ज़ंग नहीं लगती।

वायुमंडल में नाइट्रोजन स्वतंत्र रूप में रहती है, लेकिन संयुक्त रूप में भी उसका अस्तित्व अनेक वस्तुओं में होता है। सारे नाइट्रेड और अमोनियम लवण नाइट्रोजन से युक्त होते हैं। सोडियम नाइट्रेट (चिली साल्टपीटर अथवा चिलियन शोरा) दक्षिणी अमेरिका के चिली देश में बहुत बड़े परिमाण में मिलता है, और खाद के रूप में अनेक देशों में उपयुक्त होता है। चिली की खानों से प्रतिवर्ष लगभग २५ लाख टन शोरा निकालकर बाहर भेजा जाता है। भारतवर्ष में पोटैशियम नाइट्रेट (नाइटर अथवा शोरा) अधिकता से मिलता है। इसके अलावा नाइट्रोजन प्राणियों और वनस्पतियों के कलेवरों में व्यापक रूप से विद्यमान है। इनके कलेवरों के प्रोटीन नामक महत्त्वपूर्ण अवयव नाइट्रोजन के ही यौगिक होते हैं। इतना होते हुए भी सारी पृथ्वी में नाइट्रोजन मूलतत्त्व का अंश बहुत ही थोड़ा है। १२ प्रधान मूलतत्त्वों को छोड़कर जो शेष ८० मूलतत्त्व पृथ्वी के १% अंश में रहते हैं, उनमें से नाइट्रोजन भी है (देखिए पृ० ८१३ व ८१४)। फिर भी इतनी ही नाइट्रोजन चक्ररूप में जड़ों और जीवों में घूम-फिरकर महान् क्रीड़ाएँ किया करती है। हम जीवधारियों के लिए नाइट्रोजन कितना महत्त्वपूर्ण और उपयोगी मूलतत्त्व है, इसका पूरा अनुमान सरलता से नहीं किया जा सकता।

डेढ़ सौ वर्ष के कुछ ही पहले तक मनुष्य इस गैस से परिचित न था। सन् १७७२ ई० में एडिनबरा विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर डेनियल रदरफ़र्ड से इसका प्रथम परिचय हुआ। रदरफ़र्ड ने एक बंद बेलजार में कुछ चुहियों को रक्खा, और श्वास द्वारा बनी हुई कार्बन डाइऑक्साइड को कास्टिक सोडा नामक क्षार के घोल में शोषित कर लिया। इस प्रकार एक ऐसी गैस बच रही जिसमें न वस्तुएँ जल ही सकती थीं और न जीवन ही संभव था। उसी साल शीले और प्रीस्टली नामक वैज्ञानिकों ने भी स्वतंत्र रूप से बंद हवा में कोयला जलाकर नाइट्रोजन का आविष्कार किया। रदरफ़र्ड ने इस गैस को 'मेफ़िटिक एअर' (mephitic air = गंदी वायु) नाम दिया, शीले ने उसे 'फ़ाउल एअर' (foul air = गंदी वायु) कहा,

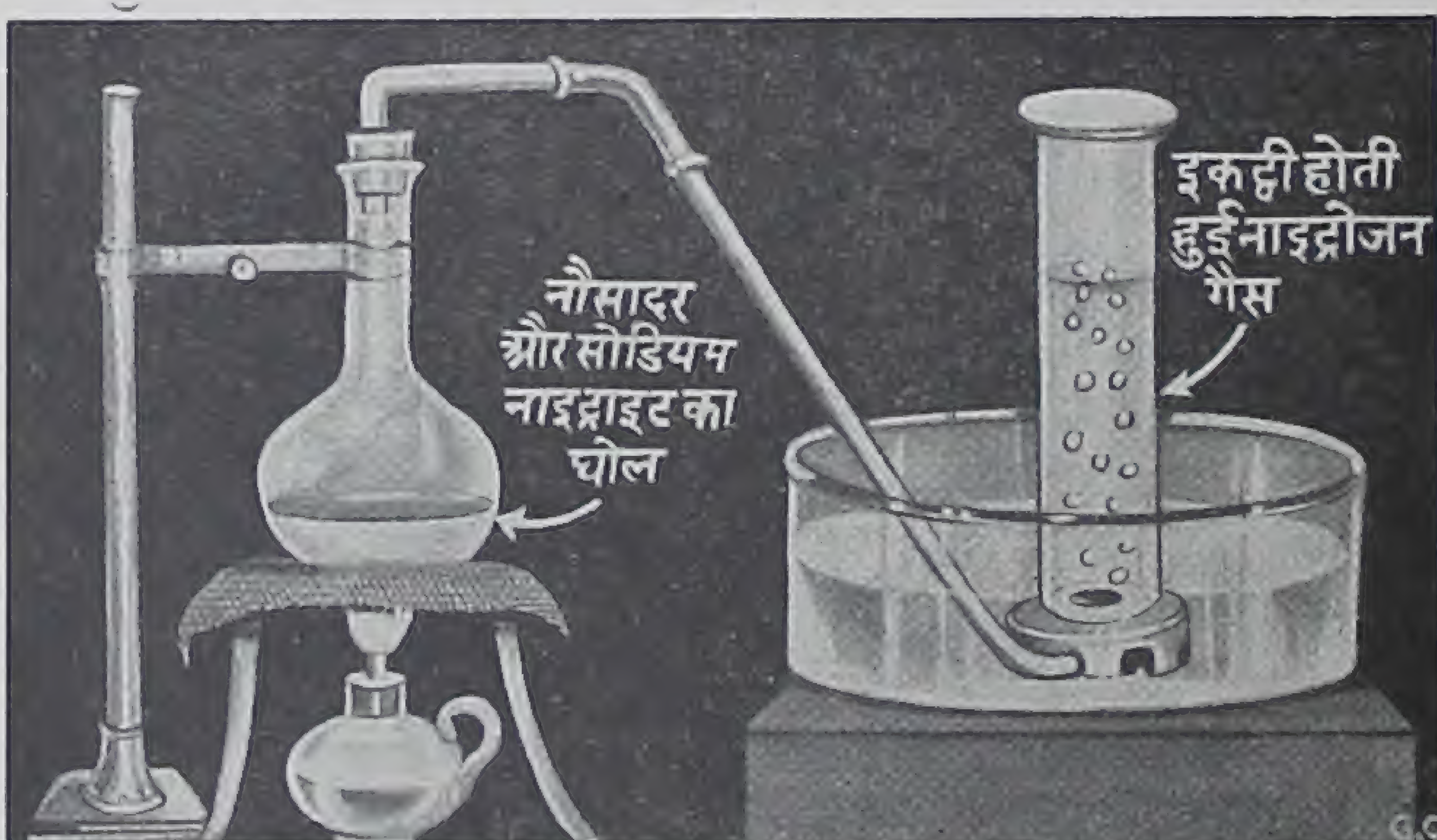
और लवॉयसियर ने उसे 'एज़ोट' (azote = जीवनहीन) कहकर पुकारा। इन सभी नामों का अर्थ है ऐसी गैस जो दहन अथवा जीवन की साधक न हो। सन् १७९० में चैप्टेल ने उसका नाम नाइट्रोजन रक्खा, क्योंकि उसका अस्तित्व नाइटर (शोरे) में होता है।

प्रयोगशाला में नाइट्रोजन हवा से अथवा नाइट्रोजन के कुछ यौगिकों से तैयार की जाती है। हवा से नाइट्रोजन या तो बेलजार में फ़ास्फ़ोरस जलाकर निकाली जाती है ; या एक दूसरी सुगम रीति यह है कि हवा धीरे-धीरे ताँबे के रक्ततप्त छीलनों के ऊपर से प्रवाहित कर दी जाती है। हवा की ऑक्सिजन ताँबे से संयुक्त होकर ताम्रिक ऑक्साइड बनाती रहती है, और बची हुई नाइट्रोजन बाहर निकलती रहती है (दे० पिछले पृष्ठ का चित्र)। पानी के नल से एक बोतल में धीरे-धीरे पानी आता रहता है, और उसकी हटती हुई हवा पहले कास्टिक पोटाश के घोल में बुलबुलाई जाती है, जिससे उसका कार्बन डाइऑक्साइड पोटाश में शोषित होकर अलग हो जाय। फिर यह हवा ताँबे के रक्ततप्त छीलनों पर प्रवाहित होती है और बची हुई नाइट्रोजन गैस जारों में पानी को नीचे हटाकर इकट्ठी कर ली जाती है।

किंतु हवा से निकली हुई यह नाइट्रोजन सर्वथा शुद्ध नहीं होती। न्यूनांशों में इसमें आर्गन, क्रिप्टन, ज़ीनन, हिलियम और निअन नामक निष्क्रिय गैसें मिली रहती हैं। प्रयोगशाला में शुद्ध नाइट्रोजन उसके कुछ यौगिकों के विच्छेदन द्वारा तैयार की जाती है। सबसे सुविधामय विधि में लगभग १० ग्राम शुद्ध नौसादर (अमोनियम क्लोराइड) और १५ ग्राम सोडियम नाइट्राइट (अथवा पोटैशियम नाइट्राइट) एक फ्लास्क में ले लिये जाते हैं, और उसमें कुछ पानी डालकर उनका घोल बना लिया जाता है। इसे धीरे-धीरे गर्म करने पर नाइट्रोजन गैस निकलने लगती है, और वह पानी को नीचे हटाकर गैसजारों में भर ली जाती है। अमोनियम क्लोराइड और सोडियम नाइट्राइट की प्रतिक्रिया में अणुभागों के विनिमय द्वारा अमोनियम नाइट्राइट और सोडियम क्लोराइड नामक यौगिक बन जाते हैं। अमोनियम नाइट्राइट एक अस्थिर यौगिक होता है और गर्म होते ही नाइट्रोजन और पानी में विच्छेदित हो जाता है—

$$NH_4NO_2 \longrightarrow N_2 + 2H_2O$$

अमोनियम नाइट्राइट का एक अणु	नाइट्रोजन के एक अणु	और पानी के दो अणुओं में विच्छेदित हो जाता है



प्रयोगशाला में नाइट्रोजन-उत्पादन—(२)

एक फ्लास्क में १० ग्राम शुद्ध नौसादर और १५ ग्राम सोडियम नाइट्राइट का पानी के साथ घोल बनाकर उसे गर्म करते हैं। शुद्ध नाइट्रोजन निकलकर गैसजार में भर जाती है।

अधिक परिमाण में नाइट्रोजन गैस हवा के द्रवीकरण द्वारा तैयार की जाती है। इसका वर्णन हम ऑक्सिजन के अध्याय में रेखाचित्र देकर कर चुके हैं। पृष्ठ ६३० पर दिये चित्र में वही विधि विस्तारपूर्वक प्रदर्शित की गई है। जो हवा द्रवित होने से बच रहती है वह या तो एक दूसरी सर्पिल नली से लौटती है, जो पहली सर्पिल नली के बाहर-ही-बाहर जाती है, या एक ऐसे बेलनाकार मार्ग से लौटती है जिसके भीतर पहली सर्पिल नली रक्खी रहती है। पहला विधान पृ० ४०६ पर दिए हुए रेखाचित्र में प्रदर्शित है, और दूसरा पृ० ६३० के चित्र में। चित्र से स्पष्ट है कि ऊँचे दबाव से एकाएक मुक्त होने के कारण (ज़ूल-टाम्सन के सिद्धान्तानुसार) और लौटती हवा से अधिकाधिक ठंडी होती रहने के कारण आनेवाली हवा का तापक्रम घटता ही जाता है। यहाँ तक कि वह द्रवित होकर इकट्ठी होने

लगती है। इस द्रवीभूत हवा का तापक्रम एक विशेष रीति से इतना ऊपर उठाया जाता है कि नाइट्रोजन, अधिक वाष्पशील होने के कारण, गैस में बदलकर निकल आती है और ऑक्सिजन द्रवरूप में शेष रह जाती है।

नाइट्रोजन एक रंगहीन, गंधहीन और स्वादहीन गैस होती है। पानी में वह बहुत कम घुलती है। हवा से वह कुछ-कुछ हलकी, लेकिन हाइड्रोजन से १४ गुनी भारी होती है। हाइड्रोजन और ऑक्सिजन की भाँति नाइट्रोजन का भी प्रत्येक अणु उसके दो-दो परमाणुओं के संयोग से बना होता है। इसीलिए उसका अणुसूत्र N_2 लिखते हैं।

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, नाइट्रोजन गैस न तो अन्य वस्तुओं के साथ सरलता से संयुक्त होती है, और न वह दहन अथवा जीवन की साधिका ही होती है। किंतु वह विषाक्त नहीं होती; ऑक्सिजन की अनुपस्थिति ही जीवन की घातक होती है, नाइट्रोजन की उपस्थिति नहीं। रासायनिक क्रियाशीलता की दृष्टि से नाइट्रोजन एक आलसी गैस है। फिर भी, जब वह किसी-न-किसी प्रकार अन्य वस्तुओं से संयुक्त होती है तो बड़े ही महत्त्वपूर्ण यौगिकों का निर्माण करती है।

ऊँचे तापक्रम पर बिजली की चिनगारियों के प्रभाव से नाइट्रोजन न्यूनांशों में ऑक्सिजन से संयुक्त होकर नाइट्रिक ऑक्साइड गैस में परिणत हो जाती है—

$$N_2 + O_2 = 2\,NO$$

नाइट्रोजन के एक अणु और ऑक्सिजन के एक अणु के संयोग से नाइट्रिक ऑक्साइड के दो अणु बन जाते हैं

यही प्रतिक्रिया आकाशीय विद्युत् के प्रभाव से अंतरिक्ष में निरंतर हुआ करती है। इस प्रकार बनी हुई नाइट्रिक ऑक्साइड तुरंत हवा की कुछ और ऑक्सिजन से संयुक्त होकर नाइट्रोजन परॉक्साइड में परिणत हो जाती है—

$$2\,NO + O_2 = 2\,NO_2$$

नाइट्रिक ऑक्साइड के दो अणु ऑक्सिजन के एक अणु से मिलकर नाइट्रोजन परॉक्साइड के दो अणुओं में बदल जाते हैं



कुछ वनस्पतियों की जड़ों में एक प्रकार की गुत्थियाँ रहती हैं जिन पर विशेष प्रकार के कीटाणु रहते हैं। ये कीटाणु अपनी जीवन क्रियाओं द्वारा मिट्टी में मिली हुई नाइट्रोजन को ऐसे यौगिकों में बदलते रहते हैं जो वनस्पतियों के लिए खाद्य हों।

यह नाइट्रोजन परॉक्साइड पानी तथा कुछ और ऑक्सिजन से संयुक्त होकर नाइट्रिक एसिड (शोरे के तेज़ाब) में बदल जाती है—

$$\left.\begin{array}{c} 2NO_2 \\ \text{नाइट्रोजन परॉक्साइड के दो अणु} \\ + \\ 2H_2O \\ \text{पानी के दो अणु} \\ + \\ O_2 \\ \text{ऑक्सिजन का एक अणु} \end{array}\right\} = \begin{array}{c} 4\,HNO_3 \\ \text{नाइट्रिक एसिड (चार अणु)} \end{array}$$

ऐसे कूता जाता है कि चौबीस घंटों में लगभग २,५०,००० टन नाइट्रिक ऐसिड इस प्रकार बनकर तथा पानी में घुलकर पृथ्वी पर उतर आती है। यह ऐसिड रासायनिक क्रिया द्वारा पृथ्वी के कार्बोनेटों और क्षारों को नाइट्रेट नामक लवणों में परिवर्तित कर देती है। सोडियम नाइट्रेट, पोटेशियम नाइट्रेट, कैल्शियम नाइट्रेट और मैग्नेशियम नाइट्रेट, इस प्रकार पृथ्वी में बननेवाले नाइट्रेटों के उदाहरण हैं। इन नाइट्रेटों का धातु-भाग क्षारों और कार्बोनेटों से, और नाइट्रेट भाग (NO_3) नाइट्रिक अम्ल से मिलता है। सोडियम का प्रतीक Na है, इसलिए सोडियम नाइट्रेट का अणुसूत्र $Na\,NO_3$ लिखा जाता है।

ये नाइट्रेट लवण वनस्पतियों के लिए महत्त्वपूर्ण

भोजन होते हैं। मिट्टी में मिले हुए इनके घोल को पौधे जड़ों द्वारा शोषित कर लेते हैं और इनसे अपने शरीर के प्रोटीन नामक अवयव बना लेते हैं।

एक दूसरी प्राकृतिक विधि में नाइट्रोजन कीटाणुओं द्वारा संयुक्तावस्था में आती रहती है। कुछ वनस्पतियों, जैसे मटर तथा कुछ अन्य छीमियों के पौधों की जड़ों में एक प्रकार की गुत्थियाँ रहती हैं। इन गुत्थियों पर, तथा उनके आस-पास कुछ विशेष प्रकार के कीटाणु रहा करते हैं। वास्तव में ये गुत्थियाँ इन्हीं कीटाणुओं की बनाई हुई होती हैं। ये कीटाणु अपनी जीवन क्रियाओं द्वारा मिट्टी में मिली हुई हवा की नाइट्रोजन को ऐसे यौगिकों में बदलते रहते हैं जो वनस्पतियों के लिए खाद्य हों। इस प्रकार न केवल इन पौधों को ही खाद्य मिलता प्रत्युत् आस-पास की मिट्टी भी खाद्य पदार्थों से मिलकर उर्वरा हो जाती है।

जब नाइट्रोजन के एक आयतन और हाइड्रोजन के तीन आयतनों के मिश्रण पर वायुमण्डल के दबाव से दो सौ-ढाई सौ गुना दबाव डालकर उसे ६००°c तक गर्म किये हुए लोहे के महीन बुरादे पर से प्रवाहित किया जाता है, तो इस मिश्रण का लगभग सातवाँ भाग संयुक्त होकर अमोनिया गैस में परिवर्तित हो जाता है—

$$N_2 \quad + \quad 3H_2 \quad = \quad 2NH_3$$

नाइट्रोजन (एक अणु) | हाइड्रोजन (तीन अणु) | अमोनिया गैस (दो अणु)

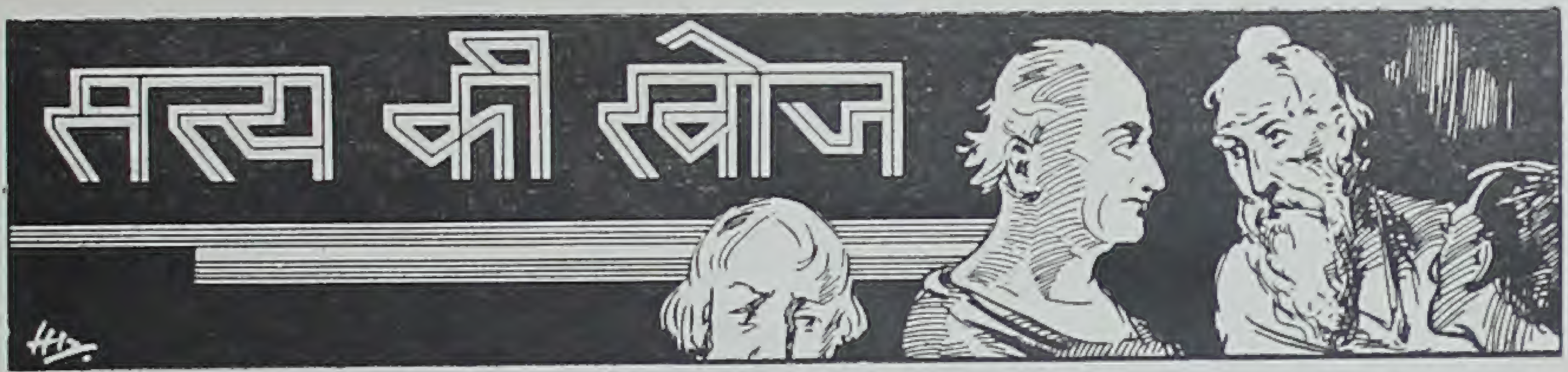
लोहे का बुरादा इसमें केवल उत्प्रेरक (catalyser) का काम करता है, स्वयं परिवर्तित नहीं होता। इस अमोनिया गैस से या तो उसे अम्लों में शोषित करके अमोनियन लवण बना लेते हैं, जो खाद आदि के काम में आते हैं; अथवा उसे एक विशेष विधि से ऑक्सीकरण द्वारा नाइट्रिक ऐसिड में परिवर्तित कर लेते हैं, जिससे अन्य उपयोगी पदार्थ बना लिये जाते हैं। नाइट्रेट खादें और मुख्य विस्फोटक पदार्थ नाइट्रिक ऐसिड से ही बनते हैं।

जब नाइट्रोजन तपते हुए कैल्शियम, मैग्नेशियम, अलुमीनियम, आदि कुछ धातुओं के ऊपर से प्रवाहित की जाती हैं, तो वह उनसे संयुक्त होकर नाइट्राइड नामक यौगिकों का निर्माण करती हैं। ये नाइट्राइड जब पानी के संसर्ग में आते हैं, तो अमोनिया गैस का उत्पादन होता है। अतएव, यह भी नाइट्रोजन को संयुक्तावस्था में लाकर उपयोगी पदार्थों को पैदा करने का एक उपाय है। रक्त-तप्त मैग्नेशियम के ऊपर नाइट्रोजन प्रवाहित करने पर वह पूर्णतः शोषित हो जाती है और मैग्नेशियम नाइट्राइड ($Mg_3 N_2$) बन जाता है। नाइट्रोजन गैस को पहचानने की एक निश्चित रीति यह है कि वह रक्त-तप्त मैग्नेशियम के ऊपर से प्रवाहित कर दी जाय। यदि वह पूर्णतः शोषित हो जाय तो निश्चय ही नाइट्रोजन है।

जब नाइट्रोजन गैस तप्त कैल्शियम कार्बाइड (CaC_2) के ऊपर से प्रवाहित की जाती है, तो कैल्शियम सायनामाइड ($CaCN_2$) नामक यौगिक बन जाता है। यह यौगिक भी खाद के रूप में उपयुक्त होता है और 'नाइट्रोलिम' आदि व्यापारिक नामों से बेचा जाता है।

सभी मुख्य विस्फोटक पदार्थ, जैसे डायनामाइट, कार्डाइट, गन-पाउडर, गनकाटन, पिक्रिक ऐसिड, टीएनटी, आदि, नाइट्रोजन के यौगिकों से ही बने होते हैं। प्रायः यह सभी यौगिक नाइट्रिक ऐसिड के उपयोग से बनाए जाते हैं। नाइट्रोजन स्वातंत्र्य-प्रिय गैस है, जो यौगिकों के बंधन में नहीं रहना चाहती—संयुक्तावस्था में भी वह स्वतंत्र हो जाने के लिए उतावली रहती है। ज़रा-सा धक्का अथवा एक चिनगारी नाइट्रोजन के असंख्यों अणुओं को पल भर में विस्फोटक से निकाल भागने का अवसर दे देते हैं। नाइट्रोजन तथा उसी क्षण में उत्पादित कार्बन डाइऑक्साइड आदि कुछ अन्य गैसों के यही असंख्यों अणु जब सहसा प्रबलतापूर्वक निकलकर गैस रूप में फैल जाते हैं, तो धड़ाका होता है।

इस प्रकार, यद्यपि नाइट्रोजन परिमाण की दृष्टि से पृथ्वी का एक उपेक्षणीय मूलतत्त्व है, और रासायनिक क्रियाशीलता की दृष्टि से एक आलसी गैस है, तथापि जीवधारियों के जगत् में वह बड़े-बड़े कार्य किया करती है। यदि वायुमंडल में नाइट्रोजन के स्थान में हीलियम-सरीखी कोई दूसरी निष्क्रिय गैस भर दी जाय, तो खादों के न बन सकने के कारण शीघ्र ही एक भीषण अकाल पड़ जाय और सारे वनस्पति और प्राणिवर्गों का अंत हो जाय; कारण, बिना नाइट्रोजनयुक्त खादों के वनस्पतियों का जीवन और बग़ैर वनस्पतियों के जानवर और मनुष्यों का जीवन असंभव है। शस्यक्षेत्र में खादों के रूप में संयुक्त होती हुई नाइट्रोजन का महत्व जीवधारियों के लिए चिरकाल से रहा है और सदैव रहेगा; किंतु इस युग में मानवजाति के लिए रणक्षेत्र में विस्फोटकों से धड़ाके के साथ सहसा निकल भागनेवाली नाइट्रोजन का महत्व भी बहुत बढ़-चढ़ गया है। मनुष्य की जय-पराजय, स्वतंत्रता-दासता, सुख-दुःख, और अस्तित्व-नाश बहुत-कुछ इस पर भी निर्भर हो गए हैं।



देश

'मैं हूँ', यह प्रतीति मनुष्यमात्र के मन में होती है। पर 'मैं हूँ' इस अनुभव के साथ ही यह प्रश्न भी जुड़ा रहता है—'मैं कहाँ हूँ ?' 'कहाँ' का उत्तर ही देश-सम्बन्धी ज्ञान है। देखने में यह प्रश्न साधारण-सा जान पड़ता है, पर विचारने पर ज्ञात होता है कि हमारे समस्त जीवन और ज्ञान की सत्ता इसी 'कहाँ' की कृपा पर निर्भर है। यदि 'कहाँ' न हो तो 'मैं हूँ' इस वाक्य का कुछ अर्थ ही न रहे। 'कहाँ' को साथ लेकर ही इस जगत् की स्थिति सम्भव है। 'कहाँ' का अर्थ 'देश' है। देश के बिना सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र, मनुष्य-पशु-पक्षी, मार्ग-भवन-उपकरण, अर्थात् व्यवहार में आनेवाले जितने भी पदार्थ हैं उन सबकी स्थिति निराधार हो जाती है। जब देश ही नहीं, तो उसमें भरे हुए पदार्थों का अस्तित्व बुद्धि कैसे मान सकती है ! हमें जो पदार्थों की प्रतीति होती है, उसमें हम उन्हें देश में किसी क्रम से सजे हुए रूप में विचारते हैं। इसका यह अर्थ होता है कि दो पदार्थ एक ही स्थान पर नहीं रह सकते। एक पदार्थ जिस स्थान को घेरे हुए है, दूसरा उसी को घेरकर नहीं टिक सकता। यह असम्भव है। इसलिए साधारण मनुष्य की बुद्धि भी इस बात को बिना दलील के स्वयंसिद्ध सत्य की भाँति मान लेती है।

पर हमें अपने कथन में और सावधानी रखने की आवश्यकता है। जब हम यह कहते हैं कि दो पदार्थ एक स्थान को घेरकर नहीं टिक सकते, तो उस कथन में एक बात और छिपी रहती है। हमारा तात्पर्य यह होता है कि **एक ही समय में** एक स्थान पर दो चीज़ों का भौतिक अस्तित्व असम्भव है। भिन्न-भिन्न समय में तो एक स्थान पर हज़ार चीज़ें भी रह सकती हैं। अतएव दार्शनिक अर्थों में काल का देश के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। अथवा यों कहें कि देश का काल के साथ गहरा सम्बन्ध है। देश-काल एक अभिन्न चौखटा है। हमारे अनुभव का स्वयंसिद्ध वाक्य 'मैं हूँ' यदि कुछ बुद्धि-गम्य अर्थ रखता है, तो उस अर्थ को हमें देश-काल की रूप-रेखा में रखकर ही समझना होगा। 'मैं हूँ', यह ज्ञान देश-सापेक्ष्य है और काल-सापेक्ष्य भी है। दोनों का समान बल है। मुष्टिक और चाणूर के जैसा समान बल लेकर देश और काल रूपी दो पहलवान मानव के हर एक अनुभव से सदा टक्कर लेते रहते हैं। इनमें से एक का नाम है 'कहाँ ?' और दूसरे का नाम है 'कब ?'। 'कहाँ' और 'कब' की मैत्री सृष्टि के आदि से है, इनका 'साप्तपदीन सख्य' प्रलय तक बना रहेगा। सम्भवतः प्रलय की कल्पना भी मानवी मस्तिष्क बिना 'कुत्र' और 'कदा' की छाया के नहीं कर सकता। यह शाश्वत द्वन्द्व है। एक ओर 'कदा कर्हितदा तदानीं तर्हि' की धारा है; दूसरी ओर कुत्र-तत्र का समानान्तर प्रवाह है। दोनों में सनातन पार्थक्य है, कभी संकर नहीं होता, फिर भी सृष्टि-प्रक्रिया के लिए दोनों का अभिन्न सम्बन्ध हुए बिना काम भी नहीं चलता। कवि के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि कदा पुरुष और कुत्र स्त्री है। दोनों का विवाह-सम्बन्ध रचाए बिना ब्रह्माजी सृष्टि नहीं कर सकते। पुरुष जब तक अकेला रहा, सृष्टि में उसका मन नहीं लगा। सृष्टि के लिए ललाम भाव चाहिए। ललाम भाव या विवाह की मूल स्त्री है। इसलिए बिना पुरुष-स्त्री के मिथुनी भाव के प्रजापति का क्रम अग्रसर नहीं होता। काल पुरुष है, देश स्त्री है। काल की तरह संतत गतिशील तत्त्व में स्थिरता का सम्पर्क देश से ही होता है। स्त्री-रूपी देश में जब मनुष्य प्रतिष्ठा पाता है, तभी वह एक स्थान में जमकर रहता है। बिना स्त्री के मनुष्य फिरन्दर प्राणी (nomadic) बन जाता है। देश-सम्बन्धी प्रतिष्ठा जिसमें नहीं रही उसी की संज्ञा परिव्राट् होती है। स्त्री केन्द्र है, गृहस्थ-रूपी मंडल का वह ध्रुव-बिन्दु है। केन्द्र या ध्रुव-बिन्दु ही देश का प्रतीक है। ध्रुव-बिन्दु जब चंचल हो जाता है तभी

वस्तु का विनाश निकट आ जाता है। चंचला स्त्री समाज और कुल की प्रतिष्ठा और दृढ़ स्थिति को अस्तव्यस्त कर डालती है। देश और काल से बहुत ही गहरे और सच्चे अर्थों में मनुष्य-जीवन को बनाने और बिगाड़ने में हिस्सा लिया है। शतपथ ब्राह्मण में नाम-रूप के बारे में कहा है—

ते ह एते ब्रह्मणः महती अभ्वे, महती यक्षे।

अर्थात् नाम और रूप ब्रह्म के दो बड़े मायिक रूप हैं, दो बड़े यक्ष हैं। जो यजन या पूजन के योग्य हो उसे यक्ष कहते हैं। देश और काल से बढ़कर ब्रह्म का पूजनीय रूप और क्या हो सकता है? ये रूप इतने चमत्कारी हुए कि इनके द्वारा ही सृष्टि का अत्यन्त रहस्यमय और आश्चर्य से भरा हुआ ताना-बाना फैल गया। सृष्टि के विस्तृत पट से अधिक सुन्दर और रमणीय पट की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऋग्वेद में कहा है कि दो विरूप युवतियाँ इस तन्तु को रात-दिन बुनती रहती हैं। उन युवतियों का रूप विविध है, एक-दूसरे से भिन्न है। इसी कारण इस वस्त्र में आगे चलकर विलक्षण रमणीयता के दर्शन होते हैं। इन दो रूपों को ऋषियों ने 'अभ्व' भी कहा है। 'अभ्व' की परिभाषा है—अभूत्वा भवतीति, जो न होकर भी होवे, वास्तविक सत्ता न होते हुए भी जो दिखाई पड़े। यही माया है। शतपथ ब्राह्मण में नाम और रूप को 'अभ्व' और 'यक्ष' कहा गया है। नाम-रूप ही देश-काल हैं। नाम काल है, रूप देश है। ये केवल परिभाषाएँ हैं। यों भी साधारणतः लोक में नाम काल पर विजयी होकर अमरपन चाहता है, और रूप देश में अपने विविध आकारों का प्रसार करता है।

प्रश्न यह है कि क्या देश और काल मायिक हैं, क्या उनकी प्रतीतिमात्र है, वास्तविक सत्ता नहीं? यह प्रश्न वेदान्त में बड़े महत्त्व का माना गया है। तत्त्व-जिज्ञासा के मार्ग में यह बार-बार सामने आता है। आज विज्ञान भी इस प्रश्न से लोहा ले रहा है। ज्ञानी लोग आन्तरिक अनुभव और साक्षात् दर्शन के आधार पर देश-काल को माया कहते हैं। वेद में भी इनका नाम 'अभ्व' है। इनके विपरीत जो नित्य तत्त्व है वह ब्रह्म है, वही 'आभु' कहलाता है। 'आभु' का अर्थ है—आ समन्तात् भवतीति, जो सब ओर से भर रहा हो। ब्रह्म का और नाम-रूप या देश-काल का सम्बन्ध आभु और अभ्व का अथवा सत्य और माया का सम्बन्ध है।

अर्वाचीन विज्ञान ने भी अब देश-काल के वास्तविक स्वरूप की छानबीन की ओर अपना पैर बढ़ाया है। प्राचीन रेखागणित के अनुसार देश ध्रुव या अचल प्रतीति का विषय था। देश का ज्ञान मनुष्य के मन में स्वाभाविक संस्कारों के कारण स्वयंसिद्ध-सा बन गया था। पर देश-सम्बन्धी ज्ञान का स्वरूप क्या है, इसकी विवेचना करते समय हमारा ध्यान देश में स्थित पदार्थों की पारस्परिक दूर अथवा निकटस्थ परिस्थिति की ओर जाता है। जब हम मान लेते हैं कि सूर्य एक स्थान पर है तब चन्द्रमा की स्थिति का अनुमान करने के लिए आधार प्राप्त होता है। सूर्य की तुलना में चन्द्रमा किधर और कहाँ है, इसकी प्रतीति देश की प्रतीति है। देश-सम्बन्धी ज्ञान का सबसे अधिक आवश्यक अंग पदार्थों का क्रम है जिसके अनुसार हम उनका अनुभव प्राप्त करते हैं। हमारे सामने मेज़ पर रक्खी हुई चीज़ों में जो आगे-पीछे, दाहिने-बायें, या ऊपर-नीचे का क्रम है, उसी के कारण देश की कल्पना का ख़ाका पूरा होता है। देश का साहचर्य दिशाओं के साथ है। प्राचीन कलाविदों की कल्पना के अनुसार छः दिक्कुमारिकाएँ मध्यवर्ती ब्रह्माण्ड-चक्र को अपने कन्धों पर उठाए हुए दुर्धर्ष वेग से एक नियत अक्ष पर घूमती रहती हैं। दिशाओं के त्रिविक्रम से ही विराट् रूपधारी विष्णु देश में अपने तीन पैर उठाते हैं। प्राची-प्रतीची, दक्षिणा-उदीची, ऊर्ध्व-अधः यही देश का सूत्र रूप है। परन्तु यह कल्पना केवल व्यवहार के लिए मान ली गई है। एकरस देश में कोई भी ऐसी रेखा या बिन्दु नहीं पाया जाता जिसे अटल मानकर देश का विस्तार नापने के लिए हम बाध्य हों। एकरस काल का भी यही स्वभाव है। उसके संततवाही प्रवाह में कोई भी ऐसा क्षण नहीं पकड़ा जा सकता जहाँ से शकारि विक्रम ने साका करके अपना संवत् चला दिया हो। विक्रम से पहले जो काल बीत गया, उसकी क्या कल्पना हो सकती है, कहाँ से उसको नापना शुरू किया जाय? हम देख चुके हैं कि घड़ी की सुई के एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटकर चले जाने का परिणाम हमारा व्यावहारिक काल है इस काल का हमको जिस विधि से ज्ञान होता है, उसके लिए देश में दो बिन्दुओं की कल्पना आवश्यक है, एक चल, दूसरा अचल, जहाँ से कि चल बिन्दु की नाप-जोख की जा सके। पर प्रकृति के विधान में इस प्रकार के ध्रुवबिन्दु का नितान्त अभाव है। अतएव दार्शनिक ढंग से न देश की कल्पना बनती है और न काल की। हाँ, व्यावहारिक पक्ष में इन दोनों का स्वयंसिद्ध

अनुभव सबको हो ही रहा है। नित्य देश और सनातन काल का अनुभव हम सबकी पहुँच से बाहर है। वह मनुष्य के मस्तिष्क का विषय नहीं है। न हमारी इन्द्रियाँ ही उसके ज्ञान में सहायक हो सकती हैं।

जब से सापेक्षतावाद ने विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश किया है तब से देश और काल की दशा और भी शोचनीय हो गई है। प्राचीन प्रमाणों से निश्चित अनुभव हमें प्राप्त होता था वह भी अब अपरिवर्तनशील नहीं समझा जाता। पूर्व गणित का मत था कि एक गज़ की लम्बाई चाहे जिस परिस्थिति में नापी जाय ३६ इंच ही रहेगी। अपने पास के देश से लेकर ब्रह्माण्ड के दूरातिदूर प्रदेश में भी इस नियम का अपवाद नहीं है। गति और स्थिति की हरएक दशा में देश और काल के परिमाण एक-से बने रहते हैं। अब यह समझा जाने लगा है कि देश का परिज्ञान हमारा एक विशेष प्रकार का अनुभव ही है, उसकी स्वतंत्र वास्तविक सत्ता है या नहीं हम नहीं जानते। मनुष्य का अनुभव किन्हीं विशेष परिस्थितियों में होता है। मनुष्य की चक्षुरिन्द्रिय पदार्थ को देखती है, हम उसके आकार और परिमाण का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस अनुभव में हमारी इन्द्रियों के अतिरिक्त प्रकाश भी एक कारण है। हम जिस परिस्थिति में रह रहे हैं उसमें प्रकाश की किरणें प्रति सैकंड १ लाख ८६ हज़ार मील की नियत गति से गमन करती हैं। हम जिस क्षण वस्तु को देखते हैं उसी क्षण प्रकाश की किरणें हमारी ओर चलने लगती हैं। इस दूरी को पार करने में उन्हें कुछ समय गणित की दृष्टि से लगना चाहिए। पर हमें यह अन्तर मालूम नहीं होता। कारण कि देश की जिस दूरी से प्रायः हमें काम पड़ता है उसको तय कर लेने में प्रकाश-रश्मियों को जो समय लगता है वह नगण्य है। प्रकाश-किरण की रफ़्तार इतनी अधिक है कि वह एक सैकंड में २५ हज़ार मील परिधिवाले इस पृथ्वी-मंडल के सात चक्कर काट सकती है। पर इस अनन्त ब्रह्माण्ड में कितने ही नक्षत्र इतनी दूर हैं जहाँ से प्रकाश-किरणों को भी आने में करोड़ों वर्ष लग जाते हैं! जब तक उस नक्षत्र की प्रकाश-किरण हमारे पास न आ जाय तब तक देश-काल के चौखटे में उसका अस्तित्व हमारे लिए सिद्ध नहीं हो सकता। जिस समय देश का पृथक् अस्तित्व और काल की पृथक् सत्ता स्वयंसिद्ध मान ली जाती थी, उस समय की गणित-बुद्धि को लेकर हम यह संतोष कर सकते थे कि काल की सहायता के बिना भी देश में वस्तु की स्थिति सम्भव है। परन्तु अब देश-काल का जाल (Time-Space Continuum) अखंड या संतत माना जाता है। इस अखंड स्थिति में आये हुए पदार्थ का ही ज्ञान हमें हो सकता है, अन्य का नहीं। न केवल देश में, और



१ लाख ८६ हजार मील प्रति सैकंड की गति से चलनेवाली प्रकाश-किरणों को भी इस नीहारिका से पृथ्वी तक आने में लाखों वर्ष लग जाते हैं। इस तरह इसका जो रूप आज हम दूरदर्शक द्वारा देखते हैं वह वास्तव में लाखों वर्ष पूर्व की उसकी सत्ता का प्रतिबिंब है। यह देश-काल की सापेक्षता के वैचित्र्य की ही करामात है।

न केवल काल में हम किसी वस्तु को जान सकते हैं। देश-काल की अखंड स्थापना के कारण भूत और भविष्य के विचारों में भी उथल-पुथल पैदा हुई है। मान लीजिए ब्रह्म-हृदय नक्षत्र से जो प्रकाश-किरण चली वह चौदह करोड़ वर्ष में हमारे पास तक आकर पहुँची। उस नक्षत्र की उन अतीत घटनाओं की हमारे ज्ञान में समसामयिक प्रतीति वस्तुतः प्रकृति की ओर से आज सम्भव हो सकी है। प्रकाश-किरणों की गति के जो नियम हैं उनसे हमारा ज्ञान जिस प्रकार नियंत्रित हो रहा है, उसी को हम सत्य ज्ञान मानेंगे। कालविरहित देश में ब्रह्म-हृदय नक्षत्र की १४ करोड़ वर्ष पूर्व सत्ता, जिसे हम अब तक सत्य समझते थे, भले ही हो; पर वह कल्पना है, सत्य नहीं। प्रकृति जिस आयोजन से सत्यात्मक प्रतीति हमें कराती है हमें उसी को मान्य समझना होगा। अतएव हमारे देश-कालात्मक अनुभव में ब्रह्म-हृदय का भूतकाल जब प्रविष्ट होता है हम तभी उसे सत्य मानने के लिए विवश हैं। ज्ञान के जो प्राकृतिक साधन हैं हम उन्हीं पर निर्भर हैं। उनसे आगे या पीछे हटकर हम किसी घटना का कल्पनात्मक अनुभव नहीं कर सकते। यदि करें भी तो उस अनुभव की प्रणाली वैज्ञानिक नहीं कही जायगी।

अभी जो उदाहरण दिया गया है उसमें प्रकाश की नियत गति मानकर ही यह दिखाया गया है कि ब्रह्म-हृदय का भूतकाल कितना पिछड़कर भी हमारे वर्तमान काल का समसामयिक हो जाता है। मान लीजिए कि गति इससे दुगुनी होती तब तो आधी ही देर में वह अनुभव हमारे पास तक आ जाता। अर्थात् हमारे अखंड देश-काल के साथ उस समाचार का सम्बन्ध किसी अन्य प्रकार से हुआ होता। और यदि ब्रह्म-हृदय नक्षत्र के प्रकाश की गति से हमारी अपनी गति दुगनी हो जाती तो उस समाचार का कभी हमारे साथ सम्बन्ध होता ही नहीं। अर्थात् हमारे देश-काल के लिए उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार काल-सम्बन्धी व्यावहारिक परिमाण सापेक्ष हैं। कवि ने कहा है कि कागभुशुण्डिजी ने राम के उदर में करोड़ों ब्रह्माण्ड-निकायों का दर्शन किया और शत-कल्प तक घूमते फिरे, फिर भी—

> उभय घरी मँह मैं सब देखा।
> भयेउँ भ्रमित मन मोह बिसेखा॥

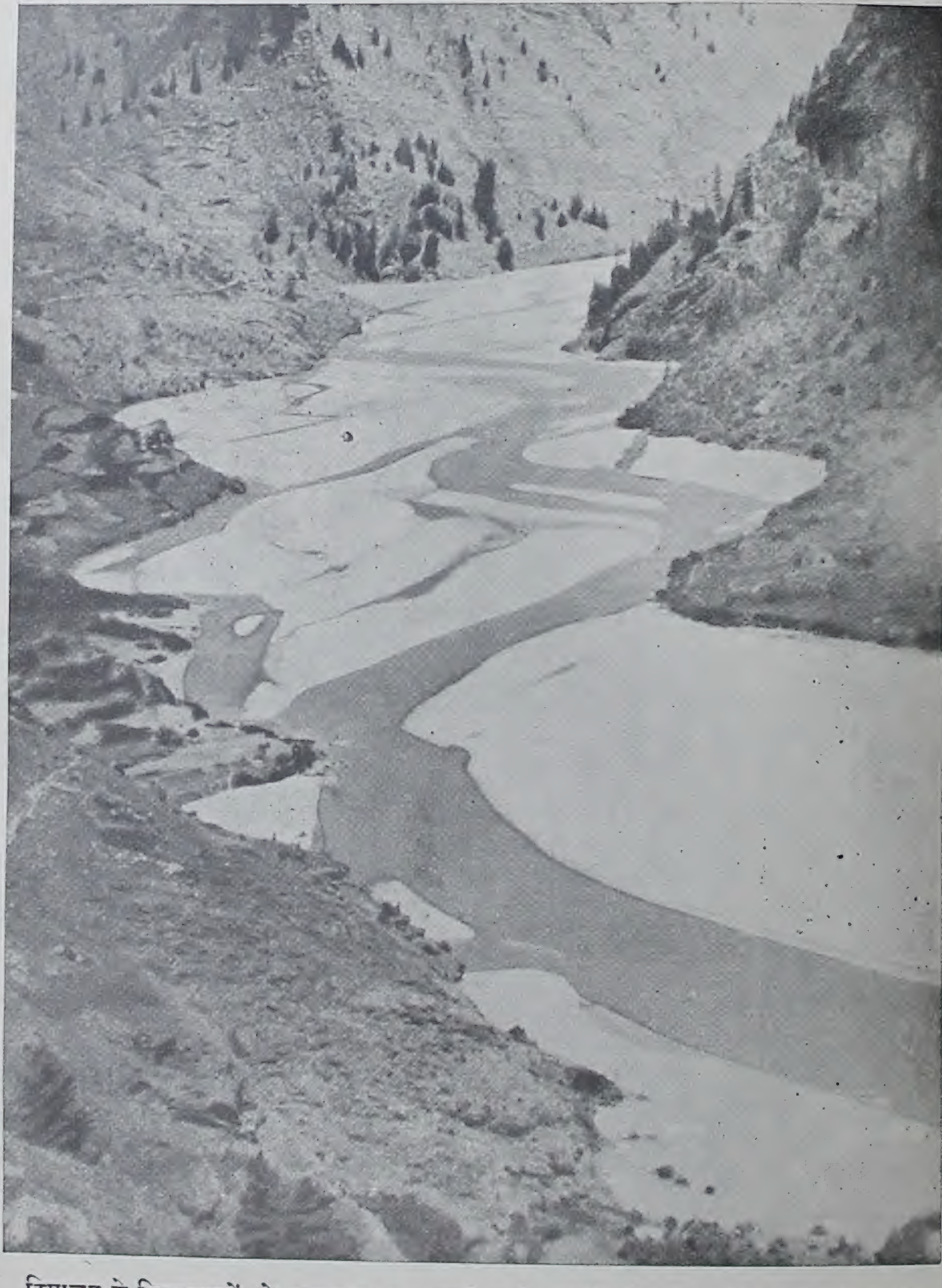
'दो घड़ी में ही मैंने सब देख लिया!' यहाँ कालकृत परिमाण भिन्न-भिन्न लोकों के हैं। मानवी धरातल पर जो काल का प्रवाह है यह आवश्यक नहीं कि सर्वत्र उसी का साम्राज्य हो।

देश की प्रतीति भी द्रष्टा या अनुभव-कर्त्ता की स्थिति से सापेक्ष्य है। मान लीजिए कि हमसे एक मील की दूरी पर एक शेर लेटा हुआ है। इस स्थिति में जब कि द्रष्टा और दृश्य वस्तु नियत स्थान पर हैं, वस्तु की लम्बाई चाहे देखनेवाले कितने ही हों सबको बराबर दिखाई देगी; क्योंकि सबका देश-काल का चौखटा एक-सा है। परन्तु यदि सिंह वेग से भागने लगे तो उसकी लम्बाई में हमारी अपेक्षा से कुछ अन्तर, चाहे वह कितना ही कम क्यों न हो, पड़ जायगा। यदि वही सिंह एक लाख मील की तेज़ी से दौड़ने लगे तो उसकी लम्बाई में हमको वास्तविक फ़र्क़ दिखाई पड़ेगा। यह कथन युक्ति या बुद्धि के विपरीत जान पड़ता है। और यह सच है कि मानवी व्यवहार में इस तरह की विप्रतिपत्ति के अवसर नहीं आते। फिर भी वैज्ञानिक सापेक्ष्यतावाद को मानकर पुराने देश-काल सम्बन्धी विचारों में परिवर्त्तन करने पर विवश हुए हैं। ये कथन इतने सीधे नहीं हैं जितने कि जान पड़ते हैं। इनके व्याख्यान और सिद्धि के लिए अत्यन्त जटिल युक्ति और पेचीदा गणित-शैली का आश्रय लेना पड़ता है, जो व्यावहारिक या लौकिक क्षेत्र से परे की वस्तु है, दार्शनिक मतवाद के लिए उसका कुछ भी महत्त्व क्यों न हो।

भारतीय दर्शन में देश-काल की व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्ता को बहुत पुराने समय से ही स्वीकार कर लिया गया था। लोक-दृष्टि से देश और काल दोनों का अनुभव हम रात और दिन करते रहते हैं। इनसे ऊपर उठकर इनके सत्य स्वरूप की मीमांसा में देश और काल वैसे ही अचिन्त्य तत्त्व हैं जैसे आत्मा, चैतन्य, ब्रह्म आदि। विज्ञान के नये दृष्टिकोण में महत्वपूर्ण अंश वह है जिसमें देश-काल की सत्ता एक दूसरे से अखंड (Time-Space Continuum) मानी गई है। भारतीय दर्शन भी इस अखंडता को स्वीकार करता है। देश-काल दोनों एक दूसरे से अविनाभूत हैं। इन्हें द्वन्द्व कहा गया है। सृष्टि के लिए दोनों की अनिवार्य आवश्यकता है। काल गति है, देश स्थिति है। गति-स्थिति के सम्मिलन का नाम ही जगत् है। बृंहणत्व या बढ़ना काल की शक्ति से होता है। पर देश न हो तो बृंहण की प्रक्रिया नहीं हो सकती। केन्द्र से परिधि की उत्पत्ति देश के अधीन है। अणु से विराट् होना देश की कृपा पर निर्भर है।



पृथ्वी की कहानी



हिमालय के शिलाखण्डों को चकनाचूर कर गहरी घाटी बनाती हुई बढ़ी चली आ रही गंगा नदी
(फ़ोटो—डा० शिवकण्ठ पाण्डे के सौजन्य से)



नदियों की कहानी

जलधारा द्वारा स्थल के निरन्तर क्षय में नदियों का सबसे बड़ा हाथ है। ये नदियाँ क्या हैं, कैसे उपजती हैं और किस तरह अपना कार्य करती हैं, यह इस लेख में पढ़िए।

स्वाभाविक रूप से बहनेवाली विशाल जलधारा तथा उसके मार्ग को 'नदी' कहते हैं। जो जलधारा निरन्तर बहा करती है केवल वही नदी कहलाती है। जो जलधारा केवल कभी-कभी बहने लगती है और अन्य ऋतुओं में सूख जाती है, उसे नाला कहते हैं। नदी या नाले में जो पानी बहता है उसके तीन स्रोत हैं—बरफ़ का पिघला हुआ जल, वर्षा का जल तथा प्राकृतिक सोतों और झरनों का जल। जिन नदियों या नालों में केवल वर्षा का ही जल बहता है वे ही प्रायः अन्य ऋतुओं में सूख जाते हैं। नदियों के उद्‌गमस्थान प्रायः सदा स्थाई बरफ़ के सोते या झरने होते हैं।

नदियों की उत्पत्ति

कल्पना कीजिये कि एक विशाल स्थलखण्ड हाल ही में सागर से ऊपर उठा है। इस काल्पनिक प्रदेश में न कोई नदी होगी, न झील; न पहाड़ होंगे न घाटियाँ। फिर भी भूमितल में थोड़ा-बहुत अन्तर होगा ही और सारे प्रदेश का ढाल भी किसी ओर को ही होगा। जब वर्षा होगी तो थोड़ा-थोड़ा जल एकत्र होकर जिस ओर खाल होगा बह निकलेगा। धीरे-धीरे जलभरी गहरी खालें उत्पन्न होंगी। अधिक वर्षा होने पर कई गहरी खाइयाँ मिलकर एक लम्बी-चौड़ी नाली, और वह नाली नाले का रूप धारण कर लेगी। कई नाले मिलकर एक बड़ी धारा का रूप धारण करेंगे और कई धाराएँ मिल जाने से जो जलधारा बनेगी वह नदी कहलायगी। आरम्भ में ये जल-मार्ग केवल वर्षा ऋतु में ही भरे दिखाई देंगे, परन्तु ज्यों-ज्यों ये गहरे होते जायँगे, भूमि के स्रोत का जल इनमें बह निकलेगा और तब इनमें प्रत्येक ऋतु में पानी भरा रहेगा।

ऊपर हमने समतल भूमि की कल्पना की; परन्तु सागर से बाहर होनेवाली पर्वत-श्रेणियों में नीचे-ऊँचे स्थल भी होते हैं। ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ बहुधा समानान्तर होती हैं और इनके बीच-बीच में नीची भूमि होती है। नीची भूमि दो समानान्तर श्रेणियों के बीच तो होती ही है साथ ही एक ही श्रेणी में भी होती है। इन्हीं स्थलों के द्वारा दो समानान्तर श्रेणियों के बीच के स्थलों का सम्बन्ध होता है। जब इस स्थल पर वर्षा होगी तो वर्षा का जल पर्वत-श्रेणियों के दोनों ओर के ढालों द्वारा नीचे की घाटियों में लुढ़ककर भर जायगा, और एक घाटी का जल घूमकर दूसरी तथा दूसरी का तीसरी में चला जायगा। समानान्तर घाटियों का जल एक दूसरे से सम्बन्धित होकर एक बड़ी धारा के रूप में निचले प्रदेश की ओर बह चलेगा। भिन्न-भिन्न धाराओं का बहाव प्रदेश के ढाल की ओर होगा और जिस धारा में अधिक जल होगा वही धारा आसपास के प्रदेश के जल को शीघ्र ही खींचकर अधिक वेग से बहा ले जायगी। यही जलधारा कालान्तर में जाकर सागर में मिल जायगी और नदी कहायगी।

पर्वत-श्रेणियों पर जितनी धाराएँ उत्पन्न होती हैं सभी स्वतंत्र रूप से नहीं बहतीं। एक बड़ी धारा में कई धाराएँ मिलती हैं। निचली भूमि में प्रति दिशा के नाले व स्रोत आकर जलधारा के मार्ग को विस्तीर्ण करते रहते हैं। ये छोटे-छोटे धाराप्रवाह उपनदी अथवा सहायक नदी कहलाते हैं। जिस प्रदेश का जल बहकर नदी अथवा उसकी

सहायक नदियों में आता है वह सारा प्रदेश नदी का 'बेसिन' (River Basin) कहलाता है।

नदी अपना कार्य उद्‌गमस्थान से ही आरम्भ कर देती है। सबसे पहले नदी और उसकी सहायक धाराएँ अपनी घाटी को चौड़ा करना आरंभ करती हैं। दो समानान्तर घाटियों में बहनेवाली धाराएँ अपने बीच की उस पर्वत-शृंखला को, जो जल-विभाजक का काम करती है, नष्ट-नष्ट करके आपस में मिल जाती हैं। दो से तीन और तीन से चार अर्थात् जितनी भी समानान्तर बहनेवाली धाराएँ होती हैं वे सब मिलकर एक चौड़ी धारा बनने का उपक्रम करती हैं। जैसे-जैसे धारा चौड़ी होती जाती है, उसकी शक्ति और वेग बढ़ता जाता है।

उद्‌गमस्थल में नदी की नीति विध्वंसक होती है, रचनात्मक नहीं। नदी किसी प्रकार अपना मार्ग निश्चित करना चाहती है— उसके लिए उसे चाहे कितना घूमना पड़े या चक्कर लगाना पड़े। जो कुछ भी अड़चनें सामने पड़ें, उन्हें काटती, नष्ट करती, नदी अपना मार्ग विस्तीर्ण और गहरा करना चाहती है। पर्वत-श्रेणियों के बीच जहाँ भी उसे सुगम मार्ग मिलता है, उधर ही वह निकलती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि थोड़े ही प्रदेश में नदी को कई मील का चक्कर लगाना पड़ता है और तब कहीं वह उस प्रदेश से बाहर निकल पाती है। आरम्भ में तो नदी की चेष्टा किसी प्रकार निचले प्रदेशों की ओर बह निकलने की ही होती है। साथ-ही साथ घाटी को गहरा और चौड़ा करना भी जारी रहता है।



उद्‌गमस्थल से नीचे उतरती हुई गंगा नदी

यहीं से इसका विध्वंसात्मक कार्य आरंभ हो जाता है। बड़े-बड़े शिलाखण्डों को गोल-मटोल बनाती हुई यह अपना मार्ग निकाल रही है! [फ़ोटो—डा० शिवकण्ठ पाण्डे के सौजन्य से।]

इस समय नदी में चट्टानों की चूर-चार तथा क्षत-विक्षत चट्टानों के बड़े-बड़े ढोके बहते हुए आगे बढ़ते हैं। यह किस प्रकार धारा को चौड़ा और गहरा करने में सहायता पहुँचाते हैं यह हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं।

नदी के मार्ग में बाधा आ जाने से उसको मार्ग बदलना पड़ता है। यदि बाधा छोटी-मोटी चट्टानों के रूप में होती है, तो नदी उसको शीघ्र ही नष्ट कर डालती है और धारा का मार्ग निश्चित हो जाता है, परन्तु यदि बाधा बड़े पर्वतों के रूप में होती है तो नदी को घूमना पड़ता है। इस प्रकार प्रारम्भ में तो नदी उसी मार्ग से बहेगी जो घाटी के ढाल तथा स्थल-प्रदेश के ढाल के कारण स्वयं उत्पन्न होगा।

जब नदी का एक अस्थाई मार्ग निश्चित हो जाता

है तब वह अपनी घाटी चौड़ी करना आरम्भ करती है। जिस ओर की चट्टानें निर्बल होती हैं उसी ओर को नदी का आक्रमण आरम्भ होता है। कहना न होगा कि इस आक्रमण में उसकी सहायता मौसमी तथा अन्य कार्य-कर्त्ता भी करते हैं। नदी के एक किनारे की चट्टानों पर आक्रमण होने से जल की सारी शक्ति का झुकाव उसी ओर के किनारे की ओर हो जाता है और दूसरे किनारे का जल अशक्त तथा निश्चल-सा हो जाता है। फल यह होता है कि घाटी के एक ओर तो धारा पहाड़ों की जड़ों में घुसने की चेष्टा करती है और दूसरे किनारे को बिल्कुल ही छोड़ देती है, जिससे उस ओर नदी में बहकर आनेवाला मिट्टी और बालुकामय पदार्थ स्थिर होने लगता है। जब नदी एक ओर हट जाती है तब दूसरी ओर नदी का कछार चिकनी मिट्टी और बालू से ढक जाता है। इसका एक प्रभाव यह भी होता है कि नदी का एक कगार तो ढालू और दूसरा सीधी चट्टानों का बन जाता है।

नदी का मार्ग वक्र रेखा के रूप में होता हुआ धीरे-धीरे अंग्रेज़ी के S(एस) अक्षर के आकार का हो जाता है। नदी के इस प्रकार बहने से उसके किनारे की चट्टानें भी सम रूप से नहीं कटतीं और घिसतीं। घुमाव के कारण नदी एक ओर की चट्टानों की जड़ में घुस जाती है और बाहर की ओर के किनारे में जल तीव्रता से चट्टानें काटने लगता है। पीछे के किनारे में जल की तेज़ी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार के घुमाव से घाटी में विचित्र दृश्य गढ़ जाते हैं।

नदी ज्यों-ज्यों पुरानी होती जाती है त्यों-त्यों उसकी घाटी चौड़ी होती जाती है और घाटी की दीवालें सीधी खड़ी होती हैं। नई नदी की घाटी वक्राकार और उसकी दीवालें थोड़ी दूर तक ढालदार, फिर सीधी और फिर ढालदार भी होती हैं। इस प्रकार नदी अपनी घाटी तो चौड़ी करती ही है, साथ ही अपना विस्तार भी बढ़ाती है और विस्तार बढ़ जाने पर गहराई बढ़ाती है। घाटी की चौड़ाई इतनी बढ़ जाती है कि घाटी का एक किनारा दूसरे से मीलों दूर हो जाता है। इस प्रकार घाटी के बीच की भूमि समतल मैदान में बदल जाती है जिसमें नदी अपनी इच्छानुसार कभी इधर कभी उधर बहती हुई आगे बढ़ती है। इस समय नदी की चाल बड़ी इठलाती हुई और उसका मार्ग बड़ा घुमावदार (meandering) होता है। घाटी की दीवालें तो समानान्तर हो जाती हैं परन्तु नदी अब घाटी की दीवालों के समानान्तर नहीं बहती जैसे कि आरम्भ में बहती थी। घाटी भी एकदम सीधी नहीं होती जिससे नदी के घुमाव भी अपनी काटने-छाँटने की क्रिया जारी रखते हैं और कालान्तर में घुमावदार नदी भी घाटी को अधिक चौड़ा कर देती है और उसे घुमावदार बना देती है।



जब नदी एकाएक ऐसी जगह पर आ पहुँचती है जहाँ उनके मार्ग की सतह एकदम ढालू हो जाती है तब उसका जल बड़े वेग से नीचे गिरने लगता है। यह नदी का जल-प्रपात कहलाता है।

घुमावदार नदी अब घाटी को गहरा करना आरम्भ करती है। चट्टानों के स्थान पर नदी को बालू और चिकनी मिट्टी बहानी और काटनी पड़ती है। नदी के मार्ग में लगभग पूर्ण चन्द्राकार घुमाव बन जाते हैं और कभी-कभी नदी पूरी गोल आकृति बनाती हुई जिस स्थल से मुड़ी थी उसी स्थल के पास आकर बहने लगती है। इस प्रकार चन्द्राकार घुमाव बन जाते हैं। किसी समय बीच का स्थल कट जाता है तो नदी घुमाव को छोड़कर सीधी बहने लगती है। घुमाववाली चन्द्राकार जल-भरी शाखा कटकर अलग हो जाती है। ऐसी शाखा को धनुषाकार झील कहते हैं। इस झील के बीच में स्थल का टापू रहता है और टापू के किनारे-किनारे नदी की चौड़ी धारा। नदी की घुमावदार धारा के बहाव से ये झीलें कालान्तर में नष्ट हो जाती हैं। नदी अपनी चौड़ी

घाटी में इठलाते मार्ग से चलती हुई बड़ा विस्तीर्ण मैदान बना लेती है। इस मैदान में वह फिर एक पतली गहरी धारा के रूप में बहती है। जब नदी पतली गहरी सीधी रेखा के रूप में बहती है तब उसकी आयु बहुत अधिक हो जाती है और वह पुरानी नदी कहलाती है। पुरानी नदियों का मार्ग निश्चित होता है और वे इधर-उधर भटककर नहीं बहतीं। नई और पुरानी नदियों की आयु साधारण दिन और वर्षों में नहीं नापी जा सकती। अधिकांश नदियाँ मनुष्य की स्मृति के पूर्व ही जन्म ले चुकी थीं। परन्तु नदियों की कार्य-प्रणाली और ढंग से यह अध्ययन किया गया है कि जैसे-जैसे नदियाँ पुरानी होती जाती हैं उनमें क्या परिवर्त्तन होते जाते हैं। इसी अध्ययन के आधार पर नदियों की आयु का हिसाब लगाया जाता है।



नदी अपनी चौड़ी घाटी में साँप की तरह इठलाती और बल खाती हुई बह रही है। यह अमेरिका की एक नदी का वायुयान से लिया गया चित्र है। नदी घुमावदार काली चीण रेखा के रूप में चित्र में दिखाई दे रही है।

इस प्रकार नदियाँ अपना मार्ग गहरा, विस्तीर्ण और समतल बनाती जाती हैं। घाटियाँ चौड़ी होने से जल-विभाजक धीरे-धीरे पतला होता जाता है और फिर कालान्तर में बिल्कुल विलुप्त हो जाता है। जल और जलधारा के वेग और शक्ति से चट्टानें और पर्वत-श्रेणियाँ नष्ट होकर समतल घाटियों और मैदानों में परिणत हो जाती हैं। पहाड़ी प्रदेश छोड़कर नदी जब मैदान में आती है, तब उसकी क्षयात्मक क्रिया लगभग बन्द हो जाती है और रचनात्मक कार्य आरम्भ होता है। अब पहाड़ों से लाई हुइ मिट्टी, बालू और बजरी मैदानों में जमा होने लगती है। मैदान में समतल भूमि में बहने के कारण नदी का वेग कम हो जाता है और उसे अपना पहाड़ों से लाया हुआ बोझा मैदान में किनारों पर फेंकना पड़ता है, क्योंकि जल में अब अधिक बोझा ले जाने की शक्ति नहीं रहती। मैदान में भी नदी एक किनारे पर मिट्टी, बालू आदि जमा करती है तो दूसरे किनारे की मिट्टी काट-काटकर गिराती और बहा ले जाती है।

ग्रीष्म-ऋतु में बरफ़ पिघलने तथा वर्षा होने से नदियों में अथाह जल भर जाता है। पर्वत-शृंखलाओं में किसी आखात में जब बहुत अधिक जल संचित हो जाता है और अचानक उसका मार्ग खुल जाता है, तब जिस नदी में वह पहुँचता है, उसमें भीषण बाढ़ आ जाती है। वर्षाऋतु में पर्वतों पर ऐसी घटनाएँ बहुधा हुआ करती हैं। फल यह होता है कि नदियों में छोटी-मोटी बाढ़ प्रति वर्ष आती है। बाढ़ के द्वारा जो जन-धन की हानि होती है वह अकथनीय है। वैज्ञानिकों ने इसी कारण बाढ़ आने के कारणों और उनके रोकने के उपायों का विशेष रूप से अध्ययन किया है। हमारे देश में भी पूना में एक सरकारी समिति इस कार्य के अनुसन्धान में व्यस्त है।

बाढ़ के कारण नदियाँ विचित्र परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देती हैं। बाढ़ के कारण जल की मात्रा तो बढ़ती ही है साथ ही उसकी गति और शक्ति भी बढ़ जाती है। इसका फल यह होता है कि नदी अपना मार्ग गहरा करती

है और अपने किनारों का क्षय करती है। जब बाढ़ का पानी इतना अधिक हो जाता है कि नदी की धारा से निकलकर किनारों पर फैल जाता है तब किनारों पर फैले हुए पानी की शक्ति बिल्कुल नष्ट हो जाती है। जल एक प्रकार से स्थिर-सा हो जाता है और उसमें बहकर आनेवाला पदार्थ भूमि पर बैठने लगता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देखने के लिए बाढ़ का जल एक बरतन में भर लिया जाय और उसे थोड़ी देर स्थिर रखकर देखा जाय। ऊपर स्वच्छ जल और नीचे गाद और बालू बैठ जायगी। इसी प्रकार बाढ़ के पश्चात् नदियों के किनारे गाद और मिट्टी की परतें जमा हो जाती हैं जो खेती के लिए बहुत ही लाभदायक सिद्ध होती हैं। इन परतों की मोटाई भिन्न-भिन्न नदियों और भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न होती है। कभी-कभी ४ या ५ फ़ीट से लेकर २० फ़ीट तक की मोटी परतें पाई गई हैं।

बाढ़ के कारण किनारों पर कहीं-कहीं इतनी ऊँची मिट्टी जमा हो जाती है कि किनारों से बहकर आनेवाला जल नदी में नहीं पहुँच पाता और अधिक जमा होकर एक नवीन धारा के रूप में नदी के समानान्तर बहने लगता है। यह नई नदी प्रमुख धारा के समतल होते ही उसमें मिल जाती है।

बाढ़ आने से एक विचित्र समस्या और उत्पन्न होती है। बाढ़ के दिनों में तो नदी अपनी तलहटी को घिसती और गहरा करती जाती है परन्तु बाढ़ का वेग शान्त होते ही जल में सुस्ती आ जाती है और उसमें बहनेवाला पदार्थ जल के वेगहीन होने से तलहटी में जमा होने लगता है। इसके फलस्वरूप तलहटी ऊँची होने लगती है। नदी में पानी कम होने के कारण तलहटी के छिछला होने से भी नदी का जल किनारों की ओर नहीं जाता। इस प्रकार बार-बार बाढ़ आने से, बाढ़ के दिनों में तो नदी किनारों पर मिट्टी जमा करती है और बाढ़ बीत जाने पर तलहटी में। फल यह होता है कि कुछ दिनों में नदी अपने आसपास के प्रदेश से ऊँची भूमि पर बहने लगती है। परन्तु किनारों पर बाढ़ के समय का पदार्थ जमा होते रहने से किनारे तलहटी और धारा के तल से सदैव ऊँचे रहते हैं। इस प्रकार नदी



मैदान में पहुँचने पर नदी का मार्ग विस्तीर्ण और समतल हो जाता है, जिससे बाढ़ के समय उसका पानी मीलों दूर तक फैल जाता है और बस्तियों में भी घुस जाता है जैसा चित्र में दिखाई दे रहा है।

का जल उसी के बनाये बाँध से रुका रहता है। अमरीका की मिसीसिपी नदी में इस प्रकार के विचित्र दृश्य अनेकों स्थलों पर मिलते हैं। उत्तरी इटली की पो नदी की तलहटी किनारों के मकानों की छतों से भी ऊँची है।

इस प्रकार के बाँध जब कभी टूट जाते हैं तब नदी के बाढ़-प्रदेश में त्राहि-त्राहि मच जाती है। इसलिए प्राकृतिक बाँधों के ऊपर भी कृत्रिम बाँध बनाने की आवश्यकता पड़ती है। बाढ़ से प्रदेश को बचाने के लिए बाँध बनाने के साथ-साथ और नये उपाय भी करने पड़ते हैं। नदी के मार्ग को सीधा करना, नदी के नीचे गहरी नाली बनाकर नदी की बाढ़ का पानी बहा ले जाना आदि अन्य उपाय भी बाढ़ से देश को त्रसित होने से बचाने के लिए करने पड़ते हैं। प्राकृतिक बाँध टूट जाने से आसपास के प्रदेश से ऊँचे तल पर बहनेवाली नदियाँ कभी-कभी अपना मार्ग सदैव के लिए बदल डालती हैं। बाँध को तोड़कर सारा जल नीचे के प्रदेश में फैल जाता है और आगे बढ़ना बिल्कुल बन्द हो जाता है। फलस्वरूप आगे की धारा सूख जाती है और नदी अपना नया मार्ग बना लेती है। नदियों के इतिहास में यह अनोखी और विचित्र घटना है परन्तु ऐसा अधिकांश नदियों में हुआ है। चीने की ह्वांगो नदी के बाँध टूटने से १८८७ ई० में जो बाढ़ आई थी उसमें लगभग १० लाख से अधिक मनुष्य डूब गये थे।

प्रत्येक प्रदेश की जलवायु के अनुसार ही उस प्रदेश की नदियों का इतिहास बनता है। जिन प्रदेशों में वर्षा अधिक होती है उनकी नदियों की कहानी उन प्रदेशों की नदियों से भिन्न होती है जिनमें वर्षा साधारण अथवा बहुत कम होती है। इसीलिए जो बात एक नदी के इतिहास में लागू होती है वह सभी नदियों के इतिहास में लागू नहीं होती। यही कारण है कि पृथ्वी की समस्त नदियों की जीवन-कहानी इतनी भिन्न है। परन्तु नदियों के स्वभाव के अध्ययन से यह निश्चित हो गया है कि एक-सी जलवायु और एक-सी चट्टानों वाले प्रदेशों की नदियों का इतिहास सदैव एक-सा ही होगा। इसी ज्ञान और अनुभव द्वारा किसी प्रदेश की आजकल की नदियों के स्वभाव के अध्ययन से यह भली भाँति बताया जा सकता है कि भूतकाल में इन नदियों की क्या दशा रही होगी और भविष्य में उस प्रदेश पर नदियों का क्या प्रभाव पड़ेगा।

नई अवस्था की नदियों की अपेक्षा जीर्णावस्था की नदियाँ अधिक शाँत और गंभीर होती हैं। उनकी चाल मन्द होती है और उनका मार्ग भी अधिक घुमावदार होता है, क्योंकि धारा में तेज़ी न होने से नदी किनारे और तलहटी काटना बन्द कर देती है। उसकी तलहटी के आधारतल के समतल होने के कारण उसके जल में बहने की शक्ति नहीं रहती। इस कारण नदी धीरे-धीरे जल को आगे बढ़ाती हुई जिधर तनिक भी ढाल प्रतीत हुआ उसी ओर को बहती है। फलस्वरूप उसका मार्ग अनिश्चित और चक्करदार होता है।

नदी के इतिहास में अचानक उथल-पुथल भी हो जाती है। इसका कारण प्रदेश में भूकम्प आना अथवा अन्य किसी भूतत्त्विक कारण से प्रदेश का नीचा-ऊँचा होना होता है। प्रदेश के तनिक भी नीचा-ऊँचा होने से पुरानी नदियों में भी नवजीवन का संचार हो जाता है। कभी-कभी इन्हीं कारणों से नदी का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और नदी को पीछे लौटकर या घूमकर बहना पड़ता है। कभी-कभी नदी हज़ारों फ़ीट गहरे खड्ड में इस प्रकार फँस जाती है कि बिना लम्बी-चौड़ी और हज़ारों फ़ीट गहरी घाटी काटे उसका निस्तार नहीं होता। इस अवस्था से बाहर निकलने के लिए नदी को हज़ारों वर्ष लग जाते हैं।

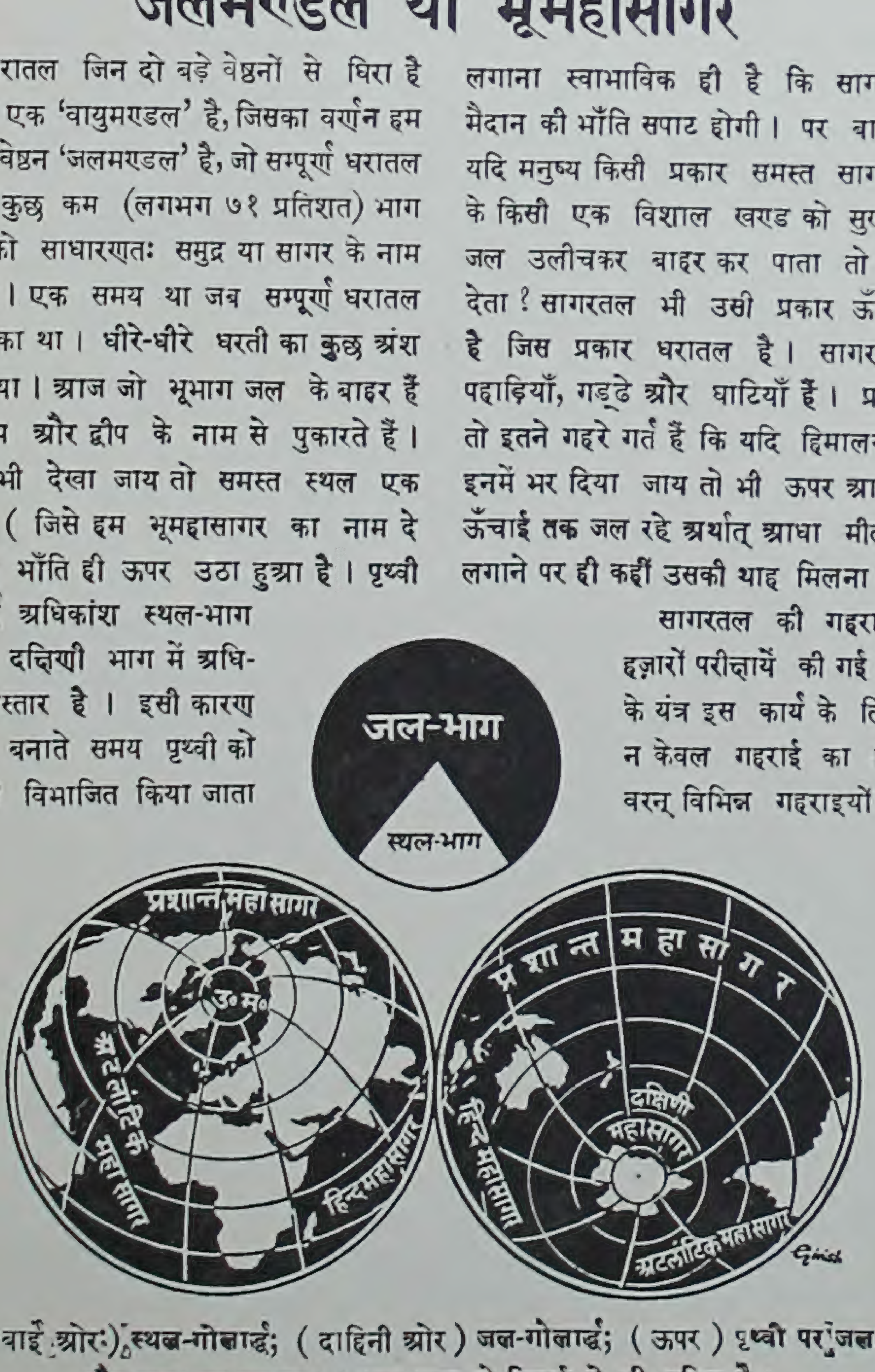
नदियों के विचित्र करिश्मे देखने के लिए उन पहाड़ी प्रदेशों की यात्रा करनी चाहिए जहाँ से नदियों का उद्गम होता है। इस प्रदेश में नदियाँ विचित्र दृश्य दिखाती हैं—जीवन-यापन के लिए किस प्रकार एक नदी की सहायक नदियाँ दूसरी नदी की सहायक नदियों का पानी हड़प करने में लगी रहती हैं, किस प्रकार एक ही स्थल से दो धाराएँ एकदम विपरीत दिशाओं की ओर बहती हैं, किस प्रकार दो नदियाँ मिलकर विशाल पर्वत को काटकर विलुप्त कर देती हैं और दोनों धाराएँ एक में मिल जाती हैं! इसी प्रकार और अनेकों आश्चर्यजनक दृश्य देखने में आते हैं।

कहना न होगा कि भूतत्त्विक इतिहास में नदियों का बड़ा महत्व है। पृथ्वी के धरातल की रचना में नदियों ने बड़ी सहायता की है और पर्वतों के घिसने, घाटियों के बनने, तथा मैदानों और बाढ़-प्रदेशों के निर्माण का श्रेय भी अधिकांशतः नदियों को ही है। पृथ्वी पर होनेवाली घटनाओं के फलस्वरूप जो क्षय होता है, उससे क्षत-विक्षत पदार्थ जमा होते हैं। उन्हें नदियाँ बहा ले जाकर धरातल को साफ़ करती रहती हैं, साथ ही भूमि को उर्वरा बनाकर खेती और फलफूल की उत्पत्ति में भी सहायक होती हैं।



जलमण्डल या भूमहासागर

पृथ्वी का धरातल जिन दो बड़े वेष्ठनों से घिरा है उनमें से एक 'वायुमण्डल' है, जिसका वर्णन हम कर चुके हैं। दूसरा वेष्ठन 'जलमण्डल' है, जो सम्पूर्ण धरातल के तीन चौथाई से कुछ कम (लगभग ७१ प्रतिशत) भाग को ढके है। इसको साधारणतः समुद्र या सागर के नाम से पुकारा जाता है। एक समय था जब सम्पूर्ण धरातल समुद्र के जल से ढका था। धीरे-धीरे धरती का कुछ अंश जल के बाहर आया। आज जो भूभाग जल के बाहर हैं उन्हें हम महाद्वीप और द्वीप के नाम से पुकारते हैं। वास्तव में आज भी देखा जाय तो समस्त स्थल एक विशाल समुद्र में (जिसे हम भूमहासागर का नाम दे सकते हैं) द्वीप की भाँति ही ऊपर उठा हुआ है। पृथ्वी का उत्तरी गोलार्द्ध अधिकांश स्थल-भाग से बना है और दक्षिणी भाग में अधिकांश जल का विस्तार है। इसी कारण पृथ्वी का नक़शा बनाते समय पृथ्वी को बहुधा दो भागों में विभाजित किया जाता है—एक को 'स्थल-गोलार्द्ध' और दूसरे को 'जल-गोलार्द्ध' कहते हैं।



('बाईं ओर') स्थल-गोलार्द्ध; (दाहिनी ओर) जल-गोलार्द्ध; (ऊपर) पृथ्वी पर जल और स्थल का अनुपात। जल-भाग दो-तिहाई से भी अधिक है।

क्या सागर-तल सपाट है

ऊपर से देखने से सागर का जल-तल एकदम सपाट रहता है। इससे यह अनुमान लगाना स्वाभाविक ही है कि सागर की तलहटी भी मैदान की भाँति सपाट होगी। पर बात कुछ और ही है। यदि मनुष्य किसी प्रकार समस्त सागरमण्डल या सागर के किसी एक विशाल खण्ड को सुखा पाता या उसका जल उलीचकर बाहर कर पाता तो उसे क्या दिखाई देता? सागरतल भी उसी प्रकार ऊँचा-नीचा पड़ा हुआ है जिस प्रकार धरातल है। सागरतल में भी अनेकों पहाड़ियाँ, गड्ढे और घाटियाँ हैं। प्रशान्त महासागर में तो इतने गहरे गर्त हैं कि यदि हिमालय का सर्वोच्च शिखर इनमें भर दिया जाय तो भी ऊपर आधे मील से अधिक ऊँचाई तक जल रहे अर्थात् आधा मील गहराई का गोता लगाने पर ही कहीं उसकी थाह मिलना संभव होगा!

सागरतल की गहराई जाँचने के लिए हज़ारों परीक्षायें की गई हैं। विशेष प्रकार के यंत्र इस कार्य के लिए रचे गये हैं जो न केवल गहराई का ही पता लगाते हैं वरन् विभिन्न गहराइयों के जल और मिट्टी तथा जीवों का भी नमूना ले आते हैं और विभिन्न स्थानों के तापक्रम का भी पता लगाते हैं। स्थल के समीप जल-खण्ड अधिकतर छिछला है और स्थल से समुद्र की गहराई तक एक

ढाल के रूप में चला गया है। इस ढाल को 'महाद्वीपीय ढाल' (Continental shelf) कहते हैं। जहाँ-कहीं स्थल और जल की सीमा पर उच्च पर्वत-शिखर हैं वहाँ इस ढाल का अभाव है और स्थल के समीप ही गहरा सागर आरम्भ हो जाता है। इस ढाल का बड़ा भारी उपयोग यह है कि समुद्र के अधिकांश जीव, जिनमें मछली प्रमुख हैं, छिछले सागर ही में रहते हैं, इसलिए इस ढाल पर बहुतायत से पाये जाते हैं। समस्त जलमण्डल में जहाँ-जहाँ ये ढाल हैं वहाँ मछली पकड़ने का व्यवसाय बहुतायत से होता है। इसका विस्तीर्ण विवरण हमें आगे पढ़ने को मिलेगा।

पाँच महासागर

सारे जलमण्डल को हम भूमहासागर कह सकते हैं क्योंकि वह समस्त भूमण्डल पर फैला हुआ जल का एक ही विशाल पर्त है। परन्तु मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिए इस विशाल महासागर को कई खण्डों में विभाजित करके प्रत्येक की सीमा निर्धारित कर दी है। इन खण्डों में से पाँच अधिक विस्तीर्ण हैं और इनका नाम 'महासागर' रक्खा गया है। शेष खण्डों को सागर या उपसागर कहते हैं। परन्तु अधिकतर सभी जलखण्डों को सागर या समुद्र के नाम से पुकारा जाता है। महासागर पाँच माने जाते हैं। दक्षिणी ध्रुव से उत्तरी ध्रुव तक इन्हीं का विस्तार है। दक्षिणी ध्रुव को घेरे हुए जो जलखण्ड है उसे **दक्षिणी महासागर** (Antarctic Ocean) कहते हैं। दक्षिणी महासागर से मिले हुए तीन विशाल जलखण्ड उत्तर की ओर फैले हैं। इनमें से सबसे अधिक विस्तृत खण्ड का नाम **प्रशान्त महासागर** (Pacific Ocean) है। इसका क्षेत्रफल साढ़े सात करोड़ वर्गमील है और यह पृथ्वी के समस्त क्षेत्रफल का एक तिहाई भाग घेरे हुए है। तीन ओर से यह महासागर स्थल से घिरा है। प्रशान्त महासागर की स्थल-सीमा के तट पर ऊँची पर्वत-श्रेणियाँ बनी हैं जिनके भीतर यह एक विशाल झील-सा प्रतीत होता है। भू-तत्त्वशास्त्रवेत्ताओं के मतानुसार चन्द्रमा के पृथ्वी से अलग हो जाने से जो विशाल गर्त उत्पन्न हुआ था उसी में जल भर जाने से यह सागर उत्पन्न हुआ है। इस महासागर में असंख्य टापू पाये जाते हैं, जिनमें से अधिकांश मूँगे के टापू हैं।

तीसरा विशाल जलखण्ड **अटलान्टिक महासागर** कहलाता है। यह नई दुनिया और पुरानी दुनिया को अलग करता है। यदि नक़शे में इसकी पूर्वीय और पश्चिमीय सीमा सटा दी जायँ तो वे इस प्रकार संयुक्त हो जायँगी कि जल के लिए कोई स्थान कठिनाई से मिलेगा। चौथे महासागर का नाम **हिन्द महासागर** है। उत्तर में एशिया स्थलखण्ड इसकी सीमा है, पूरब में यह ऑस्ट्रेलिया तथा पूर्वीय द्वीपपुञ्ज और पश्चिम में अफ्रीका से घिरा है।

उत्तरी ध्रुव को जो जलखण्ड घेरे हुए है उसे **उत्तरी महासागर** अथवा **हिम सागर** (Arctic Ocean) कहते हैं। इस सागर का जल अधिकांश दिनों में बरफ़ से ढका रहता है।

सागर का जल खारी है

सागर और मैदान के फैलाव में पानी का ऊपरी तल सूर्य के ताप से निरन्तर भाप बनकर उड़ता रहता है। भाप से बादल बनते हैं और जितना पानी भाप बनकर ऊपर जाता है सब ओस, बूँदें, ओले, बनकर बरस जाता है और वह बहकर सोतों व नालों से होकर नदियों तथा नदियों से होकर सागर में पहुँच जाता है। यह जलवहन-चक्र निरन्तर जारी रहता है जिससे समुद्र देखने में न तो घटता है, न बढ़ता है, वरन् अपनी मर्यादा बनाये रखता है।

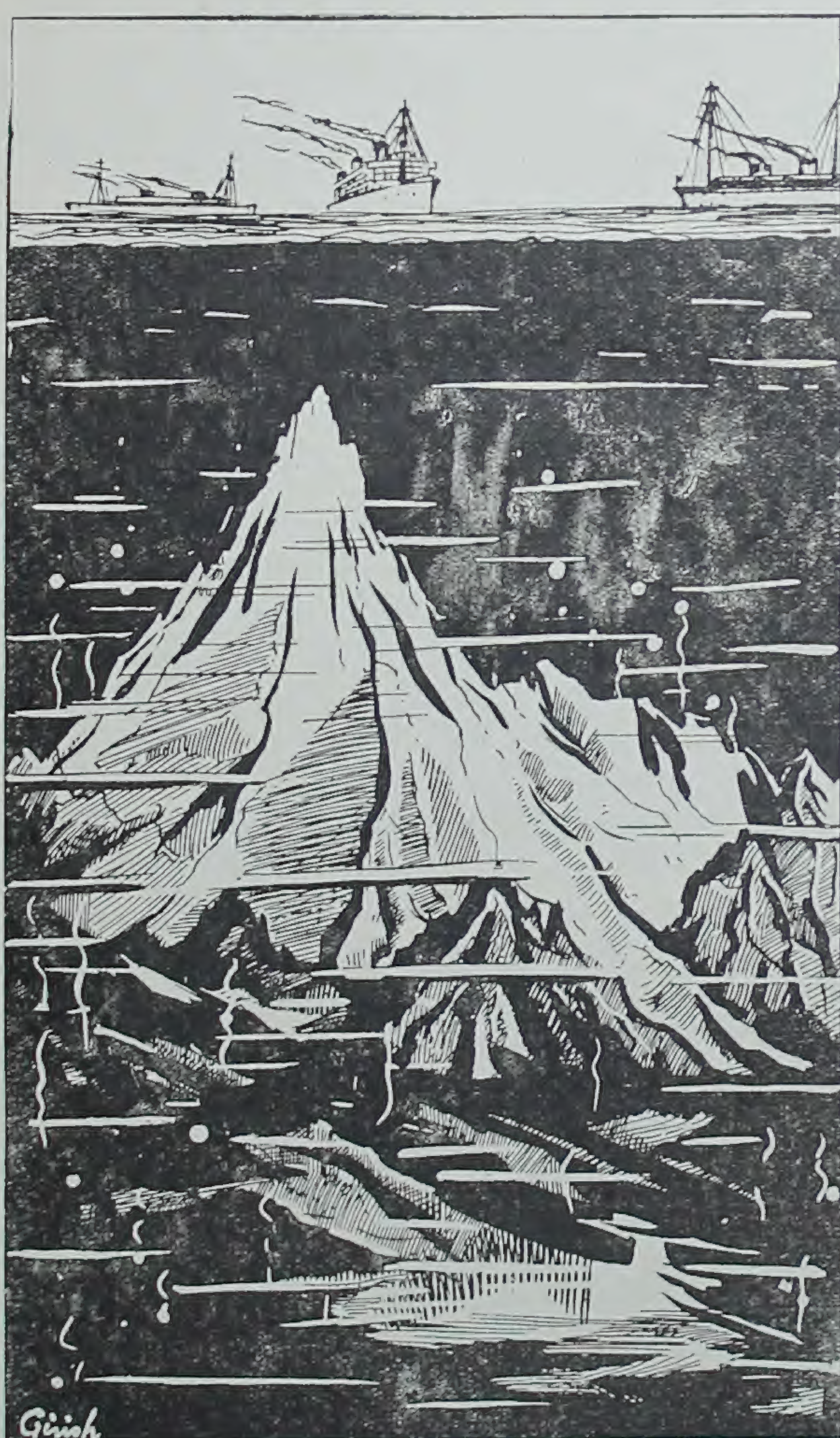
वर्षा-जल जब सागर में पहुँचता है तब उसमें अनेकों खनिज लवण तथा क्षार मिले होते हैं जो धरती में मिट्टी और चट्टानों के स्तरों से होकर बहने के कारण जल में घुल-मिल गये हैं। पृथ्वी के जन्म से ही पहाड़ों और चट्टानों के घुलनशील अंश घुल-घुलकर समुद्र के भीतर आते रहे हैं। समुद्र में इस तरह नमक का अंश बराबर बढ़ता रहा है। पानी के भाप बनकर उड़ जाने से उसका नमक ठोस होने के कारण समुद्र में ही रह जाता है। इस कारण समुद्र में नमक बढ़ता तो नित्यप्रति है, परन्तु कम किसी प्रकार नहीं होता। यही कारण है कि समुद्र का जल खारी है और यह खारीपन नित्यप्रति बढ़ता ही जाता है। इस समय समुद्र-जल के सौ अंशों में साढ़े तीन अंश विविध नमकों के आँके जाते हैं। परन्तु यह औसत है। भिन्न-भिन्न भागों के समुद्र में नमक की मात्रा न्यूनाधिक भी पाई जाती है। जहाँ वर्षा अधिक होती है वहाँ का जल कम खारी होता है और जहाँ वर्षा कम होती है वहाँ का जल अत्यन्त खारी पाया जाता है।

समुद्र-जल का दबाव

खनिज पदार्थों के मिश्रण के कारण सागर का जल साधारण जल की अपेक्षा भारी होता है, इसलिए उसमें तैरने की शक्ति स्वच्छ जल की अपेक्षा अधिक होती है। १००० मन स्वच्छ पानी के आयतनवाले खारी पानी का वज़न १०२६ मन होता है। समुद्र के तल में प्रति वर्ग

इञ्च पर ६ टन (६ × २७३ मन) का दबाव या बोझ रहता है। परन्तु जिस प्रकार प्रति वर्ग इंच पर हवा के ७॥ सेर बोझ को हम अनुभव नहीं करते, उसी प्रकार समुद्र-तल पर रहनेवाले जीव-जन्तु भी जल के इस विशाल बोझे का अनुभव नहीं करते।

यदि हम एक लकड़ी के टुकड़े को किसी भारी वस्तु के टुकड़े से बाँधकर सागर में गहराई में लटकायें और फिर उसे ऊपर खींच लें तो बोझ अलग कर लेने पर भी वह लकड़ी पानी पर नहीं तैरेगी, वरन् उसमें डूब जायगी। इसका कारण यह है कि लकड़ी की सूक्ष्म रंध्रों में से वायु निकलजाती है और जल के भीषण दबाव से उसमें पानी भर जाता है। इससे लकड़ी भारी हो जाती है और तैर नहीं सकती।



धरातल पर अधिक-से-अधिक ऊँचा स्थान एवरेस्ट पर्वत का शिखर है जो समुद्र की सतह से २९१४१ फ़ीट अर्थात् लगभग साढ़े पाँच मील ऊँचा है। जिस तरह धरती पर की ऊँची-से-ऊँची चोटियों की नाप हम पा सके हैं उसी तरह सागर की भी गहराई का थाह क्या हमें मिला है ? वैज्ञानिकों ने पता लगाया है कि सागर धरती पर जितनी ऊँचाई है उससे भी अधिक गहरा है। प्रशान्त महासागर में कहीं-कहीं गहराई ६॥ मील तक पाई गई है। इसे हम यों समझ सकते हैं कि यदि हिमालय का सर्वोच्च शिखर एवरेस्ट ऐसे गर्त्त में डुबोया जाय तो भी उसकी चोटी से आधे मील से अधिक ऊँचाई तक जल ही रहेगा ! यही इस चित्र में दिखाया गया है।

गहराई के भीतर पानी का दबाव कितना अधिक है, यह इससे प्रतीत होता है। यदि कोई बोतल डाट लगाकर समुद्र की गहराई में पहुँचा दी जाय तो या तो उसकी डाट भीतर चली जायगी या बोतल पिचक जायगी। वैज्ञानिकों ने समुद्र की गहराई की जाँच करते समय इस प्रकार के विचित्र अनुभव किये हैं। जैसे-जैसे हम अधिक गहराई में जाते हैं, दबाव बढ़ता जाता है। यही कारण है कि अधिक गहराई के जीव-जन्तु यदि किसी प्रकार ऊपर उठ आते हैं तो कम दबाव को बर्दाश्त करने के लिए उन्हें अपने शरीर को फुलाना पड़ता वे। कभी-कभी वे इतना ऊपर

आ जाते हैं कि अधिक शरीर फुलाना असंभव हो जाता है। तब दबाव की कमी के कारण उनका शरीर फटकर चिथड़े-चिथड़े हो जाता है।

सागर-जल का ताप

समुद्र के जल का तापक्रम विभिन्न अक्षांशों और गहराई के अनुसार विभिन्न होता है। जिस प्रकार वायुमंडल का ताप ऊपर चढ़ने से गिरता जाता है, उसी प्रकार जल-मंडल का तापक्रम अधिकाधिक गहराई में पहुँचने से कम होता जाता है। तीन-चार मील की गहराई पर पानी का तापक्रम हिमांक (Freezing Point) से कुछ ही ऊपर होता है। इस तापांश पर पानी सबसे अधिक घनी दशा में होता है, इसलिए दक्षिणी ध्रुव की ओर से हिम सागर का अत्यंत ठण्डा जल अपने भार के कारण तली में से ही धीरे-धीरे रेंगता हुआ सारे सागर में फैल जाता है। यह जल प्रायः बरफ़ के लगभग शीतल होता है। इसके गरम होने की कभी नौबत ही नहीं आ सकती। निदान गहरे सागर में सदैव शाश्वत शीत का साम्राज्य है।

जल के धरातल का तापक्रम अधिकतर अक्षांश और वायुमण्डल के तापक्रम के अनुसार न्यूनाधिक होता है। भूमध्यरेखा के आसपास समुद्र-जल का ताप वायु के ताप से कुछ अधिक होता है। जल का ताप भूमध्यरेखा के पास प्रायः ८०° फ़ा० होता है। परन्तु ध्रुवों के पास धरा-तल के पानी का तापक्रम २८ या २६ अंश फ़ा० रहता है। खारीपन के कारण इतने तापक्रम पर भी पानी जमता नहीं है। अटलांटिक और भूमध्यसागर के ऊपरी धरातल के पानी का तापक्रम एक-सा है, परन्तु जिब्राल्टर प्रणाली के पास एक निमग्न पहाड़ी की स्थिति के कारण दो मील की गहराई पर अटलांटिक का तापक्रम ४०° फ़ा० हो जाता है। परन्तु इसी गहराई पर भूमध्यसागर का तापक्रम ५५° से कम नहीं होता। इसी प्रकार हिन्द महासागर और लाल सागर के तापक्रम में विभिन्नता है। लालसागर का तापक्रम ७०° से कहीं कम नहीं होता है, परन्तु हिन्द महासागर का तापक्रम बराबर कम होता जाता है। लेकिन दोनों के धरातल का तापक्रम प्रायः समान है।

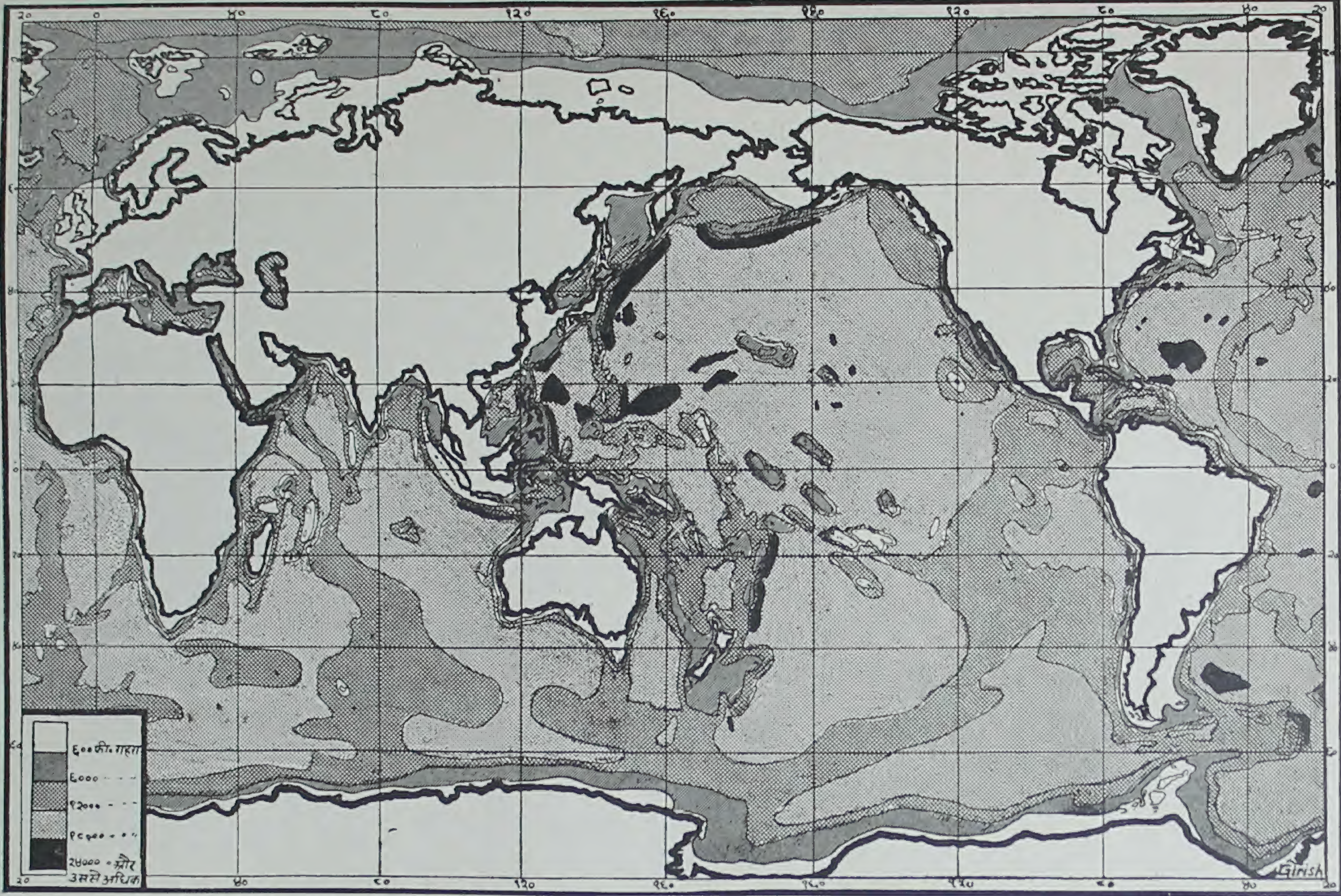
कर्क और मकर रेखाओं के समीप जल की अपेक्षा वायु का ताप अधिक रहता है। ४०° अक्षांश से आगे ध्रुव तक समुद्र-जल की गरमी वायु की गरमी की अपेक्षा फिर अधिक हो जाती है, जिससे ध्रुव के निकटवाले प्रान्तों को लाभ पहुँचता है। जाड़े में समुद्र-जल वायु की अपेक्षा सभी स्थानों पर अधिक गरम रहता है—विशेषतया उत्तरी अटलान्टिक में। किन्तु गरमी में हिन्द महासागर को छोड़कर शेष सभी जगह सागर अधिक ठण्डा रहता है।

समुद्र-जल का ताप बहुत-कुछ उसमें घुले नमक की मात्रा पर भी निर्भर है। प्रायः जहाँ-जहाँ समुद्र-जल में नमक की मात्रा अधिक रहती है वहीं-वहीं ताप भी अधिक रहता है। किन्तु जहाँ यह मात्रा कम रहती है वहाँ ताप भी कम रहता है। इसके साथ-साथ यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि जहाँ जल में गरमी अधिक होगी वहाँ का जल अधिक मात्रा में भाप बनकर उड़ेगा। इस प्रकार ऐसे स्थानों पर जल में नमक की मात्रा भी अधिक होगी। किन्तु भूमध्यरेखा के आस-पास भाप बनकर उड़नेवाले जल की मात्रा अधिक होते हुए भी नमक की मात्रा अधिक नहीं हो पाती, क्योंकि वहाँ पर वर्षा के अधिक होने से जल की मात्रा बढ़ जाती है। समुद्र-जल में सबसे अधिक नमक कर्क और मकर रेखाओं के आस-पास मिलता है, जहाँ वर्षा कम होती है और गरम हवा अधिक पानी को भाप बनाकर उड़ाती है। ध्रुव-प्रान्तों के समुद्रजल में नमक बहुत कम रहता है, क्योंकि वहाँ शीत होने के कारण जल भाप नहीं बन पाता। समुद्र-जल के खारीपन और तापक्रम में विभिन्नता होते हुए भी, तरलावस्था में होने से, इस खारीपन और तापक्रम की विभिन्नता एकाएक नहीं मालूम होती। खारी-पन और तापक्रम दोनों ही एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में शनैः-शनैः घटते-बढ़ते हैं।

सागर-जल की गति—तरंगें या लहरें

सागर का जल-तल बहुत कम शांत रहता है। एक साधारण तालाब में पत्थर फेंकने से ही भाँति-भाँति की लहरें उठती हैं। सागर-तल पर तो बड़े-बड़े उपद्रव हुआ करते हैं, जिनमें सबसे प्रमुख जलयानों का चलना, नदियों का गिरना तथा वायुमण्डल की गति हैं।

ऊपर से नीचे की ओर वेग से बहती हुई वायु के प्रबल धक्कों से जल-तल दबकर गहरा हो जाता है, परन्तु जिधर धक्के की गति होती है, उसी ओर को दबा हुआ जल ऊँची लहर का रूप ग्रहण करता है और धक्के के कारण आगे बढ़ता है। तुंग तरंगमाला का यही कारण होता है। लहर का शिखर जितना ही आगे बढ़ता है, उतना ही उसका खड़ पीछे को हटता है। जब यही तरंगमाला छिछले जल में पहुँचती है, तो खड़ की गति धरती से लग-कर शिथिल हो जाती है और शिखर का भाग टूटकर विंदु-



सागर की गहराई (विभिन्न गहराइें भिन्न-भिन्न संकेत-रेखाओं और बिंदुओं द्वारा दिखाई गई है)।

सीकरमाला का रूप ग्रहण कर लेता है। यह टूटनेवाली लहरें ऐसा धक्का देती हैं कि चट्टानें इसको सह नहीं सकतीं और वे चिरकर तथा चूर-चूर होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाती हैं। लहर के एक शिखर से दूसरे की दूरी पाव मील तक तथा शिखर की ऊँचाई पचास फ़ीट से भी अधिक तक होती है। परन्तु इन लहरों का प्रभाव—चाहे वे कितनी ही ऊँची और वेगवाली हों—अधिक गहराई तक नहीं होता।

जहाँ-कहीं तूफ़ान आता है, वहाँ तूफ़ान के बीत जाने पर भी कई घंटे तक बराबर समुद्र के जल में थरथराहट बनी रहती है, क्योंकि जल बड़ा ही स्थिति-स्थापक है। तूफ़ान का कम्पन शान्त होने में देर लगती है और यह कम्पन बहुत दूर तक फैलता है। कहीं-कहीं तो तूफ़ान के फलस्वरूप बड़ी ऊँची-ऊँची लहरें (भेड़ें) उठती हैं। अधिक वेग से चलनेवाली वायु बड़ी-बड़ी विशाल लहरें उठाकर इसी तरह तूफ़ान पैदा करती हैं। कभी-कभी छिछले पर चलनेवाली आँधी जल की एक पतली तह को वेग से अपने आगे उठाकर बहा ले जाती है जो स्थल पर या तो एकाएक बाढ़ लाती है अथवा जल को समुद्र की ओर खींच ले जाकर किनारे को खाली छोड़ देती है। भूकम्प और बड़वानल के फूटने से भी विशाल भेड़ें उठती हैं। दो विरोधी दिशाओं में जानेवाली वायुधारा के वेग से मिलने पर बवण्डर या वायु का भ्रमरावर्त्त (भँवर) बनता है और समुद्र में वायु के भँवर से जल का फ़ौवारा उठता है। यदि लहरों का वेग अधिक हुआ तो यह फ़ौवारा बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ता है और साकार दानव-सा प्रतीत होता है। जल का भँवर समुद्र-गति में सबसे भयानक होता है। इसमें पड़कर कोई बच नहीं सकता। इसका चक्कर साक्षात् मृत्यु का चक्कर होता है।

सूर्य की भिन्न-भिन्न स्थितियों से सागर के ऊपरी तल के तापक्रम, घनता और वायुवेग में बराबर देश-देश में अन्तर पड़ता रहता है। इन कारणों से जल के नीचे-ऊपर की गति तो बहुत मन्द हुआ करती ही है, परन्तु सीधी दिशाओं में वेग से धारा भी चलती है। सम्पूर्ण सागर में सर्वत्र धाराओं की-सी गति नहीं है। महाद्वीपों को घेरते हुए सागर के भागों में नदियों की धारा की भाँति सागर के जल की धाराएँ बहती हैं। इन धाराओं का विस्तृत वर्णन हम आगे के अध्याय में करेंगे, साथ ही समुद्र-जल की तीसरी विलक्षण गति का भी वर्णन आगे चलकर करेंगे, जिसे ज्वारभाटा कहते हैं और जो चन्द्रमा की आकर्षण-शक्ति से उत्पन्न होता है।

समुद्र-जल का रंग

समुद्र का जल कहीं आसमानी, कहीं नीला, कहीं गाढ़ा नीला, कहीं काला या घोर काला और ध्रुव प्रदेश आदि में हरा देख पड़ता है। शुद्ध स्वच्छ जल का रंग आसमानी है, जो समुद्र की धाराओं में भी दिखाई पड़ता है और इसी कारण समुद्र-जल में धारा बड़ी सुगमता से पहचानी जा सकती है। ध्रुव प्रदेशों में जलोद्भिज, घुलित लवण तथा प्रकाश-किरण आदि कारणों से हरा रंग दीखता है। आकाश के प्रतिबिम्ब के कारण भी सागर का जल नीला-काला आदि दीखता है।

समुद्र में जीवन

समुद्र जीवों से भरा है। भूतत्त्ववेत्ताओं के मतानुसार पृथ्वी पर जीवन का आरम्भ समुद्र में ही हुआ। सम्भवतः इसीलिए जल को 'जीवन' भी कहते हैं। स्थलचरों, नभचरों, स्वेदजों और उद्भिजों आदि सबको मिलाकर भी देखा जाय तो गिनती में जल के प्राणियों की अपेक्षा वे कम ही ठहरेंगे। सूर्य की प्रत्यक्ष किरणें पाँच सौ पोरसों (Fathoms) तक पहुँच जाती हैं और अप्रत्यक्ष रासायनिक किरणें और अधिक गहराई तक पहुँचती हैं। इस प्रकार सूर्य का उत्पादक-प्रभाव बहुत बड़े क्षेत्र तक पहुँचता है। शैवाल आदि जलोद्भिजों के बहते उद्यानों से लेकर अणुरूप जलोद्भिज तक इन्हीं किरणों के आश्रित हैं। इनमें निरन्तर प्रकाश द्वारा रासायनिक क्रिया से असंख्य प्रकार के यौगिक बनते रहते हैं। कार्बन डाइऑक्साइड के विच्छेद और जल में वायवीय ऑक्सीजन के घुलते रहने से ऊपरी तल में अनन्त प्रकार के जलचर प्राणी ऑक्सीजन पाकर जीवनयापन करते हैं। अत्यंत सूक्ष्म अणुवीक्षण यंत्र के लिए भी दुर्भेद्य एक-एक जलबिंदु में कोटि-कोटि की संख्या में रहनेवाले प्राणी समुद्र में अनन्त हैं। समुद्र में विशालकाय दानवीय जीवजन्तु भी रहते हैं जिनमें से ह्वेल मछली, अष्टपाद (आक्टोपस), सील मछली, मूँगा मछली आदि विचित्र-विचित्र प्रकृति के जीव हैं।

सागर जलचर जीवों का तो सहायक है ही, साथ ही हमारे सांसारिक जीवन की रक्षा में भी इससे बहुत सहायता मिलती है। जलवायु के उत्पादन में जिस प्रकार वायुमण्डल की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार जलमण्डल की भी आवश्यकता होती है। हमारे लिए तो जलमण्डल का एक दृष्टि से इसलिए भी बहुत महत्त्व है कि आज दिन ये सागर और महासागर हमें एक भूभाग से दूसरे भूभाग को जाने-आने के महान् व्यापारिक मार्ग का काम देते हैं।



पत्ती, फूल, फल, आदि को धारण करनेवाले अंग अर्थात् तने की कुछ बातें

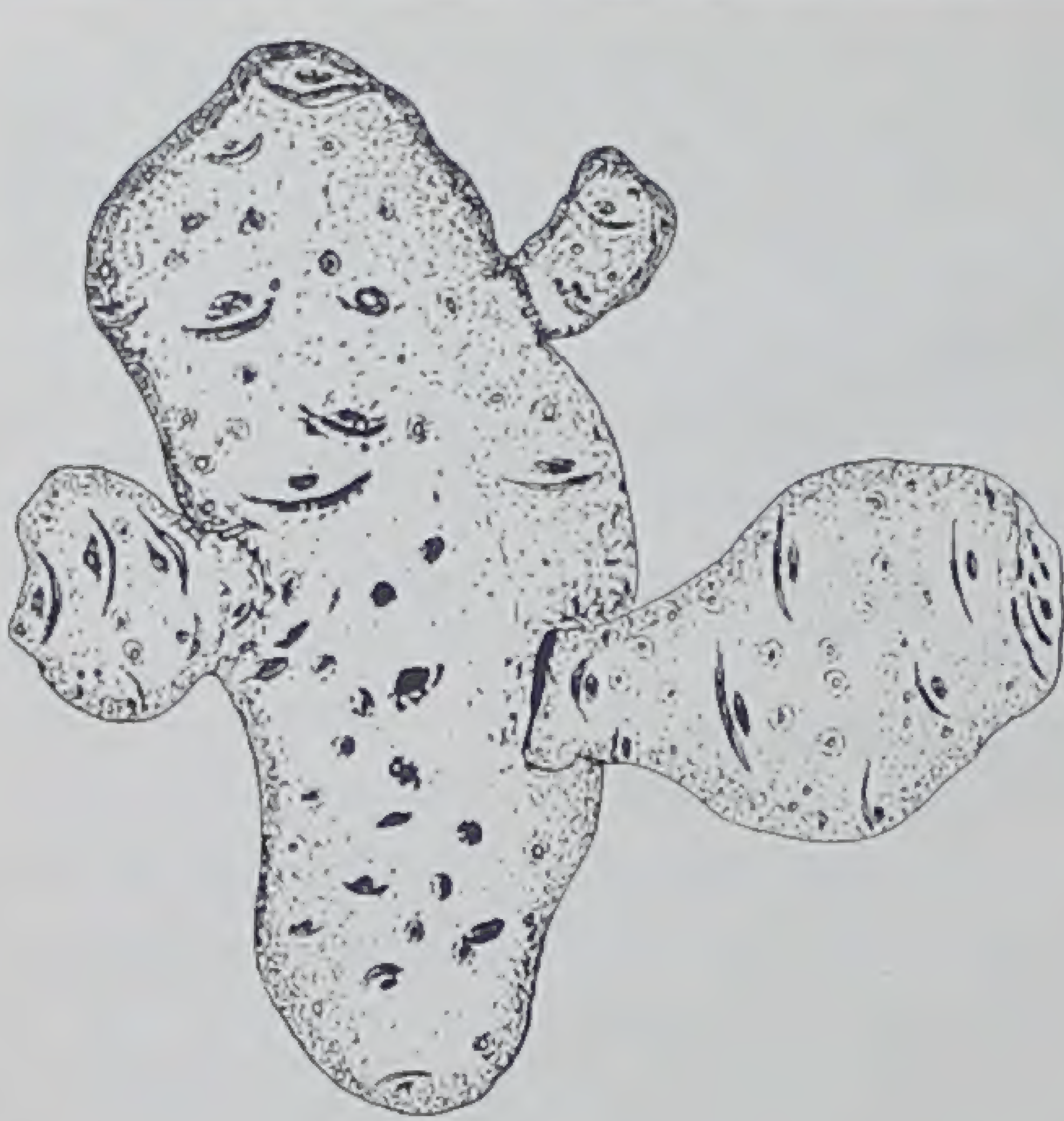
जैसा पहले वर्णन कर चुके हैं, तना पौधे का वह अंग है जो पत्ती, फूल और फल को धारण करता है। इसी में होकर जड़ द्वारा संचित पदार्थ पत्तियों तक पहुँचते हैं और उनमें उपार्जित द्रव्य जड़ों में आते हैं। इसके अतिरिक्त किसी-किसी पौधे में तने दूसरे काम भी देते हैं। ऐसे तने साधारण तनों से कुछ भिन्न होते हैं।

जब हम तने के अन्य अंगों को धारण करने के कर्त्तव्य पर विचार करते हैं तो हमारा ध्यान कई बातों की ओर जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि तना ही इन सबका आधार है। इसी के सहारे पत्ती, फूल, फल अपनी-अपनी जगह पर लगे रहते हैं। यही नहीं, बल्कि इसी के प्रभाव से ये सब वायुमण्डल में ऐसे पसरे रहते हैं कि इन्हें अपने-अपने काम-काज में अधिक-से-अधिक सुविधा मिलती है। उदाहरण के लिए पत्तियों को ही लीजिए। ग़ौर करने से पता लग जायगा कि बहुधा आस-पास की पत्तियाँ एक दूसरे के ऊपर नहीं रहतीं (चित्र १)। पत्तियों की यह विशेषता पेड़ के लिए बड़ी लाभदायक है, क्योंकि इस प्रकार सारी पत्तियों को रोशनी मिलती रहती है, जिसकी सहायता से वे हवा की कार्बन-डाय-ऑक्साइड और जड़ों से संचित जल से स्टार्च जैसा अमूल्य पदार्थ तैयार करती हैं। इसी तरह यदि हम फूलों की ओर ध्यान दें तो तुरंत पता लग जायगा कि ये अपनी-अपनी टहनियों पर ऐसे लगे होते हैं कि इनके पराग-कण योनिछत्र तक बड़ी सुविधा से पहुँच जाते हैं। वे फूल जिनमें पतिंगों द्वारा सेचन होता है इस ढंग से लगे होते हैं कि पतिंगे इन्हें सुगमता से देख सकते हैं। जिन फूलों में यह क्रिया हवा के ज़रिये से होती है वे ऐसे फैले रहते हैं कि हवा का झोंका लगते ही पराग झड़कर एक फूल से दूसरे फूल तक आसानी से पहुँच जाता है। इसी तरह हवा के सहारे छितरनेवाले फल और बीज भी डालों से प्रायः इस प्रकार निकले रहते हैं जिसमें तनिक झोंका लगने पर ही वे आसानी से हवा में उड़ सकें।



चि० १—बहुधा आसपास की पत्तियाँ एक दूसरे के ऊपर नहीं रहतीं। इस प्रकार सारी पत्तियों को रोशनी मिलती रहती है। तने द्वारा इनके विशेष प्रकार से धारण किये जाने के कारण ही यह संभव है। यह गुलचीनी के पेड़ का चित्र है।

जड़ों की भाँति कभी-कभी तने भी कोठार का काम देते हैं। चिरस्थायी अंग होने के कारण कोठार के लिए जड़ों की भाँति ये भी पत्तियों से अधिक उपयुक्त अंग हैं। इसके अतिरिक्त यदि साधारण



चि० २—आलू (चित्रकार, श्री० एस० अहमद) यह विशेष प्रकार के तनों में है ।

पत्तियों में संचित पदार्थ जमा होते रहें तो खाद्य पदार्थ बनने में बड़ी अड़चन पड़े, जिससे स्टार्च जैसी परम आवश्यक वस्तु की कमी रह जाय और इस तरह पौधों को बड़ी हानि पहुँचने की सम्भावना है ।

तने की पहचान

साधारण तने ज़मीन के ऊपर निकले होते हैं और इसलिए प्रायः इन्हें पेड़ के अन्य अंगों से पहचानने में कठिनाई नहीं होती । किसी-किसी पौधे में तने पृथ्वी के अन्दर-ही-अन्दर रहते हैं (चि० २,३) । ऐसे तने प्रायः देखने में जड़ों से बहुत-कुछ मिलते-जुलते भी होते हैं । लेकिन फिर भी अक्सर इन्हें जड़ों से आसानी से पृथक् किया जा सकता है; क्योंकि ऐसे तनों पर भी प्रायः वल्कपत्र (Scale leaves) या इनके चिह्न और आँखें (buds) मिल जाती हैं (चि० २) । इसके अतिरिक्त जड़ और तने की आन्तरिक रचना में भी बड़ा अन्तर होता है ।

तने की आन्तरिक रचना

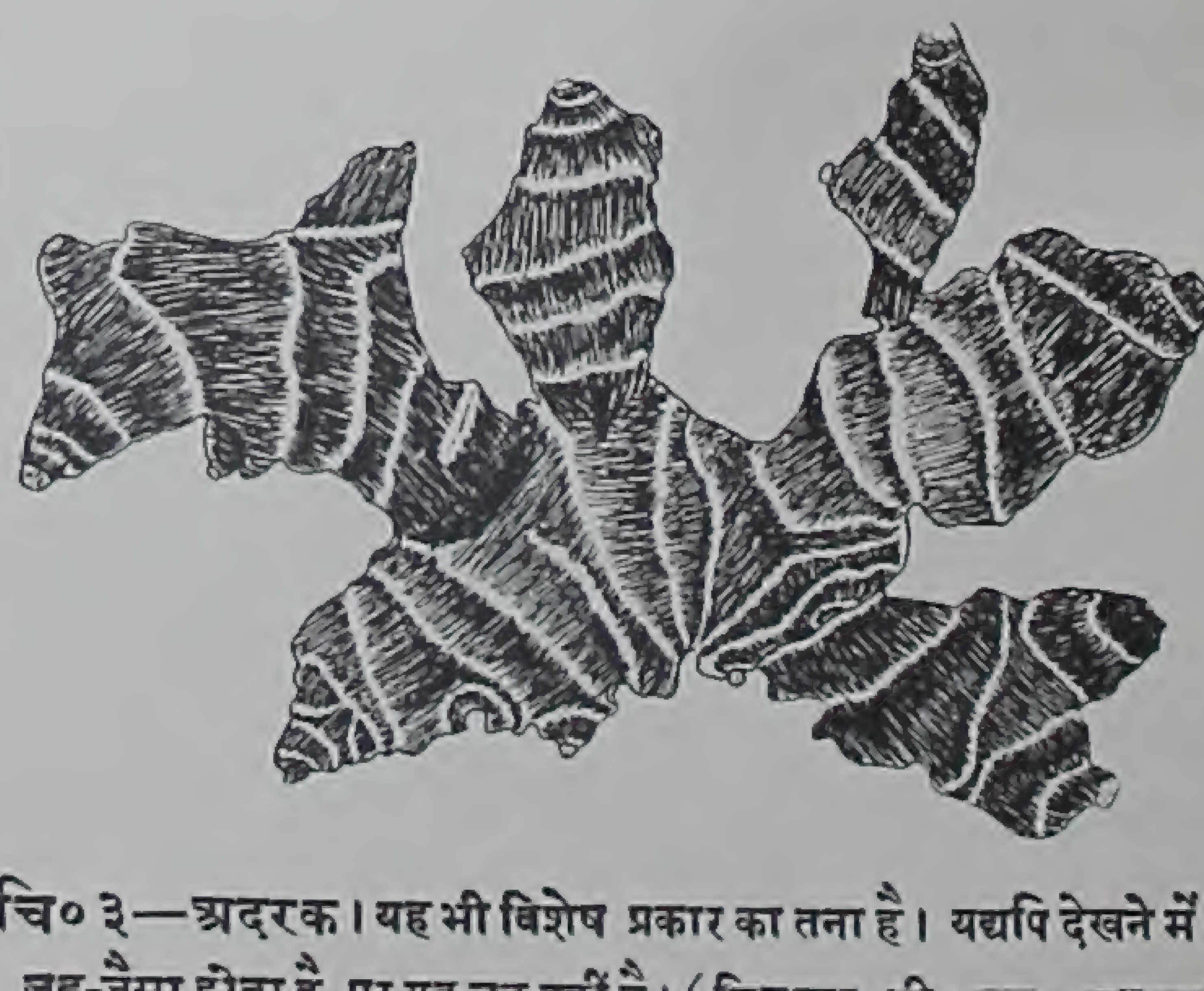
जैसा पूर्व ही वर्णन किया जा चुका है, पौधे के अंग अनेक तन्तुओं से बने हैं ।

साधारण द्विदली पौधे के तने में तीन प्रधान तन्तु-संस्थान होते हैं । ये अधित्वक्-, प्रवाहक- और आधार-तन्तु हैं । इन तन्तुओं में ही परिवर्तन से कई प्रकार के अन्य तन्तु उत्पन्न होते हैं । ऐसे तनों में ये तन्तु किस प्रकार बटे रहते हैं इसका ठीक-ठीक पता हमें चित्र ४ की जाँच से चल सकता है । ये तने उस मोमबत्ती के समान हैं, जिसमें मोम के बाहर एक काग़ज़ी खोल चढ़ा हो और मोम के अन्दर, एक ही परिधि पर, एक-दूसरे से कुछ-कुछ फ़ासले पर, कई बत्तियाँ हों । इस कल्पित मोमबत्ती में काग़ज़ी खोल अधित्वक् की जगह, मोम आधार-तन्तु के स्थान पर और अन्दर की बत्तियाँ नसों की जगह हैं । आगे चलकर हम ऐसे तने की आन्तरिक रचना की फिर चर्चा करेंगे ।

सारे नसोंवाले पौधों के तने की रचना एक-सी नहीं होती । हर समूह के पौधों में कोई-न-कोई विशेषता रहती है और प्रायः इस विशेषता के सहारे ही उनके प्रधान समूह तक का पता चल सकता है ।

जड़ और तने की नसों में अन्तर

जैसा हम तीसरे परिच्छेद में देख चुके हैं, प्रवाहक तन्तु-क्रम या नसों में दो प्रकार के तन्तु होते हैं—काष्ठ और फ्लोयम या "अन्तर छाल" । प्रायः अन्तर छाल में लोग छाल के अन्दर और काष्ठ के बाहर के सभी तन्तुओं को शामिल करते हैं । इस तरह इसमें केम्बियम, फ्लोयम, पेरीसाइकिल और कुछ भाग वल्क का भी आ जाता है । लेकिन हम इस शब्द का प्रयोग केवल फ्लोयम के लिए ही करेंगे । जड़ और तने की नसों में काष्ठ और फ्लोयम का स्थान भिन्न-भिन्न होता है । जड़ की नसों में ये अगल-बगल, एक ही परिधि पर, परन्तु भिन्न-भिन्न अर्द्धव्यास पर होते हैं (चि० ५ अ), परन्तु तने में ये ऊपर-नीचे,



चि० ३—अदरक । यह भी विशेष प्रकार का तना है । यद्यपि देखने में यह जड़-जैसा होता है, पर यह जड़ नहीं है । (चित्रकार, श्री० एस० अहमद)

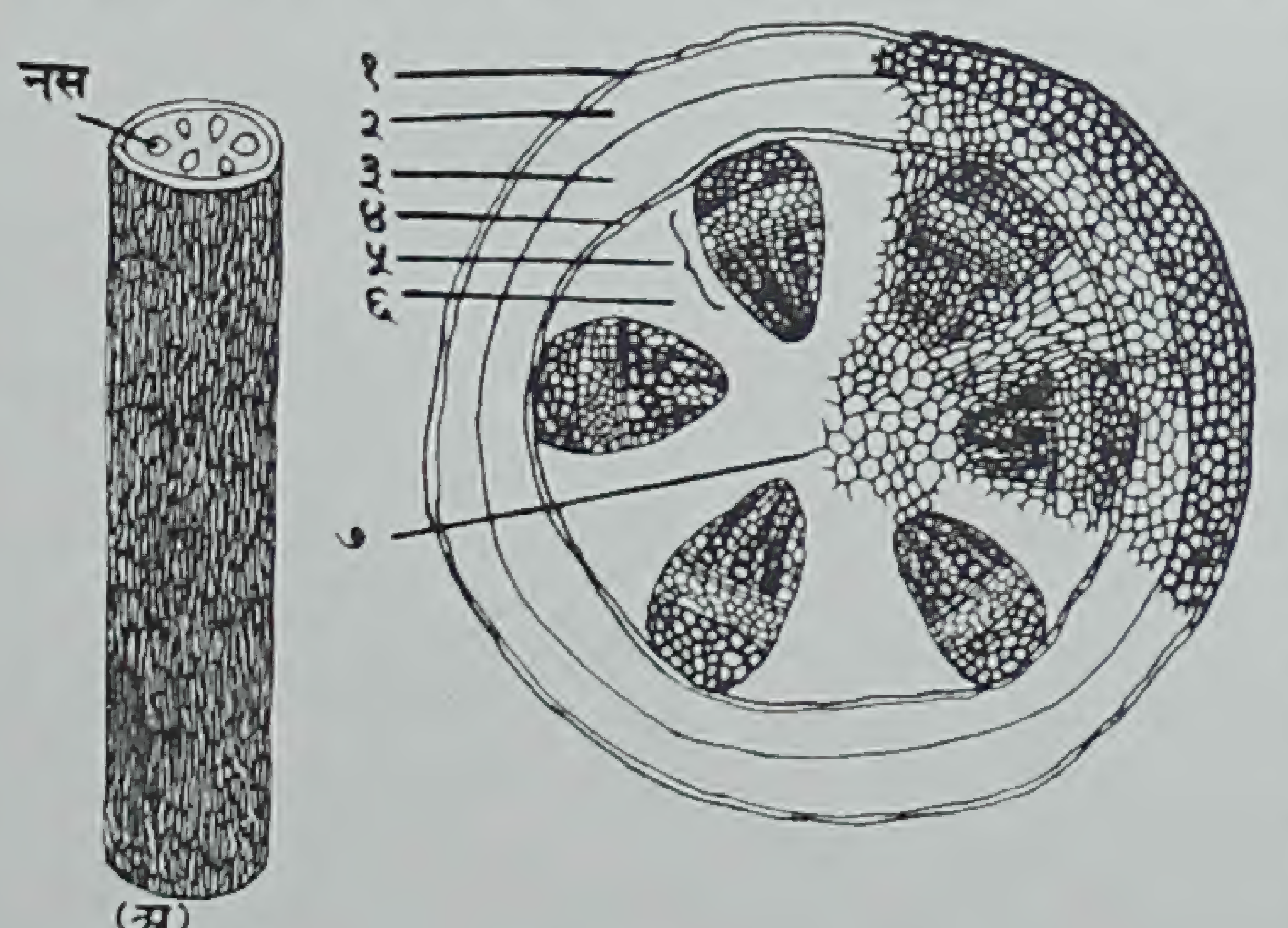
एक ही अर्द्धव्यास पर, लेकिन भिन्न-भिन्न परिधि पर होते हैं (चि० ५ ब)। जड़ और तने की रचना में यह प्रधान अन्तर है। इनमें एक और अन्तर भी होता है।

जैसा आपको मालूम है, नसों में काष्ठ ही प्रधान तन्तु है। काष्ठ में कई प्रकार के कोश और नलिकायें होती हैं। इनकी भित्तिकाओं पर भिन्न-भिन्न भाँति से काष्ठोज की तह जमा रहती है, जिससे इन नलिकाओं की भित्तिकाएँ छल्लेदार, पेंचदार या गर्तमय हो जाती हैं (चि० ६)। सबसे प्रथम बननेवाली नलिकाओं में काष्ठोज की तह छल्लेदार या पेंचदार होती है। तनों की नसों में ऐसी नलिकाएँ सबसे भीतर तने के केन्द्र की ओर रहती हैं, और जड़ों में, सबसे बाहर, तने की परिधि की ओर (चि० ५)। इस तरह सबसे प्रथम बननेवाले काष्ठ यानी प्रोटोज़ाइलेम का स्थान तने और जड़ों में भिन्न-भिन्न होता है। तने की नसों को यन्डार्क और जड़ों की नसों को यक्ज़ार्क कहते हैं।

गुप्त-बीजी पौधों के दो प्रधान समूह

गुप्त-बीजी पौधों के दो प्रधान समूह हैं:—एकदली और द्विदली। इन पौधों में कई बातों में विभिन्नता है। द्विदली पौधे के बीज में दो दालें या "बीज-पत्र" होते हैं। बीज अंकुरित होने पर यही दोनों बीज-पत्र सबसे प्रथम पत्तियों के रूप में बाहर निकलते हैं। इस समूह के पौधों की संख्या बहुत बड़ी है। इनमें बूटे, झाड़ और वृक्ष सभी भाँति के पेड़-पौधे हैं। आम, जामुन, महुआ, मटर, चना, सेब, गुलाब आदि हज़ारों जाति के पौधे इस समूह में हैं।

बीज अंकुरित होने पर एकदली पौधे में पहले एक ही पत्ती या "बीज-पत्र" बाहर निकलता है। इस समूह में विशेषकर बूटे और झाड़ ही होते हैं। ताड़, खजूर (अंक ७ पृ० ८३२) नारियल, गेहूँ, जुआर और अनेक प्रकार की घास वग़ैरह इस समूह में हैं। इन दो समूह के पौधों के तने की आन्तरिक रचना भी एक-सी नहीं होती।



चित्र ४

(बाईं ओर अ) साधारण द्विदली पौधे की टहनी। (दाहिनी ओर) इसी साधारण टहनी के बेंड़े कत्तल का गौण वृद्धि से पूर्व का अणुवीक्षणीय चित्र। १—अधित्वक्; २—कोलेनकाइमा; ३—साधारण पैरेनकाइमा; ४—यन्डोडरमिस; ५—प्रवाहक तन्तु; ६—मेडुलरी रेज़; ७—हीर।

द्विदली पौधे के तने की आन्तरिक रचना

मटर या सूरजमुखी जैसे किसी साधारण पौधे की टहनी के महीन कत्तल को खुर्दबीन में देखकर हम द्विदली पौधे के तने की आन्तरिक अवस्था का ठीक भाँति से पता लगा सकते हैं (चि० ४,५,७,८)। ऐसे तने में सबसे बाहर अधित्वक्, फिर वल्क और इसके अन्दर नसें या प्रवाहक तन्तु और हीर होते हैं।

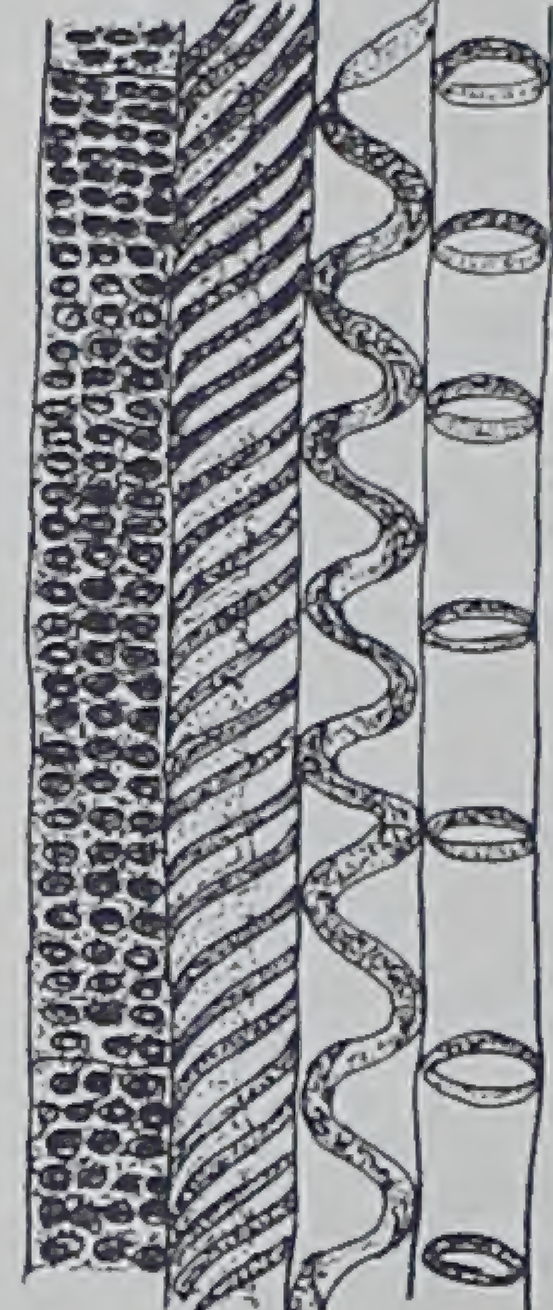
अधित्वक्—इस पर्त का मोटान केवल एक कोश होता है। इन कोशों की बाहरी भित्तिकाओं में अक्सर चर्मोज की तह जमी रहती है जो पौधों से वाष्प-त्याग की ज़्यादती को रोकती है। कभी-कभी अधित्वक् में रंध्र भी होते हैं। अनेक प्रकार के रक्षक-तन्तु भी अधित्वक् के कोशों में ही परिवर्त्तन से उत्पन्न होते हैं।

वल्क—अधित्वक् के भीतर वल्क होता है। इसमें कई पर्त्त और अनेक प्रकार के तन्तु होते हैं। अन्दर की ओर के अन्तिम पर्त को यन्डोडरमिस कहते हैं। अधित्वक् की भाँति यन्डोडरमिस भी एक ही कोश गहरा होता है। इसके कोशों में प्रायः स्टार्च होता है। यन्डोडरमिस के भीतर पेरीसाइकिल होता है। यह तन्तु नसों और वल्क के बीच में होता है। प्रायः इसके कई पर्त होते हैं और इनमें अक्सर पैरेनकाइमा और पाषाण-तन्तु दोनों ही होते हैं। कभी-कभी पाषाण-तन्तु नहीं भी होता है। पाषाण-तन्तु तने को मज़बूती पहुँचाता है। किसी-किसी पौधे के पेरीसाइकिल में यह अविच्छिन्न रूप से नली की भाँति नसों के बाहर फैला होता है, और कभी-कभी इसके अलग-अलग रेशे होते हैं। दोनों ही अवस्था में पेरीसाइकिल तनों को सुदृढ़ बनाता है। कभी-कभी पेरीसाइकिल में केवल पैरेनकाइमा ही होता है।

प्रवाहक-तन्तु (नसें)—हीर के बाहरी भाग में चारों ओर नसें होती हैं (चि० ४)। द्विदली पौधे के तने में

नसें, एक घेरे में, एक-दूसरे से कुछ फ़ासले पर, बँटी रहती हैं। इन नसों में तीन तन्तु होते हैं—अन्दर की ओर काष्ठ, बाहर की ओर फ्लोयम और इन दोनों के बीच में केम्बियम (चि० ५ व)। काष्ठ में काष्ठ-कोश, काष्ठ-नलिका और काष्ठ-पैरेनकाइमा होता है। फ्लोयम में झाँझर-नलिका, झाँझर-पट्ट, सहायक कोश और फ्लोयम पैरेनकाइमा होता है। केम्बियम के कोश सदैव सजीव और मौलिक अवस्था में बने रहते हैं। इन कोशों में विभाजन-शक्ति भी बराबर बनी रहती है, और इस प्रकार इनसे एक ओर काष्ठ और दूसरी ओर फ्लोयम की उत्पत्ति होती रहती है।

आस-पास की नसों के बीच के तन्तु को मेडुलरी रेज़ कहते हैं (चि० ४, ८, १०)। इस तन्तु के कोशों की सबसे अधिक चौड़ान प्रायः तने के व्यास के सिधान में होती है। ये तन्तु उपार्जित वस्तुओं के कोठार का भी काम देते हैं। कदाचित् इस तन्तु ही में होकर काष्ठ-नलिकाओं से जल तने के बाहरी तन्तुओं में पहुँचता है।



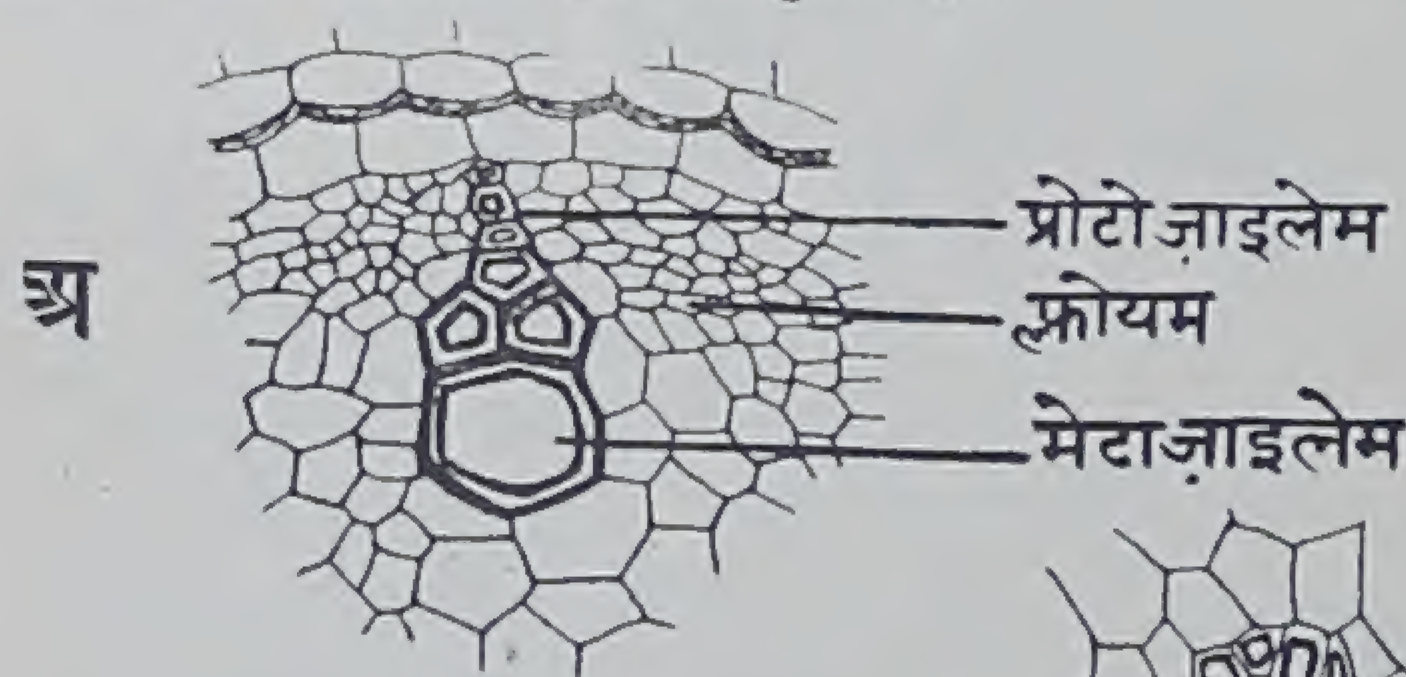
चि० ६—भिन्न - भिन्न प्रकार की नलिकाएँ।

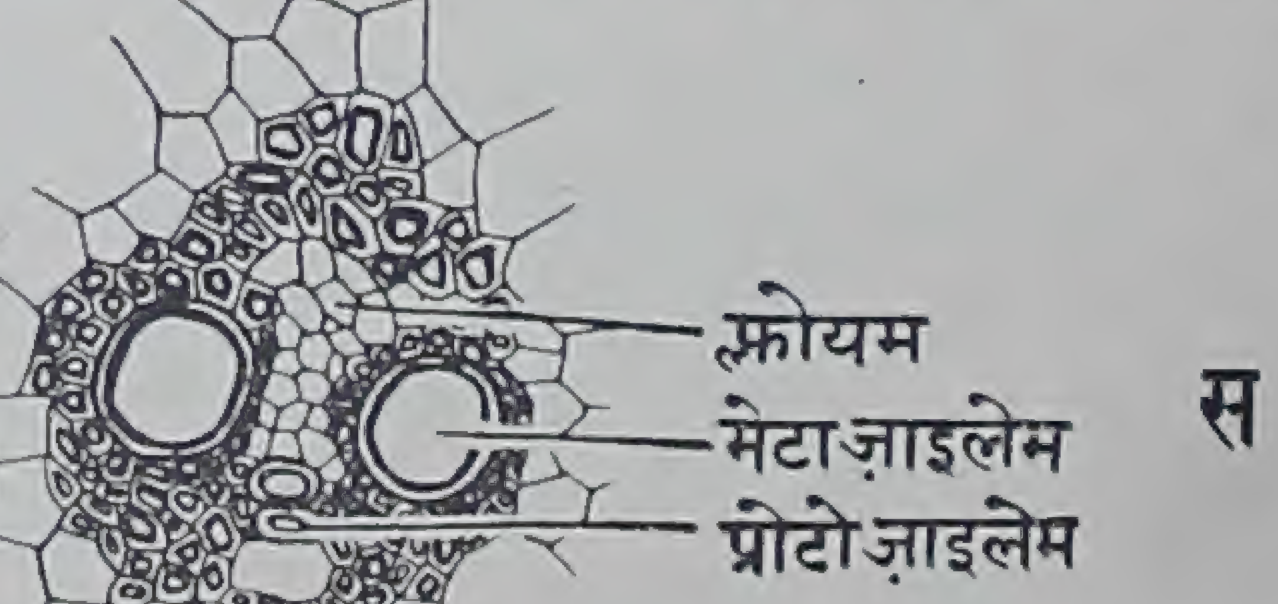
हीर—हीर तने के बीच का भाग है। इसके कोश प्रायः वल्क के कोशों के समान होते हैं। हीर और वल्क को आधार-तन्तु कहते हैं।

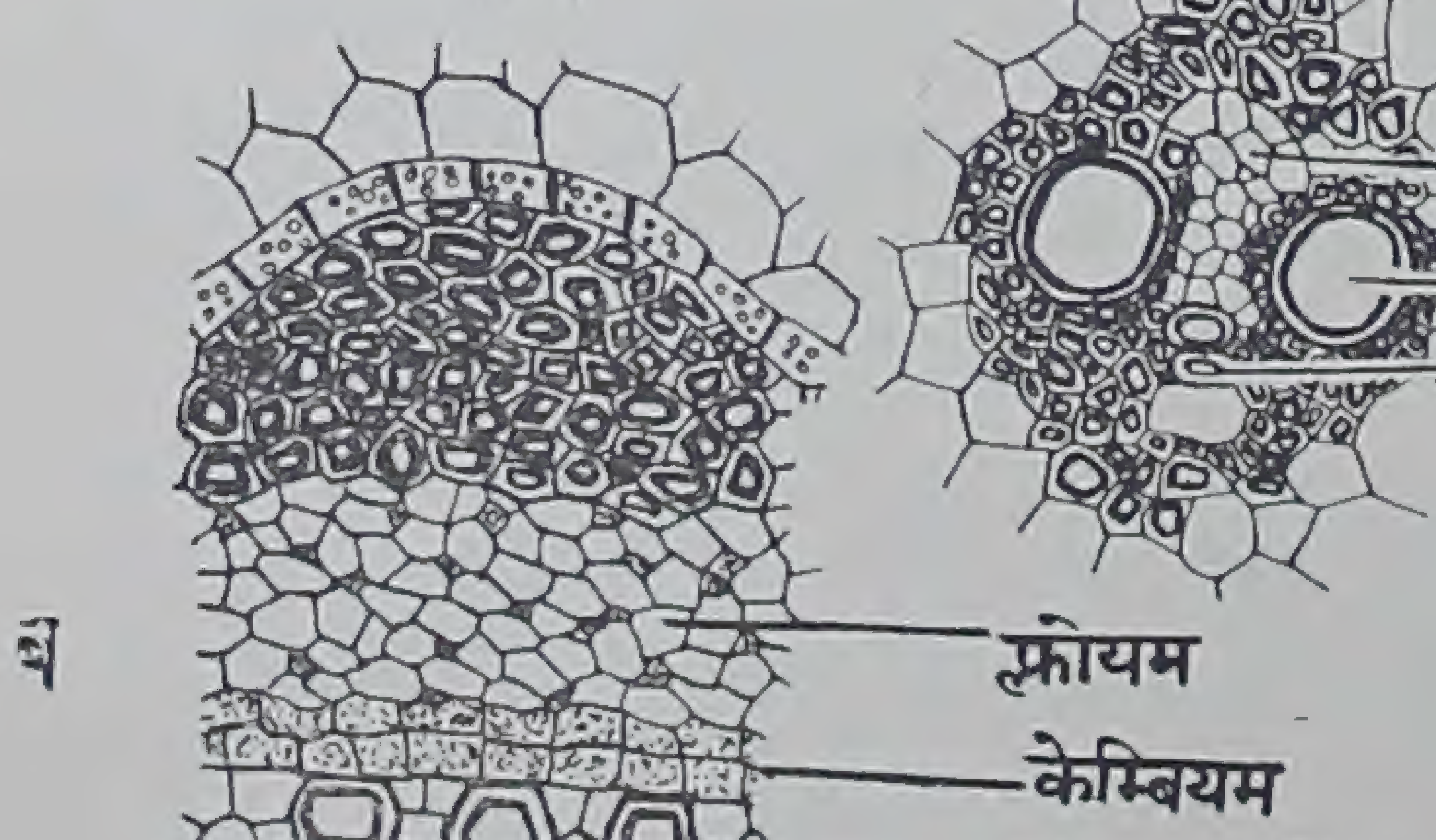
तने का मोटान कैसे बढ़ता है—गौणवृद्धि

आप देख चुके हैं कि पौधों में जड़ों और शाखों के सिरे पर बढ़नेवाले भाग होते हैं। यहाँ के कोश विभाजित होते रहते हैं। इस तरह इन कोशों से नवीन कोश निरन्तर बनते रहते हैं जिससे पौधे बढ़ते रहते हैं। परन्तु इसके साथ-ही-साथ आम, जामुन, चीड़, देवदार, मनोकामिनी की भाँति के हज़ारों वृक्ष और झाड़ हैं, जो ज्यों-ज्यों पुराने होते हैं उनके तने भी मोटे होते रहते हैं। यह क्रिया कैसे होती है हम यहाँ इसी पर विचार करेंगे।

जैसा अभी कह चुके हैं, सारे द्विदली पौधों की नसों में काष्ठ और फ्लोयम के बीच में केम्बियम होता है, जिसके कोश सदैव विभाजित होते रहते हैं। इस क्रिया से जो कोश केम्बियम के बाहर की तरफ़ बनते हैं वे फ्लोयम में और जो अन्दर की ओर बनते हैं वे काष्ठ में बदल जाते हैं। इस तरह केम्बियम से एक ओर काष्ठ और दूसरी ओर अन्तरछाल या फ्लोयम की रचना होती रहती है और ज्यों-ज्यों वृक्ष पुराने होते हैं उनकी नसों का मोटान बढ़ता जाता है। क्रमशः ऐसे पौधों की नसों के केम्बियम की सिधानवाले दूसरे कोश भी मौलिक अवस्था में आ जाते हैं और कुछ समय पश्चात् नवजात केम्बियम और पूर्ववर्त्ती केम्बियम के कोश मिल जाते हैं जिससे केम्बियम का एक अविच्छिन्न चक्र बन जाता है (चित्र ७)। इस तरह लगातार काष्ठ और फ्लोयम





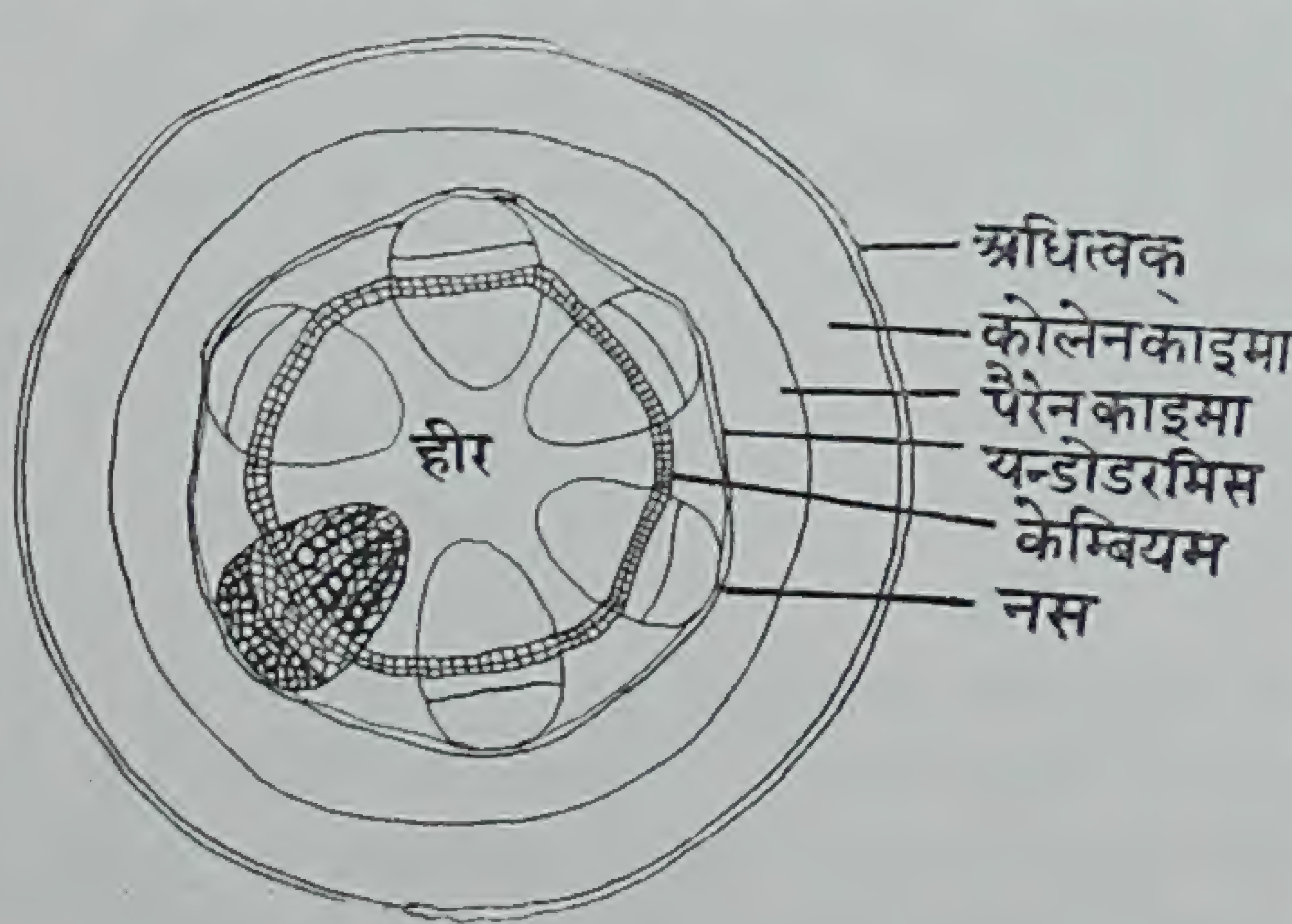


चि० ५

(अ) जड़ की नसों में तंतुक्रम; (ब) द्विदली पौधे के तने की नसों में तंतुक्रम; (स) एकदली पौधे की नसों में तंतुक्रम।

की रचना होती रहती है। केम्बियम के हीर-रेखा के सिधानवाले कोशों से हीर-रेखा की वृद्धि होती रहती है। इस प्रकार गौण केम्बियम से काष्ठ, अन्तर-छाल और हीर-रेखा की वृद्धि होती है और तने का मोटान बराबर बढ़ता रहता है। इस क्रिया को गौण-वृद्धि कहते हैं। इसी के प्रभाव से द्विदली समूह के झाड़ों और वृक्षों के तने अत्यन्त कोमल डंठल से बढ़कर इतने दृढ़ और मोटे हो जाते हैं।

पौधों की बाढ़ साल के प्रत्येक मौसम में एक समान नहीं रहती। वसंत के दिनों में पौधे अधिक तेज़ी से बढ़ते हैं। इन दिनों नवीन पत्तियाँ, फूल, फल प्रायः सभी अंग उत्पन्न होते और वृद्धि पर रहते हैं। इसके विपरीत पतझड़ के दिनों में बाढ़ इतनी तेज़ी से नहीं होती। जिन दिनों पौधे बाढ़ पर होते हैं उनमें खाद्य रसों की भी अधिक आवश्यकता रहती है। ये रस काष्ठ नलिकाओं में होकर आते हैं। इसलिए वसंत में उत्पन्न काष्ठ नलिकाएँ पतझड़ या सर्दी के दिनों में बनी नलिकाओं से अधिक चौड़ी होती हैं। इस प्रकार, जिन देशों में वसंत और पतझड़ के मौसम में विशेष अन्तर होता है, वहाँ तनों में प्रत्येक साल एक घेरा चौड़ी नलिकाओं का और दूसरा तंग नलिकाओं का उत्पन्न होता है। इस पूर्ण चक्र को वार्षिक चक्र या वृद्धि-चक्र कहते हैं। इनको गिनकर प्रायः हम ऐसे वृक्षों की आयु का भी पता लगा सकते हैं। ऐसे वृद्धि-चक्र प्रायः हम आसानी से तने या शाखों को काट-कर सफ़ाई पर रंदने से देख सकते हैं। सर्दी या पतझड़ के दिनों में घेरे तंग और गहरे रंग के और वसंत ऋतु के दिनों के बने घेरे हल्के रंग के और चौड़े होते हैं (चि० ६, १०)। किसी-किसी देश में तमाम साल मौसम एक-सा रहता है। ऐसी दशा में वृद्धि-चक्रों का पता नहीं चल सकता। इसके अलावा जिन देशों में साल में कई बार सर्दी-गर्मी का उलट-फेर होता है, वहाँ ऐसे कई चक्र बन जाते हैं। इन दोनों ही दशाओं में वृद्धि-चक्र गिनकर वृक्षों की ठीक अवस्था का पता हमें नहीं लग सकता।



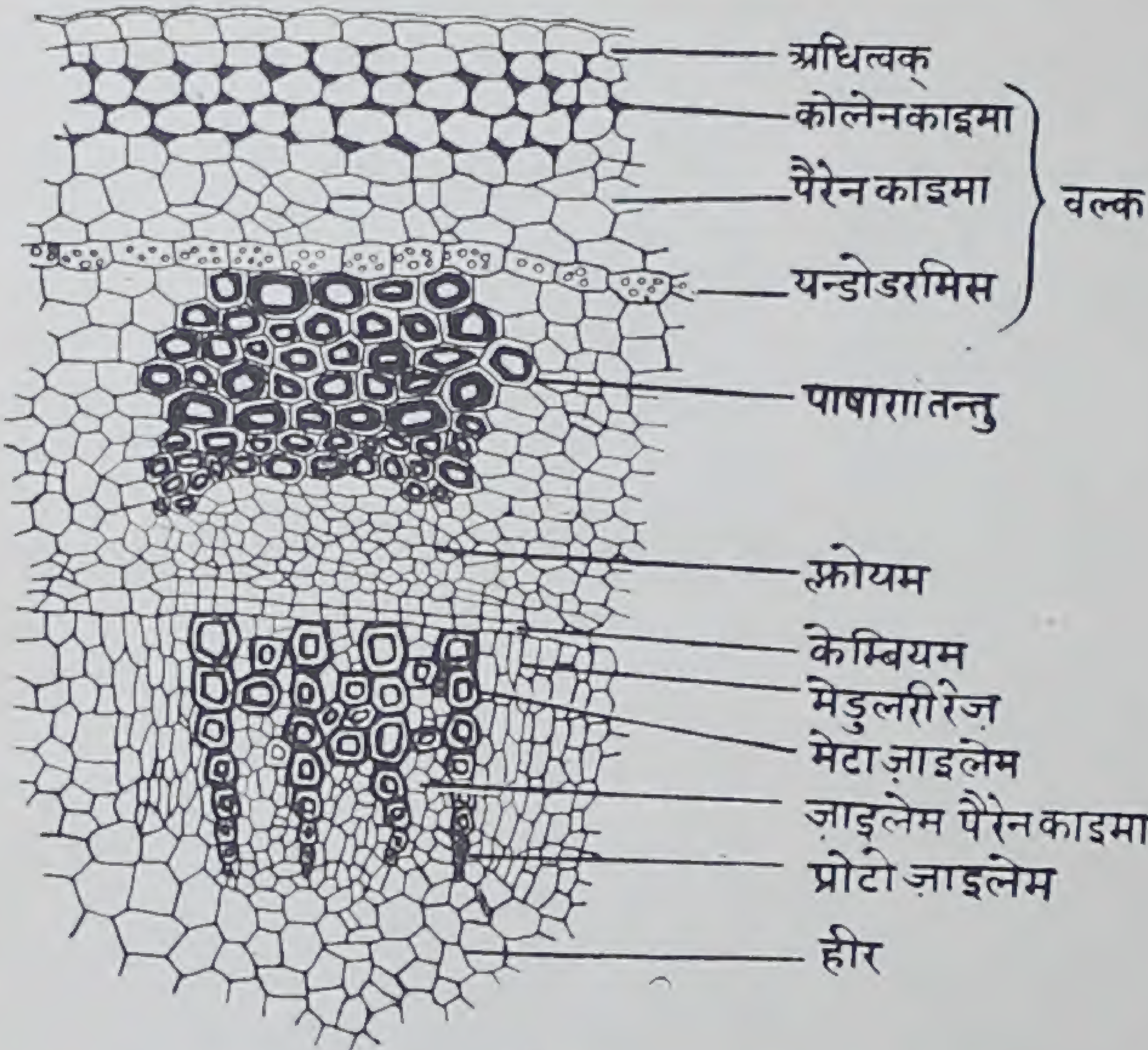
चि० ७

साधारण द्विदली पौधे की टहनी के आड़े कत्तल का गौणवृद्धि प्रारंभ होते समय का चित्र। केम्बियम का पूर्ण चक्र बन गया है।

तने में जैसे-जैसे फ्लोयम और काष्ठ की वृद्धि होती है, उसके बाहरी तन्तुओं पर तनाव पड़ता है, जिससे वे खिंचने लगते हैं। अधित्वक् लचीला होता है, इसलिए उसके कोश कुछ समय तक इस तनाव को किसी हद तक बरदाश्त कर सकते हैं, परन्तु अन्त में वे इस दबाव के कारण फट जाते हैं। अधित्वक् के फट जाने से इसके अन्दर के वल्क-कोश, जो पहले अधित्वक् से ढके थे, खुल जाते हैं। इन कोशों में अधित्वक् की भाँति चर्मोज की तह नहीं होती। इसलिए हवा और गर्मी के कारण वे सूखने लगते हैं। यदि इस प्रकार वल्क के खुले कोशों में इसकी बचत का कोई-न-कोई साधन न हो जाता तो वृक्ष को बड़ी हानि पहुँचती; मगर ऐसा नहीं होने पाता। ऐसी दशा में वल्क के बाहरी कोश मौलिक अवस्था में आ जाते हैं। इनमें तुरन्त ही विभाजन-शक्ति उत्पन्न हो जाती है और इस प्रकार यहाँ एक दूसरा केम्बियम बन जाता है। इसे काग-केम्बियम कहते हैं (चि० १०)। इस केम्बियम से बाहर की ओर काग और अन्दर की ओर वल्क की उत्पत्ति होने लगती है। काग के कोश मुर्दा होते हैं और आपस में एक दूसरे से सटे रहते हैं, जिससे इनके बीच में अन्तर-तान्तविक स्थान (Inter-cellular spaces) नहीं रहते।

काग की भित्तिकाओं में कागजन होता है, जिसमें होकर जल प्रवेश नहीं कर सकता। इस प्रकार अधित्वक् की भाँति, गौणवृद्धि होने पर, काग तने के तन्तुओं को सूखने से बचाता है। वह कीड़े-मकोड़ों तथा दूसरे हानिकारक जीवों के आक्रमण से भी इनकी रक्षा करता है।

जिस समय गौणवृद्धि के कारण तने अधिक मोटे हो जाते हैं, काग के पर्त पर भी दबाव पड़ता है और कुछ



चि० ८

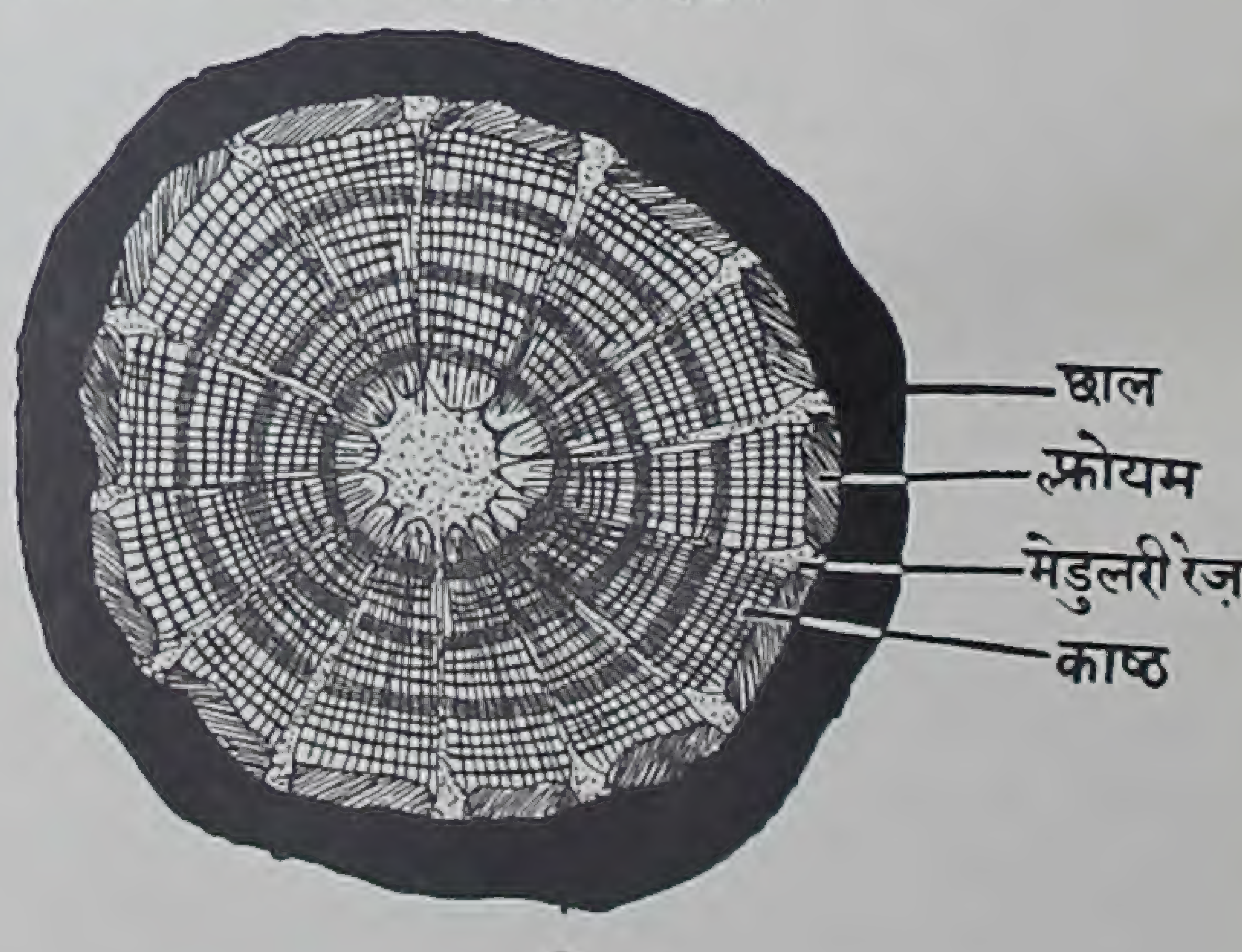
चित्र ५ के एक भाग का विस्तृत चित्र।

दिन बाद यह भी फट जाता है, जिससे फिर वल्क के कोशों को सूखने से बचाने की समस्या उठ खड़ी होती है। इसके रोकने के लिए अन्दर के दूसरे पर्तों से भी काग केम्बियम उत्पन्न होता है। इस प्रकार अन्त में काग-केम्बियम गौण फ्लोयम के कोशों तक से उत्पन्न हो सकता है। वनस्पति-शास्त्र के अनुसार काग-केम्बियम के बाहर के सारे तन्तुओं को "छाल" कहते हैं।

लेन्टीसेल्स—जैसा अभी कह चुके हैं, काग में होकर पानी और हवा नहीं जा सकते, मगर पौधों में सभी अंगों को साँस लेने के लिए हवा की ज़रूरत पड़ती है। इसलिए तने को भी वायु चाहिए। काग की इस कमी को पूरा करने के लिए तने की छाल में 'लेन्टीसेल्स' होते हैं। ये एक विशेष प्रकार के स्थान हैं, जो रंध्र के नीचे उत्पन्न होते हैं। यहाँ के कोश एक दूसरे से सटे नहीं होते बल्कि इनके बीच में अन्तर-तान्तविक-स्थान होते हैं। लेन्टीसेल्स के बीच में जो स्थान होते हैं उन्हीं में होकर वायु आ-जा सकती है। साधारण काग में जो गोल, आड़े या अन्य भाँति के चिह्न दिखाई देते हैं वे लेन्टीसेल्स हैं। भोजपत्र में लेन्टीसेल्स को हम भलीभाँति देख सकते हैं।

एकदली पौधे के तने की आन्तरिक रचना

एकदली पौधे के तने में द्विदली पौधों की बनिस्बत नसों की संख्या ज़्यादा होती है। ये नसें द्विदली पौधों की नसों की भाँति, तने में चारों ओर एक घेरे में नहीं होतीं, बल्कि समस्त तने के अन्दर फैली रहती हैं (चि० ११)। गन्ने या जुआर के लट्ठे, सरकन्डे अथवा बाँस या बेंत के रेशे यही नसें हैं। सावधानी से आप इन्हें अलग भी कर सकते हैं। इस समूह के पौधों की नसों में केम्बियम नहीं होता, इसलिए इनमें गौण-वृद्धि नहीं होती।



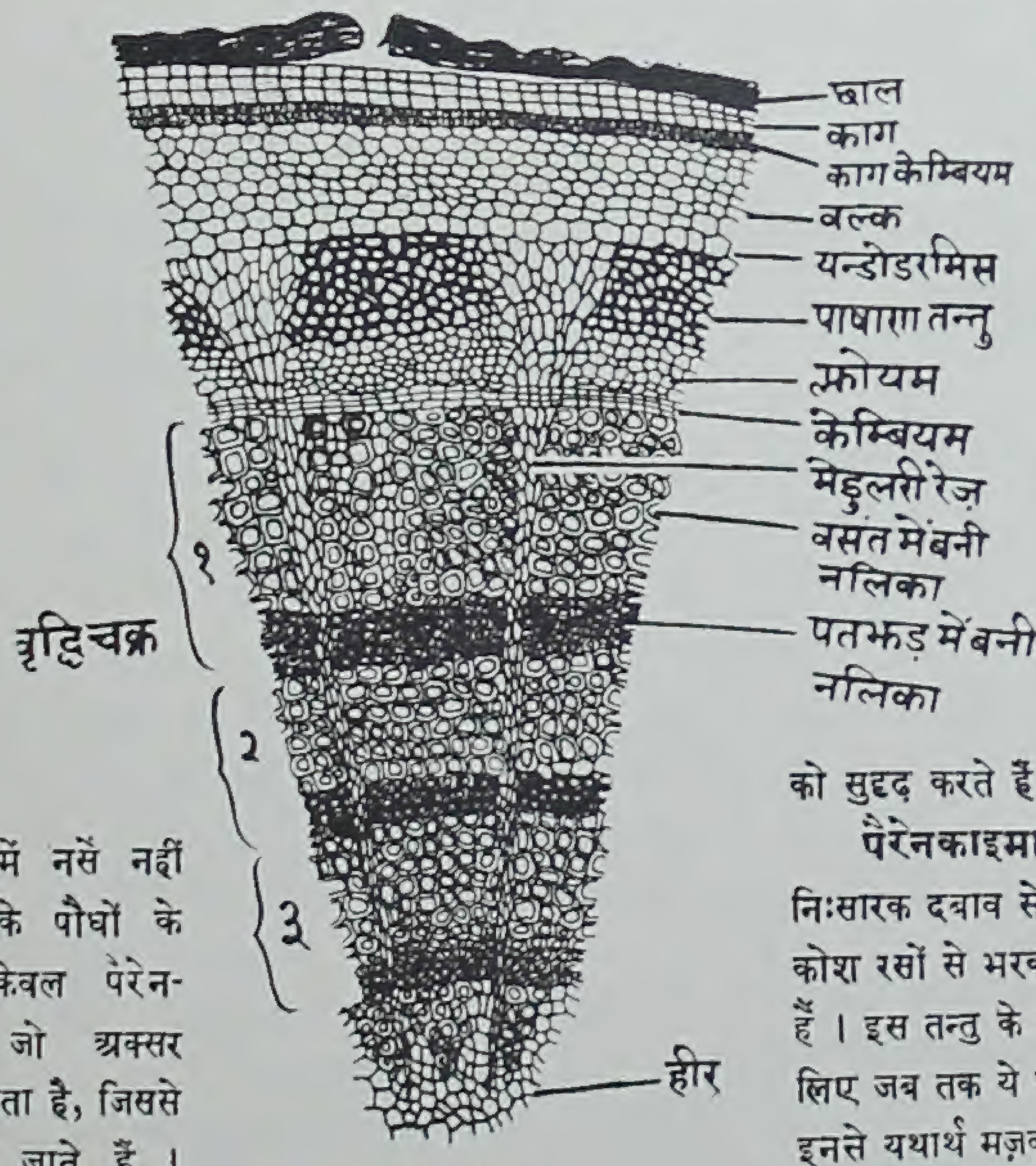
चि० ९

तीन वर्ष की पुरानी द्विदली शाख का चित्र। वसंत और पतझड़ में बने काष्ठ का अंतर स्पष्ट है।

एकदली पौधे की रचना का परिचय हमें जुआर या मकई के आड़े या बेंड़े कत्तल को ख़ुर्दबीन में देखने से चल सकता है (चि० ११)।

ऐसे तने में सबसे बाहर अधित्वक्, फिर एक दो पर्त पैरेनकाइमा के, इसके बाद पाषाण-तन्तु और फिर बहुत-सी नसें मिलेंगी। नसें आधार-तन्तु में फैली रहती हैं। नसों में काष्ठ और फ्लोयम होता है। लेकिन केम्बियम नहीं होता (चि० ५ स)। ऐसे तनों में कोई ख़ास यन्डोडरमिस और हीर नहीं होता। फ्लोयम में, यहाँ भी, झाँझर - नलिका, झाँझर-पट्ट, सहायक - कोश और फ्लोयम-पैरेनकाइमा होते हैं। प्रत्येक नस में दो काष्ठ-नलिकाओं को छोड़ शेष अत्यन्त महीन होती हैं।

कभी-कभी एकदली पौधे के तने के बीच के भाग में नसें नहीं होतीं। इस क़िस्म के पौधों के बीच के तन्तु में केवल पेरेन-काइमा होता है, जो अक्सर प्रारम्भ में ही गल जाता है, जिससे ये तने खोखले हो जाते हैं। बाँस और कितनी ही दूसरी घासों में ऐसे तने होते हैं।



चि० १०
बाईं ओर अंकों द्वारा तीन वार्षिक वृद्धिचक्र प्रदर्शित हैं।

प्रत्येक नस के चारों ओर प्रायः पाषाण-तन्तु का घेरा होता है, जो विशेषकर तने की परिधि और केन्द्र की तरफ़ अधिक होता है।

किसी-किसी एकदली पौधे में गौण-वृद्धि भी होती है। ड्रैसीना और यक्का (अंक ३ पृ० २६५) इस क़िस्म के पौधे हैं।

पौधों में नसों में होकर खाद्यरस संचरित होते हैं। फ्लोयम में होकर पत्तियों में उपार्जित वस्तुएँ पौधों के दूसरे अंगों में जाती हैं और काष्ठ में होकर जड़ों द्वारा संचित जल और दूसरी वस्तुएँ पत्तियों में पहुँचती हैं।

कितने ही पौधों के पाषाण-तन्तु के रेशे बड़े काम के होते हैं। रामबाँस और भाँग की जटा रस्सी वग़ैरह के लिए इस्तेमाल होती हैं। यह जटा पाषाण-तन्तु के रेशे ही हैं।

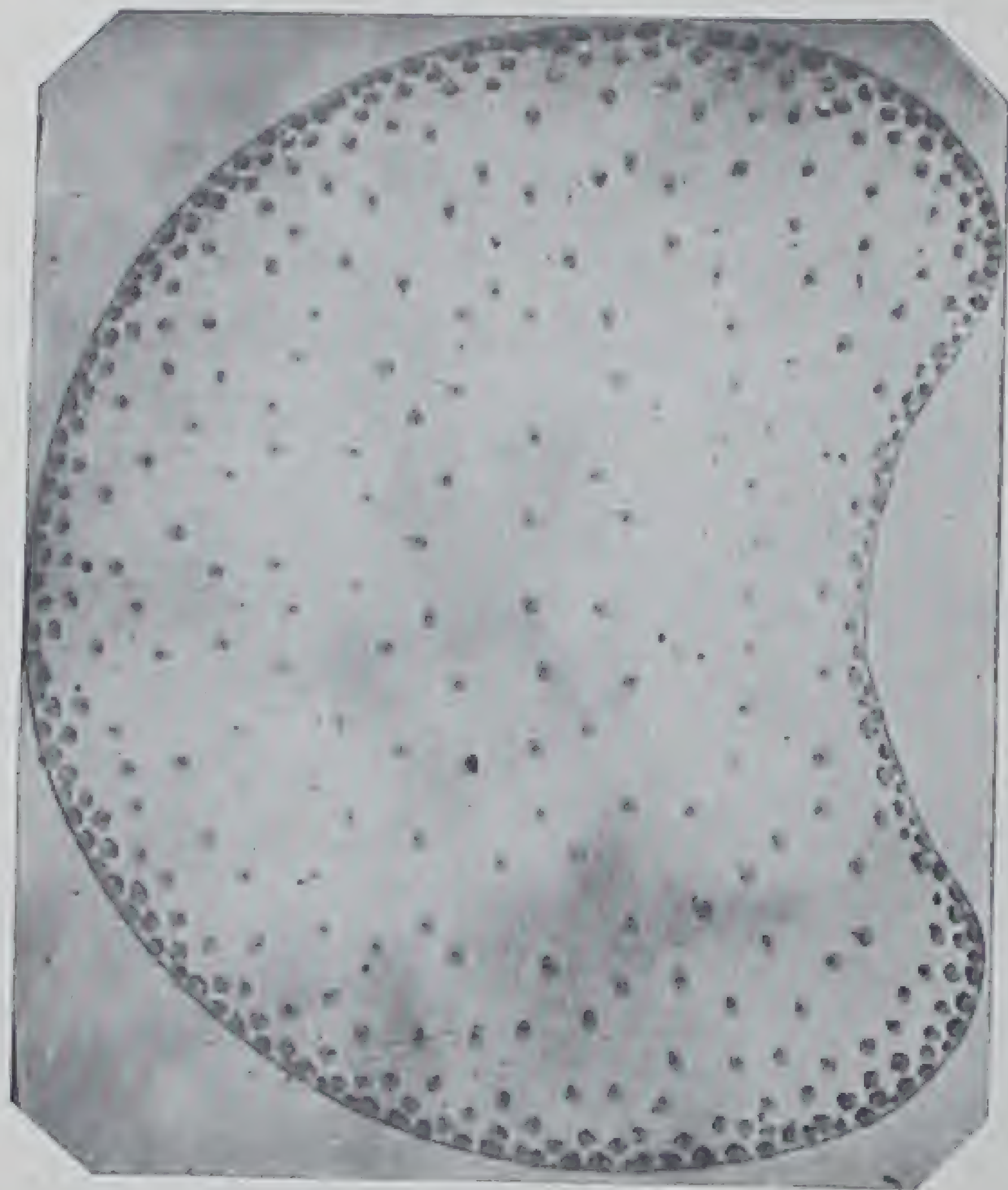
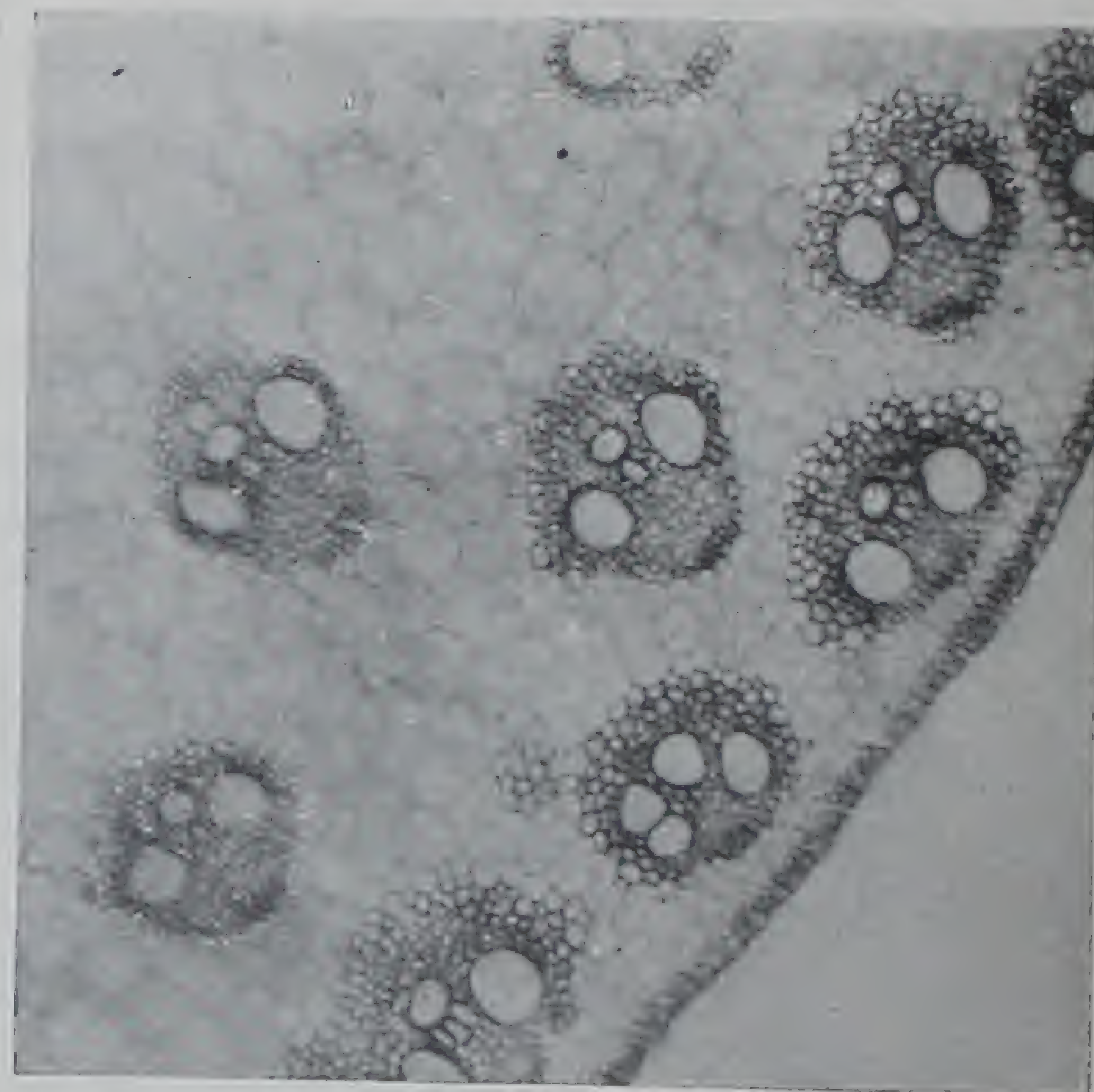
पौधों में मज़बूती कैसे पैदा होती है?

पौधों को दृढ़ करनेवाले तन्तु—प्रत्येक पौधा कोशों का ही समूह है। ये कोश प्रारम्भ में एक सरीखे और अत्यन्त कोमल होते हैं। परन्तु पुराने होने के साथ-साथ इनमें अनेक परिवर्त्तन होते हैं, जिनसे आवश्यकतानुसार अनेक तन्तु बन जाते हैं। मनुष्य तथा दूसरे रीढ़वाले पशु-पक्षियों में हड्डियों के ढाँचे होते हैं, जिससे उनके अंग दृढ़ बने रहते हैं। पौधों के अंगों को दृढ़ता विशेषकर कोशभित्तिकाओं से मिलती है। नसोंवाले पौधों में यह काम प्रायः नसों से ही होता है, परन्तु अन्य तन्तु भी पौधों के अंगों को सुदृढ़ करते हैं।

पैरेनकाइमा—इनमें मज़बूती केवल निःसारक दबाव से रहती है। जब इसके कोश रसों से भरकर फूलते हैं, वे तन जाते हैं। इस तन्तु के कोश नाज़ुक होते हैं, इसलिए जब तक ये अधिक संख्या में न हों इनसे यथार्थ मज़बूती नहीं मिल सकती।

कोलेनकाइमा—कोलेनकाइमा के कोश सजीव होते हैं। इनमें जीवनमूल और नाभिक होता है। इन कोशों के घेरे विशेष मोटे होते हैं—इस तरह इस तन्तु को मज़बूत बनानेवाली दो वस्तुएँ हैं। एक तो उसके सुदृढ़ कोश और दूसरे इन कोशों की फूलने की क्रिया। इसलिए ये तन्तु पैरेनकाइमा की बनिस्बत इस काम के लिए अधिक उपयुक्त हैं। इसी कारण कोलेनकाइमा पौधे के बढ़नेवाले अंगों को मज़बूती पहुँचाने में विशेष लाभदायक हैं। इस तन्तु के कोशों की भित्तिकाएँ तनाव से फैल सकती हैं।

कठीले मृत कोश—इनमें पाषाण-तन्तु, काष्ठ और

चित्र ११

(बाईं ओर) मकई की शाख की कत्तल का खुर्दबीन से लिया फ़ोटो । (दाहिनी ओर) उसी बेंड़े कत्तल के एक भाग का अणुवीक्षणीय परिवर्द्धित फ़ोटो । (फ़ो० वि० सा० शर्मा ।)

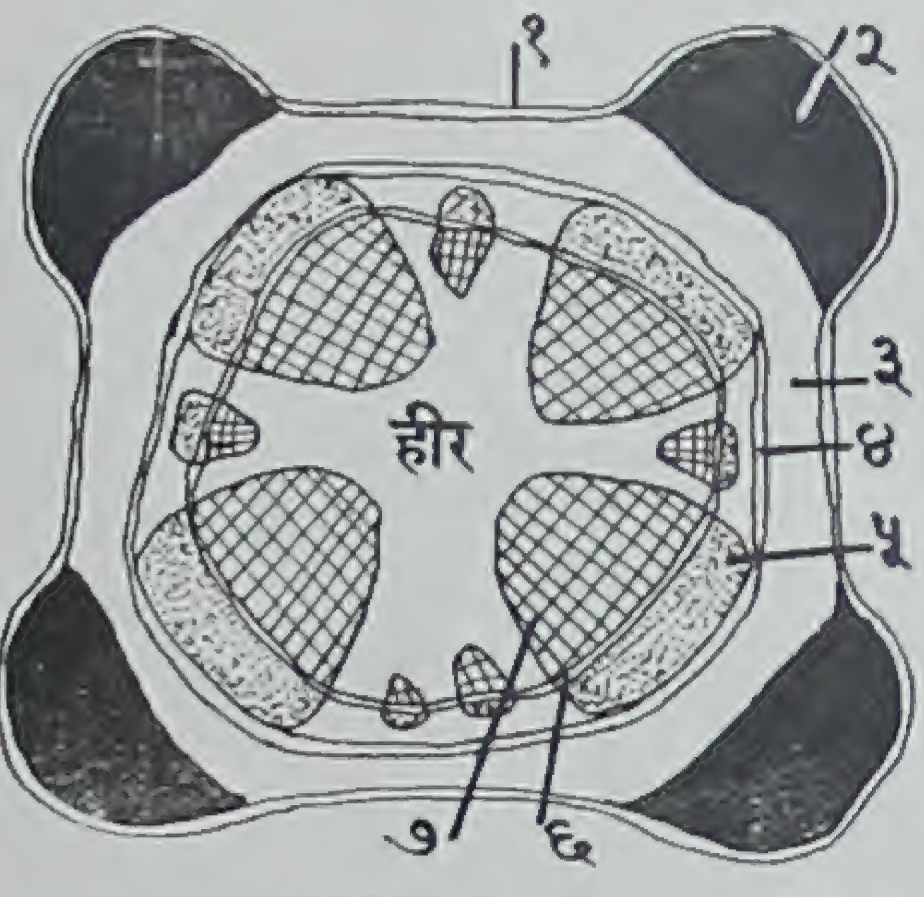
काष्ठ-रेशे होते हैं । पाषाण-तन्तु पैरेनकाइमा और कोलेनकाइमा दोनों ही से मज़बूत होता है । पुरानी शाखों को मज़बूत करनेवाले तन्तुओं में इसका प्रधान स्थान है । इस तन्तु के कोश सजीव नहीं होते, इसलिए यह नवीन बढ़ते अंगों को दृढ़ बनाने के लिए उपयुक्त नहीं है । काष्ठ-नलिकाएँ भी इस गुण में पाषाण-तन्तु ही सरीखी होती हैं ।

पौधों के भिन्न-भिन्न अंगों में आवश्यकतानुसार दृढ़ करनेवाले तन्तुओं का क्रम जुदा-जुदा होता है । पौधे के किस अंग में किस प्रकार के दृढ़ करनेवाले तन्तुओं का कैसा प्रबन्ध होना चाहिए, इसको समझने के लिए हमें यह जानना ज़रूरी है कि एक शहतीर पर तनाव का असर किस प्रकार पड़ता है । जिस समय दीवालों पर रक्खे गर्डर या शहतीर पर ४०-५० मन का या इससे भी भारी बोझ पड़ता है उस पर क्या असर होता है ?

ऐसी दशा में गर्डर के ऊपरी हिस्से पर दबाव पड़ेगा और निचले पर तनाव होगा । ऐसे बोझ से लदे गर्डर में जैसे-जैसे हम ऊपर से नीचे की ओर बढ़ेंगे दबाव कम पड़ता जायगा और इसके मध्य में सबसे कम दबाव रहेगा । अब जैसे-जैसे हम नीचे को बढ़ेंगे, तनाव बढ़ता जायगा और सबसे निचले भाग पर अधिक-से-अधिक तनाव होगा । इस तरह हम देखते हैं कि शहतीर या गर्डर में सबसे अधिक चाप (stress) ऊपर और नीचे पड़ता है और उससे मध्य भाग में सबसे कम रहता है । इसलिए गर्डर ऊपर-नीचे ज़्यादा मज़बूत बनाये जाते हैं । इसी सिद्धान्त के अनुसार गर्डर प्रायः I की शक्ल में बनाये जाते हैं । यह तो रहा यंत्रशास्त्र का सिद्धान्त, अब ज़रा वृक्षों की स्थिति पर विचार कीजिये ।

तने में दृढ़ करनेवाले पदार्थों का विस्तार

पृथ्वी पर सैकड़ों हाथ ऊँचे सघन वृक्षों को खड़े देख आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि इनके तनों पर कितना बोझ पड़ता होगा । इस बोझ को सँभालने के लिए दृढ़ तन्तुओं की आवश्यकता होती है । अगर यह दबाव तने पर चारों ओर से समान ऊपर से नीचे को होता तो दृढ़कर पदार्थ चाहे जैसे बँटे होते विशेष अन्तर न पड़ता ; मगर ऐसा होता नहीं है । वृक्षों के तने बराबर सीधे, बिला हिले-डुले, कब खड़े रह पाते हैं ? आँधी, तूफ़ान, बाढ़ और अनेक शाखों के बोझ के कारण इनको समय-समय पर एक-न-एक ओर झुकना पड़ता है । जिस समय प्रचंड आँधी आती है आप देख सकते हैं कि वृक्ष कैसे एक ओर से दूसरी ओर झुकते हैं । ऐसी दशा में इनके तनों में एक ओर तनाव और दूसरी ओर दबाव पड़ता है । या यों कहिए कि तने बराबर खिंचते और दबते रहते हैं, जिसके सबब से दृढ़ करनेवाले पदार्थों का बाहर की ओर होना परम आवश्यक है । इसलिए यहाँ भी I की शक्ल के गर्डर के रूप में



चि० १२

तुलसी के समूह के पौधे के तने में दृढ़कर तंतुओं का स्थान। इसमें नसें और कोलेनकाइमा I भाँति के गर्डर बनाते हैं। चित्र के नंबर (चित्र ४ की तरह) अधित्वक्, कोलेनकाइमा आदि सूचित करते हैं।

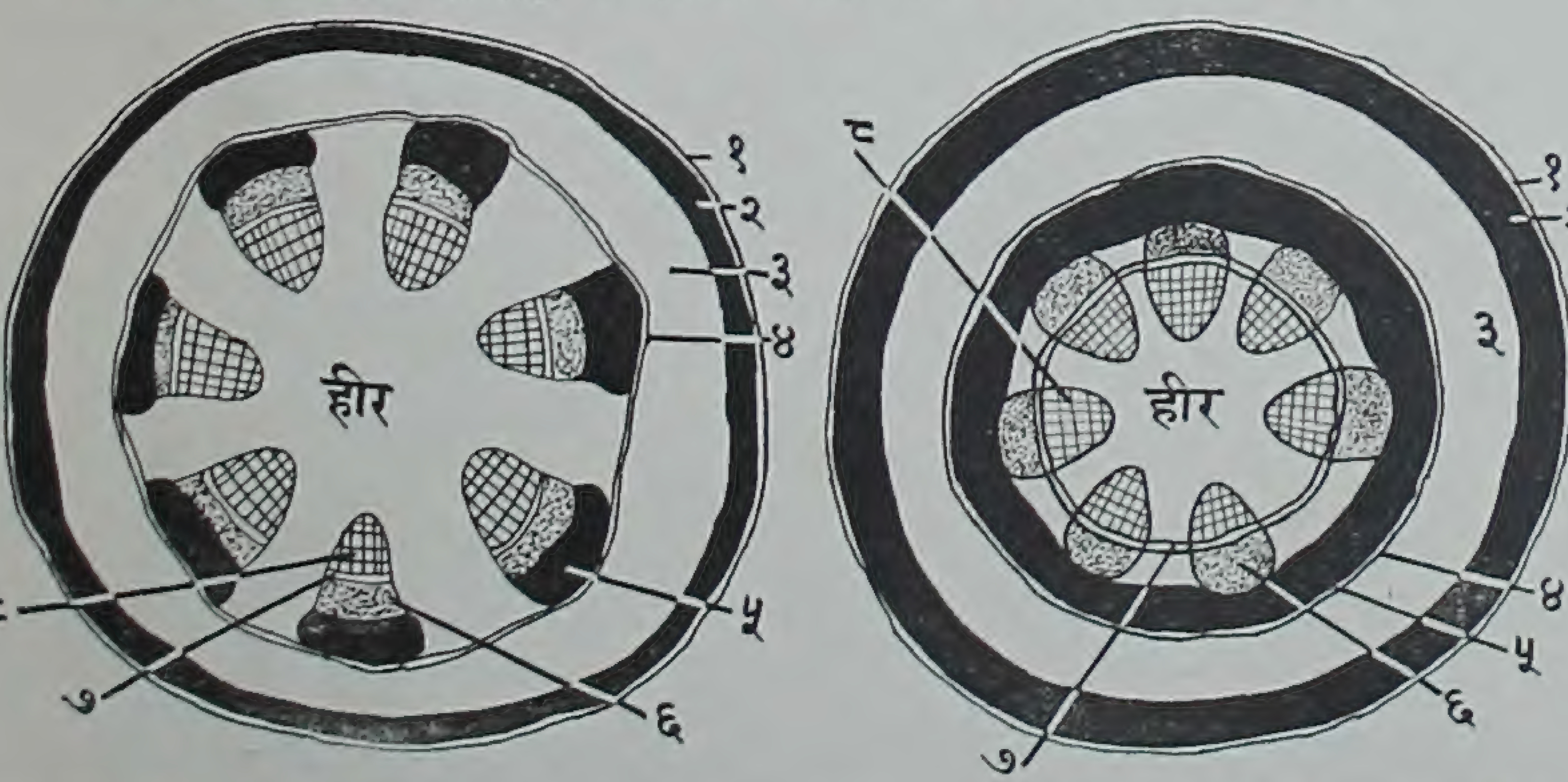
दृढ़कर पदार्थ जमा होना चाहिए। पौधों को हर ओर झुकना पड़ता है इसलिए इस क़िस्म के कई गर्डर का चारों ओर होना ज़रूरी है। तुलसी, देवना और पुदीना की भाँति के चौकोर तनेवाले पौधों में ये दृढ़कर पदार्थ कोलेनकाइमा के रूप में चारों कोनों में होते हैं (चि० १२)। बहुतेरे पौधों में दृढ़ करनेवाले पाषाण-तन्तु के रेशे नसों के बाहर होते हैं और ऐसी दशा में आमने-सामने की नसें I भाँति के गर्डर का काम देती हैं (चित्र १३ अ)। नसों के बाहर पाषाण-तन्तु के रेशे पौधों को मज़बूत करने के साथ-ही-साथ कोमल अन्तर-छाल या फ्लोयम को कुचलने से भी बचाते हैं। बहुतेरे पौधों में पाषाण-तन्तु अक्सर पोली नली की भाँति नसों के बाहर होता है (चि० १३ ब)। बढ़नेवाले अंगों को दृढ़ करनेवाला तन्तु कोलेनकाइमा है। यह प्रायः खोखली नली के रूप में अधित्वक् के नीचे होता है (चि० १३ ब)।

दृढ़ करनेवाले तन्तुओं की जैसी अवस्था ऊपर वर्णन की गयी है वह केवल मृदुल और नवीन तनों में ही रहती है। वृक्षों में इन दृढ़कर तन्तुओं के स्थान पर लम्बे-चौड़े काष्ठ के स्तम्भ बन जाते हैं। ऐसे वृक्षों में तने का अधिकांश भाग काष्ठ ही होता है, परन्तु याद रखने की बात है कि ये भी कोशों में परिवर्तन से ही उत्पन्न हुए हैं।

तन्तु-तनाव—तने में दृढ़ करनेवाले तन्तु बाहर की ओर होते हैं और पैरेनकाइमा अन्दर की ओर। तन्तुओं के इस क्रम से तने को एक और भाँति से भी मज़बूती मिल जाती है। पाषाण-तन्तु के मृत कोश मोटी भित्तिका के कारण खिंचकर अधिक नहीं बढ़ सकते; लेकिन पतली भित्तिकाओंवाले पैरेनकाइमा के कोश रसों के भरने से फूलकर अन्दर से बढ़ना चाहते हैं। यह ठीक वैसी ही दशा है जैसी हवा भरने पर फुटबाल की होती है। पैरेनकाइमा रबर की झिल्ली की भाँति हवा से फूलकर बढ़ना चाहता है। मगर पाषाण-तन्तु उसे बाहरी चमड़े के खोल की तरह बढ़ने से रोकता है। इन दोनों दबाव का एक दूसरे पर असर पड़ता है, जिससे कोश तने रहते हैं। इसके सबब से पौधे के अंगों में तनाव रहता है।

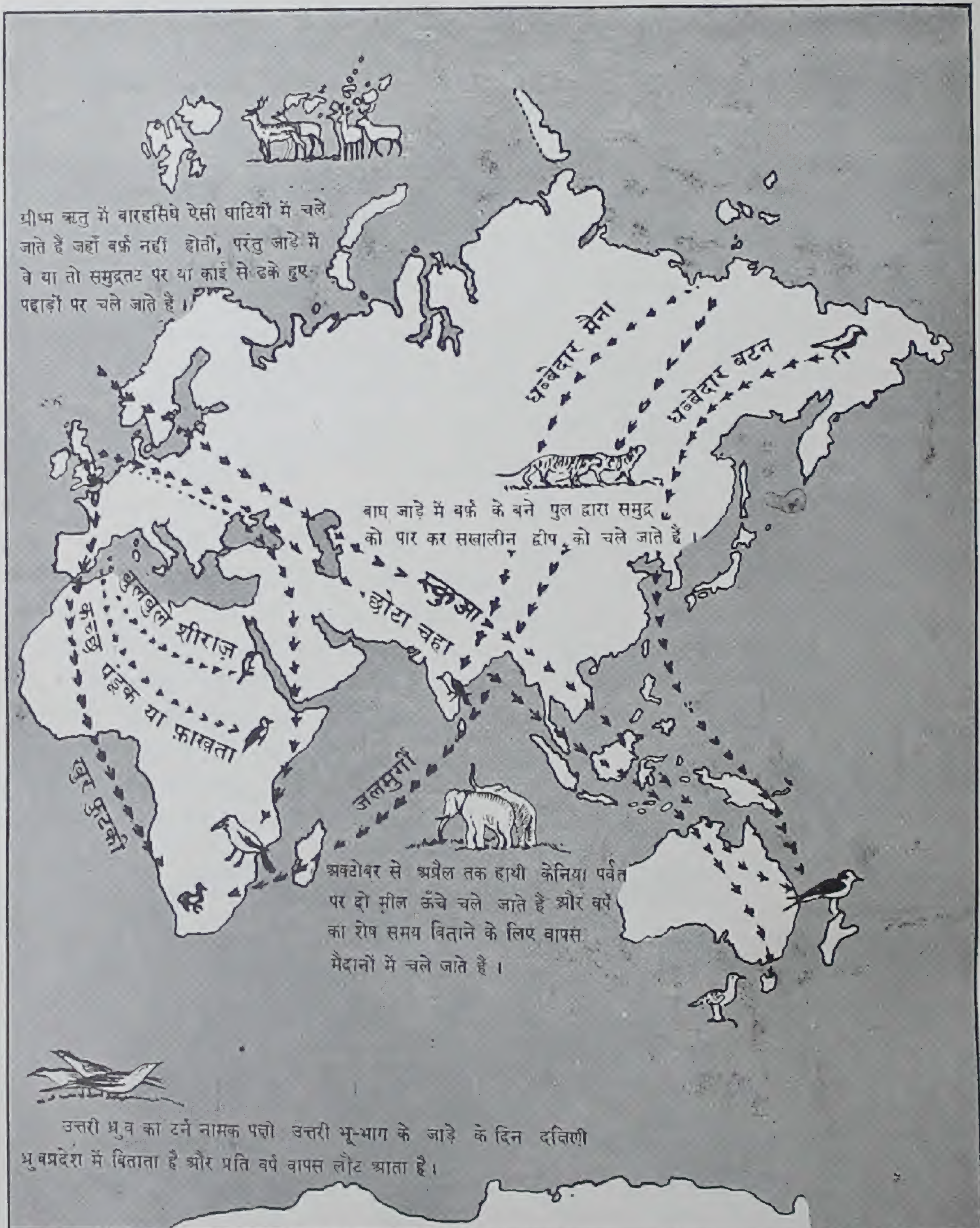
एकदली पौधे के तनों में नसें चारों ओर पैरेनकाइमा में बिखरी रहती हैं। नसों के चारों ओर पाषाण-तन्तु होते हैं। इन पौधों में दबाव के भार को पैरेनकाइमा सहन करता है और तनाव को पाषाण-तन्तु।

अ



ब

चि० १३ अ—सूरजमुखी की भाँति के पौधे के तने में दृढ़कर तन्तु। नसें और पाषाण-तन्तु मिलकर I गर्डर की तरह काम देते हैं। ब—यह भी एक द्विदली तने के बेंड़े कत्तल का चित्र है। इसमें बाहर कोलेनकाइमा की नली है। फिर पाषाण-तन्तु की नली है और सबसे अन्दर की ओर नसें। अंक अधित्वक् आदि सूचित करते हैं।



जानवरों की देश-परिवर्त्तन-संबंधी अद्भुत लंबी यात्राओं का मानचित्र—(१)

इस मानचित्र में पूर्वी गोलार्द्ध या पुरानी दुनिया के कुछ जानवरों के यात्रा-मार्ग दिखाये गये हैं । पश्चिमी गोलार्द्ध या नई दुनिया के यात्री जीवधारियों के संबंध में पृ० १६८ के सामने लगा हुआ मानचित्र देखिए ।



जीवधारियों की आश्चर्यजनक लम्बी यात्राएँ

देश-परिवर्त्तन की अद्‌भुत कहानी

जीवन की अनेक गूढ़ पहेलियों में से एक जीवधारियों का देश-परिवर्त्तन और उसके उद्देश से की जानेवाली उनकी आश्चर्यजनक लंबी यात्राएँ हैं। बिना किसी मार्गप्रदर्शक के वे हज़ारों मील लंबे सागर और महाद्वीपों को पारकर एक निश्चित स्थान तक जाते हैं और वापस अपनी जन्मभूमि को लौट आते हैं। कितने अचरज की बात है! आइए, इनका कुछ हाल आपको सुनाएँ।

एक ऋतु आती है और चली जाती है। वसन्त ऋतु में पेड़-पौधों में एक प्रकार का जागरण-सा हो जाता है—पेड़ कलियों से भर जाते हैं और फूल खिलने लगते हैं। परन्तु ग्रीष्म ऋतु आते ही उनकी इस उन्नति में रुकावट पड़ जाती है और शरद्-ऋतु में तो कुहरे और बर्फ़ के कारण वनस्पति-जगत् में भी शून्यता-सी जान पड़ने लगती है। इसी प्रकार जानवरों में भी ऋतु-परिवर्त्तन के अनुसार उन्नति, अवनति, स्थान-परिवर्त्तन होता रहता है। बहुतेरे प्राणी अंडे देने के लिए लम्बी यात्राएँ करके अपने-अपने विशेष स्थानों पर जा पहुँचते हैं, और कुछ जंगली जानवर ऋतुओं के अनुसार अपना भोजन प्राप्त करने के लिए भी एक देश से दूसरे देश को चले जाते हैं। सुर्खाब बालकन प्रायद्वीप तथा दक्षिणी रूस से लेकर मध्य एशिया, चीन और जापान में बच्चे देते हैं; किन्तु जब इन देशों में शरद्-ऋतु का आगमन होता है तो उनके लिए वहाँ भोजन पाना असम्भव हो जाता है। इसलिए वे दक्षिण की ओर उड़कर भारतवर्ष, अफ़्रीका, लंका, ब्रह्मा तथा चीन के दक्षिणी प्रान्तों में आ जाते हैं। भारतवर्ष में वे अक्तूबर से अप्रैल तक ठहरते हैं और फिर अपनी जन्म-भूमि को वापस चले जाते हैं। इसी प्रकार कई मछलियाँ और बहुतेरी चिड़ियाँ अपने घोंसले बनाने के लिए तथा नियुक्त स्थान पर अंडे देने के लिए सहस्रों कोस का सफ़र करती हैं। पशु-पक्षी तथा कीड़े-मकोड़े गणित नहीं जानते, न उन्हें ज्योतिष का ज्ञान है और मार्ग में किसी प्रकार का पथप्रदर्शक चिह्न भी नहीं रहता; फिर भी वे बड़े-बड़े सागर और महाद्वीप बिना भूले-भटके पार कर जाते हैं! क्या यह अचम्भे की बात नहीं है? जन्तु-जगत् की घटनाओं में देश-परिवर्त्तन सबसे विचित्र घटना है, जिसकी मनोरंजक कहानियों पर कई किताबें लिखी जा सकती हैं; परन्तु यहाँ हम केवल चुने हुए दो-चार उदाहरणों से ही आपको परिचित करायेंगे।

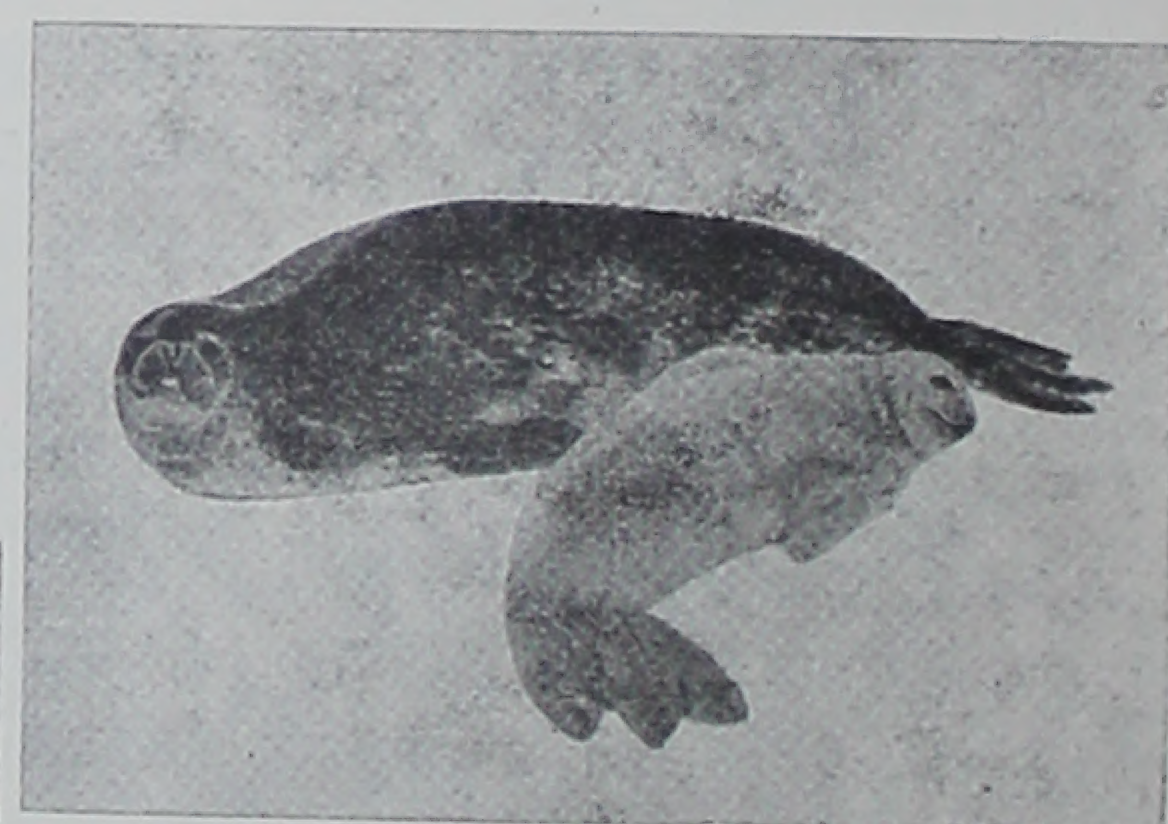
बहुतेरे घास खानेवाले बड़े स्तनपोषी हिरनों के समान झुंडों में रहते हैं और इन्हें बराबर बहुत भोजन की आवश्यकता पड़ती है। एक स्थान का घास-पात वे जल्दी ही ख़त्म कर देते हैं। ऐसे प्राणियों को अवश्य ही भोजन, पानी तथा कभी-कभी रक्षा की खोज में घुमक्कड़ी जीवन व्यतीत करना पड़ता है किन्तु हमें इस लेख में ऐसी छोटी-मोटी प्रति दिन की तथा साधारण मौसमी यात्राओं से सरोकार नहीं है। हमें तो उन बड़ी यात्राओं से ही मतलब है जो वे गर्मी के घर जन्म-स्थान से जाड़े के घर अथवा पालन-पोषण के स्थान के लिए करते हैं। अपने गर्मी के घरों में वे जन्म लेते हैं और बढ़ते हैं तथा जाड़ों के घरों में जाकर बड़े-बूढ़े, युवक-बालक आदि सभी खाते-पीते और अगले मौसम में फिर लम्बे सफ़र की कठिनाइयाँ झेलने को तैयार हो जाते हैं। अतः वास्तव में देश-परिवर्त्तन मौसम, भोजन तथा विशेष रूप से बच्चे देने पर ही अवलम्बित रहता है। देश-परिवर्त्तन का सबसे अच्छा उदाहरण पक्षियों में ही मिलता है, परन्तु बहुत-से अन्य जानवर भी प्रतिवर्ष नियमानुसार अपनी जगह बदला करते हैं।

अलास्का-निवासी बालदार सील २००० मील की यात्रा क्यों करते हैं ?

अलास्का और ग्रीनलैंड के बालदार सील (एक प्रकार का समुद्री स्तनपोषी) वर्ष के लगभग ८ महीने खुले समुद्र में बिताते हैं। बड़े नर या साँड़ मादाओं के झुंड से अलग रहते हैं। वे समुद्र में दूर-दूर तक उछलते, खूदते, क्रीड़ाएँ करते दिखलाई पड़ते हैं। वे अपने रुचिकर खाद्य पदार्थों—मछलियों तथा घोंघा-वंश के जीवों—की खोज में घूमा करते हैं। परन्तु इस समय में वे कभी थल के निकट नहीं आते। वसन्त ऋतु के आते ही वे अपने बच्चा देने की जगहों को रवाना हो जाते हैं और उनमें से बहुतेरे उत्तरी प्रशान्त-सागर का २००० मील का फ़ासला काटकर पार पहुँचते हैं। कई दिनों तक लगातार तेज़ हवा के झकोरे सहते और घने नीचे बादलों के तले गरजते हुए समुद्र में तैरते हुए वे अलूशियन द्वीपों के कुछ निश्चित रास्तों में सीधे १०० मील से भी अधिक आगे अपने जन्म-स्थान—प्रीबिलौफ़ टापुओं—में जा पहुँचते हैं।

स्त्रियाँ प्राप्त करने के लिए नरों में परस्पर संघर्ष

सबसे पहले मई के आरम्भ में इन टापुओं के किनारे नर साँड़ ही पहुँचते हैं। वे ख़ूब तन्दुरुस्त, बड़े और मोटे होते हैं और किनारे पर पहुँचकर प्रत्येक अपने लिए कई गज़ लम्बी-चौड़ी धरती छाँट लेता है और उसमें किसी दूसरे नर को नहीं घुसने देता। आपस में ख़ूब लड़ाई होती है और कोई साँड़ अपनी भूमि तनिक देर के लिए भी नहीं छोड़ता। वे अपनी धरती की रक्षा करने में हफ़्तों तक बिना खाये और बिना सोये ही रह जाते हैं। पानी के निकट के सबसे अच्छे स्थानों को सर्वशक्तिशाली और बलवान् नर आपस में विभाजित कर लेते हैं। लगभग एक माह पीछे छोटी सील मादाएँ—जो नरों की अपेक्षा चौथाई क़द की भी नहीं होतीं—वहाँ आने लगती हैं। आते ही उनकी बड़ी आवभगत होती है। प्रत्येक नर यह चाहता है कि फुसला-बहकाकर जितनी मादाएँ हो सकें अपनी भूमि में ले आवे। नरों में इसके लिए लगातार संघर्ष हुआ करता है, जिसके कारण बेचारी मादाओं को चैन नहीं मिलता। सुख से स्थान कर लेने पर भी कभी-कभी जब





अलास्का प्रायद्वीप से दूर एक द्वीप पर सील का झुंड। सील यों तो समुद्र में ही रहते हैं किन्तु जब उनके बच्चे देने का समय आता है तो वे लम्बी यात्राएँ करके दूर के किनारों पर पहुँचकर वहीं अपना अड्डा जमाते हैं। नर और मादाओं का वहाँ ४ महीने तक जमाव रहता है। इसके बाद पुनः वे अपने देश को वापस आ जाते हैं। चित्र के ऊपरी कोने के चित्र में मामूली सील या फ़ोका प्रदर्शित है।

उसका पहलेवाला स्वामी अन्य आनेवाली स्त्रियों को अपने घराने में मिलाने की कोशिश में इधर-उधर गया रहता है, तब पड़ोसी नर अवसर पाकर उसे पकड़कर अपनी भूमि में ले जाने की कोशिश करता है। कम-से-कम ४ महीने तक ये सील इन द्वीपों में रहते हैं। कुछ ही हफ़्ते बीत जाने के बाद मादाएँ यथाविधि पानी में मछली पकड़ने जाने लगती हैं और ज्यों-ज्यों किनारे की मछलियाँ कम होने लगती हैं उन्हें और दूर जाना पड़ता है। उनके छोटे-छोटे बच्चे भी समुद्र-तट के जल में जाने और तैरना सीखने लगते हैं। इनके झुंड-के-झुंड किनारे पर तैरते दिखाई देते हैं। बड़ी ही रोचक बात है कि प्रत्येक माता अपनी सन्तान को सैकड़ों बच्चों के बीच पहचान लेती है!

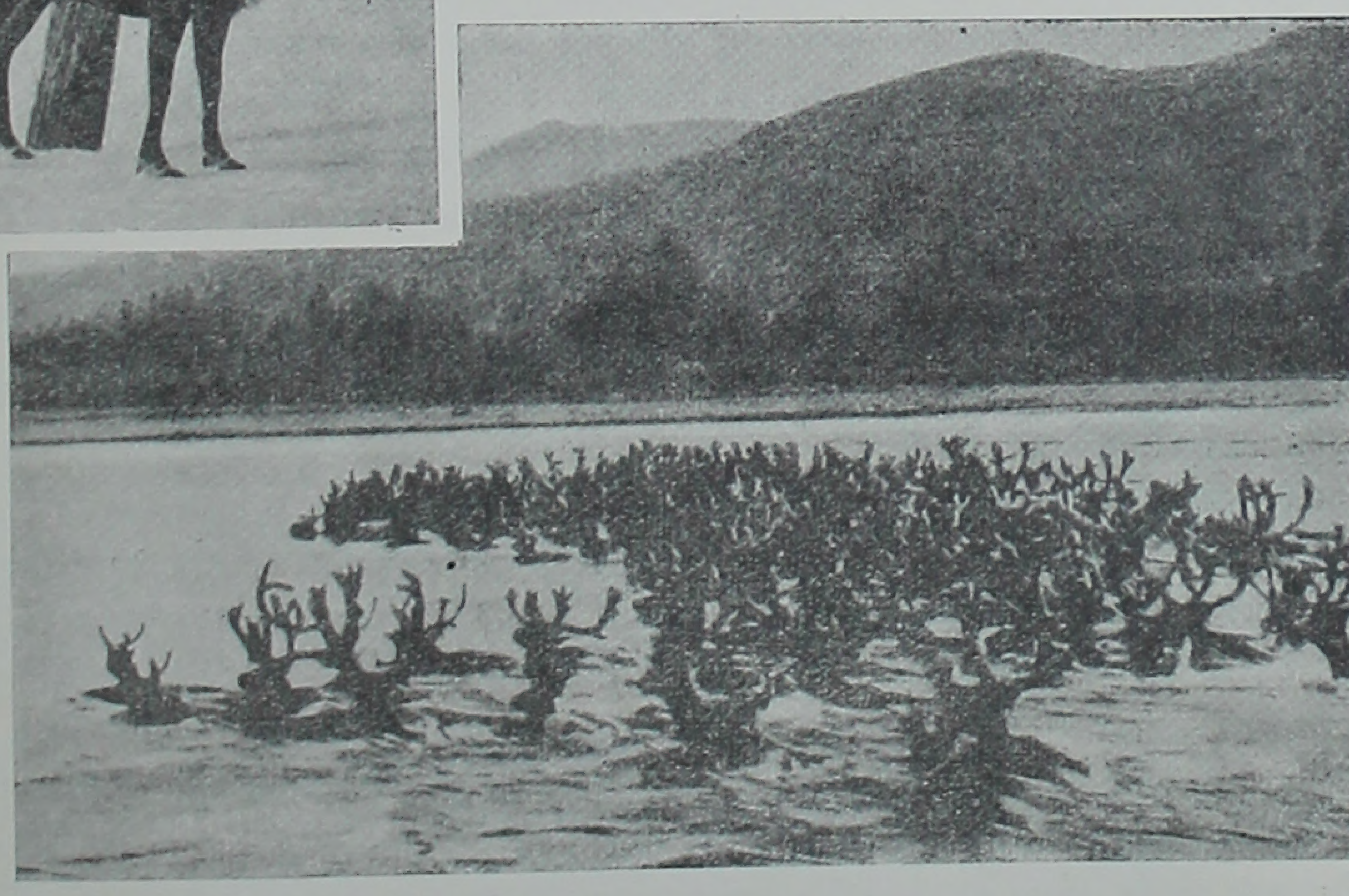
शरद्-ऋतु जब निकट आती है तो सीलों की बस्तियाँ छिन्न-भिन्न होने लगती हैं। पहले आनेवाले बड़े नर पहले रवाना हो जाते हैं, किन्तु ये चलते समय न वैसे मोटे ही होते हैं और न उतने बलवान् ही जितने कि आने के समय थे; क्योंकि प्रस्थान के पूर्व केवल दो-चार सप्ताह पहले ही उन्हें कुछ खाना और शान्ति प्राप्त होती है। जीवन के झगड़े से अलग होकर अपने असली घर की राह पर खुले समुद्रों में ख़ूब भोजन पाने के कारण वे पुनः ख़ूब हृष्ट-पुष्ट हो जाते हैं।

कैरीबो नामक बारहसिंघा तथा अन्य स्तनपोषियों की यात्राएँ

उत्तरी कनाडा-निवासी कैरीबो नामक बारहसिंघे गर्मियों में, ज्यों-ज्यों ऊसर धरती पर पेड़-पौधे उगने लगते हैं, उत्तर की ओर जाते हैं। किन्तु सर्दी के दिनों में, जैसे-जैसे ध्रुव से बर्फ़ दक्षिण की ओर फैलता जाता है, इन बारहसिंघों के झुंड-के-झुंड भी दक्षिण को सरकते आते हैं; यहाँ तक कि वे कनाडा के जंगलों तक पहुँच जाते हैं।

इसी प्रकार कुछ और स्तनपोषी—जैसे बर्फ़ीले बारहसिंघे, जंगली भैंसे, बिसन तथा कुछ उपजातियों के चमगादड़—भी एक जगह से दूसरी जगह मौसम की तबदीली या चारे के कारण यात्राएँ करते हैं। किन्तु स्तनपोषी जीव आम तौर से पक्षियों की भाँति बड़ी-बड़ी लंबी यात्राएँ नहीं करते।





नदी में तैरते हुए कैरीबो बारहसिंघों का एक झुंड। जानवरों को देश परिवर्तन करते हुए अपने मार्ग में बहुत-सी रुकावटें आ पड़ती हैं, जैसे नदी, पहाड़ आदि। इस चित्र में हम कुछ कैरीबों को उत्तरी अमरीका की एक नदी में तैरते देख रहे हैं। यह नदी उन्हें हर साल ही नये चरागाहों की खोज में पार करनी पड़ती है। ऊपर के कोने में एक कैरीबो का परिवर्द्धित चित्र है।

भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न प्रकार की यात्री और स्थाई चिड़ियाँ

हम सब कोयल और पपीहे की बोली से केवल परिचित ही नहीं हैं बल्कि यह भी जानते हैं कि उनकी आवाज़ किस मौसम में सुनाई देती है। काली कोयल अपने अंडे कौए के घोंसले में रखने के लिए प्रसिद्ध है। उसकी मधुर और सुरीली बोली जहाँ आम पर बौर आया वैसे ही सुनाई देने लगती है और आम की फ़सल समाप्त होते ही उसकी आवाज़ भी बन्द हो जाती है। सुनहला पपीहा उत्तरी भारतवर्ष में आम पकने के ही समय दिखलाई पड़ने के कारण आमवाली चिड़िया कहलाता है। यह तुर्किस्तान, अफ़ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान, काश्मीर की पहाड़ियों और हिमालय पर्वत पर बच्चे देता है और ग्रीष्म में हमारे देश के उत्तरी मैदानों में उतर आता है तथा अगस्त और सितम्बर के महीनों में दक्षिणी भारत में फैल जाता है। अप्रैल और मई में यह पुनः अपने जन्म-स्थानों को लौट जाता है। इसके अतिरिक्त बुलबुल, सारक इत्यादि और भी ऐसी बहुत-सी चिड़ियाँ हैं जो हमारे देश में गर्मी की ही मेहमान होती हैं। जाड़े में वे यहाँ से कहीं और चली जाती हैं।

सभी देहाती भली भाँति जानते हैं कि नाना प्रकार की जंगली बत्तख़ें जाड़ा आते ही देश की झीलों, तालाबों और नदियों में भरने लगती हैं। नकटा, लालसर, क़ाज़, थुथड़ा, टील, सीख़पर इत्यादि के झुंड-के-झुंड धान के खेतों को नष्ट करते हैं। शिकारी लोग अपनी-अपनी बन्दूक़ें लेकर सुबह-शाम झीलों और नदियों के किनारे जाकर उनका शिकार किया करते हैं। अपने प्रान्त में मैनपुरी के ज़िले में समान की झील पर, जिसका एक चित्र अगले पृष्ठ पर दिया है, ये चिड़ियाँ इतनी बड़ी संख्या में उतरती हैं कि जब उड़ती हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानों बादल छा गये हैं! ये असंख्य पक्षी, जो हमारे देश में शीत-काल के यात्री बनकर आते हैं, गर्मी के आरम्भ होते-होते यहाँ से ग़ायब हो जाते हैं। धारीदार सिरवाला हंस (Bar-headed goose) मध्य एशिया और पश्चिमी चीन में गर्मी बिताता और बच्चे देता है और अक्तूबर के महीने में भारतवर्ष और ब्रह्मा की बड़ी-बड़ी झीलों और नदियों में आ जाता है। दिन भर ये पक्षी जल के निकट आराम करते हैं और रात्रि को किनारे के खेतों में जौ, गेहूँ और चावल की नई कोंपलें और दाने खाकर अपना पेट भरते हैं। थुथड़ा बतख़ उत्तरी अमरीका, उत्तरी एशिया तथा योरप के अधिकांश भागों में अपना जन्म-स्थान बनाती है। शीत-काल प्रारम्भ होने पर उत्तरी अमरीकावाली मध्य अमरीका और वेस्ट इन्डीज़ में जा पहुँचती हैं तथा उत्तरी एशियावाली दक्षिणी चीन, जापान और भारतवर्ष में अपना देश-परिवर्त्तन कर आती हैं। योरपीय बतख़ें मिस्र और अफ़्रीका के गर्म भागों में उड़ आती हैं। अक्तूबर से लेकर अप्रैल तक ये सारे भारतवर्ष में फैली मिलती हैं, परन्तु दक्षिणी प्रान्तों में बहुत कम पहुँचती हैं।

उपर्युक्त दो प्रकार के सर्दी और गर्मी में आने-जाने-वाले पक्षियों के अतिरिक्त प्रत्येक देश में कुछ पक्षी ऐसे होते हैं जो अपनी लम्बी यात्रा के बीच में थोड़े दिनों के लिए विश्राम कर लेते हैं, जैसे हमारे देश में सैंड-पाइपर, स्कूआ, कौर्नक्रेष्ट इत्यादि हैं, जो कुछ दिनों उत्तर या दक्षिण जाते हुए थोड़े दिनों के लिए ठहर जाते हैं। इनमें से थोड़े-बहुत हमेशा ही बने रहते हैं। किन्तु हमारे देश के लगभग तीन-चौथाई पक्षी ऐसे हैं जो हमेशा ही यहीं रहते हैं। ये ही हमारे देश के असली निवासी हैं परन्तु इस लेख में हमें उनके विषय में कुछ नहीं कहना है।

हमारे देश में अभी इन यात्री पक्षियों की उड़ान पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है, परन्तु अन्य देशों में उनकी उड़ान का काफ़ी अध्ययन किया गया है। उत्तर के ठंडे भागों से दक्षिण के गर्म देशों की ओर तथा दक्षिण से उत्तर की ओर उनके उड़ान का समय निश्चित कर लिया गया है और नाना प्रकार के उपायों द्वारा उनके उड़ने की ठीक राहों का भी पता लगा लिया गया है तथा उनके मार्गों के नक़्शे बनाये गये हैं। ऐसा ही एक मानचित्र पृष्ठ ९६४ पर दिया गया है जिसमें उनके ग्रीष्म और शीत काल के एक-आध स्थान और उड़ने के कुछ प्रधान मार्ग दर्शाये गये हैं।

पक्षी किसी यंत्र अथवा आकाश-मार्ग के नक़्शों की सहायता के बिना ही हज़ारों मील की यात्रा करते हैं!

मानव-जति ने तो अब २० वीं शताब्दी में पहुँचकर वायु-मंडल की जाँच-पड़ताल करना शुरू किया है। आधुनिक जगत् के सभी उन्नत देशों में वायुयान यात्रा के साधन बन गये हैं। अतः सुभीते के लिए वहाँ की सरकार आकाश-मार्गों के चित्र बनाने लगी है। इन चित्रों में जगह-जगह पर कुछ ऐसे चिह्न भी बना दिये जाते हैं कि जिन्हें देखकर उड़ाकू अपनी राह पर स्थिर रह सकें। किन्तु चिड़ियों ने तो अपने आकाश-मार्ग न जाने कब से निश्चित कर रक्खे हैं, जिनके अनुसार ये परदार उड़ाकू